सामाजिक समस्याऐं

सामाजिक समस्याऐं

राम आहूजा

रावत पब्लिकेशन्स
जयपुर एवं नई दिल्ली

ISBN 81-7033-246-4 (Hard Cover)
ISBN 81-7033-247-X (Paperback)

प्रथम संस्करण, 1994

Rs. 250

प्रकाशक :
श्रीमती प्रेम रावत
रावत पब्लिकेशन्स, 3-न-20, जवाहर नगर, जयपुर 302 004
दूरभाष : 567022

दिल्ली शाखा :
एम० जे० शापिंग काम्प्लेक्स, 3-ए, वीर सावरकर ब्लॉक
मधुवन रोड, शकरपुर, नई दिल्ली 110 092

मुद्रक :
नाइस प्रिन्टर्स, नई दिल्ली

प्राक्कथन

सभी प्रकार के परिवर्तनों को प्रगति नहीं कहा जा सकता। भारत में पिछले सैंतालिस वर्षों में बहुत परिवर्तन हुये हैं और आज भी हो रहे हैं। परन्तु परिवर्तन की दिशा क्या है ? परिवर्तन कितने तर्कसगत हैं ? इन परिवर्तनों से कौन लाभान्वित हो रहा है ? कृतसकल्प घोषणाओं के बावजूद हिंसा अक्षुण्ण है। जातिवाद उमड रहा है। गरीबी और बेरोज़गारी स्वतन्त्रता पश्चात् की कांग्रेस सरकार, राष्ट्रीय मोर्चा सरकार, जनता (एस) सरकार और एक बार फिर वर्तमान कांग्रेस सरकार के आश्वासन देने वाले वायदों के बावजूद निरन्तर बढ रही हैं। महिलाओं, हरिजनों और कमज़ोर वर्गों के विरुद्ध अत्याचारों में कमी नहीं हुई है। युवा अधिकाधिक कुण्ठित हो रहे हैं और आन्दोलनों का मार्ग अपना रहे हैं। राजनीति का अपराधीकरण हो गया है। विद्रोह को वश में कर लिया गया है परन्तु कुछ प्रदेशों में आतकवाद अधिकाधिक तीक्ष्ण और कर्कश हो रहा है। भ्रष्टाचार पर काबू नहीं पाया गया है, यह विभिन्न रूपों में विद्यमान है। किसान, औद्योगिक श्रमिक और राज्य कर्मचारी सन्तुष्ट नहीं हैं। सामाजिक मूल्यों का तेजी से ह्रास हो रहा है। अधिकाधिक व्यक्ति मानसिक रोगों के शिकार हो रहे हैं। अपराध, बाल-अपराध, नशीले पदार्थों का सेवन, मदिरापान, साम्प्रदायिकता और बाल-शोषण बढ रहे हैं। देश अनगिनत सामाजिक समस्याओं से जूझ रहा है।

अब समय आ गया है इन सामाजिक समस्याओं की प्रकृति और आकार का विश्लेषण हो और इन्हें समझा जाये। अब समय आ गया है जब सामाजिक वैज्ञानिक इन समस्याओं के आकलन के लिए एक सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य के उपयोग करने का प्रयास करें। अब समय आ गया है जब विद्यमान उप-व्यवस्थाओं, सरचनाओं, सस्थाओं और कानूनों को नियन्त्रित करने के लिए आयोजक और सत्तारूढ अभिजन उपयुक्त उपचारी उपायों द्वारा उन्हें दोषरहित व सुप्रवाहित करने के बारे में विचार करें। इसकी आशका है कि कहीं एक यथास्थिति और अनियोजन का प्रजातन्त्र मरण और विध्वस के प्रजातत्र में परिवर्तित न हो जाये।

प्रस्तुत पुस्तक में भारत में सामयिक सामाजिक समस्याओं का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में परीक्षण करने हेतु एक विनम्र प्रयास किया गया है। अधिकांश अध्याय मेरे आनुभविक अध्ययनों द्वारा एकत्रित किये गये आकडों व तथ्यों पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त, यह विश्लेषण अनेक विद्वानों और अकादमिक क्षेत्र के व्यक्तियों के चिन्तन और अनुसन्धान पर भी आधारित है। स्पष्टत. प्रत्येक सामाजिक विचारक को व्यक्तिगत रूप से आभार प्रदान करना

संभव नहीं है। उनकी रचनाओं की गुणवत्ता इस रचना की प्रेरणा थी। इन सबसे परे मैं उन सब अपरिचित विद्वानों और परिचित मित्रों का आभारी हूं जिनकी विद्वत्ता और सुयोग्य विचारों ने मुझे भारतीय परिप्रेक्ष्य में विविध सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण करने के लिये सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि प्रदान की।

वास्तव में सामाजिक समस्याओं पर मेरी अंग्रेजी में पुस्तक दो वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक उसी का अनुवाद है। तथ्यों और आकड़ों को वर्तमान समय तक देने का प्रयास किया गया है तथा कई अध्यायों में नया विश्लेषण भी जोड़ा गया है। जिन विवृत्तियों व व्याख्याओं पर समालोचकों द्वारा आपत्तियां जताई गयी थीं, उन्हें हटाया गया है।

पुस्तक के अनुवाद में जो मेहनत और सहायता मेरे मित्र श्री आनन्द स्वरूप खुसरिया, भूतपूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट कालेज, अजमेर, व संयुक्त निदेशक, कालेज शिक्षा, जयपुर ने की, उसका मैं अति आभारी हूं। उनकी अंग्रेजी और हिन्दी भाषाओं में प्रवीणता ने इस पुस्तक को सरल बना दिया है।

राम आहूजा

अनुक्रमणिका

सामाजिक समस्याएं: अवधारणा और उपागम
Social Problems: Concept and Approaches

मादक द्रव्यों का सेवन, मद्यपान, आतकवाद, गरीबी, बेरोजगारी और अपराध व्यक्तिगत समस्याए नही हैं किन्तु जनसाधारण को सामान्य रूप से प्रभावित करती हैं। व्यक्तिगत समस्या वह है जो एक व्यक्ति या एक समूह को प्रभावित करती है। उसका समाधान उस व्यक्ति/समूह के निकटतम वातावरण में होता है। इसके विपरीत जन-विषय (public issue) वह है जिसका पूरे समाज पर या समाज की बडी संख्या पर प्रभाव पडता है। एक समाजशास्त्री का लक्ष्य यह जानना होता है कि समाज की सरचनाओं के कार्य-निर्वाह में ये समस्याएं किस प्रकार उत्पन्न होती हैं। वह (समाजशास्त्री) समाज में आपसी सम्बधों के विभिन्न संरूपों की कार्यप्रणाली का तथा लोगों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है, का अध्ययन करता है। वह इन समस्याओं के समाधान के लिये यह देखता है कि सामाजिक सरचनाओं का किस प्रकार पुनर्गठन हो सकता है एवं सामाजिक व्यवस्थाओं को किस प्रकार पुन: सरचना हो सकती है। सिद्धान्त को प्रयोग से जोडने के फलस्वरूप समस्या के समाधान के लिये एक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मिल जाता है।

सामाजिक समस्या की अवधारणा (The Concept of Social Problem)

सामाजिक समस्या को "सामाजिक आदर्श का विचलन माना गया है जो सामूहिक प्रयत्न से ही ठीक हो सकता है।" (वाल्श और फरफे, 1961; 1) । इस परिभाषा में दो तत्व महत्वपूर्ण हैं (i) एक स्थिति जो आदर्श से कम है, यानि कि जो अवाछनीय या असाधारण है, और (ii) जो सामूहिक प्रयत्न से ठीक हो सकती है। यद्यपि इसका निर्धारण करना सरल नही है कि कौन सी स्थिति आदर्श है और कौन सी नही, और ऐसा कोई मापदड भी नही जिसे इसको जाचने के लिये प्रयोग में लाया जा सके, फिर भी यह स्पष्ट है कि सामाजिक आदर्श कोई मनमाना विचार या मत नहीं है, और 'सामाजिक समस्या' शब्द उसी 'विषय' के लिये उपयोग किया जाता है जिसे सामाजिक आचार-शास्त्र (जो सामूहिक सबधों में आचार-व्यवहार को सही और गलत बतलाता है) और समाज (जो सार्वजनिक कल्याण को प्रोत्साहित करता है और सार्वजनिक व्यवस्था को बनाए रखता है) प्रतिकूल समझते हैं। विषय ऐसा भी होना चाहिये जिसे एक व्यक्ति स्वयं समाधान न कर सके। यदि किसी व्यक्ति को नौकरी चाहिये और उसको पाने के लिये उसे दूसरों के साथ प्रतियोगिता में भाग लेना पडता है तो यह केवल एक व्यक्तिगत समस्या है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति को मादक द्रव्यों के सेवन की आदत पड गई है और इसे छोड़ने के लिये उसे यदि किसी मनश्चिकित्सीय सस्थान अथवा सामुदायिक केन्द्र में भर्ती

होना पडता है तो वह भी उसकी व्यक्तिगत समस्या है । दूसरी ओर यदि किसी देश में तीन चार करोड़ व्यक्ति बेरोजगार है और कोई व्यक्ति अकेला उसके लिये प्रभावी कदम नही उठा सकता तो उसके समाधान के लिये एक संगठित प्रयास की आवश्यकता है । इस प्रकार एक तरह की परिस्थिति में एक समस्या व्यक्तिगत समस्या होती है तो दूसरी में वही एक सामाजिक समस्या ।

परन्तु समय के साथ-साथ सामाजिक समस्याए बदलती रहती हैं । जो कुछ दशकों पहले सामाजिक समस्या नही मानी जाती थी,वह दो दशकों पश्चात् एक नाजुक सामाजिक समस्या बन सकती है । उदाहरण के लिये,हमारे देश में बीसवी शताब्दी के चालीस के पिछले दशकों में जनसख्या विस्फोट एक सामाजिक समस्या के रूप में नही देखी जाती थी परन्तु पचास के दशक में यह एक नाजुक सामाजिक समस्या बन गई । सामाजिक परिवर्तन नई स्थितियों को जन्म देता है जिसमें एक घटना एक सामाजिक समस्या बन जाती है । चालीस के दशक में भारत में युवा-अशान्ति जैसी कोई समस्या नही थी परन्तु 50 और 60 के दशकों में यह एक समस्या हो गई और 70 और 80 के दशकों में तो यह गंभीर हो गई और 90 के दशक में भी यही स्थिति है ।

'सामाजिक समस्या' की अवधारणा के बारे में कुछ और दृष्टिकोणों पर विचार किया जा सकता है । फुलर और मेयर्स (1941: 320) ने सामाजिक समस्या की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'यह वह स्थिति है जिसे व्यक्तियों की बड़ी सख्या आकाक्षित सामाजिक मानदंडों से विचलन मानती है ।' रेनहार्ट (1952: 14) ने सामाजिक समस्या की यह कहकर व्याख्या की है कि यह 'वह स्थिति है जिससे समाज का एक खण्ड या एक बड़ा भाग प्रभावित होता है और जिसके ऐसे हानिकारक परिणाम हो सकते हैं अथवा होते हैं जिनका सामूहिक रूप से समाधान सभव है ।' इस प्रकार किसी सामाजिक समस्यात्मक स्थिति के लिये कोई एक या कुछ व्यक्ति उत्तरदायी नहीं होते और इस पर नियंत्रण पाना एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के बस की बात नहीं होती । इसका उत्तरदायित्व सामान्यरूप से पूरे समाज पर होता है । मर्टन और निस्बट (1971: 184) का विचार है कि सामाजिक समस्या 'व्यवहार का एक ऐसा रूप है जिसे समाज का एक बड़ा भाग व्यापक रूप से स्वीकृत एव अनुमोदित मानदंडों का उल्लंघन मानता है ।' यह परिभाषा मद्यपान, भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता जैसी समस्याओं पर ठीक बैठती है, परन्तु जनसंख्या विस्फोट जैसी समस्याओं पर नहीं । कुछ समस्याएं व्यक्तियों के असाधारण और विचलित व्यवहार से पैदा नही होती परन्तु साधारण और स्वीकृत व्यवहार से होती है । राब और सेल्ज़निक (1959. 32) का कहना है कि सामाजिक समस्या 'मानव संबंधों की वह समस्या है जो समाज को सकट में डालती है या कई लोगों की महत्वपूर्ण आकांक्षाओं को प्राप्त करने में रुकावट पैदा करती है ।' कार (1955: 306) के अनुसार 'सामाजिक समस्या उस समय उत्पन्न होती है जब हम किसी कठिनाई के प्रति चेतन हो जाते हैं, जब हमारी अभिरुचियों और यथार्थता के बीच खाई आ जाती है ।' हर्बर्ट ब्लूमर (1971: 19) लिखते हैं कि "सामाजिक समस्याओं में वे कार्य और व्यवहार के संरूप आते हैं जिन्हें बडी संख्या में लोग समाज के प्रति घातक मानते

हैं या सामाजिक प्रतिमानों का उल्लंघन समझते हैं और जिन्हें सुधारना वे संभव और वांछनीय मानते हैं।" पॉल लेन्डिस (1959) के विचार में 'सामाजिक समस्याएं व्यक्तियों की वे कल्याण सम्बन्धी आकांक्षाएं हैं जो पूरी नहीं हो पाई हैं।' क्लैरेन्स मार्शल (1976: 310) ने कहा है कि 'सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति को दर्शाता है जो समाज के सुयोग्य पर्यवेक्षकों (competent observers) की एक बड़ी संख्या को अपनी ओर आकर्षित करती है और उन्हें अनुरोध व अपील करती है कि वे उसका पुनर्व्यवस्थापन करें या किसी न किसी प्रकार की सामाजिक (सामूहिक) कार्यवाही से उसे ठीक करें।'

हॉर्टन और लेस्ले (1970: 4) लिखते हैं कि सामाजिक समस्या 'एक स्थिति है जो व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या को ऐसे तरीकों से प्रभावित करती है जो अवांछनीय समझे जाते हैं और यह सोचा जाता है कि सामूहिक सामाजिक क्रिया के द्वारा उसके बारे में कुछ किया जा सकता है।' यद्यपि यह परिभाषा इस बात पर बल देती है कि सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है "जो व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या" को प्रभावित करती है, परन्तु वह व्यक्तियों की सही संख्या नहीं बतलाती जो उससे प्रभावित होते हैं। वह केवल यह संकेत देती है कि इससे 'काफी व्यक्ति' प्रभावित होने चाहिये जिससे वह उनके ध्यान को आकर्षित कर ले और वे उसके बारे में बात करना और लिखना प्रारम्भ कर दें। ऐसी स्थिति के बारे में जनता की चिन्ता इससे आंकी जा सकती है कि उस विषय पर कितने लेख लोकप्रिय पत्रिकाओं में छपे हैं। अस्सी के दशक तक भारत में पर्यावरण प्रदूषण की समस्या को गंभीरता से नहीं लिया गया। इसका यह प्रमाण है कि उस समय तक इस विषय पर अखबारों और पत्रिकाओं में अधिक लेख प्रकाशित नहीं हुए थे। पिछले आठ या नौ वर्षों में इस विषय पर कई लेखों का छपना इस बात का सूचक है कि इस स्थिति ने अब चारों ओर व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित कर लिया है और अब यह एक सामाजिक समस्या बन गई है।

हॉर्टन की इस परिभाषा में दूसरा तत्व जो ध्यान आकर्षित करता है वह है 'ऐसे तरीकों से जो अवांछनीय समझे जाते हैं।' जब तक भारत में लोग सती प्रथा को वांछनीय समझते थे, यह एक सामाजिक समस्या नहीं थी। जब राजा राम मोहनराय ने इस विषय में पहल की और भारी संख्या में लोगों ने उन्हें समर्थन दिया और इस प्रथा को घातक और भयकर कह कर आलोचना की गई, तभी सती प्रथा एक सामाजिक समस्या बनी। कुछ वर्ष पूर्व (सितम्बर 1987 में) जब एक 21 वर्ष की राजपूत कन्या रूपकंवर राजस्थान के सीकर जिले में देवराला गांव में अपने पति की चिता पर सती हो गई, उसके पश्चात ही इस प्रथा की भर्त्सना की गई और राजस्थान सरकार ने फरवरी 1988 में इसके विरुद्ध एक कानून बनाया जिसके अन्तर्गत किसी स्त्री को सती होने के लिये विवश करने वाले व्यक्तियों को कड़ी सजा देने का प्रावधान है।

सामाजिक समस्या में एक नैतिक मूल्यांकन होता है, एक ऐसी भावना होती है कि स्थिति हानिकारक है और इसमें परिवर्तन आवश्यक है। बीसवीं शताब्दी के 70 और 80 के दशकों में ही भ्रष्टाचार एक सामाजिक समस्या के रूप में लिया जाने लगा यद्यपि हमारे देश में यह इससे

पहले भी व्याप्त था। पत्नी को पीटना और बालकों के साथ दुर्व्यवहार जैसे विवाद-विषय अभी भी गंभीर सामाजिक समस्याओं की परिधि में नहीं आते।

उन स्थितियों को सामाजिक समस्याएं नहीं माना जाता जो बदली नहीं जा सकती या जिन्हें टाला नहीं जा सकता। इस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व तक अकाल को सामाजिक समस्या नहीं समझा जाता था क्यों कि लोगों में यह विश्वास व्याप्त था कि बरसात का कम होना इन्द्र के प्रकोप का परिणाम है। आजकल राजस्थान जैसे राज्यों में अकाल को सामाजिक समस्या के रूप में लिया जाता है और इस का कारण राजस्थान नहर का आर्थिक साधनों की कमी से पूरा नहीं होना माना जाता है। आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में पीने के पानी की कमी सामाजिक समस्या उसी समय बनी जब लोगों को आभास हुआ कि यह संकट ऐसा नहीं है जिसको भोगने के अलावा कोई विकल्प नहीं है और इसको हटाने के लिये कुछ उपाय किये जा सकते हैं। इस प्रकार जब लोगों में यह विश्वास जागृत हो जाता है कि उसके रोकने और निवारण की संभावना है तभी वो उस स्थिति को सामाजिक समस्या मानते हैं।

हॉर्टन और लेस्ले की परिभाषा का अन्तिम भाग है 'सामूहिक क्रिया'। सामाजिक समस्या का समाधान एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों से नहीं हो सकता। सारी सामाजिक समस्याओं से सामाजिक स्तर पर ही निबटा जा सकता है; यानि कि यह विश्वास किया जाता है कि उनका समाधान जनता की रुचि, वाद-विवाद, जनमत -रचना और दबाव से ही हो सकता है।

वेनबर्ग (1960: 4) के अनुसार सामाजिक समस्याएं ऐसे व्यावहारिक संरूप और स्थितिया होती है जो सामाजिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती हैं और समाज के कई सदस्य इनको इतना आपत्तिजनक और अवांछनीय मानते हैं कि उन्हें विश्वास हो जाता है कि इनका सामना करने के लिये सुधारक नीतियां, कार्यक्रम और सेवाएं आवश्यक हैं। वेनबर्ग ने सामाजिक समस्याओं की छ: विशेषतायें बतलाई हैं:

1. सामाजिक समस्याएं वे हैं जिन्हें समाज के कई सदस्य आपत्तिजनक मानते हैं। इसलिये उन प्रतिकूल स्थितियों को जिन्हें समाज निन्दनीय नहीं मानता सामाजिक समस्या नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिये यदि मदिरालय को समाज आपत्तिजनक नहीं समझता तो वह सामाजिक समस्या नहीं है। परन्तु यदि समाज मदिरा सेवन में अन्तर्निष्ठ समस्याओं के प्रति सजग है और उन पर वाद-विवाद करता है, उसके परिणामों का अध्ययन करता है और उसे नियन्त्रण में रखने के लिये किसी सुधारक कार्य की रूपरेखा बनाता है तो उसे सामाजिक समस्या का दर्जा प्राप्त हो जाता है, भले ही उसकी मूल स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ हो।
2. सामाजिक समस्याए बदल जाती हैं यदि उनसे संबंधित व्यवहार के संरूपों को भिन्न-भिन्न रूपों से व्याख्या की जाती है। उदाहरण के लिये कुछ दशकों पूर्व तक मानसिक रोग को पागलपन कहा जाता था और इसको इतना लज्जाजनक माना

जाता था कि परिवार अपने सदस्य के मानसिक रोग को गुप्त रखते थे। अब मानसिक रोग को एक प्रकार का 'विचलित व्यवहार' (deviant behaviour) माना जाता है, और इसीलिये इसका उपचार अब अधिक वास्तविक और प्रभावी ढग से किया जाता है।

3. सामाजिक समस्याओं के क्षेत्र और महत्ता के बारे में जागरूकता उत्पन्न करने में जन सचार माध्यम (जैसे अखबार, दूरदर्शन, आकाशवाणी, पत्रिकाएँ, सिनेमा) एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
4. सामाजिक समस्याए समाज के मूल्यों और सस्थाओं के संदर्भ में देखी जानी चाहिये। उदाहरणार्थ अमेरिका में प्रजातीय प्रतिद्वन्द्व की समस्या भारत की छूआछूत की समस्या से भिन्न है।
5. सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण उन पर सामूहिक प्रक्रियाओं और सामाजिक सबधों से पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिये।
6 सामाजिक समस्याए इतिहास के साथ-साथ बदलती रहती हैं। इसीलिये समकालीन समस्याए आज के समाज के मामले हैं, जैसे कि 1947-48 में शरणार्थियों के बसाने की समस्या 1968 में असम के शरणार्थियों को बसाने की समस्या से भिन्न थी, वैसे ही 1988-89 में श्रीलका से आये हुए तमिलों की या सितबर,1990 में कुवैत और इराक से आये हुए भारतीयों की। इसी प्रकार इगलैंड में 1988 में अप्रवासियों की समस्या 1967 और 1947 की समस्याओं से भिन्न थी।

सामाजिक समस्याओ की विशेषताएँ (Characteristics of Social Problems)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम सामाजिक समस्याओं की निम्नांकित विशेषतायें पहचान सकते हैं:

- सभी सामाजिक समस्याएं 'आदर्श' स्थिति से विचलन हैं।
- सभी सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति का कोई समान आधार होता है।
- सभी सामाजिक समस्याएं मूल में सामाजिक हैं।
- सभी सामाजिक समस्याएं अर्न्तसंबधित होती हैं।
- सभी सामाजिक समस्याओं के परिणाम सामाजिक होते हैं, यानि कि वे समाज के सभी खण्डों पर प्रभाव डालती हैं।
- सामाजिक समस्याओं का दायित्व सामाजिक है उनके निवारण के लिये एक सामूहिक उपागम की आवश्यकता होती है।

सामाजिक समस्याओ पर प्रतिक्रियाए (Reactions to Social Problems)

सामाजिक समस्याओं के प्रति विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न प्रतिक्रियाए होती हैं। ये

भिन्नतायें निम्नलिखित चार कारकों से समझाई जा सकती हैं:-

(a) *उदासीनता का रुख.* कई लोग किसी समस्या के प्रति यह सोचकर उदासीन रहते हैं कि उनको वह प्रभावित नहीं करती। कभी कभी पारिवारिक तनाव और नौकरी के दबाव जैसी उनकी अपनी समस्याएँ उन्हें इतना व्यस्त रखती हैं कि दूसरों को प्रभावित करने वाली बातों में रुचि लेने के लिये उनके पास समय ही नहीं होता। वे उसी समय उत्तेजित होते हैं और समस्या में रुचि लेना प्रारम्भ करते हैं जब उनके स्वार्थ फंसते हैं।

(b) *भाग्यवाद* कुछ व्यक्ति भाग्यवाद में इतना अधिक विश्वास रखते हैं कि वे सब बातों के लिये भाग्य को उत्तरदायी मानते हैं। ग़रीबी और बेरोज़गारी जैसी समस्याओं को वे दुर्भाग्य और पिछले कार्यों का फल मानते हैं। इसलिये वे दुर्भाग्य को चुपचाप सहते रहते हैं और किसी चमत्कार के होने की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

(c) *निहित स्वार्थ.* कुछ व्यक्ति विद्यमान समस्याओं में इसलिये रुचि नहीं दिखाते क्यों कि उनके रहते उनके स्वार्थ सिद्ध होते हैं। वे अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर समस्या को हल से परे बताते हैं और उसके निवारण के लिये प्रयत्न करने को समय का अपव्यय कहते हैं।

(d) *विशेषज्ञ ज्ञान का अभाव.* कुछ व्यक्ति समस्या के प्रति चिन्तित होते हुये भी उसमें यह सोचकर रुचि नहीं लेते कि जब तक लोग अपनी मनोवृत्ति और मूल्यों को नहीं बदलते तब तक उसका निवारण असंभव है। परिवर्तन करने से पहले क्यों कि दृष्टिकोण में परिवर्तन होना आवश्यक है, वे उस समस्या के हल की वैकल्पिक संभावनाओं को ढूँढने के प्रति उदासीन रहते हैं। दहेज प्रथा हमारे समाज की एक ऐसी ही समस्या है।

कुछ लोगों में सामाजिक समस्याओं के बारे में गलत, अविश्वसनीय और सतही ज्ञान या भ्रामक धारणाएं होती हैं। हम इस प्रकार की *आठ भावनाएं* बता सकते हैं:

(i) यह सोचना ग़लत है कि सामाजिक समस्याओं के स्वरूप के बारे में सब लोगों में सहमति है। उदाहरणार्थ, कुछ लोग सोचते हैं कि मादक द्रव्यों का सेवन भारत की एक सामाजिक समस्या है, जबकि कुछ और लोग कहते हैं कि यह सामाजिक समस्या नहीं मानी जा सकती क्योंकि देश के विभिन्न भागों में किये गये आनुभविक अध्ययन ये बताते हैं कि मादक द्रव्यों का सेवन बहुत कम है। इसी प्रकार भारत में स्वतंत्रता के बाद हरिजनों की मुक्ति के लिये किये गये उपायों के कारण कुछ व्यक्ति अस्पृश्यता को अब सामाजिक समस्या नहीं मानते जब कि दूसरों की दृष्टि में यह अभी भी एक सामाजिक समस्या है। वे उन हरिजनों के उत्पीड़न और उनकी पिटाई की बात करते हैं जिन्हें सितंबर, 1988 में राजस्थान के नाथद्वारा मंदिर में प्रवेश से रोका गया था और जिससे क्षुब्ध होकर भारत के पूर्व

राष्ट्रपति (श्री आर वेंकटरमन) ने घोषणा की थी कि नाथद्वारा मंदिर में प्रवेश के लिये हरिजनों के जत्थे का नेतृत्व करने को वे तैयार हैं । इस प्रकार कुछ समस्याओं की विद्यमानता पर पूर्ण सहमति हो सकती है जब कि दूसरों पर बिल्कुल नहीं ।

(ii) यह सोचना भ्रामक है कि सामाजिक समस्याए प्रकृति उत्पन्न करती है और अपरिहार्य हैं । वास्तव में कोई सामाजिक समस्या आदमी के नियन्त्रण के परे नहीं है आवश्यकता केवल यह है कि कुछ विशेष सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन कर दिया जाये ।

(iii) यह विश्वास मिथ्या है कि सामाजिक समस्याए मतलबी, अमानवीय, शोषण करने वाले, एव उदासीन व्यक्ति पैदा करते हैं या ये कुछ व्यक्तियों की जानबूझ कर की गई दुष्टता का परिणाम हैं । वास्तव में कई समस्याए अच्छे व्यक्ति पैदा करते हैं क्यों कि या तो वे अपने ही कार्यों में व्यस्त रहते हैं या वे कुछ विशेष विषयों के प्रति उदासीन अथवा कठोर-हृदय हो जाते हैं । उदाहरण के लिये, गदी बस्तियों का विकास अमीर व्यक्तियों और राजनीतिज्ञों की कठोरता व निर्दयता के कारण होता है जबकि यह माना जाता है कि गदी बस्तियाँ पारिवारिक विघटन को बढावा देती हैं और कुछ प्रकार के अपराधों को बढाती हैं । तथापि, इनकी उदासीनता, चिन्तन और व्यवहार के पीछे कोई 'बुरा उद्देश्य' नही होता । यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्या कुछ सामाजिक परिपाटियों, कार्यप्रणालियों व प्रथाओं की उपज है, ना कि कुछ व्यक्तियों की जानबूझ कर की गई दुष्टता की ।

(iv) यह सोचना गलत है कि सामाजिक समस्याए उनके विषय में बात करने से पैदा होती हैं । समस्याए इस कारण से उत्पन्न नही होती कि उनके बारे में व्यक्ति अनुत्तरदायी ढग से बात करते हैं और इस प्रकार दूसरों को उत्तेजित करते हैं या अशान्ति उत्पन्न करते हैं, या घृणा की भावना जागृत करते हैं, आदि । वास्तव में व्यक्तियों को प्राय समस्याओं के समाधान के लिये या उन कारकों के विरुद्ध जो उन्हें जीवित रखते हैं, कार्यवाही करने के लिये सक्रिय किया जाता है ।

(v) यह मानना गलत है कि सभी लोग सामाजिक समस्याओं के समाधान के पक्षधर होते हैं । उदाहरण के लिये, रूढिवादी ब्राह्मण कदाचित अस्पृश्यता की समस्या पर वाद-विवाद करने में कोई रुचि नही लेते, या कई अनुसूचित जातियों, जनजातियों और दूसरी पिछडी जातियों या वर्गों के सदस्य 'पिछडे' रहना इसलिये अधिक पसन्द करते हैं जिससे उन्हें आरक्षण के लाभ मिलते रहें या कई पूजीवादी सपूर्ण रोज़गार के इस कारण पक्षधर नही होते कि उन्हें कम वेतन पर पर्याप्त सख्या में श्रमिक उपलब्ध नहीं होंगे; या कई मकान-मालिक अधिक भवनों के निर्माण में इसलिये रुचि नही लेते कि उससे किराये कम हो जायेंगे; या एक कमरे वाले भवनों के मालिक अपने निहित स्वार्थों के कारण गदी बस्तियों को हटाये जाने में रुचि नहीं

दिखाते। इसी प्रकार निहित स्वार्थों के कारण सामाजिक समस्याओं के निदान में रुचि नही रखने वाले व्यक्तियों की सख्या बहुत अधिक हो सकती है।

(vi) यह भावना सही नही है कि सामाजिक समस्याए स्वय ही अपना निवारण कर लेंगी। इस युग में यह मानना कि समय अपने आप सारी समस्याओं का समाधान कर देगा कल्पित, अयथार्थ और अवास्तविक है। यह अकर्मण्यता को केवल भ्रामक रूप से तार्किक बनाना है। वास्तव में यह भावना निर्धनता, प्रदूषण और जनसख्या जैसी समस्याओं को अधिक विकराल बना सकती है।

(vii) यह भावना भ्रामक है कि तथ्यों के उजागर करने मात्र से ही समस्या का समाधान हो जायेगा। यद्यपि यह सच है कि पूरे तथ्यो को एकत्रित किये बिना कोई भी समस्या बुद्धिमानी से नही समझी जा सकती, परन्तु यह भी सच है कि एकत्र आकडों की वैज्ञानिक व्याख्या के अभाव में समस्या के समाधान के लिये कोई भी युक्ति नही अपनाई जा सकती। उदाहरणार्थ, युवकों में मादक द्रव्यों के सेवन की मात्रा व विस्तार उनके द्वारा प्रयोग में लाये जा रहे मादक द्रव्यों के प्रकार, उनके सेवन के तरीके, उनके पाने के स्रोत और उनका सेवन छोडने से उत्पन्न हुये मानसिक विकार (withdrawal syndrome) के बारे में तथ्यो को केवल मात्र एकत्र करने से उनके ऊपर नियंत्रण करने के उपायों को सुझाने में अधिक सहायता नही मिलेगी इसके लिए हमे मादक द्रव्यों के सेवन के कारण, मित्र-समूह (peer group) के सदस्यों की भूमिका, और मादक द्रव्यों को नियन्त्रित करने में परिवार की भूमिका जैसे तथ्यों का विश्लेषण और उनकी व्याख्या करनी होगी। आंकड़े अपने आप में तब तक निरर्थक हैं जब तक उनकी अर्थपूर्ण एव वस्तुनिष्ठ व्याख्या न की जाये।

(viii) यह सोचना भ्रमपूर्ण व असत्य है कि संस्थागत परिवर्तनों के बिना समस्याओं का समाधान हो सकता है। बिना योजना बनाये, बिना सरचना में परिवर्तन किये, बिना समायोजन और अनुकूलन (adjustment and adaptation) किये, या बिना वर्तमान सस्थाओं और प्रथाओं में परिवर्तन किये समस्याओं का समाधान असभव है। उदाहरणार्थ, हम भ्रष्टाचार का तब तक उन्मूलन नही कर सकते जब तक कि लोग अपने मूल्यों और विश्वासों में परिवर्तन नही करते, नये कानून नही बनते, तथा न्यायालय उच्च स्थानों पर कार्यरत भ्रष्ट व्यक्तियों को प्रतिकारी व प्रतिशोधात्मक (retributive) और निवारक व प्रतिरोधात्मक (deterrent) दड देकर एक उदाहरण नही रखते। इन व्यक्तियों में भ्रष्टाचारी राजनीतिज्ञ भी सम्मिलित हैं। कई बार किसी एक समस्या का समाधान करने से कई और नई समस्याएं समाधान के लिये उत्पन्न हो जाती हैं। सस्थाओं और मूल्यों में मन्दगति से परिवर्तन होने के कारण समस्या का समाधान सहज रूप से और शीघ्रता से नहीं होता बल्कि बहुत समय लेता है। कभी हम कुछ स्थितिओं को बदलने में सफल हो जाते हैं जिससे

समस्या का आकार (magnitude) और उसकी आवृत्ति (frequency) कम हो जाती है। भले ही हम अपराध का पूर्ण रूप से उन्मूलन नही कर पायें परन्तु समाज में उसकी दर (rate) को अवश्य कम कर सकते हैं। इसके लिये हमें लोगों में फैली निराशाओं को कम करना होगा और ऐसे विकल्प प्रदान करने होंगे जिससे उनकी एक क्षेत्र में विफलता की क्षतिपूर्ति किसी और क्षेत्र में सफलता से हो जाये। पारिवारिक विघटन को निरस्त करना सभव न हो परन्तु परिवार में तनावों को कम करने के लिये उपाय अवश्य खोजे जा सकते हैं। इस प्रकार सारी समस्याओं के समाधान ढूढना सभव न हो परन्तु सामाजिक समस्याओं से होने वाली वैयक्तिक वेदना को कम कर पाना सम्भव है।

सामाजिक समस्याओ के कारण (Causes of Social Problems)

सामाजिक समस्याओं को विकृत (pathological) सामाजिक स्थितिया जन्म देती हैं। ये सभी समाजों में उत्पन्न होती हैं, चाहे वे (समाज) साधारण हो (याने कि, छोटे, पृथक, समरूप समाज हो जिनमें सामूहिक एकात्मकता (solidarity) की दृढ भावना होती है और जिनमें परिवर्तन बहुत धीमी गति से होता है) या जटिल हो (जिनमें अवैयक्तिक (impersonal) द्वितीयक (secondary) सबध, गुमनामी (anonymity), एकाकीपन (loneliness) तीव्र गतिशीलता (high mobility) और अत्यधिक विशेषज्ञता (extreme specialization) होती है और जिनमें परिवर्तन अधिक शीघ्र होता है), याने कि जहा कही भी और जब भी व्यक्तियों के समूह में पारस्परिक सबध प्रभावित होते हैं जिससे कुसमजन (maladjustments) और सघर्ष उत्पन्न होते हैं।

सामाजिक समस्याओं में कारणात्मक तत्वों को समझने के लिये तीन कारक महत्वपूर्ण हैं·

(1) कारणात्मक स्थितिया बडी सख्या में होती हैं। मोटे तौर पर हम इनका दो समूहों में वर्गीकरण कर सकते हैं एक जो व्यक्तियों में पाये जाते हैं और दूसरे जो सामाजिक वातावरण में मिलते हैं।

सामाजिक समस्याओं के सम्भावित कारण

व्यक्तियों में पाये जाने वाले	सामाजिक परिवेश में पाये जाने वाले
(क) वशागत विशेषताए	(क) सामाजिक व्यवस्थाओं में विरोधाभास
(ख) उपार्जित विशेषताए	(ख) आर्थिक व्यवस्थाओं में कार्यात्मक खराबिया
	(ग) धार्मिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन का अभाव
	(घ) राजनीतिक व्यवस्थाओं के दोषपूर्ण कार्य

सभी समस्याओं में सभी तत्व नही होते, अर्थात् प्रत्येक समस्या में कारणात्मक तत्व भिन्न होते हैं।

(2) सामाजिक समस्याएं सामान्य कारणात्मक तत्वों को एक सशक्त आधार प्रदान

करती हैं।

(3) सामाजिक समस्याएं इस अर्थ में परस्पर संबंध और एक दूसरे पर निर्भर रहती हैं कि वे संचित (cumulative) रूप से प्रोत्साहक और उत्तेजक होती हैं, अथवा वे एक दूसरे को विकसित एवं प्रोत्साहित करती हैं।

रेनहार्ट (1952: 7-12) ने सामाजिक समस्याओं के विकास में तीन तत्वों का उल्लेख किया है

(1) स्वार्थों और क्रियाओं का विभेदीकरण और गुणन

यह सिद्धान्त कि एक मशीन या जीवित प्राणी में जितने अधिक भाग होते हैं, उतनी ही अधिक उसके भागों में असंतुलन की सम्भावना होती है, मानव समाजों पर भी लागू होती है जहाँ विभिन्न व्यक्तियों, समुदायों, सस्थाओं, और व्यवस्थाओं के स्वार्थों में टकराव के अवसर अधिक होते हैं। अस्पृश्यता, साम्प्रदायिक दंगे और राजनीतिक अपराध ऐसी ही सामाजिक समस्याए हैं जो विभिन्न जातियों और वर्गों के स्वार्थों के संघर्ष से उत्पन्न होती हैं।

(2) सामाजिक परिवर्तन और सभ्यता के विकास की आवृति को त्वरित करना

यह वैज्ञानिक और मशीनी नवाचारों (innovations) के बाहुल्य से सम्भव हुआ है। उदाहरण के लिये, मशीनों के नवाचारों ने रोजगार के कई पुराने ढाँचों को समाप्त कर दिया है जिसके परिणामस्वरूप लाखों लोगों को प्रवास (migration) करना पड़ा और इससे विभिन्न वर्गों में सघर्ष उत्पन्न हुए। इस प्रकार क्रान्तिकारी आविष्कारों से उत्पन्न हुए संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक कुसमंजन (functional maladjustment) कई सामाजिक समस्याओं को जन्म देते हैं।

(3) वैज्ञानिक विश्लेषण करने की मानव की विकसित अन्तर्दृष्टि

जब से मानव ने प्रकृति की गतिविधी का अध्ययन करने के लिये सामाजिक अन्तर्दृष्टि विकसित की है उसके फलस्वरूप वे विषय जो पहले साधारण समझे जाते थे, अब कई प्रकार की उन प्राकृतिक स्थितियों के कारणवश आवश्यक समझे जाते हैं जो मानव और समाज को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक समस्याओ के सैद्धान्तिक उपागम (Theoretical Approaches to Social Problems)

यद्यपि सामाजिक समस्याए अनिवार्य रूप से व्यक्तिनिष्ठ (subjective) होती हैं फिर भी उनका वैज्ञानिक रूप से अध्ययन हो सकता है। हम कुछ ऐसे सैद्धान्तिक उपागमों पर विचार करेंगे जो सभी प्रकार की सामाजिक समस्याओं की विश्वव्यापक व्याख्यायें देते हैं:

सामाजिक विघटन उपागम (Social Disorganisation Approach)

सामाजिक विघटन समाज, समुदाय या समूह की वह स्थिति है जिसमें सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक व्यवस्था या औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रतिमान जो उचित व्यवहार को

परिभाषित करते हैं, टूट जाते हैं। आपसी सहयोग, सामान्य मूल्य, एकता, अनुशासन और भविष्यवाणी करने के सामर्थ्य (predictability) की कमियां इसके लक्षण हैं। वारेन (1949: 83-87) ने यह कहकर इसका वर्णन किया है कि यह वह स्थिति है जिसमें (क) सर्वसम्मति का अभाव (समूह के उद्देश्यों के बारे में मतभेद), (ख) संस्थाओं के एकीकरण (integration) का अभाव और (ग) सामाजिक नियत्रण के अपर्याप्त साधन (अस्तव्यस्तता (confusion) के कारण व्यक्तियों को अपनी वैयक्तिक भूमिका निभाने पर रोक) होते हैं। इलियट और मेरिल (1950: 20) की परिभाषा के अनुसार यह एक प्रक्रिया है जिससे समूह के सदस्यों के आपसी संबंध विच्छेद या लुप्त हो जाते हैं। सामाजिक अव्यवस्था उस समय उत्पन्न होती है जब शक्तियों के संतुलन (equilibrium of forces) में परिवर्तन होता है, सामाजिक ढांचे टूट जाते हैं जिससे पुराने संरूप पुनः काम नही कर पाते, और सामाजिक नियन्त्रण के स्वीकृत ढांचे प्रभावी रूप से काम नहीं करते हैं। समाज की यह विघटनकारी अवस्था जिसका संकेत मानदंडों के नष्ट होने, भूमिका-संघर्ष, सामाजिक संघर्ष और नैतिक पतन से मिलता है, सामाजिक समस्याओं को बढ़ावा देता है। उदाहरण के लिये बढ़ता हुआ औद्योगीकरण, शिक्षा के प्रसार और स्त्रियों के वैतनिक कार्य (paid work) करने से पति और पत्नि और माता पिता और बच्चों के बीच संबंध प्रभावित हुए हैं। कई पुराने नियम जो परिवार के सदस्यों और अन्तर परिवारों पर लागू होते थे, टूट चुके हैं। कई व्यक्ति निराश और अप्रसन्न रहते हैं। सामाजिक अव्यवस्था में जीवन की आधारभूत स्थितियों में परिवर्तन आने से परम्परागत प्रतिमान टूट गये हैं और इस कारण असंतोष और मोह-भग व्याप्त है। दूसरे शब्दों में, परिवर्तन ने पुरानी व्यवहार व्यवस्था को तोड़ दिया है। गंदी बस्तियों के जीवन के सामाजिक विघटन की बात करते हुए वाइट (1955: 268) ने गंदी बस्तियों में विचलन और अस्वीकृत समूह संगठन का उल्लेख किया है।

फिर भी एक विचारधारा के अनुसार सामाजिक विघटन की स्थिति सदैव सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न नही करती। उदाहरणार्थ, हिटलर के शासनकाल में जर्मनी का समाज विघटित नहीं था और स्टालिन के शासनकाल में रूस में विघटन नहीं था और फिर भी इन देशों में कई स्थितियां "सामाजिक आदर्श से परे और स्तब्ध करने वाली विसामान्यतायें" थी जिनके विरुद्ध सामाजिक कार्यवाही करना आवश्यक था, याने कि वहां "सामाजिक समस्याएं" विद्यमान थी। इस विचारधारा पर प्रतिक्रिया करते हुये कुछ विद्वानों का मत है कि यदि सामाजिक विघटन का सिद्धान्त सभी सामाजिक समस्याओं की व्याख्या नहीं कर सकता फिर भी वह कई सामाजिक समस्याओं को अवश्य स्पष्ट करता है। उदाहरण के लिये, मानसिक रोग सामाजिक विघटन का भले ही लक्षण न हो, परन्तु समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार अवश्य संस्थाओं को ठीक से नहीं चलने देता और इससे पूर्ण सर्वसम्मति का अभाव हो जाता है और कुछ नागरिक सामाजिक नियन्त्रण की परिधि से बाहर निकल जाते हैं।

सामाजिक विघटन के उपागम को सामाजिक समस्याओं पर लागू करते समय जिन

कारकों को देखा जाता है, वे हैं (हार्टन और लेस्ले. 1970: 33): पारंपरिक मानदंड और प्रथाएं क्या थे ? ऐसे कौनसे प्रमुख परिवर्तन हुये जिन्होंने उन्हें अप्रभावी बना दिया ? ऐसे कौन से पुराने नियम हैं जो आंशिक अथवा पूरे रूप से टूट गये हैं ? सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति और दिशा क्या है ? असंतुष्ट समूह कौन से हैं और वे कैसे समाधानों की प्रस्तावना करते हैं ? कहां तक विभिन्न प्रस्तावित समाधान सामाजिक परिवर्तन की प्रवृति के अनुरूप हैं ? भविष्य में कौन से नियम स्वीकार्य होंगे ?

सांस्कृतिक-विलम्बना उपागम (Cultural - Lag Approach)

सास्कृतिक विलम्बना एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक संस्कृति के कुछ भागों में दूसरे सम्बन्धित भागों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से परिवर्तन होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति का समाकलन (integration) और संतुलन भंग हो जाता है। उदाहरणार्थ, औद्योगिक समाजों में विज्ञान और प्राद्योगिकी में तीव्र गति से विकास होने के कारण भौतिक संस्कृति (material culture) में अभौतिक सस्कृति की अपेक्षा तीव्र गति से परिवर्तन होता है (आगबर्न, 1966)। सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त विशेष रूप से यह मानता है कि आधुनिक समाजों में राजनीतिक, शैक्षणिक, पारिवारिक और धार्मिक संस्थाओं में इस प्रकार के परिवर्तन होने की प्रवृति होती है कि वे प्राद्योगिकी परिवर्तनों में पिछड़ जाते हैं। इस प्रकार यह आसानी से देखा जा सकता है कि सांस्कृतिक विलम्बना किस प्रकार सामाजिक समस्यायें उत्पन्न कर सकती है। उन्नीसवीं शताब्दी के आखरी चतुर्थांश में और बीसवीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश में तेजी से हुए औद्योगीकरण के उपरान्त भी कुछ व्यक्ति जाति व्यवस्था की कट्टर पाबन्दियों से इतने प्रभावित थे कि वे उद्योगों में दूसरी जातियों के सदस्यों के साथ काम करने से मना कर देते थे और उन्हें बेरोजगार और निर्धन रहना प्रियकर लगता था। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश सांस्कृतिक विलम्बना का काल रहा । कृषि और उद्योग में प्रौद्योगिकी विकास को समावेश करने में एक पीढ़ी से अधिक का समय लगा। इस प्रकार हमारी सामाजिक संस्थाओं में परम्परा की महक रही जब कि ससार में प्रौद्योगिकी का विकास होता रहा।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि यद्यपि सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त कुछ सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करता है परन्तु सभी समस्याओं की नहीं, इसलिये इसे सभी सामाजिक समस्याओं की सार्वलौकिक व्याख्या करने वाला सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

मूल्य-संघर्ष उपागम (Value Conflict Approach)

मूल्य व्यवहार का एक सामान्य नियम है जिसके प्रति एक समूह के सदस्य दृढ़, भावात्मक एवं वास्तविक वचनबद्धता महसूस करते हैं और जो विशिष्ट कार्यों और लक्ष्यों के आंकने के लिये एक मानदण्ड होता है। समूह के प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समूह द्वारा अपनाये गये मूल्यों के प्रति वचनबद्ध रहेगा। मूल्य इस प्रकार व्यवहार के सामान्य मानदण्डों का कार्य करते हैं। समता, न्याय, स्वतंत्रता, देश भक्ति, गतिशीलता, वैयक्तिता, समष्टिवाद,

समझौता, बलिदान, समायोजन, आदि मूल्यों के उदाहरण हैं। मूल्यों के साथ तीव्र भावनाओं के जुड़े होने के कारण और उनके प्रत्यक्ष लक्ष्यों और क्रियाओं के आकने के मानदण्ड होने के कारण उन्हें प्राय. स्वयंभू (absolute) समझा जाता है (थिओडोर्सन, 1969. 456)।

विभिन्न समूहों की विभिन्न मूल्य व्यवस्थायें होती हैं। दो या दो से अधिक समूहों के मूल्यों में असगति (incompability) व्यक्तियों की अपनी भूमिका-पालन में यदि हस्तक्षेप करती है तो उसे मूल्य-संघर्ष कहा जाता है। संघर्ष की यह स्थिति कुछ समय के लिये हो सकती है या स्थाई समस्या का रूप धारण कर सकती है। उदाहरण के लिये, श्रमिकों और मालिकों के मूल्यों में संघर्ष के कारण औद्योगिक अशान्ति, हड़ताल, और तालाबंदी होती है, या जमीन के मालिकों और भूमिहीन किसानों के मूल्यों में संघर्ष के कारण कृषि क्षेत्र में अशान्ति रहती है और कृषि श्रमिकों के आन्दोलन होते हैं; या उदार उद्योगपति परिश्रम, मितव्ययता, ईमानदारी और महत्वाकांक्षा को प्रोत्साहित करने में विश्वास रखते हैं और इन गुणों के लिये वित्तीय पारितोषिक प्रदान करते हैं, तो दूसरी ओर रूढ़िवादी इस विचार से गहरा मतभेद रखते हैं और मुनाफे के उद्देश्य और वैयक्तिक पहल (individual initiative) में विश्वास रखते हैं इस प्रकार उदारवादियों और रूढ़ीवादियों में केवल नीतियों के मामलों में ही नहीं अपितु मूल्यों के मामले में भी गंभीर मतभेद होते हैं।

मूल्य-संघर्ष सिद्धान्तवादियों वॉलर, फुलर, क्यूबर और हार्पर का विश्वास है कि सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति और विकास में मूल्यों के संघर्षों का विशेष महत्व होता है। *वॉलर (1936. 924) ने संगठनात्मक और मानवीय मूल्यों में संघर्ष का उल्लेख किया है।* संगठनात्मक मूल्य निजी सम्पत्ति और व्यक्तिवाद के पक्ष में हैं जब कि मानवीय मूल्य दूसरों के कष्टों के निवारण करने के पक्षधर हैं।

परन्तु यह (मूल्य संघर्ष) सैद्धान्तिक उपागम बहुत ही अस्पष्ट है। इसके रचियताओं ने अपने विचारों का विस्तृत वर्णन नहीं किया है। यह कदाचित सही है कि हमारे सामाजिक मूल्य पैसे और भौतिक सम्पत्ति पर अत्यधिक बल देते हैं और यह मनोवृत्ति भ्रष्टाचार, तस्करी, मादक द्रव्यों के व्यापार, कालाबाजारी और रिश्वत लेने को प्रोत्साहित कर सकती है परन्तु सफेदपोश अपराध जैसी समस्याओं को मूल्यों के संघर्ष की सज्ञा नहीं दी जा सकती। तलाक की समस्या मूल्य संघर्ष का परिणाम हो सकती है, परन्तु सभी पारिवारिक समस्याएं पति-पत्नि, या माता-पिता और सन्तानों के मतभेदों के कारण नहीं होतीं। परिवार में आपसी संबधों को सद्भावपूर्ण बनाये रखने में सामान्य मूल्यों पर सहमति सहायक सिद्ध होती है परन्तु यही एक बात पारिवारिक स्थायित्व या समूह की सफलता के लिये आवश्यक नहीं है। इस प्रकार मूल्य-संघर्ष सिद्धान्त अर्थशास्त्र जैसे क्षेत्रों में और सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण में लाभदायक हो सकता है परन्तु इसको निस्सन्देह सार्वलौकिक व्याख्या नहीं माना जा सकता।

मूल्य-संघर्ष उपागम को लागू करते समय सामान्यतया यह प्रश्न पूछे जाते हैं (हार्टन और लेस्ले, 1970: 40): कौन से वे मूल्य हैं जिनमें संघर्ष हैं ? मूल्य संघर्ष कितना गहरा है ? समाज

में कौन से समूह किन संघर्षरत मूल्यों में विश्वास रखते हैं ? वे कितने शक्तिशाली हैं ? कौन से मूल्य लोकतंत्र और स्वतंत्रता जैसे दूसरे अधिक महत्वपूर्ण मूल्यों के अनुकूल हैं ? प्रत्येक समाधानों में किन-किन मूल्यों का बलिदान करना होगा ? कुछ विशेष असगत मूल्य-संघर्षों के रहते क्या कुछ समस्याएं अभी असमाधेय (insoluble) हैं ?

वैयक्तिक विचलन उपागम (Personal Deviation Approach)

विचलन सामाजिक मानदडों का अपालन (non-conformity) है । यह असामान्य व्यवहार से भिन्न है क्योंकि असामान्य व्यवहार मानसिक रोग की ओर संकेत करता है न कि सामाजिक असमायोजन (maladjustment) अथवा संघर्ष की ओर। अतः वे लोग जो सामाजिक मानदंडो से विचलन करते हैं, आवश्यक रूप से मानसिक रोग से पीड़ित नहीं होते ।

सामाजिक समस्याओं के सामाजिक विघटन उपागम में हम उन नियमों का अध्ययन करते हैं जो टूट गये हैं और उन परिवर्तनों का जो इनके टूटने से आये हैं । वैयक्तिक विचलन उपागम में हम विचलित व्यक्तियों की प्रेरणा और व्यवहार का अध्ययन करते हैं जो समस्याओं को उत्पन्न करने में उपकरण बने हैं। वैयक्तिक विचलन उपागम में दो तत्वों की व्याख्या आवश्यक है: (i) वैयक्तिक विचलन कैसे बढ़ा ? (ii) सामाजिक समस्याओं में किस प्रकार के वैयक्तिक विचलन बार-बार आये ? वैयक्तिक विचलन दो कारणों से बढ़ता है (i) मान्यताप्राप्त मानदडो का पालन करने में एक व्यक्ति की असमर्थता, या (ii) सामान्यरूप से मान्यताप्राप्त मानदड़ो को मानने में एक व्यक्ति की विफलता । एक व्यक्ति की भावात्मक, सामाजिक या जीव-विज्ञान संबंधी कमजोरी के कारण प्रथम कारक उत्पन्न होता है, अर्थात् कुछ व्यक्ति जैविक भावात्मक या सामाजिक रूप से इस प्रकार बने होते हैं कि वे सामान्यतः मान्यता प्राप्त नियमों का सुसगत रूप से अनुसरण करने में असमर्थ होते हैं । सामाजिक रूप से अपूर्ण व्यक्ति सही अर्थों में मानदंडों को नही तोड़ते, बल्कि वे मानदंडों को सीखने और उनका पालन करने में अपनी असमर्थता दिखाते हैं । सामाजिक अपूर्णता जीव-मनोवैज्ञानिक होती है । इन विचलित व्यक्तियों को जो सामाजिक समस्याएं उत्पन्न करते हैं और समस्याओं को बढ़ाने में अपना योगदान देते हैं, अपने उपचार के लिये डाक्टरी, मनश्चिकित्सीय (phychatric), पर्यावरण-संबधित या सामाजिक चिकित्सा की आवश्यकता होती है । दूसरी ओर एक व्यक्ति की सामाजिक मानदंडों की अनुपालना में विफलता का संबध उसके सामाजीकरण की कमी के कारण होता है । यद्यपि इन व्यक्तियों ने ईमानदारी, सच्चाई, सत्यनिष्ठा न्याय और सहयोग जैसे मानदंडों और मूल्यों को सीखा है; परन्तु वह उन पर अमल नहीं कर पाते । उनकी अपने स्वार्थ के लिये झूठ बोलने, धोखा देने, शोषण करने, और दूसरों को बदनाम करने की प्रवृत्ति होती है । उनका विचलन उनमें कोई अपराध भावना या लज्जा की भावना भी जागृत नहीं करता । अपने स्वार्थ के लिये वे किसी विषय पर अपना रुख भी बिल्कुल बदल सकते हैं । जब तक कोई स्थिति उनके निहित स्वार्थों के लिये हितकारी होती है, उन्हें इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं होती कि उसके कारण सामाजिक समस्याएं बनीं हुई हैं और उनका समाधान होना संभव नहीं है ।

हार्टन और लेस्ले (1970: 35-36) ने तीन प्रकार के वैयक्तिक विचलनों का वर्णन किया है: (i) विचलन जो विभिन्न सन्दर्भ-समूहों (*reference groups*) के मानदंडों को मानने के फलस्वरूप होते हैं। सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण अधिकांश व्यक्ति मानदंडों के ऐसे विभिन्न प्रकारों से प्रभावित होते हैं जिनका आपस में टकराव हो सकता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति किसी धर्म या जाति का हो परन्तु उसकी व्यावसायिक भूमिका उसे अपने धर्म/जाति के मानदंडों से विचलित होने के लिये बाध्य कर सकती है। इसी प्रकार एक बाबू या अधिकारी रिश्वत ले सकता है क्यों कि यह उसके आर्थिक स्वार्थों की आपूर्ति करता है। (ii) विचलन जो विचलित उप-संस्कृतियों के फलस्वरूप होता है, उदाहरण के लिये, बड़े शहरों की गंदी बस्तियों के अपराधशील मानदंड (criminal norms)। (iii) सामान्यतया मान्यता प्राप्त नियमों का पूर्णतया विचलन। आयकर भरते समय जानबूझ कर अपनी आय को छुपाना इस प्रकार के विचलन का एक अच्छा उदाहरण है।

सामाजिक समस्याओं पर वैयक्तिक विचलन उपागम को लागू करते समय ये प्रश्न पूछे जाते हैं: कौन से विचलित व्यक्ति/समूह इसमें लिप्त हैं ? क्या विचलित व्यक्ति स्वयं ही एक समस्या है या वे समस्या को उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करते हैं ? कौन सी विचलित उप-संस्कृतियां उनमें अपनी भूमिका निभाती हैं ? विचलित व्यक्तियों से निबटने के लिये कौन-कौन से विकल्प हैं ?

मानकशून्यता (एनोमी) उपागम (Anomie Approach)

इस उपागम को मर्टन ने प्रस्तुत किया है। एनोमी एक ऐसी स्थिति है जिसमें समाज अथवा समूह के मानदंड एवं मूल्य तुलनात्मक रूप (relatively) से लोप हो जाते हैं अथवा उनमें दुर्बलता या अस्तव्यस्तता आ जाती है। एनोमी की परिकल्पना सर्वप्रथम दुर्खीम ने श्रम विभाजन और आत्महत्या को समझाने के लिये विकसित की थी, परन्तु दुर्खीम की पुस्तक 'आत्म हत्या' (Suicide) के प्रकाशन के 41 वर्ष उपरान्त मर्टन ने (मर्टन, 1938: 672-73) इसका प्रयोग समाज में सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं के परिचालन (functioning) से उत्पन्न हुये विचलित व्यवहार को समझाने के लिये किया। मानकशून्यता (एनोमी) की स्थिति में सामाजिक संरचना टूट जाती है और यह विशेष रूप से उस समय होता है जब सांस्कृतिक मानदंडों और लक्ष्यों में और उनके अनुकूल समूह के सदस्यों की सामाजिक सरचित क्षमताओं में वियोजन (disjunction) उत्पन्न हो जाता है।

मानकशून्यता सामाजिक एकता के विचार का प्रतिरूप है। जिस प्रकार सामाजिक एकता सामूहिक विचारधारा के समाकलन (integration) की स्थिति है, एनोमी दुविधा (confusion), असुरक्षा और मानदंडों के लुप्त हो जाने (normlessness) की स्थिति है। मर्टन के अनुसार लक्ष्यों (goals) और साधनों (means) में वियोजन और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न तनाव की स्थिति व्यक्तियों की संस्कृति द्वारा निर्धारित किये गये लक्ष्यों या संस्थात्मक साधनों (institutionalised means) या दोनों के प्रति वचनबद्धता में

निर्बलता आ जाने के कारण होती है। यही एनोमी की स्थिति है। मर्टन का मानना है कि व्यक्ति इस वियोजन को सांस्कृतिक लक्ष्यों या संस्थात्मक साधनों या दोनों को अस्वीकार करके मान लेता है। मर्टन विचलित व्यवहार के चार प्रकार (नवाचार, कर्मकाण्डवाद, पलायन और विद्रोह) बताते हैं। मर्टन इस प्रकार व्यक्तियों की विशेषताओं में तनाव के स्रोतों को ढूंढ़ने के बजाय उनको संस्कृति और/या सामाजिक संरचना में ढूढ़ते हैं। वे कहते हैं कि "सामाजिक समस्या व्यक्तियों की अपनी सामाजिक प्रस्थितियों (statuses) की आवश्यकताओं के अनुरूप आचरण नहीं करने से उत्पन्न नहीं होती बल्कि इन सामाजिक प्रस्थितियों को यथोचित सुसंगत सामाजिक व्यवस्था में बाँधने के प्रयत्न में दोषपूर्ण संगठन द्वारा होती है।" (मर्टन और निस्बट, 1971: 823)।

फिर भी, मर्टन का सिद्धान्त अधूरा है। सभी सामाजिक समस्याओं को तनावों (stresses) या अनुकूलन और समंजन (adaptation and adjustment) के ढगों की प्रतिक्रियाओं (responses) का परिणाम नहीं समझा जा सकता।

सामाजिक समस्याओं के प्रकार (Types of Social Problems)

क्लेरैन्स मार्शल केस ने (1964: 3-4) सामाजिक समस्याएं उनकी उत्पत्ति के आधार पर चार प्रकार की बतलाई हैं:

(i) वे जिनका कारण प्राकृतिक पर्यावरण के किसी पहलू में होता है, (ii) जो सम्बन्धित जनसंख्या की प्रकृति या उसके वितरण में अन्तर्निहित होती है; (iii) जो कमजोर सामाजिक संगठन के कारण पैदा होती है; और (iv) जो समाज के सांस्कृतिक मूल्यों के टकराव से बनती हैं।

फुलर और मेयर्स (1941: 367) ने तीन प्रकार की समस्याएं बतलाई हैं: (i) *प्राकृतिक समस्याएं*. यद्यपि समाज के लिये ये समस्याएं होती हैं किन्तु उनका कारण मूल्य-संघर्ष पर आधारित नहीं होता; उदाहरणार्थ, बाढ़ और अकाल; (ii) *सुधारात्मक समस्याएं*. इन समस्याओं के दुष्प्रभावों के बारे में आम सहमति है परन्तु उनके समाधान के बारे में मतभेद हैं; उदाहरण के लिये, अपराध, गरीबी, मादक पदार्थों के सेवन का आदी होना; और (iii) *नैतिक समस्याएं*: इन समस्याओं की प्रकृति और कारणों के बारे में आम सहमति नहीं है; उदाहरणार्थ, जुआ और तलाक

सामाजिक समस्याओं की अध्ययन पद्धतियां (Methods of Studying Social Problems)

सामाजिक समस्याओं के अध्ययनः (i) एकल अध्ययन पद्धति; (ii) सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, और (iii) बहु-कारकवादी पद्धति। प्रत्येक पद्धति में कुछ गुण होते हैं तो कुछ सीमाएं भी।

एकल/वैयक्तिक अध्ययन पद्धति (Case Study Method)

यह पद्धति मात्रात्मक होने के बजाय गुणात्मक है। यह उस सामाजिक प्रक्रिया का विश्लेषण करती है जो किसी सामाजिक समस्या के विकास और उसके कारणात्मक विश्लेषण (caus alanalysis) से जुड़ी होती है। यह घटनाओं के क्रम (sequence), व्यक्तियों की प्रेरणा (motivation), व्यक्तियों और घटनाओं को प्रभावित करने वाले सामाजिक प्रभावों (social influences), सामाजिक सम्बंधों, तथा उप-संस्कृतियों आदि पर बल देती है। (बीटिल हाइम, 1955: 318)। सूचना एकत्रित करने के लिये यह प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों पर निर्भर रहती है, जैसे दस्तावेज़, पत्र, और अखबार (ऑलपोर्ट गौर्डन, 1955: 42)। सामाजिक समस्या की प्रकृति को ध्यान में रख कर एकल अध्ययन पद्धति विचलित व्यक्तियों की उपसंस्कृति के अध्ययन में काम में ली जा सकती है, जैसे कि सगठित अपराधियों, कालाबाजारी करने वाले व्यक्तियों, तस्करों, व मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्तियों की उपसंस्कृति का अध्ययन, या फिर कारागार जैसी किसी संस्था में सम्बन्धों के संरूपों की उपसंस्कृति का अध्ययन।

सामाजिक समस्या के कारणों का विश्लेषण करने में एकल-अध्ययन पद्धति एक गुणात्मक प्रक्रिया (qualitative procedure) है जो कि समस्या उत्पन्न करने वाले व्यवहार के विकास के विषय में सामान्यीकरणों (generalisations) का निरूपण करती है। मादक द्रव्यों का आदी होने के कारणों का विश्लेषण इसका एक उदाहरण है। कई समस्याओं की एक के बाद एक सर्वांगीण खोज़ करके और कई गम्भीर समस्याओं की तुलना करके लिन्डस्मिथ (1948: 13-15) ने मादक द्रव्यों के आदी व्यक्तियों की उन व्यक्तियों से तुलना की है जो बहुत समय से इन द्रव्यों के सेवन के पश्चात भी आदी नही हुए थे। ऐसा करने से वह आदी होने की उन कारणात्मक प्रक्रियाओं (causal processes) को ढूढ सका जो कि आदी नहीं होने वाले में अनुपस्थित थी।

इस पद्धति में व्यक्तियों के सहयोग और विश्वास प्राप्त करने की क्षमता और गहन एव सघन निर्दिष्ट साक्षात्कार (intensive guided interview) की कला की आवश्यकता होती है (वाइनबर्ग, 1960: 69)।

सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति (Social Survey Method)

समकालीन समाज की सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिये यह एक बहुमूल्य तकनीक है। यह एक अनुसूची या प्रश्नावली के द्वारा एक निश्चित जनसमुदाय के प्रतिचयनित समूह के सूचनादाताओं के आंकड़े एकत्रित करती है। इस तकनीक को समाजशास्त्र के क्षेत्र में व्यावहारिक और सैद्धान्तिक प्रश्नों के उत्तर देने के लिये प्राय: काम में लिया जाता है। भारत में इस तकनीक द्वारा *निम्नांकित समस्याओं के अध्ययन किये गये हैं: शिक्षावृति की समस्या,* नशीले पदार्थों का उपयोग, मदिरापान, महिलाओं में अपराध की प्रवृति, दहेज, बाल-अपराध

और महिलाओं के विरुद्ध हिंसा। इसी पद्धति से किन्से (1948) ने अमेरिका में यौन-आचरण (sex behaviour) का सर्वेक्षण किया। इन सब अध्ययनों ने इस बात का संकेत दिया कि सामाजिक समस्या की उत्पत्ति के लिये दो या दो से अधिक चरों (variables) में आनुभविक संबंध होने चाहिये।

सर्वेक्षण पद्धति आवश्यक रूप से किसी परिकल्पना (hypothesis) को लेकर नहीं चलती। यह (पद्धति) एक परिकल्पना का निर्माण कर सकती है या इसका परिकल्पना से किसी प्रकार का भी संबंध नहीं हो सकता है। जब यह पद्धति प्रश्नों के उत्तर ढूढ़ती है तो किसी परिकल्पना का परीक्षण नहीं करती। उदाहरणार्थ, किसी विशेष उद्योग में बालिकाओं के प्रति किस पैमाने पर दुर्व्यवहार हो रहा है, यह एक व्यावहारिक प्रश्न है जिसका उत्तर सर्वेक्षण के दौरान प्राप्त हुई सूचनाओं से मिल जायेगा। परन्तु सर्वेक्षण किसी परिकल्पना का परीक्षण भी कर सकता है। उदाहरणार्थ, इस लेखक (राम आहूजा: 1966) ने इस पद्धति को इस परिकल्पना के परीक्षण में अपनाया कि "महिलाओं में अपराध की प्रवृत्ति के लिये पारिवारिक कुसमायोजन (familial maladjustment) सबसे महत्वपूर्ण कारण है", और इस परिकल्पना का भी परीक्षण किया कि "स्त्रियों के विरुद्ध अपराध हिंसा का कारण वे सामाजिक संरचनात्मक स्थितियां हैं जो ऐसा तनाव पैदा करती हैं जो व्यक्ति के समायोजन (adjustment), लगाव (attachment) और प्रतिबद्धता (commitment) पर प्रभाव डालती है"। "असमायोजन, लगाव विहीनता और अप्रतिबद्धता से कुण्ठाएँ व निराश्य और इनसे सापेक्षिक व तुलनात्मक रूप से वंचित किये जाने (relatived eprivations) की भावना उत्पन्न होती हैं जो पुरुषों के स्त्रियों के प्रति रुख का निर्धारण करती हैं। पुरुष का स्त्री के विरुद्ध हिंसा अपनाना इस पर निर्भर करता है कि उसके व्यक्तित्व की क्या विशेषताएं हैं और स्त्री में प्रतिरोध करने की कितनी अन्तः शक्ति है।" (राम आहूजा, 1987)।

बहु-कारक पद्धति (Multi-Factor Method)

यह पद्धति कई कारकों और एक सामाजिक समस्या के मध्य सबंध को निर्धारण करती है। संबंधों की प्रकृति, सामाजिक एव आर्थिक प्रस्थिति, उप-संस्कृति, वैवाहिक प्रस्थिति, घरेलू परिवेश, परिवार में सदस्यों के आपसी संबंध, निराशाएं और विरासत से मिले गुण जैसे कारक उस समस्या से सकारात्मक या नकारात्मक रूप से जोड़े जा सकते हैं जिस पर अनुसन्धान चल रहा है; उदाहरण के लिये, अपराध और निर्धनता के बीच संबंध, या मादक द्रव्यों का व्यसन और मित्र-समूह व ऊंची आर्थिक प्रस्थिति के बीच संबंध, या पत्नि को पीटने और हीनभावना एवं मद्यपान या आत्महत्या के बीच संबंध, तथा सामाजिक अलगाव की भावना, वैवाहिक स्थिति तथा धर्म के बीच सम्बन्ध।

बहुकारक उपागम का प्रयोग सामाजिक समस्याओं के एक-विषयक अध्ययनों में या अन्तर्विज्ञानीय (inter-disciplinary) अध्ययनों में किया जाता है। उदाहरण के लिये, भारत में चिकित्सा वैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों और अपराध शास्त्रियों के आपसी

सहयोग से मादक द्रव्यों के व्यसन संबंधी अध्ययन (मोहन डी., 1980) ।

सामाजिक समस्या के विकास में विभिन्न चरण (*Stages in the Development of a Social Problem*)

फुलर और मैयर्स (1941: 320-28) ने उन तीन चरणों का उल्लेख किया है जिनसे होकर समस्याएं परिभाषित होने और उनके निवारण होने की प्रक्रिया से गुजरती हैं.

1. *जागरूकता (awareness)* . पहले चरण में, व्यक्तियों को विश्वास हो जाता है कि समस्या विद्यमान है, स्थिति अवाछनीय है और इसके निवारण के लिये कुछ किया जा सकता है । प्रारम्भ में कुछ ही लोग प्रश्न उठाते हैं परन्तु शनै शनै और लोग भी समस्या के बारे में जान जाते हैं ।
2. *नीति निर्धारण (policy determination)*. समाज के बड़े भागों को जैसे-जैसे इस (समस्या) की जानकारी प्राप्त होती है वैसे वैसे उसके सम्भव समाधानों पर बहस छिड़ जाती है, उदाहरणतया, भारत में जनसख्या विस्फोट और 50, 60, 70 और 80 के दशकों में परिवार नियोजन के विभिन्न उपाय । इस प्रकार, दूसरे चरण में क्या करना चाहिये की अपेक्षा इसे कैसे करना चाहिये अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है ।
3. *सुधार (reform)*: समाधानों और नीतियों का जैसे ही निर्धारण हो जाता है, कार्यवाही करने का चरण आ जाता है । उदाहरणतया, गदी बस्तियों को खाली करने की योजना को ही कार्यबद्ध नही किया जाता, अपितु वहा बसे हुये व्यक्तियों को भी अन्यत्र स्थानों पर बसा दिया जाता है । इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि इस चरण को कार्यान्विति की स्थिति कहते हैं, ना कि निर्णय लेने का चरण ।

हर्बर्ट ब्लूमर (1971: 290-309) ने एक सामाजिक समस्या के निवारण में पाच चरणों का उल्लेख किया है: *(1) समस्या का प्रगट होना, (2) समस्या का वैधीकरण (legitimation)*, (3) कार्यवाही को गतिशील बनाना, (4) सरकारी योजना को प्रतिपादित करना, और (5) सरकारी योजना को कार्यान्वित करना । वे कहते हैं कि एक चरण से दूसरे चरण में पहुंचना स्वत. ही नहीं हो जाता परन्तु वह कई सयोगों (contingencies) पर निर्भर होता है ।

मैल्कम स्पेक्टर और जॉन किट्सयूस (1977. 141-50) ने सामाजिक समस्या के विकसित होने में चार चरणों का उल्लेख किया है.

(1) आन्दोलन (Agitation)

समाज में विद्यमान स्थिति से व्यक्ति असतुष्ट होते है । वे इस दु.खद स्थिति के विरुद्ध आदोलन करते हैं जिससे: (i) समस्या के विद्यमान होने के विषय पर दूसरों को विश्वास दिलाया जा सके, *(ii) स्थितियों को सुधारने के लिये कार्यवाही प्रारम्भ की जा सके, और (iii) दु.खद स्थिति तथा* कथित कारण से निबटा जा सके । आदोलन आवश्यक रूप से पीडित लोग ही प्रारम्भ नहीं करते । इसके लिये पीड़ित लोगों की ओर से सामाजिक कार्यकर्ता भी अभियान चला सकते हैं ।

उदाहरणार्थ, मदिरा निषेध आंदोलन मदिरा व्यसनियों के बजाय सामाजिक कार्यकर्ताओं और सुधारकों द्वारा चलाया जाता है। इस प्रकार आदोलन का उद्देश्य निजी परेशानियों को जनसाधारण की समस्याओं में बदलना होता है और इसके लिये निजी परेशानियों को हानिकारक, घृणास्पद और अवांछनीय बतलाया जाता है। फिर भी यह आवश्यक नहीं कि उनके प्रयास सफल हों। प्रयास इसलिये विफल होते हैं कि या तो जो दावे (claims) किये जाते हैं वे स्पष्ट नही होते या इन प्रयासों से जुड़ा समूह उपेक्षणीय या निर्बल होता है, या यह समूह आपसी टकराव वाले स्वार्थ उत्पन्न कर देता है।

(2) तर्कसंगति और सहयोजन (Legitimation and Cooptation)

सत्ता में होने वाला समूह या सत्तारूढ़ व्यक्ति यदि किसी समस्या का होना मान लेते हैं तो वह समस्या तर्कसगत बन जाती है। पहले चरण में समस्याओं के दावेदारों को विशिष्ट व्यक्ति समझा जाता है, जबकि इस चरण में उन्हें पीड़ित लोगों का वैध अधिवक्ता माना जाता है। इसलिये उनका सहयोजन वैकल्पिक समाधानों पर बहस करने के लिये कर ली जाती है। उदाहरण के लिये, कारखानों में या प्रबंधक संस्थाओं में श्रमिकों को और शैक्षिक समितियों में विद्यार्थियों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

(3) अधिकारीतन्त्र और प्रतिक्रिया (Bureaucratization and Reaction)

पहले चरण में जहा ध्यान परिवादी-समूह (complaint group) पर केन्द्रित रहता है, तो दूसरे चरण में वह निर्णायकों (decision-maker) पर होता है और तीसरे चरण में वह अधिकारियों (bureaucrats) और उनकी कार्यकुशलता पर चला जाता है। एक उपद्रव, आंदोलन (movement) का स्वरूप धारण करेगा या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि अधिकारी किस सीमा तक समस्या के समाधान ढूढ़ते हैं और किस सीमा तक वे निहित स्वार्थों को समस्या से अलग रख पाते हैं।

(4) आन्दोलन का पुन. उद्गमन (Re-emergence of the Movement)

निर्णय लेने वालों और अधिकारियों की दोषपूर्ण नीतियां और समस्या के प्रति उदासीनता पीड़ित लोगों और उनके नेताओं की भावनाओं को पुनः जागृत करती है और वे समस्या के समाधान हेतु सत्ताधारियों को सुधार-संबंधी कार्यवाहियां (ameliorative measures) करने को बाध्य करने के लिये आंदोलन चलाते हैं।

इस प्रकार स्पेक्टर और क्टिस यूस (1977: 20) के अनुसार "सामाजिक समस्या विशेष रूप से एक राजनैतिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक समस्या को सार्वजनिक रूप से मान लिया जाता है और जिसके द्वारा समस्या के प्रति विशिष्ट संस्थात्मक अनुक्रियाएं institutional responses) अपना रूप धारण करतीं हैं और उन्हें फिर बदलती रहती हैं।

ग्रामीण और शहरी समस्याएं (Rural and Urban Problems)

कई विद्वानों ने ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में विशेष अन्तर का उल्लेख किया है और कई बार सामाजिक समस्याए इन अन्तरों से पहचानी जाती हैं।

ग्रामीण समस्याओ की विशेषताए

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताए, जिनका कुछ सामाजिक समस्याओं से घनिष्ट संबध है, इस प्रकार है (i) व्यक्ति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से खेती पर निर्भर हैं। (ii) उच्च जाति के लोगों के पास अभी भी बडे-बडे खेत हैं जब कि निम्न जाति के लोगों के पास न्यूनतम (marginal) भूमि है या वे भूमिहीन श्रमिकों की तरह काम करते हैं। (iii) शहरी लोगों की तुलना में ग्रामीण लोग बिखरे हुए हैं। (iv) ग्रामीणों की न केवल भूमिकाए परन्तु मूल्य भी अभी तक परम्परागत हैं और (v) किसानों को अपनी पैदावार का मूल्य उनके परिश्रम के अनुपात में कम मिलता है। यद्यपि ग्रामीण आर्थिक सकट का प्रभाव सब किसानों पर समान नही है, परन्तु निम्न और मध्यम वर्ग के किसानों को, जो अधिक संख्या में हैं, अपने लड़कों और भाईयों को जीवनयापन के नये स्रोतों को खोजने के लिये शहरी क्षेत्रों में भेजने के लिये बाध्य होना पडता है। शहरों में उन्हें गंदी बस्तियों में रहना पड़ता है और शिक्षा और उचित प्रशिक्षण के अभाव में दैनिक वेतन श्रमिकों की तरह काम करना पड़ता है। ग्रामीण किसानों का जीवन स्तर बहुत निम्न होता है और बडे जमीदार, बिचौलिये, और उधार देनेवाले साहूकार उनका बहुत शोषण करते हैं। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि उनका समस्त जीवन निराशा से भरा होता है। दूसरी ग्रामीण समस्याओं का कारण ग्रामीण लोगों का सकेन्द्रित समूहों (concentrated masses) में नही रहना है। इस कारण से उन्हें विशेष सेवाए जो आधुनिक जीवनयापन के लिये आवश्यक हैं, बहुत ही कम उपलब्ध हो पाती हैं, उदाहरणार्थ, चिकित्सा, बाजार, बैंकिंग, यातायात, सचार, शिक्षा, मनोरजन आदि। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों को सामान्य रूप से बहुत असुविधा का सामना करना पड़ता है और उनके सामने कई सामाजिक समस्याए होती हैं।

शहरी समस्याओ की विशेषताएं

जिस प्रकार कई ग्रामीण समस्याए ग्रामीणों के अकेले और बिखरे हुए रहने के कारण होती हैं, उसी प्रकार कई शहरी समस्याएं आबादी के केन्द्रीकरण से उपजती हैं। गदी बस्तियां, बेरोजगारी, अपराध, बाल-अपराध, भिक्षावृत्ति, भ्रष्टाचार, मादक द्रव्यों का सेवन, वायु-प्रदूषण, आदि ये सब शहरी समस्याएं छोटे और बडे शहरों के असहनीय जीवन की परिस्थितियों के परिणाम हैं। गाव में प्रत्येक व्यक्ति को गाव के दूसरे व्यक्ति इतना जानते हैं कि उसके कुकर्म छिपते नहीं बल्कि चर्चा के विषय बन जाते हैं। परन्तु शहर में भीड़भाड में रहने के कारण किसी को यह पता नही चलता कि दूसरा व्यक्ति क्या कर रहा है। शहर में अधिकाश व्यक्तियों पर कोई सामाजिक दबाव नही होता और इस कारण विचलन की दर बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त शहरी जीवन में अन्तर-निर्भरता इतनी अधिक है कि एक छोटे किन्तु महत्वपूर्ण भाग

की गड़बड़ी दूसरे भागों को निष्क्रिय बना देती है । सफाई मजदूरों, यातायात कर्मचारियों, राज्य विद्युत मण्डल के कर्मचारियों, जल-विभाग के कर्मचारियों या दुकानदारों द्वारा की गई हड़तालें इसके सरल उदाहरण हैं । गुमनामयन दंगों, धार्मिक झगड़ों और उपद्रवों की घटनाओं को बढ़ाता हैं । इसलिये यह आश्चर्यजनक नहीं कि शहरी जीवन की विशेषताए कई सामाजिक समस्याओं के लिये उत्तरदायी हैं ।

सामाजिक समस्याओ का समाधान (Solving Social Problems)

सामाजिक समस्या का समाधान उन कष्टप्रद सामाजिक स्थितियों के कारणों के पता लगाने पर निर्भर है जो समस्या को उत्पन्न करते हैं । जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि प्रत्येक सामाजिक समस्या अनेक कारणों से होती है फिर भी उसके प्रमुख कारणों, सहायक कारणों और छोटे उत्तेजित करने वाले कारणों का पता लगाना संभव है जो उस समस्या की उत्पत्ति या विकास के लिये उत्तरदायी हैं । प्रत्येक समस्या सभवत. अनूठी होती है और उसमें संभवतया कुछ ऐसी अपनी विशेषताएं होती हैं जिनसे वह दूसरी समस्याओं से भिन्न लगती हैं । कई बार सामाजिक समस्या की प्रकृति ऐसी होती है कि उस पर नियंत्रण रखना असंभव नही तो अत्यन्त कठिन तो होता ही है । यह उस समय होता है जब सामाजिक समस्या सूखे या बाढ़ जैसे प्राकृतिक कारणों से होती है या जब सामाजिक स्वार्थों के टकराव के कारण समस्या में सुधार के लिये बनाई गई योजना क्रियान्वित नहीं हो पाती या जब विद्यमान राजनैतिक अथवा आर्थिक व्यवस्थाओं को बदलने के लिये एक क्रान्ति की आवश्यकता होती है । परन्तु सामाजिक समस्याओं को समझने और उनका मूल्याकन करने के पश्चात समाज को प्रभावी कदम उठाने चाहिये चाहे वे संस्थापित सामाजिक संस्थाओं को परिवर्तित करने का प्रयास हो या ऐसी संस्थाओं को बिना परिवर्तित किए हुये ऐसे उपाय किये जायें जिनसे उनमें सुधार आये । इसके अतिरिक्त कार्यवाही संगठित रूप से हो सकती है या व्यक्तिगत रूप से । संगठित रूप से कार्यवाही सामूहिक प्रयास से होती है, जैसे कि एक उद्योग के प्रबन्ध में औद्योगिक श्रमिकों को साझेदारी देना; और व्यक्तिगत रूप से कार्यवाही अपने व्यक्तिगत जीवन से की जाती है, तथा ऊंचे आदर्शों से ओत प्रोत जीवन का आदर्श दूसरों के सामने रख कर उन्हें प्रभावित करने से होती हैं । गांधी जी ने छुआछूत की समस्या का निवारण करने हेतु यही दूसरा रास्ता अपनाया था । वे हरिजनों के साथ रहे और उन्होंने उनके प्रति सम्वेदना और स्नेह का व्यवहार अपनाया । जब दूसरे व्यक्तियों ने उनके आदर्श को अपनाया और उनके मार्ग का अनुसरण किया तो उसका प्रभाव दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता गया जिसके परिणामस्वरूप सरकार को 1955 में एक ऐसे कानून बनाने के लिये बाध्य होना पड़ा जिसके अनुसार छुआछुत की प्रथा को निषिद्ध किया गया ।

इस प्रकार सगठित कार्यवाही सरकार, कोई राजनैतिक दल, पंचायत, या कोई सरकारी समूह कर सकता है । सगठित कार्यवाही में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि उसमें सरकारी ऐजेन्सियों और उनसे बाहर के व्यक्तियों में काम का ठीक से बंटवारा होना चाहिये ।

कभी-कभी समस्या का समाधान सगठित और व्यक्तिगत दोनों की मिलीजुली कार्यवाही से हो जाता है।

सामाजिक समस्याओं का निवारण तभी सभव है जब समाज के व्यक्ति चार निम्नांकित भावनाएं रखते हों· (i) स्थिति सुधारी जा सकती है, (ii) स्थिति को सुधारने के लिये दृढ़ निश्चय, (iii) लोगों में विश्वास और यह धारणा कि उनकी बुद्धिमत्ता और प्रयासों से असीमित उन्नति हो सकती है, और (iv) स्थिति को सुधारने के लिये प्रोद्योगिकी और बुद्धिसगत ज्ञान और निपुणता के प्रयोग की आवश्यकता।

सामाजिक समस्याओं के निवारण के लिये निम्नांकित तीन बिन्दुओं को ध्यान में रखा जाना चाहिये:

1. *बहु-कारकवादी उपागम (Multiple-factor Approach)*. प्रत्येक सामाजिक समस्या कई कारणों से उत्पन्न होती है, उदाहरणतया, अपराध की समस्या को नियन्त्रित करने के लिये उसका आनुवंशिकता, निर्धनता, बेरोज़गारी, सामाजिक गठबधन, सामाजिक सरचनाओं की कार्यशैली, तनावों और निराशाओं के संदर्भ में सामूहिक रूप से अध्ययन किया जाना आवश्यक है अन्यथा वह नियन्त्रित नहीं की जा सकती।
2. *पारस्परिक सम्बद्धता (Inter-relatedness)·* किसी भी सामाजिक समस्या को एक अलग-थलग समस्या अथवा परमाणवीय (atomistically) दृष्टि से नही समझा जा सकता। प्रत्येक समस्या दूसरी समस्याओं से सबन्धित होती है।
3. *सापेक्षिकता (Relativity)*: प्रत्येक सामाजिक समस्या का समय और स्थान से सबंध होता है। एक समाज की समस्या को हो सकता है दूसरा समाज समस्या ही नही स्वीकार करे।

भारत मे सामाजिक समस्याए और सामाजिक परिवर्तन (Social Problems and Social Change in India)

सामाजिक और सास्कृतिक परिवर्तनों के कारण समाजों में समस्याए उत्पन्न होती हैं। सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है प्रतिमानित भूमिकाओं (patterned roles) में परिवर्तन, या सामाजिक संबधों के जाल में परिवर्तन, या समाज की सरचनाओं और सगठन में परिवर्तन। सामाजिक परिवर्तन कभी सपूर्ण नही होता, वह सदैव अपूर्ण होता है। वह छोटा अथवा मूलभूत हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह स्वत स्फूर्त या नियोजित हो सकता है। नियोजित परिवर्तन कुछ सामूहिक ध्येय प्राप्त करने के लिये किया जाता है। स्वाधीन होने के बाद भारत ने भी कुछ सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करने का निश्चय किया था।

हमारे समाज में पिछले चार-पाच दशकों में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं वे इस प्रकार हैं· कुछ निश्चित मूल्यों और सस्थाओं में परम्परा के स्थान पर आधुनिकता, प्रदत्त (ascribed)

प्रस्थिति के स्थान पर अर्जित (achieved) प्रस्थिति, प्राथमिक समूहों की प्रमुखता के स्थान पर द्वितीयक समूहों की प्रमुखता, नियन्त्रण के अनौपचारिक साधनों के स्थान पर औपचारिक साधन, समूहवाद के स्थान पर व्यक्तिवाद, धार्मिक मूल्यों के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष मूल्य, लोककथाओं के स्थान पर विज्ञान और युक्तिकरण, एकरूपता के स्थान पर विषमता और औद्योगीकरण और नगरीकरण की बढ़ती हुई प्रक्रियाएं, समाज के विभिन्न खण्डों में शिक्षा के विस्तार से हुई अधिकारों के प्रति बढ़ती जागरूकता, जाति व्यवस्था में शिथिलता, सुरक्षा के पारम्परिक स्रोतों में शिथिलता, अल्पसंख्यक समूहों में बढ़ती हुई आकांक्षाएं, व्यावसायिक गतिशीलता कई सामाजिक कानूनों का निर्माण, और धर्म को राजनीति से जोड़ना।

इस प्रकार यद्यपि हमने निश्चित सामूहिक लक्ष्यों में से कई लक्ष्य प्राप्त कर लिये हैं फिर भी हमारी व्यवस्था में कई अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गये हैं। उदाहरण के लिये, व्यक्तियों की आकांक्षाएं तो ऊंची हो गई हैं परन्तु इनको पूरा करने के लिये न्यायसंगत साधन या तो उपलब्ध नहीं हैं या उन्हें प्राप्त नही किया जा सकता। हम राष्ट्रीयता का उपदेश तो देते हैं परन्तु जातिवाद, भाषावाद और संकीर्णता को अपनाते हैं, कई कानून बनाये गये हैं परन्तु इन कानूनों में या तो बचाव के कई रास्ते हैं या फिर इन्हें ठीक से लागू नहीं किया जाता; हम समानतावाद की बात करते हैं परन्तु पक्षपात का प्रयोग करते हैं; हम आदर्शात्मक संस्कृति की अभिलाषा करते हैं परन्तु वास्तव में जिसका उद्भव हो रहा है वह है एन्द्रियिक (sensate) संस्कृति। इन सब अन्तर्विरोधों से व्यक्तियों में असन्तोष और निराशा की भावनाएं बढ़ी हैं और इनके कारण कई सामाजिक समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं। युवा अशान्ति, जनजाति अशान्ति, कृषकों में अशान्ति, औद्योगिक अशान्ति, विद्यार्थियों में अशान्ति, स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा, इन सब ने आंदोलनों, दंगों, विद्रोहों और आतंकवाद को पनपाया है।

समाजशास्त्र, समाजशास्त्री और सामाजिक समस्याएं (Sociology, Sociologists and Social Problems)

समाजशास्त्र और सामाजिक समस्याओं के संबंध के बारे में तीन समस्याएं हैं जिनका विश्लेषण होना चाहिये। ये समस्याएं हैं: (1) समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं को किस परिप्रेक्ष्य में देखता है; (2) सामाजिक समस्याओं के लिये समाजशास्त्र कौन से समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करता है; और (3) सामाजिक समस्याओं के बारे में समाजशास्त्रियों की जानकारी किस सीमा तक निष्पक्ष, प्रामाणिक, एवं ठोस होती है?

जहां तक समाजशास्त्रियों के संदर्भ में परिप्रेक्ष्य का प्रश्न है, वे सामाजिक समस्याओं को ऐसी समस्याएं मानते हैं जो समाज में व्यवस्थाओं और संरचनाओं की कार्यप्रणाली से उत्पन्न होती हैं या जो समूह के प्रभावों का परिणाम हैं। वे उन सामाजिक संबंधों से भी संबंधित हैं जो सामाजिक समस्याओं के कारण प्रकट होते हैं या जीवित रहते हैं। इस प्रकार मद्यपान का विश्लेषण करते समय जहां डाक्टर की रुचि व चिन्ता उसके शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों में होगी, एक मनोवैज्ञानिक की उसकी मनोवृत्तियों और व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभावों में, एक

समाजशास्त्री का सरोकार उसके सामाजिक संबंधों और भूमिकाओं पर पडने वाले प्रभावों में, अर्थात परिवार के सदस्यों के साथ, दफ्तर में सहयोगियों के साथ, और पड़ौसियों और मित्रों के साथ संबंधों में होगा। उसकी दिलचस्पी उसके काम में निपुणता और पद आदि पर पड़ने वाले प्रभावों में भी होगी।

समाजशास्त्र में सामाजिक समस्याओं का अध्ययन ऐसे नियमों को ढूंढने की प्रबल इच्छा रखता है जो वैध और तर्कसंगत हों तथा जिनसे कुछ समस्याओं में एक क्रमबद्ध सिद्धान्त का निर्माण भी हो सके (आरनोल्ड रॉस, 1957: 189-99)। सामाजिक समस्याओं की समाजशास्त्रीय जानकारी पूर्ण नहीं होती। अपराध और मादक पदार्थों के सेवन जैसी समस्याओं के बारे में हमारे पास बहुत जानकारी है परन्तु दूसरी समस्याओं, जैसे आत्महत्या, युद्ध और मानसिक रोग के बारे में हमारी जानकारी अपर्याप्त है। वैनबर्ग (1960-64) के अनुसार सामाजिक समस्याओं की जानकारी की यह असमानता इसलिये है कि हमारा सामाजिक समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण 'सिद्धान्त-केन्द्रित' होने की अपेक्षा अधिकतर 'समस्या-केन्द्रित' होता है। अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक समस्याओं का अध्ययन समाज की व्यावहारिक अभिरुचि के कारण करते हैं, ना कि सिद्धान्त विकसित करने या सैद्धान्तिक कमियों को भरने के दृष्टिकोण से। जहाँ तक समाजशास्त्रियों की जानकारी में पक्षपात या अभिनति (bias) का प्रश्न है, यद्यपि यह सम्भव है कि उनका अभिमुखीकरण (orientation) और उनके मूल्य उनके सामाजिक समस्याओं के अध्ययन को प्रभावित कर सकते हैं फिर भी वे तथ्यों की व्याख्या बिना तोड-मरोड कर करने का प्रयास करते हैं (कोल्व, 1954: 66-67)। उदाहरण के लिये, एक निम्न या मध्यमवर्ग के समाजशास्त्री का रवैया अपने वर्ग के प्रति पक्षपातपूर्ण हो सकता है फिर भी वह उच्चवर्ग में विद्यमान भ्रष्टाचार का विश्लेषण अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के आधार पर नहीं करता। वह निष्पक्ष रहता है और उस पर दबाव का कोई प्रभाव नहीं होता। फिर भी यह एक संभावना रहती है कि वे लोग जो कई सामाजिक समस्याओं से जुडे होते हैं नई जानकारी प्राप्त होने पर उसको प्रभावित कर सकते हैं। वास्तव में वे अवश्य ऐसा करते हैं। उदाहरणतया, भारत जैसे समाज में पत्नि को पीटने का समाजशास्त्रीय अध्ययन "हिमकदुक पद्धति" (snowball method) से ही हो सकता है क्योंकि इस मामले की शिकायत पुलिस में कभी भी दर्ज नहीं कराई जाती। अध्ययन सामान्यतया यह संकेत देता है कि इसमें निम्न आय वर्ग की स्त्रियां अधिक कष्टभोगी होती हैं। इसलिये उच्च-मध्यम और उच्च आय वर्गों की पिटने वाली स्त्रियों की हमें अधिक जानकारी नहीं है। सभी वर्गों की पिटने वाली स्त्रियों के आकडे उपलब्ध नहीं होने के कारण सामाजिक निष्कर्षों और परिकल्पनाओं पर इसका निश्चित रूप से प्रभाव पडता है।

इसी प्रकार वेतनभोगी स्त्रियों की भूमिका-समजन (Role adjustment) का अध्ययन यदि निम्नवर्ग तक ही सीमित रहता है तो वह बिरले ही पति और पत्नि के अलग होने, परित्याग या तलाक की स्थितियों की ओर संकेत करता है, परन्तु मध्यम और ऊंचे वर्ग की वेतनभोगी

स्त्रियों का अध्ययन ऐसी समस्याओं (अर्थात अलग होने, परित्याग व तलाक) की संभावनाओं को अधिक व्यक्त करेगा।

समाजशास्त्रियों द्वारा सामाजिक समस्याओं के अध्ययन करने में एक और तथ्य सामने आया है कि समाजशास्त्री सोचते हैं कि उनकी भूमिका केवल एक विश्लेषक की है, अर्थात उन्हें सामाजिक समस्याओं को जानना है परन्तु उनके समाधान में उनकी कोई रुचि नहीं है। दूसरे लोग सोचते हैं कि समाजशास्त्री को सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के साथ-साथ उनके समाधान के लिये तरीके और उपाय भी सोचने हैं। जानकारी को पूर्णरूप से सुनियोजित आधार पर किये गये दोषनिवारक कार्य से अलग नहीं किया जा सकता बल्कि इसको (याने कि जानकरी को) सामाजिक समस्याओं को कम करने के लिये प्रयोग में लाना चाहिये। परन्तु इस बात को भी याद रखना चाहिये कि समाजशास्त्री स्वय ही किसी सामाजिक समस्या को नही सुलझा सकता। इसमें अफसरों, राजनीतिज्ञों, ऐजेन्सियों और जनसाधारण की भी एक बड़ी भूमिका होती है।

समाजशास्त्री का कार्य क्या है? अब समय आ गया है जब कि व्यापार के प्रबंध और प्रशासन के प्रबध की भांति 'समाज में परिवर्तन के प्रबध' (management of change in society) को समाजशास्त्री को अपने हाथ में लेना है। समाजशास्त्र का प्रमुख संबंध व्यवस्था और परिवर्तन से है। परिवर्तन में दिलचस्पी के साथ परिवर्तन की दिशात्मकता (directionality of change) भी जुड़ी है और समाजशास्त्रियों को भारत-ज्ञान (Indology) और प्राचीन इतिहास के माध्यम से पुरातन अतीत का गहन अध्ययन करने और भारतीय सामाजिक वास्तविकता के अध्ययन के लिये उपयुक्त अवधारणाओं और सिद्धान्तों के आधार तत्व बनाने के स्थान पर भविष्य के लिये योजनाएं बनानी चाहिये और समाज में संकट-स्थितियों को पहचानना और उनसे निबटना चाहिये।

एक प्रश्न किया जा सकता है कि क्या समाजशास्त्रियों को सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये अनुप्रयुक्त या व्यावहारिक कार्यक्रमों (applied programmes) और ऐसे मूलभूत शोध (basic research) की गतिविधियों में, जो उन कार्यक्रमों में सहायक सिद्ध हों, दिलचस्पी दिखानी चाहिये? मेरा उत्तर सकारात्मक होगा। समाज की समस्याओं की गहनता इसमें भी और अधिक गहन संरचनात्मक और सांस्कृतिक परिवर्तनों पर बल दे सकती है। अब तक समाजशास्त्री संस्थापित प्रथाओं या व्यवहारों के विश्लेषणों एवं व्याख्याओं में जुटे रहते थे, इन्हें चाहिये कि वे नई सरचनाओं और प्रथाओं के विषय में अपने सुझाव दें। ऐसा करने से यह प्रश्न उठता है कि परिवर्तनों सबंधी सुझाव देने के लिये समाजशास्त्रियों के पास कौनसे उपयुक्त तरीके हैं? इससे संबधित पहला प्रश्न है कि जन नीति में परिवर्तन लाने के लिये समाजशास्त्री को प्रत्यक्ष रूप से कैसे अपने आप को जोड़ना चाहिये? क्या समाजशास्त्री को निष्पक्ष वैज्ञानिकों की तरह रहना चाहिये और दूसरों को प्रयोग के लिये केवल आंकड़े उपलब्ध करा देने चाहिये या क्या उन्हें परिवर्तन के जोशीले समर्थक के रूप में सक्रिय होकर

REFERENCES

1. Ahuja, Ram, *Crimes Against Women*, Rawat Publications, Jaipur, 1987.
2. Ahuja, Ram, *Female Offenders*, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1969.
3. Allport, Gordon, W., *The Use of Personal Documents in psychological Science*, Social Science Research Council, New York, 1942.
4. Becker, Howard S., *Social Problems: A Modern Approach*, John Wiley & Sons, New York, 1966
5. Bettelheim, Bruno, *Truants from Life*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1955.
6. Bredemeier, H C. and Toby, J., *Social Problems in America*, John Wiley & Sons, Inc., New York, 1960.
7. Carr Lowell J., *Analytical Sociology*, Harper, New York, 1955.
8. Cuber, John F and Harper, Robert, A. *Problems of American Sociology: Values or Conflict*, Holt, New York, 1948.
9. Elliott, Mabel A. and Merrill, Francis E., *Social Disorganisation*, Harper and Brothhers, New York, 1950.
10. Fuller, Richard C. and Myres, Richard R., "The Natural History of a Social Problem", *American Sociological Review*, 1941.
11. Gillin, J.L., Dittmen, C.G. Colbert, R.J. and Kastler, N.M., *Social Problems*, The Times of India Press, Bombay, 1965.
12. Hermon, Abbon P., *An Approach to Social Problems*, Ginn, Boston, 1949.
13. Horton, Paul B. and Leslie, Gerald R., *The Sociology and Social Problems*, (4th Ed.), Appleton Century Crofts, New York, 1970.
14. Kinsey Alfred, etal., *Sexual Behaviour in the Human Male*, W.B. Saunders Co., Philadelphia, 1948.
15. Kolb, William L., "The Impingement of Moral Values on Sociology" in *Social Problems*, October, 1954.
16. Landis, Paul H., *Social Problems*, J.B. Lippincott Co., Chicago, 1959.
17. Laskin Richard (ed.), *Social problems*, McGraw Hill Co., New York, 1964.
18. Lindesmit Alfred R., *Opiate Addiction*, Principia Press, Bloomington, Indiana, 1948.
19. Merton, R.K., "Social Structure and Anomie", *American Sociological Review*, October, 1938.

20. Merton, R.K., *Social Theory and Social Structure*, Free Press, Glencoe, New York, 1957.
21. Merton and Nisbet (eds.), *Contemporary Social Problems*, Harcourt Brace, New York, 1971.
22. Neumeyer, M.H *Social Problems and the Changing Society*, Princeton, New Jersey, 1953.
23. Ogburn William F., *Social Change*, Delt, New York, 1966.
24. Phelps, Harold, A. and Henderson, David, *Contemporary Social Problems*, Prentice Hall, Englewood, 1952.
25. Raab, Earl and Selzknick, G.J., *Major Social Problems*, Row Peterson and Co., Illinois, 1959.
26 Reinhardt, James M., Meadows Paul and Gillettee, John M., *Social Problems and Social Policy*, American Book Co., New York, 1952.
27. Rose, Arnold, "Theory for the Study of Social Problems", in *Social Problems*, 1957.
28. Spector Malcolm and Kitsuse John, *Constructing Social Problems*, 1977.
29. Stark, Rodney, *Social Problems*, Random House, New York, 1975.
30. Waller, Willard, "Social Problems and the Mores", *American Sociological Review*, (1), 1936.
31. Walsh, Mary E. and Furfey, Paul H., *Social Problems and Social Action* (3rd ed), Prentice Hall, Englewood Cliffs, New Jersey, 1961.
32. Warren, Roland, L., "Social Disorganisation and the Interrelationship of Cultural Roles", *American Sociological Review*, (14), 1949.
33. Weinberg, Kirson, S. *Social Problems in Our Times*, Prentice Hall Inc., Englewood Cliffs, New Jersey, 1960.
34. Whyte, William F., *Street Corner Society*, University of Chicago Press, Chicago, 1955.

अध्याय 2

निर्धनता
Poverty

बीसवी शताब्दी में ही निर्धनता और निर्धन व्यक्ति हमारी चिन्ता और कर्तव्य के विषय बने। अंग्रेजों के राज्यकाल में निर्धन व्यक्तियों की उपेक्षा के कारण स्वतत्र होने के उपरान्त किये गये उपाय दर्शाते हैं कि निर्धनता की ओर मुख्य ध्यान दिया गया और उसको कम करना एक सामाजिक उत्तरदायित्व माना गया। यह किस प्रकार हुआ ? हमने क्या किया ? हम कहां तक सफल हुये हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले हम सर्वप्रथम निर्धनता की अवधारणा का अध्ययन करेंगे।

अवधारणा (The Concept)

निर्धनता की परिभाषा करते समय तीन स्थितियों का प्राय.प्रयोग किया जाता है:(i) एक व्यक्ति को जीवित रहने के लिये कितना पैसा चाहिये, (ii) निम्नतम जीवन-निर्वाह का स्तर (subsistence level) और एक विशेष समय और स्थान पर प्रचलित जीवन-स्तर (living standard) और (iii) समाज में कुछ व्यक्तियों के समृद्ध होने और अधिकतर के निर्धन होने की दशाओं की तुलना। अन्तिम उपागम निर्धनता को सापेक्षिकता (relativity) और असमानता (inequality) के दृष्टिकोणों से परिभाषित करता है। पहली दो परिभाषाएं जब कि नितांन्त निर्धनता की आर्थिक अवधारणा का उल्लेख करती है, तीसरी उसको एक सामाजिक अवधारणा की तरह देखती है, अर्थात तल (bottom) पर रह रहे व्यक्तियों का पूरी राष्ट्रीय आय में हिस्से के रूप में। हम इन तीनों मतों की अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

प्रथम मत

जीवित रहने के लिये न्यूनतम आय के सदर्भ में निर्धनता को इस प्रकार परिभाषित किया गया है: "वह स्थिति जो शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में, यानि कि जीवित, सुरक्षित और निश्चिन्त रहने की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ है"। ये शारीरिक आवश्यकताएं सामाजिक आवश्यकताओं (अस्मिता/अहम की तुष्टि और स्वाभिमान), स्वायत्तता (autonomy) की आवश्यकता, स्वतंत्रता (independence) की आवश्यकता और आत्मबोध (self-actualization) की आवश्यकता से भिन्न हैं। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये खाना और पोषण, घर, और स्वास्थ्य की निवारक और संरक्षात्मक सुविधाएं न्यूनतम आवश्यकताएं हैं। इसमें न्यूनतम आय (जो प्रत्येक समाज में भिन्न होती है) की

आवश्यकता होती है जिससे आवश्यक वस्तुऐं खरीदी जा सकें और सुविधाए उपलब्ध हो सकें।

यहां 'निर्धनता' को "निर्धनता-रेखा" के द्वारा देखा जा रहा है जिसका निर्धारण स्वास्थ्य के लिये आवश्यक प्रचलित स्तर, निपुणता (efficiency), बच्चों का पालन-पोषण, सामाजिक सहभागिता (social participation) और आत्मसम्मान की सुरक्षा द्वारा किया जाता है (हावर्ड बेकर, 1966·43)। व्यावहारिक रूप से निर्धनता-रेखा कैलरी ग्रहण (calorie intake) की न्यूनतम वाछनीय पौषिण स्तर से निर्धारित की जाती है। भारत में इसका निर्धारण ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति 2400 कैलरी और शहरी क्षेत्रों में 2100 कैलरी के ग्रहण से किया जाता है। इसके आधार पर प्रतिमाह प्रति व्यक्ति के खपत-व्यय (consumption expenditure) का हिसाब लगाया जा सकता है।

हमारे देश में योजना आयोग के 'सदर्श योजना प्रभाग' (Perspective Planning Division) द्वारा 1962 में अनुशसित (recommended) और 1961 के मूल्यों पर आधारित न्यूनतम खपत पर व्यय ग्रामीण क्षेत्रों में पांच सदस्यों के परिवार के लिये 100 रूपये और शहरी क्षेत्रों में ऐसे ही परिवार के लिये 125 रूपये आंका गया था। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति माह प्रति व्यक्ति पर 20 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 25 रुपये आता था। 1973-74 में यह ग्रामीण क्षेत्रों में 49.09 रुपये और 1978-79 में 76 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 1973-74 में 56 64 रुपये और 1978-79 में 88 रुपये हो गया। (Times of India, जुलाई 9, 1992)। 1984-85 में सशोधित निर्धनता-रेखा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति प्रति माह 107 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 122 रुपये पर रेखाकित की गई (इण्डिया, 1990 404)। एक पाच सदस्यों के सामान्य परिवार मे गावों में 6400 रुपये के वार्षिक खपत व्यय से कम और शहरों में 7320 रुपये के वार्षिक खपत व्यय से कम वाले परिवारों को 'निर्धन' माना गया।

नवम्बर, 1993 दरों के स्तर के अनुरूप अपने भरण पोषण और दूसरी मूल आवश्यकताओं के लिये ग्रामीण क्षेत्र में एक व्यक्ति को प्रतिमाह 130 रुपये और शहरी क्षेत्र में 153 रुपये की आय की आवश्यकता होती है। इस प्रकार एक परिवार को ग्रामीण क्षेत्र में 650 रुपये प्रति माह और शहरी क्षेत्रों में 765 रुपये प्रतिमाह की आय होनी चाहिये। यहां केन्द्रबिन्दु 'न्यूनतम जीवन निर्वाह' के स्तर पर है जो 'न्यूनतम पर्याप्तता' (minimum adequacy) स्तर और 'न्यूनतम सुख साधन' (minimum comforts) स्तर से भिन्न है।

ऑर्नेटी ऑस्कर (1964;440) के अनुसार अमरिका में 1963 में चार व्यक्तियों के परिवार का न्यूनतम जीवन निर्वाह का स्तर 2,500 डालर प्रति वर्ष, न्यूनतम पर्याप्तता स्तर 3,500 डालर प्रति वर्ष, और न्यूनतम सुख-साधन स्तर 5,500 डालर प्रतिवर्ष था। इस आधारपर सन् 1963 में अमरिका में 10% परिवार न्यूनतम निर्वाह स्तर (subsistence level) से नीचे थे, 25% परिवार न्यूनतम पर्याप्तता स्तर (adequacy level) से नीचे, और 38% परिवार न्यूनतम सुख-साधन स्तर (comfort level) से नीचे थे। अमरिका में सन्

1982 में चार व्यक्तियों के परिवार का निर्धनता स्तर 8,450 डालर प्रतिवर्ष था (प्रभाकर मालगवकर, 1983·3), सन् 1986 में यह 10,989 डालर प्रतिवर्ष और सन् 1990 में यह 14,200 डालर प्रतिवर्ष था।

भारत में सन् 1987-88 में निर्धन व्यक्तियों की सख्या (याने कि वे व्यक्ति जो न्यूनतम जीवन निर्वाह स्तर से नीचे थे अथवा गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे थे) 31 27 करोड़ अथवा पूरी जनसंख्या की 40% आंकी गई (हिन्दुस्तान टाइम्स, 7 दिसम्बर, 1993)। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि निर्धनों का समूह समरूप (homogeneous) नहीं है। उनका तीन उपसमूहों में वर्गीकरण किया जा सकता है दीन-हीन व दरिद्रिय (destitutes) जो नवम्बर 1993 की दरों के मुताबिक 77 रुपये प्रतिमाह व्यय करते हैं, अत्यत निर्धन (very poor) जो 92 रुपये प्रतिमाह व्यय करते हैं; और निर्धन (poor) जो 130 रुपये प्रतिमाह व्यय करते हैं।

द्वितीय मत

इस मत के अनुसार निर्धनता भौतिक वस्तुओं और सम्पत्ति की कमी के तीन पहलू प्रकट करती है (i) ऐसी चीजें जो शारीरिक पीडा से बचाती हैं और जो भूख और पनाह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक हैं, अर्थात वे जो जीवित रहने के लिये आवश्यक हैं, (ii) ऐसी वस्तुएं जो स्वास्थ्य की मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, अर्थात जो पोषण प्रदान करती हैं और बीमारी से बचाती हैं, (ii) ऐसी वस्तुए जिनकी जीवन निर्वाह के न्यूनतम स्तर को बनाये रखने में आवश्यकता होती है। साधारण शब्दों में यह मत आहार ग्रहण की न्यूनतम मात्रा, पर्याप्त आवास, कपड़े, शिक्षा और स्वास्थ्य की देखभाल पर बल देता है। नवम्बर 1993 के आधार पर ये ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति की 153 रुपये प्रतिमाह और शहरी क्षेत्रों में 193 रुपये प्रतिमाह के व्यय करने की क्षमता का उल्लेख करता है।

मोस और मिलर (1946.83) ने निर्धनता को तीन कारकों के द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है. आय (गुप्त एव प्रत्यक्ष), परिसम्पत्ति (assets), और सेवाओं (शैक्षणिक, चिकित्सा, मनोरजन) की उपलब्धता। परन्तु दूसरों ने निर्धनता की अवधारणा इस परिप्रेक्ष्य से हटकर की है। उदाहरणतया, अमेरिका में 1960 में निर्धनता स्तर से नीचे रहने वाले व्यक्तियों में से 57.6% के पास टेलीफोन था, 79.2% के पास टीवी सेट था और 72.6% के पास वॉशिंग मशीन थी (हावर्ड बेकर, 1966 435)। इसलिये निर्धनता बतलाने का आधार परिसम्पत्ति (assets) या भौतिकवादी व सासारिक सपत्ति (materialistic possessions) नहीं हो सकता। इसी प्रकार निर्धनता को 'आय' से नहीं जोडा जा सकता। यदि 'दरों के स्तर' बढ़ जाते हैं तो लोग अपने परिवार के सदस्यों के लिये जीवन की आवश्यकता को भी नहीं जुटा पाते। स्पष्टत: फिर निर्धनता को समय और स्थान से जोड़ना पड़ेगा।

तृतीय मत

इस मत के अनुसार, निर्धनता "प्रत्येक समाज के अनुरूप न्यूनतम जीवन स्तर से भी नीचे होने

की स्थिति है"; या "जीवन की आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिये पैसा नहीं होना है", या शारीरिक आवश्यकताओं (जैसे भुखमरी, पोषणहीनता, बीमारी, और कपड़े, मकान और स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव) का घोर अभाव है"। इस तरह का अभाव समाज के निम्नतम स्तर के व्यक्तियों की जनसख्या के दूसरे समूहों से तुलना करके आंका जाता है। इस प्रकार यह व्यक्तिपरक (subjective) परिभाषा है न कि वस्तुनिष्ठ (objective) स्थितियों पर आधारित परिभाषा। निर्धनता का निर्धारण समाज में विद्यमान मानदंडों के द्वारा किया जाता है। मिलर और रोबी (1970:34-37) ने कहा है कि इस उपागम में निर्धनता को सुस्पष्ट रूप से 'असमानता' (inequality) माना जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह परिभाषा अधिक महत्वपूर्ण है क्यों कि यह निर्धनों की जीवन दशा (life situation) और उनके जीवित रहने की संभावनाओं (life chances) पर आय की असमानता से पड़ने वाले प्रभाव को बतलाती है। नितान्तः निर्धनता को निर्धन व्यक्तियों के हाथ में पैसा रख कर कम किया या मिटाया जा सकता है परन्तु, असमानता का समाधान व्यक्तियों को एक तुलनात्मक रेखा (relative line) के ऊपर उठाकर नहीं किया जा सकता। जब तक व्यक्ति आयक्रम (income scale) के तल पर रहते हैं वे किसी न किसी रूप में निर्धन माने जाते हैं। यह स्थिति उस समय तक रहेगी जब तक समाज में स्तरीकरण (stratification) अर्थात प्रतिष्ठा, प्रभाव, शक्ति, सम्पत्ति तथा सुविधाओं आदि की भिन्नता के आधार पर प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं की एक अपेक्षाकृत श्रेणीबद्धता रहेगी।

माईकल हैरिंगटन (1958:33) ने निर्धनता की परिभाषा वंचन (deprivation) के संदर्भ में की है। उसके अनुसार निर्धनता खाने, स्वास्थ्य, आवास, शिक्षा और मनोरंजन के उन न्यूनतम स्तरों का वंचन है जो एक विशेष समाज के समकालीन प्रौद्योगिकी, विश्वास और मूल्यों के अनुरूप है। मार्टिन रेन (1968 116) ने निर्धनता के तीन तत्व बतलाये हैं भरण-पोषण, असमानता और बहिर्मुखता (externality)। भरण-पोषण जीवित रहने के अर्थ में स्वास्थ्य और कार्य करने की क्षमता के लिये पर्याप्त साधनों के प्रबन्ध और शारीरिक सामर्थ्य को बनाये रखने की क्षमता पर बल देता है। असमानता स्तरित (stratified) आय स्तर के निम्नतम स्थान पर होने वाले व्यक्तियों की स्थिति को उसी समाज में रह रहे अधिक सुविधा-प्राप्त व्यक्तियों की स्थिति में तुलना करती है। उनका वंचन तुलनात्मक होता है। बहिर्मुखता, निर्धनता के समाज के अन्य व्यक्तियों पर होने वाले सामाजिक परिणामों को प्रकाश में लाती है। इसके साथ-साथ वह निर्धनता के निर्धन व्यक्तियों पर पड़ने वाले सभी परिणामों को बतलाती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से निर्धन व्यक्ति कुचक्र में फस जाते हैं। निर्धन होने का अर्थ होता है कि उन्हें निर्धन बस्तियों में रहना पड़ेगा, जिसका अर्थ होता है कि वे बच्चों को स्कूल नहीं भेज पायेंगे, जिसका अर्थ होता है कि न केवल उनको परन्तु उनके बच्चों को भी कम वेतन वाली नौकरियां मिलेगी या फिर नौकरियां मिलेगी ही नहीं, जिसका अर्थ होता है कि वे सदा सदा के लिये निर्धन रहेंगे। निर्धन होने का यह भी अर्थ होता है कि वे घटिया खाना

खायेंगे,जिसके परिणामस्वरूप उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहेगा,वे या तो विकलांग हो जायेंगे या इतने दुर्बल हो जायेंगे कि वे हाथ का भारी काम नहीं कर सकेंगे,परिणामस्वरूप उन्हें अल्प वेतन का काम करना पड़ेगा,इस प्रकार वे सदा सर्वदा निर्धन बने रहेंगे।

इस प्रकार प्रत्येक चक्र निर्धनता से आरंभ होकर निर्धनता में ही समाप्त होता है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि टौमस ग्लेडविन (1967:76-77) जैसे समाजशास्त्री 'असमानता' अथवा निर्धनता की सामाजिक अवधारणा को अधिक महत्व देते हैं।

अभिव्यक्ति व माप (Manifestation or Measurement)

निर्धनता के माप क्या हैं ? इसके महत्वपूर्ण माप हैं: कुपोषण (2100 से 2400 कैलरी प्रतिदिन की सीमा से नीचे), उपभोग पर कम खर्च (नवम्बर, 1993 की दरों पर आधारित 130 रुपये ग्रामीण व 153 रुपये शहरी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति प्रतिमाह से नीचे), निम्न आय (1991-92 की कीमतों के आधार पर 460 रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिमाह से नीचे) (हिन्दुस्तान टाइम्स, जनवरी 15, 1993), असाध्य रोग या खराब स्वास्थ्य, निरक्षरता, बेरोजगारी, और/या अल्प-रोजगारी (under-employment), और घर की अस्वास्थ्यकर दशा। मोटे तौर पर, किसी समाज में निर्धनता का उल्लेख उसमें साधनों की कमी, कम राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति की कम आय, आय के बंटवारे में भारी असमानता, कमजोर सुरक्षा, आदि में होता है।

कुछ विद्वानों ने यह बताने के लिये कि कैसे परिवारों में व्यक्तियों के निर्धन होने की अधिक संभावनाएं हैं, उन परिवारों की निर्धनता से संबंधित कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है। जैसे जैसे ये परिवार उन विशेषताओं को अधिक संख्या में प्रदर्शित करते हैं वैसे वैसे उनके निर्धन होने की संभावनाएं बढ़ती हैं। इन विशेषताओं में अधिक महत्वपूर्ण ये हैं: परिवार में कमाने वाले व्यक्ति का न होना, परिवार जिनमें (60 वर्ष) से अधिक आयु के अधिक व्यक्ति हैं, परिवार जिनमें वृद्ध स्त्री मुखिया हो, परिवार जिनमें अधिक बच्चे कम आयु के हों, परिवार जिनके मुखिया दैनिक मजदूरी करते हों, परिवार जिनमें सदस्य प्राथमिक शिक्षा से कम पढ़े हों, परिवार जिन्हें किसी कार्य का अनुभव नहीं हो, और परिवार जिनके पास अंशकालिक रोज़गार है।

प्रभाव-सीमा और आकार (Incidence and Magnitude)

भारत विकास में एक द्विभाजक (dichotomy) प्रस्तुत करता है। संसार के औद्योगिक उत्पादन में उसका उन्नीसवां स्थान है और कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) में उसका बारहवां स्थान है, फिर भी उसकी बड़ी जनसंख्या निर्धन है। यद्यपि स्वतंत्रता के बाद देश में महत्वपूर्ण और व्यापक विकास दर रही है परन्तु फिर भी प्रति व्यक्ति की आय में उत्तरोत्तर वृद्धि नहीं हो रही है और इस कारण जनसंख्या के बड़े भाग के जीवन स्तर में अवनति आई है। विश्व बैंक ने अपनी 1981 की विश्व विकास रिपोर्ट में भारत को विश्व के दस सबसे अधिक निर्धन राष्ट्रों में रखा था। सबसे नीचे भूटान था और बांगलादेश दूसरा सबसे अधिक निर्धन देश था। भारत

न केवल चीन के नीचे आता है अपितु पाकिस्तान और श्रीलंका के भी। हमारे देश की प्रति व्यक्ति आय न्यूनतम में से एक है परन्तु उसकी वार्षिक वृद्धि की दर (1.6%) (1980-81) भी चीन (4 5%), श्रीलंका (2 9%) और पाकिस्तान (2.5%) की तुलना में बहुत कम है।

1984-85 में देश में 27 27 करोड व्यक्ति अथवा पूरी जनसख्या का 36 9% (39.9% ग्रामीण जनसख्या का और 27.7% शहरी जनसख्या का) निर्धनता की रेखा के नीचे आका गया था, जबकि 1987-88 में 31 27 करोड और 1992 में कुल जनसख्या का 29.9% अथवा 23 76 करोड व्यक्ति (ग्रामों में 19 59 करोड और नगरों में 4 17 करोड) निर्धनता की रेखा से नीचे बताया गया। दिसम्बर 1993 के आंकडों के अनुसार सब से अधिक निर्धनता की रेखा से नीचे रहने वाले व्यक्ति उड़ीसा में (44 7%) और उसके बाद बिहार (40.8%), मध्य प्रदेश (36.7%) व उत्तर प्रदेश (35 1%) में मिलते हैं (हिन्दुस्तान टाइम्स, दिसम्बर 7, 1993)। सातवीं पचवर्षीय योजना (1985-90) में निर्धनता का अनुपात 1989-90 वर्ष तक 25 8% लाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। अचरों (absolute terms) में 1984-85 में 27.27 करोड गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले व्यक्तियों की सख्या 1989-90 में घट कर 21.08 करोड होनी थी। 1990-91 के बजट में सरकार ने दावा किया था कि देश में दरिद्रों (निर्धनता की रेखा से नीचे) की सख्या 30 करोड (85 करोड अनुमानित जनसख्या में से) से कम थी। परन्तु अर्थशास्त्री और विश्व बैंक के दावों के अनुसार यह 41 करोड के अधिक समीप है। इसका अर्थ यह होता है कि भारत में अत्यन्त निर्धनों की सख्या पाकिस्तान और बागलादेश की कुल जनसख्या के बराबर है।

वाशिंगटन स्थित सस्थान "ब्रेड फार द वर्ल्ड" (जो अमेरिका सहित विश्व में गरीबी एव भुखमरी की समस्या का अध्ययन करती है) की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार 1977-78 में भारत की 48 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन करती थी जो कि 1992 में घटकर 25 प्रतिशत हो गई लेकिन आबादी में तेज दर से हो रही वृद्धि के कारण गरीबों की सख्या बढ़कर 21 करोड़ हो गई (हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली, अक्टूबर 16, 1993)। यू.एन.डी.पी. (UNDP) के अनुसार भारत में निर्धनों की सख्या 1990 में 41 करोड थी (हिन्दुस्तान टाइम्स, अगस्त 4, 1993)।

भारत में 41 करोड़ निर्धन व्यक्तियों में नितान्त साधनहीन व्यक्तियों की सख्या (जो कि समाज के तल के 10% है) लगभग 5-6 करोड है। ये वृद्ध, बीमार, और अपग व्यक्ति हैं जिन्हें रोज़गार और आय कमाने के अवसर प्रदान करने के स्थान पर किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा प्रदान करनी है जिससे उन्हें बराबर मासिक भुगतान होता रहे। अब शेष रहे 25 करोड (सरकारी आंकडों के अनुसार) से 35 करोड (अर्थशास्त्रियों के अनुसार) व्यक्तियों को, जो दरिद्रता के विभिन्न स्तरों पर रह रहे हैं, रोजगार के अवसर प्रदान कराने हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में ये दरिद्र हैं भूमिहीन, मजदूरी करने वाले मजदूर, अनियत मजदूर (casual labourers), सीमान्त किसान (marginal farmers), तथा गांव से विस्थापित कारीगर जैसे लुहार, खाती, और

चमड़े का काम करने वाले श्रमिक। शहरी क्षेत्रों में असगठित औद्योगिक मजदूर, सब्जी, फल और फूल बेचने वाले, चाय की दुकानों में नौकर, घर में काम करने वाले नौकर, और दैनिक वेतन भोगी दरिद्र हैं।

राष्ट्रीय आय अर्थव्यवस्था की स्थिति की एक व्यापक निर्देशिका है और समय के साथ उसके विकास का मानदण्ड भी है। भारत में पिछले चार दशकों के राष्ट्रीय आय के उपलब्ध आंकड़े एक प्रभावशाली वृद्धि दर्शाते हैं। 1989-90 के मूल्यों के अनुसार, भारत की राष्ट्रीय आय जो 1950-51 में 8812 करोड रुपये थी, 1980-81 में बढकर 1 22 लाख करोड रुपये (अथवा 1.47% वृद्धि), 1985-86 में 2 32 लाख करोड़ रुपये (अथवा 2.6% वृद्धि) और 1987-88 में 2 91 लाख करोड रुपये (अथवा 3.3% वृद्धि) हो गई। 1993-94 में यह वृद्धि (1950-51 की तुलना में) 4.2% थी। इस प्रकार इन वर्षों में मूल्यों के स्तर में हुई वृद्धि को भी अनदेखी करने के पश्चात यह तथ्य सामने आता है कि भारत की राष्ट्रीय आय में पिछले डेढ दशक में लगभग तीन गुना वृद्धि दर्ज की गई है। प्रति व्यक्ति की आय में अवश्य ऐसी प्रभावशाली वृद्धि नही हुई क्यों कि इन वर्षों में जनसंख्या काफी बढ़ गई।

1990-91 की कीमतों के अनुसार 1950-51 में प्रति व्यक्ति की प्रतिवर्ष आय 238 8 रुपये थी जो 1980-81 में बढ़कर 1,630.1 रुपये, 1985-86 में 2,726 रुपये, 1987-88 में 3,286 रुपये तथा 1990-91 में 5,471 रुपये हो गयी। 1991-92 की कीमतों के आधार पर प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष आय 1990-91 में 4,934 रुपये, 1991-92 में 5,529 रुपये तथा 1993-94 में 6,234 रुपये थी। 1970-71 की कीमतों को यदि मूल्य आधार माना जाये तो यह कहा जा सकता है कि 24 वर्षों में प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष आय मुश्किल से 70% की वृद्धि दर्शाती है।

ग्रामीण और शहरी प्रति व्यक्ति की आय में भी भयंकर असमानता है (ग्रामीण क्षेत्रों में एक के मुकाबले शहरी क्षेत्रों में यह 2.4 है)। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में 1983 में आय वितरण बतलाता है कि शहरी क्षेत्रों में 11% परिवार और ग्रामीण क्षेत्रों में 3% परिवार 'उच्च वर्ग' में आते थे (जिनकी आय 1970-71 के मूल्यों के स्तर के आधार पर 3,000 रुपये प्रतिवर्ष से अधिक थी)। शहरी क्षेत्रों में 1983 में एक उच्च वर्ग के परिवार की औसत आय 5,985 रुपये प्रतिवर्ष थी और ग्रामीण क्षेत्रों में निम्नतम वर्ग के परिवार की औसत आय 1212 रुपये प्रतिवर्ष थी और ग्रामीण क्षेत्रों में यह 1044 रुपये थी।

यह अनुमान लगाया गया है कि ग्रामीण परिवारों में 70% के पास कोई ज़मीन नहीं है। बाकी 30% में जो ज़मीन जोतते हैं, 44% के पास एक एकड से कम, 33.8% के पास 1.5 एकड़, 16.8% के पास 6.15 एकड़, 5% के पास 16-50 एकड़, और 0.4% के पास 50 एकड़ से अधिक जमीन है। इसके अतिरिक्त 30% परिवार जिनके पास जमीन है, उनमें से 31.43% सीमान्त परिवार (marginal households), 35.71% छोटे परिवार, 22.81% मध्यम परिवार, 8.81% बड़े परिवार और 1.24% भीमकाय (giant) परिवार हैं। जब कि ग्रामीण

आर्थिक सीढ़ी की चोटी पर 15% परिवार पूरी आय का 42% कमाते हैं, शेष 85% आर्थिक रोटी के 58% के लिये संघर्ष करते हैं ।

भूमिहीन व्यक्तियों की विशेष निर्भरता खेती पर या इसके बाहर वेतन मजदूरी पर होती है । मजदूर परिवारों के तीन चौथाई लोग अनियत (casual) मजदूरों की तरह काम करते हैं, याने कि जब कभी काम मिलता है, उस समय काम करते हैं अन्यथा वे बेरोजगार रहते हैं । शेष एक चौथाई 'बंधे हुए' (attached) मजदूर होते हैं याने कि वे किसी प्रकार के ठेके पर एक ही मालिक का काम करते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग्रामीण दरिद्रों में सर्वाधिक कृषि-मजदूर परिवार और छोटे खेत मालिक (जिन के पास पाच एकड से कम खेत हैं) होते हैं ।

यदि भारत में आय वितरण को देखा जाये तो यह स्पष्ट होगा कि जनसख्या के निम्नतम 20% भाग को पूर्ण आय का लगभग 7% मिलता है जबकि चोटी के 20% को लगभग 50% मिलता है । यह वितरण दूसरे देशों के वितरण से या औसत अन्तर्राष्ट्रीय आकडो से भिन्न नही है । इसे सारणी 2.1 में दर्शाया गया है ।

सारणी 2.1

आय वितरण

जनसख्या वितरण	*आय वितरण*				
	भारत	*अमेरिका*	*इग्लैण्ड*	*जर्मनी*	*औसत अन्तर्राष्ट्रीय*
1. चोटी के 20% या सर्वोच्च पाचवाँ हिस्सा	49.2	42 8	38.8	46 2	48 0
2. अगला 20% या चतुर्थ पाचवाँ हिस्सा	19.1	24 7	23 9	22.0	22 0
3. अगला 20% या मध्यस्थल पाचवाँ हिस्सा	14 4	17 3	18 4	15 0	15 0
4. अगला 20% या द्वितीय पाचवाँ हिस्सा	10 7	10 7	12 6	10 3	10 0
5. तल के 20% या निम्नतम पाचवाँ हिस्सा	6 6	4.5	6 3	6 5	5 0

यदि हम वर्तमान में भारत के सबसे बडे 20 व्यापारिक घरानों को देखें (जैसे बिडला, टाटा, अम्बानी, सिंघानिया, थापर, मफतलाल, बजाज, मोदी, आदि) तो हम पायेंगे कि उनकी सम्पत्ति 1972 में 3,071 करोड़ रुपये थी जो 1983 में बढकर 13,103.54 करोड रुपये, 1985 में 20,136 करोड़ रुपये, और 1992 में लगभग 32,000 करोड रुपये हो गई । दूसरे शब्दों में उनकी संपत्ति 1972 से 1983 तक 4 3 गुना, 1985 तक 6 5 गुना और बीस वर्षों में 10 4 गुना अधिक हो गई । यदि पहले दस औद्योगिक घराने लिये जाए तो उनकी सम्पत्ति जब 1980 में 4,963 करोड थी, 1990 में साढे छ गुना बढ कर 32,009 करोड हो गयी (हिन्दुस्तान टाइम्स, 24 दिसम्बर, 1993)।

भारत पर विदेशी ऋण प्रतिवर्ष बढ रहा है और उसका आकार भयभीत कर देने वाला है । यह अनुमान लगाया जाता है कि 1983 में हमारा सपूर्ण ऋण 60,621 करोड रुपये था (78% घरेलु और 22% विदेशी) जो 1992 में बढ़कर 2.05 लाख करोड रुपये हो गया । कुल ऋण

जो 1990 में 1.01 लाख करोड़ था,1991 में 1.85 लाख करोड़,1992 में 2.05 लाख करोड़ और,1993 में 2.66 लाख करोड़ हो गया (फ्रन्टलाइन,नवम्बर 5, 1993: 160)। 1992 में घरेलू ऋण 58,234 करोड़ था। विदेशी ऋण जो 1980 में 20.58 अरब डालर था,1985 में बढ़कर 40.96 अरब डालर और 1992 के अंत तक 76.98 अरब डालर तक पहुंच गया (हिन्दुस्तान टाइम्स,दिसम्बर 16, 1993)। इस ऋण के ब्याज को चुकाने (servicing) में ही हमारी वार्षिक आय का 26% (1994-95 वर्ष के बजट के अनुसार) चला जाता है। 1992 के पहले नौ महीनों में जो विदेशी ऋण लिया गया था वह सम्पूर्ण पहले लिये गये ऋण पर ब्याज चुकाने में ही लग गया। इस कारण भारत के लिये सास लेना भी भारी पड़ेगा। विश्व बैंक के अनुसार तृतीय विश्व के 96 देशों में भारत चौथा सबसे बड़ा ऋणी है। सारणी 2.2 भारत की बढ़ती हुई आय और ऋण को दर्शाती है।

विश्व बैंक के अनुसार 1991 में भारत विश्व का पांचवाँ सबसे अधिक ऋणी देश था। 1994-95 में हम अपनी राष्ट्रीय आय का 13% रक्षा पर व्यय कर रहे हैं (1990 में 17% और 1989 में 27% के विपरीत) और 26% ऋण पर ब्याज दे रहे हैं (1990 में 35% के विरुद्ध) (इन्डिया 1990:568 और हिन्दुस्तान टाइम्स,मार्च 5, 1991)।

सारणी 2.2
भारत में बढ़ती आय व ऋण

वर्ष	प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष आय (1989-90 कीमतों तथा अन्तिम दो श्रेणियों में 1992-93 कीमतों पर) (रुपये में)	प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष ऋण
1969-70	597	158
1974-75	1,003	189
1979-80	1,337	320
1984-85	2,507	769
1986-87	2,962	1,167
1987-88	3,289	1,313
1990-91	4,934	1,732
1991-92	5,529	1,907

जब तक आय वितरण में असमानता को कम नहीं किया जाता,निर्धन रेखा के नीचे रह रहे व्यक्तियों की संख्या को कम करने की संभावनाएं बहुत कम होंगी। परन्तु यदि वर्तमान असमानता चलती रहती भी है,और यदि 6% की विकास वृद्धि प्राप्त कर ली जाती है और यदि जनसख्या 2001 तक 94.5 करोड़ से अधिक नहीं होती है,तो 2001 में केवल 10 प्रतिशत जनसंख्या ही निर्धन रेखा के नीचे होगी।

निर्धनता के कारण (Causes of Poverty)

दो चरम परिप्रेक्ष्य जिनके आधार पर हम दरिद्रता के कारणों का विश्लेषण कर सकते हैं, वे हैं पुरातन और आधुनिक। निर्धनता के बारे में एक मत यह है कि यह दैवकृत (providential) और व्यक्ति के पूर्व कर्मों और पापों का फल है। दूसरा मत निर्धनता को व्यक्ति के कार्य करने की क्षमताओं की असफलता या उसमें प्रेरणा की कमी के कारण मानता है। धनवान व्यक्ति की अमीरी को उसके सौभाग्य के कारण और निर्धन व्यक्ति की निर्धनता उसमें योग्यताओं की कमी के कारण बतलाना धनवान व्यक्तियों के आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति करता है क्यों कि इससे वे ऊंचे आयकर देने से बच जाते हैं जिसके द्वारा निर्धन व्यक्तियों का उत्थान हो सके। एक आधुनिक मत निर्धनता को उन कारकों से जोड़ता है जो एक व्यक्ति के नियंत्रण से परे होते हैं, दूसरा, समाज में सामाजिक व्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली को निर्धनता का कारण बतलाता है।

डेविड इलेश (1973.359) ने निर्धनता के तीन कारण बतलाये हैं व्यक्ति, संस्कृति या उपसंस्कृति, और सामाजिक संरचना।

(i) व्यक्ति

व्यक्तिवाद का सिद्धान्त निर्धनता के कारण को व्यक्ति में ही देखता है। इसके अनुसार एक व्यक्ति की सफलता और उसकी असफलता उसका व्यक्तिगत मामला है। यदि कोई निर्धन हो जाता है तो यह उसका स्वयं का दोष है क्यों कि वह आलसी, मन्दबुद्धि, अनिपुण है या उसमें पहल करने की शक्ति नहीं है। यह सिद्धान्त मानता है कि समाज के लिये निर्धनता एक अच्छी बात है क्यों कि इस कारण सर्वाधिक योग्यता वाले ही जीवित रह सकेंगे। इस सिद्धान्त का दूसरा दृष्टिकोण प्रोटेस्टेन्ट आचार-संहिता वाला है जिसका वर्णन मेक्स वेबर ने किया है और जो एक व्यक्ति के निजी परिश्रम, सद्‌गुण और ईमानदारी से काम किये जाने से अर्जित वैयक्तिक सफलता पर बल देता है। यदि वह असफल हो जाता है तो वह अपने अतिरिक्त किसी और को दोषी नहीं मान सकता क्योंकि उसकी असफलता का कारण उसकी अपनी बुराईयां हैं, वह आलसी है और उसमें बुरी आदतें हैं। प्रारुपिक पीड़ित दोषारोपण करने वाला (typical victim-blamer) मध्यम वर्ग का वह व्यक्ति होता है जिसने यथोचित अच्छी सांसारिक सफलता प्राप्त करली है और जिसके पास अच्छी नौकरी और नियमित आय है। वह कहता है, "मुझे ये सब करने के लिये संघर्ष करना पड़ा, निर्धन व्यक्ति क्यों नहीं ऐसा कर सकते ? इनमें कोई कमज़ोरी अवश्य है।" स्पेन्सर, कार्नेज़, और लेन इसी सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं।

(ii) निर्धनता की संस्कृति या उपसंस्कृति

निर्धनता का दूसरा कारण निर्धनता की संस्कृति या दरिद्रों के रहने का तरीका है। इस प्रकार की संस्कृति निर्धनों के मूल्य, मानदण्ड, विश्वास और रहने के रंग-ढंग के बदलने के समाज के सब प्रयासों को अवरुद्ध कर देती है। 'निर्धनता की संस्कृति' की अवधारणा यह संकेत देती है कि

आर्थिक परिवर्तनों के बावजूद दरिद्र अपनी संस्कृति या उप-सस्कृति के कारण ही दरिद्र बने रहे हैं। निर्धनों की संस्कृति उस व्यवहार और उन मूल्यों को बढ़ावा देती है जो निर्धनता से संबंधित हैं। इसने निर्धन व्यक्तियों को औद्योगिक समाज की मूलधारा से अलग रखा है। आस्कर लेविस ने 1958 में निर्धनता की संस्कृति के विचार को लोकप्रिय बनाया। उसका यह मानना था कि यह एक विशेष प्रकार की सस्कृति है जो पीढ़ी दर पीढी निर्धनता को हस्तान्तरित करती है। इस रूढिवादी अवधारणा ने,जिसमें राजनीतिज्ञ और जनता विश्वास करती है,हमारे समाज को दरिद्रों के लिये नहीं के बराबर अथवा कुछ भी नहीं करने के लिये और निर्धनता को एक समस्या की तरह नही मानने के लिये एक बहाना दिया है। इस अवधारणा के समर्थक निम्न-वर्ग की संस्कृति की पहचान बनाते हैं और यह मानते हैं कि दरिद्रों के रहने का ढग उनकी निरतर निर्धनता का कारण है। रेयन और चिलमेन इसी विचारधारा में विश्वास रखते हैं।

(iii) सामाजिक संरचना

जबकि रूढिवादी 'व्यक्ति' और 'निर्धनता की सस्कृति' को निर्धनता के कारण मानते हैं, उदारवादी (liberals), उग्र-सुधारवादी (radicals) और समाजशास्त्री निर्धनता का सबध सामाजिक सरचना अथवा दुखद और अन्यायपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों को मानते हैं। हमारी सामाजिक सस्थाएं,हमारी आर्थिक व्यवस्था,निम्न शैक्षणिक उपलब्धता,दीर्घकालीन बेरोजगारी या अल्प-बेरोजगारी निर्धनता को पनपाते हैं और इसे बनाये रखते हैं। निहित स्वार्थ सामाजिक और आर्थिक ढांचों में परिवर्तन नहीं आने देते हैं या इसमें बाधा डालते हैं। समाजशास्त्री हर्बर्ट गेन्स ने तीन प्रकार्यात्मक (functional) लाभ—आर्थिक,राजनीतिक और सामाजिक—बतलाये हैं जो समाज में निर्धन समूह के होने से मध्यम वर्ग को मिलते हैं। ये समाज का गदा काम करवाने से लेकर अपनी ऊंची स्थिति बनाये रखने और स्वयं को सत्ता में बनाये रखने तक होते हैं। इस प्रकार निर्धनता का दोष उन व्यक्तियों/समूहों का है जो अपने निहित स्वार्थों के कारण सामाजिक ढांचों,मूल्यों और मानदण्डों में परिवर्तन नहीं लाना चाहते।

हम अब निर्धनता के तीन कारणों का विश्लेषण करेंगे—आर्थिक,जनांकिकीय और सामाजिक।

आर्थिक कारण (Economic Causes)

आर्थिक कारणों को समझने के लिये हमें उन लोगों में अन्तर करना पड़ेगा जिनके पास काम है और जिनके पास काम नहीं है। जिनके पास काम नहीं है उसके क्या कारण हैं ? क्या यह उनके अपने दुर्गुणों के यानि कि 'दोषी लक्षणों' के कारण है या यह समाज के दोषों के कारण है,अर्थात 'प्रतिबन्धित अवसरों' (restricted opportunities) के कारण। इसका परीक्षण निम्नांकित पांच कारकों से किया जा सकता है: अपर्याप्त विकास,मुद्रास्फीति का दबाव,पूंजी का अभाव,श्रमिकों में कार्यकुशलता की कमी और बेरोजगारी।

अपर्याप्त विकास को भारत में निर्धनता का कारण माना गया है क्योंकि 1951 और 1994

के बीच आयोजना इतनी दोषपूर्ण रही है कि विकास की दर मात्र 3.5% रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था स्वतंत्रता से पूर्व लगभग पांच दशकों के अन्तराल में गतिहीन रही थी। विकास दर की प्रवृत्ति 1900-01 और 1945-46 के बीच राष्ट्रीय आय में 1.2%, कृषि उत्पादन में 0 3% और औद्योगिक उत्पादन में 2.0% रही। जनसंख्या में वृद्धि के कारण ये विकास की दरें भारत के निवासियों के लिये न्यूनतम स्तर पर जीवन व्यतीत करने के लिये भी साधन जुटाने में पर्याप्त नहीं थी। इसलिये स्वतन्त्रता के बाद अर्थव्यवस्था के विकास के लिये योजना बनाना आवश्यक हो गया।

अर्थव्यवस्था की योजना बनाने के लिये एक दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य योजना की आवश्यकता होती है जो कि 10 से 15 वर्षों के शासिक काल में वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति को दर्शाती है। फिर पचवर्षीय योजनाएं होती हैं जो परिप्रेक्ष्य योजना में दिये हुए विकास के प्रयासों को साकार रूप प्रदान करती हैं और फिर प्रत्येक पचवर्षीय योजना में वार्षिक योजनाए होती हैं जो आर्थिक गतिविधियों के विभिन्न क्षेत्रों में हुए कार्यों का लेखाजोखा लेती हैं। भारत में योजना आयोग का गठन मार्च 1950 में हुआ। इसका उद्देश्य देश के साधनों का मूल्यांकन करना और उनके संतुलित और प्रभावशाली उपयोगिता के लिये योजना बनाना था। राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) की स्थापना 1952 में हुई और इसका उद्देश्य समय-समय पर योजना के कार्य की समीक्षा करना और योजना में दिये गये उद्देश्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये मार्गदर्शन देना था। फिर भी अभी तक सात पचवर्षीय योजनाओं के पूरे हो जाने और आठवी के आरम्भ हो जाने के बावजूद बिजली का औद्योगिक उत्पादन, यातायात, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, और मानव ससाधन के विकास सभी लक्ष्य से काफी कम रहे हैं। जबतक कमिया पूरी नही होती, तथा जब तक सत्ता में रहने वाले राजनीतिज्ञ योजना और विकास को गभीरता से नही लेते, तब तक भारत के सामने निर्धनता की निरतर बढ़ती हुई समस्या बनी रहेगी।

मुद्रास्फीति के दबावों ने भी निर्धनता को बढाया है। 1960-61 को आधार मानते हुए, थोक मूल्यों का सूचकांक (index) 1968-69 के 165.4 से बढ कर 1973-74 में 281.7 हो गया, अर्थात पांच वर्षों में वह 70% बढ़ गया। 1988-89 के 4 6% से सूचकांक बढ़कर 1989-90 में 6.2% हो गया। सन् 1991-92 में मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 13 6% थी जो जनवरी 1993 में घट कर 6.9% ही रह गयी परन्तु मई 1994 में बढ़ कर 10 6% हो गयी (हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली, मई 24, 1994)। मुद्रास्फीति में कमी मुख्यत (i) कृषि के अच्छे निष्पादन, (ii) केन्द्रीय सरकार के वित्तीय घाटे में कमी जो 1990-91 में कुल (GDP) के 8.4 प्रतिशत से घटकर 1992-93 में 4 9 प्रतिशत ही रह गयी, (iii) ऋण लेने (borrowings) पर दीर्घस्थायी निर्भरता (chronic dependence) में कमी, और (iv) कर निर्धारण की प्रकृति (quality of taxation) में सुधार के कारण ही हुई। 1960-61 के आधार के अनुरूप एक रुपये की कीमत 1991 में 9.56 पैसे से घट कर मई 1994 में मात्र 7.60 पैसे रह गई (हिन्दुस्तान

टाइम्स, मार्च 5, 1994)।

पूंजी का अभाव भी औद्योगिक विकास को रोकता है। आयात की तुलना में भारत के निर्यात की कीमत 1961-62 में (-)328 करोड़ रुपये से बढ़ कर 1975-76 में (-)1,222 करोड़ रुपये, 1980-81 में (-)5,813 करोड़ रुपये, 1986-87 में (-)7,517 करोड़ रुपये और 1992-93 में (-) 10,238 करोड़ रुपये हो गई। आयात की कीमत 1960-61 के 996.3 करोड़ रुपये से बढ़कर 1983-84 में 5,265.2 करोड़ रुपये और 1986-87 में 20,083.5 करोड़ रुपये हो गई थी। 25 वर्षों में विदेशी व्यापार की यह कीमत उद्योग में सीमित पूंजी का लगा होना बतलाता है।

मानव पूजी की अपूर्णताएं (human capital deficiencies) या श्रमिकों की कार्यकुशलताओं और क्षमताओं में कमी उन्हें अच्छा रोज़गार प्राप्त करने में बाधक होती है और इस प्रकार उनकी आय के बढ़ने में भी। कार्यकुशलताएं और क्षमताएं प्राप्त करना अवसरों की उपलब्धता और सुलभता पर अधिक निर्भर करता है न कि आनुवंशिक प्रतिभा या प्राकृतिक क्षमता पर; क्योंकि निर्धन एक ऐसे सामाजिक वातावरण में रहते हैं जहां उन्हें आवश्यक अवसरों की प्राप्ति नहीं होती और अकुशल रह जाते हैं जिसके फलस्वरूप औद्योगिक विकास पर प्रभाव पड़ता है।

देश में बहुत उच्च बेरोज़गारी की दर श्रम की मांग को कम करती है। भारत में 1992 में करीब 85 करोड़ जनसख्या में से 31 करोड 50 लाख (37.5%) श्रमिक वर्ग में थे। 1992-97 की आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान श्रम शक्ति में साढ़े तीन करोड़ की बढ़ोतरी का अनुमान है, जबकि 1998-2002 की नौवीं योजना अवधि के दौरान तीन करोड़ 60 लाख श्रम-शक्ति का अनुमान है। वैसे केवल संगठित क्षेत्र में 1987 में श्रमिकों की संख्या 2.53 करोड़ आंकी गयी थी। केन्द्रीय श्रम मंत्रालय के आंकड़ों के अनुसार बेरोज़गार व्यक्तियों की संख्या 1967 में 27.40 लाख से बढ कर 1976 में 93.26 लाख, 1980 में 1.62 करोड़, 1986 में 1.80 करोड़ और 1992 में 2 करोड 30 लाख हो गई। बेरोज़गारों की पुरानी संख्या (backlog) आठवीं योजना के प्रारम्भ में एक करोड़ 70 लाख आंकी गयी थी। चालू पंचवर्षीय योजना (आठवीं) के दौरान बेरोज़गारों की सूची में साढे तीन करोड़ और जुड़ जायेंगे। योजना की समाप्ति (यानी 1995) तक बेरोज़गारों की संख्या पाच करोड़ 20 लाख हो जायेगी। 1992 से अगले दस वर्षों में यानी सन् 2002 तक 9 करोड़ 40 लाख हो जाने की सम्भावना है। 1992 में शहरी क्षेत्रों में बेरोज़गारी 33 44 प्रतिशत और ग्रामीण क्षेत्रों में 40.24 प्रतिशत थी। ये आंकड़े अपने आप में चिन्ताजनक हैं। शताब्दी के अत तक तो सब के लिए रोज़गार की समस्या एक मृगतृष्णा ही नज़र आएगी। यदि निकट भविष्य में कोई नई परियोजनाएं आरम्भ नहीं की जातीं तो इस शताब्दी के अन्त तक न केवल इंजीनियरों, ओवरसीयरों और दूसरे तकनीशियों में अपितु किसानों, औद्योगिक श्रमिकों, मेट्रिकुलेटों और स्नातकों में भी भयंकर बेरोज़गार व्याप्त होगा।

जनांकिकीय कारण (Demographic Causes)

निर्धनता में जनसंख्या की वृद्धि सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक होती है। एक अनुमान के अनुसार,खपत पर प्रति व्यक्ति व्यय (per capita consumption expendiutre) यानि कि न्यूनतम राशि या न्यूनतम जीवन-स्तर बनाये रखने पर 1981 के मूल्य स्तर के अनुसार सन् 2001 में 1,032 रुपये की आवश्यकता होगी और 6% की वार्षिक विकास वृद्धि दर से 3,285 रुपये होगी (1988-87 में यह 1,627 रुपये थी)। ऊपरी तौर पर प्रति व्यक्ति आय व्यक्तियों की खपत की आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिये पर्याप्त है। यदि जनसख्या को सन् 2001 तक 95.44 करोड पर सीमित कर दिया गया तो प्रति व्यक्ति आय 2,038 रुपये के बजाय 2,320 रुपये हो जायेगी। यह भोजन,शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं पर दबाव को कम कर देगी और विकास के लिये भी आय उपलब्ध हो सकेगी।

यदि वर्तमान की आय की असमानता बनी रहती है तो निम्नतम 30% व्यक्ति निर्धन-रेखा के नीचे रहेंगे। इसके अतिरिक्त यह अनुमान लगाया जाता है कि 2001 तक हमारी जनसख्या लगभग 103 करोड हो जायेगी। इसलिये प्रति व्यक्ति आय पर इसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ेगा और निर्धन-रेखा से नीचे रहने वाले व्यक्तियों की सख्या निश्चित रूप से बढेगी। इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि जनसख्या को नियंत्रित करने के सारे प्रयास जारी रखे जायें।

निर्धनता और देश की जनसख्या की आयु के ढाचे में भी सबध होता है। अमेरिका में 1973 में हुए एक अध्ययन द्वारा प्रकट हुआ कि 230 लाख निर्धन व्यक्तियों में 33 5 लाख या 14.5 प्रतिशत व्यक्ति 65 वर्ष की आयु से अधिक के थे। भारत में भी 1984-85 में 2,727 लाख निर्धन व्यक्तियों में 7% वृद्ध थे। भारत में आज (1993 में) साठ वर्ष से अधिक व्यक्तियो की संख्या 6.30 करोड अथवा कुल जनसख्या की लगभग 7% है और यह सख्या 2000 वर्ष तक बढ़ कर 7.56 अथवा कुल जनसख्या की 7 58% करोड हो जायेगी। भारत में अपेक्षित जीवनावधि (life expectancy) 1941 में 32 45 वर्षों से बढकर 1981 में 54 वर्ष और 1992 में 60 वर्ष हो गई जिसके कारण इन 50 वर्षों में व्यक्तियों की सख्या में बहुत वृद्धि हुई है। यद्यपि 55, 58 या 60 वर्ष की आयु प्राप्त करने से व्यक्ति काम करने के अयोग्य नही हो जाता परन्तु सेवानिवृत्ति के बाद नौकरी मिलना सरल नही है। इसलिये यदि व्यक्ति को पेन्शन/भविष्य निधि (provident fund) नही मिलती तो उसे आर्थिक सहारे के लिये अपने बच्चों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार वृद्ध व्यक्तियों की निर्धनता अनिवार्य (forced) और अनैच्छिक (involuntary) है।

निर्धनता का संबंध स्वास्थ्य से भी है। यदि एक व्यक्ति स्वस्थ है तो वह न केवल कमाने योग्य होता है परन्तु उसे बीमारी पर भी कम खर्च करना पडता है। यदि किसी देश में एक बडी संख्या में व्यक्ति दीर्घकालिक कुपोषण से ग्रसित हैं या अस्वास्थ्यकर वातावरण में रहते हैं तो वे कई बीमारियों के शिकार हो जाते हैं जिसके कारण वे काम करने और कमाने के योग्य नहीं

रहते।

निर्धनता परिवार के आकार में वृद्धि से भी सहसम्बन्धित है। परिवार जितना बड़ा होगा उतनी ही प्रति व्यक्ति आय कम होगी और उतना ही नीचा जीवनस्तर होगा। वर्तमान में एक भारतीय परिवार का औसत आकार 4.2 आंका गया है।

अन्त में, देश में व्यक्तियों का शैक्षिक स्तर भी निर्धनता में सहायक होता है। अमेरिका में 1973 में हुआ एक अध्ययन यह बतलाता है कि आठवीं कक्षा तक पढे हुये व्यक्ति की औसत वार्षिक आय 6,465 डालर थी, दसवीं कक्षा तक पढा हुआ व्यक्ति 11,218 डालर और स्नातक स्तर तक पढा हुआ व्यक्ति 15,794 डालर कमाता था। भारत में 1991 की जनगणना के अनुसार 52.11% व्यक्ति शिक्षित हैं जबकि 1981 में हमारे देश में साक्षरता की दर 36.2% थी। स्थिर पदों (absolute terms) में 1991 में हमारे देश में निरक्षरों की सख्या 40.4 करोड़ थी। साक्षर व्यक्तियों में स्नातकों, स्नातकोत्तरों और तकनीकी डिग्री/डिप्लोमा रखने वालों की संख्या बहुत कम है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि लोगों की एक बड़ी संख्या की आय बहुत कम है।

सामाजिक कारक (Social Causes)

भेदभाव, पूर्वाग्रह, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता भी रोज़गार के अवसरों और कुल आय को प्रभावित करते हैं। भारत में प्रादेशिकता पर आधारित असंतुलन विभिन्न राज्यों की आय के अन्तर की ओर सकेत करते हैं। बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और उड़ीसा की अपेक्षा पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र और गुजरात अधिक विकसित हैं। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि दिसम्बर 1993 में जबकि उड़ीसा में निर्धन-रेखा से नीचे रहने वाले व्यक्तियों की संख्या 44.7% थी (राज्य की पूरी जनसख्या का प्रतिशत), बिहार में 40.8% और मध्यप्रदेश में 36.7% थी, उस समय हरियाणा में वह 13.7% थी और पंजाब में केवल 9.1% थी। इसी प्रकार 1981 में जब कि पजाब में प्रति व्यक्ति आय (1970-71 की कीमतों के स्तर के अनुसार) 1,298 रुपये थी, हरियाणा में 973 रुपये थी, गुजरात में 786 रुपये थी, राजस्थान में 542 रुपये थी, उड़ीसा में 501 रुपये थी, मध्यप्रदेश में 494 रुपये थी और बिहार में केवल 43 रुपये थी। 1986-87 में उस समय विद्यमान कीमतों के अनुसार, विभिन्न राज्यों में प्रति व्यक्ति आय इस प्रकार थी: पंजाब 4719 रुपये, हरियाणा 3925 रुपये, उत्तरप्रदेश 2146 रुपये, मध्यप्रदेश 2020 रुपये, उड़ीसा 1957 रुपये, राजस्थान 2150 रुपये, महाराष्ट्र 3793 रुपये, गुजरात 3223 रुपये, तमिलनाडू 2732 रुपये, केरल 2486 रुपये, आंध्रप्रदेश 2344 रुपये और बिहार 1802 रुपये।

बी एन.गागुली ने भारत में निर्धनता के निम्नांकित कारण बतलाये हैं: विदेशी शासन, वर्ग समाज का शोषण, अत्यधिक जनसंख्या, पूंजी की कमी, उच्च निरक्षरता, महत्वाकांक्षा व आर्थिक प्रेरणा का अभाव, गर्म जलवायु में दुर्बल स्वास्थ्य, और सहनशक्ति का अभाव, प्रतिबद्ध और ईमानदार प्रशासकों का अभाव, अप्रेरणा पर आधारित पुरानी सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक और आर्थिक गतिशीलता का अभाव, और कृषकों को पूर्णरूप से गतिहीन स्थिति में रखने

वाली शोषक भूमि व्यवस्था। जलवायु निर्धनता का दूसरा कारण है। गर्म जलवायु परिश्रम करने की क्षमता को घटाती है।

उपनिवेशीय वसीयत (colonial legacy) भी निर्धनता के लिये उत्तरदायी है क्योंकि उपनिवेशीय अधिपतियों ने भी अपने व्यापारिक स्वार्थों के लिये हम पर पिछड़ापन थोपा। उन्होंने व्यक्तियों के आत्मविश्वास को मिटा दिया और उनमें निर्भरता की आदत को पैदा किया।

युद्ध और युद्ध की चेतावनियाँ भी राज्य को विकास कार्यों पर खर्च करने के बजाय बहुत बड़ी राशि सुरक्षा पर व्यय करने के लिये बाध्य करती हैं। स्वतत्रता के पश्चात भारत को चीन और पाकिस्तान से युद्ध लड़ने पड़े। पड़ौसी देशों से निरन्तर धमकियों के कारण सरकार को अपनी पूरी राष्ट्रीय आय का 15% से 25% रक्षा पर व्यय करना पड़ता है। 1989-90 में 54,347 करोड़ रुपये की पूरी गैर-योजना व्यय में से 9093 करोड रुपये रक्षा पर व्यय हुये जिससे व्यय का प्रतिशत 1988-89 के 27 17 से गिरकर 1989-90 में 16 7 हो गया (इंडिया 1990:568)। तीसरे विश्व में भारत चौथा देश हो गया है जो कि स्वेदश में लडाकू विमानों, युद्ध पोतों, बख्तरबन्द गाड़ियों और प्रक्षेपास्त्रों (missiles) का निर्माण करता है जो कि मुख्य शस्त्रों की प्रणालियों (major weaponcy system) की चार श्रेणियां हैं।

निर्धनता के कारणों की व्याख्या में मैं कहूगा कि मेरे विचार में भारत की निर्धनता को तीन कारकों से जोड़कर देखा जाना चाहिये (i) भारतीय मनोवृत्तियों, विचारधाराओं और मूल्यों की विविध ऐतिहासिक और सास्कृतिक जडे, अर्थात, व्यक्तियों के अतीत से प्रगाढ सबध, (ii) व्यक्ति की जैविक और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं में मूलभूत सबध और (iii) राजकीय नीति से सबधित भारतीय समाज में परिवर्तन, विशेष रूप से ब्रिटिश शासनकाल में और उसके उपरान्त। इस प्रकार यदि भारत में निर्धनता रही तो उसका कारण ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियां, व्यक्तियों को प्रेरणाए देने का अभाव, शिक्षा और तकनीकी ज्ञान का अभाव, आलसीपन, निर्दयता और ग्रामीण लोगों का शोषण और परिवार के आकार को नियत्रित करने में धार्मिक और सामाजिक बाधाए। यदि स्वतत्रता के पश्चात् निर्धनता को रोकने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं तो वे परिवार नियोजन, नई औद्योगिक और कृषि नीतियों, शिक्षा के विस्तार, और निर्धन व्यक्तियों को आर्थिक सहायता और प्रशिक्षण के माध्यमों द्वारा किये जा रहे हैं।

क्या यह कहा जा सकता है कि 1992 के उपरान्त सरकार के आर्थिक उदारीकरण नीति के कारण भारत में आर्थिक सकट कम होता जा रहा है? क्या मुद्रास्फीति पर नियंत्रण, औद्योगिक और कृषि उत्पादन मे वृद्धि, बाहरी ऋण पर निर्भरता में कमी दिखाई दे रही है? हमारा विचार है कि यद्यपि सरचनात्मक सुधारों का प्रोग्राम अवश्य आरम्भ किया गया है परन्तु मुद्रास्फीति पर अब भी नियत्रण कम है, औद्योगिक उत्पादन दबा हुआ है, तथा सामाजिक असमानता को समाप्त करने व निर्धनता को कम करने के प्रयास गम्भीर नही हैं। परन्तु 1992

और 1994 में जो आर्थिक परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं उससे लगता है कि आर्थिक सुधारों की दिशा ग़लत नहीं है।

मुद्रास्फीति की वार्षिक दर जो 1991-92 में 13.6 प्रतिशत थी, जनवरी 1993 में 6.9 प्रतिशत तथा अक्टूबर 1993 में 6.0 प्रतिशत ही रह गई परन्तु, मई 1994 में फिर 10.97 प्रतिशत हो गयी। 1991-92 में जब आर्थिक विकास (सकल घरेलू उत्पादन अथवा GDP) की दर 1.2 प्रतिशत प्रति वर्ष था, 1993-94 में 40 प्रतिशत से अधिक होने की आशा है। कृषि उत्पादन 1993-94 में पिछले दो वर्षों की तुलना में 5 0 प्रतिशत अधिक बढ़ा तथा औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि भी अक्टूबर 1992 के 2 2 प्रतिशत से बढ़कर मार्च 1994 में 4 0 प्रतिशत होने की आशा थी। बाहरी ऋण पर निर्भरता के संदर्भ में जब जून 1991 में हमारी स्थिति लगभग ढह जाने वाली थी, अब (1994 में) इस पर नियन्त्रण पा लिया गया है।

इसके साथ निर्धनता निवारण के लिए हमारे अनुसार निम्न आर्थिक उपाय भी आवश्यक लगते हैं (1) केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा वित्तीय घाटे को कम करना; (2) निर्यात को बढ़ाना; (3) ऋण को सीमित रखना, (4) सार्वजनिक क्षेत्र में घाटे वाली इकाइयों को बेच देना; (5) कर-नीति को बदलना, (6) कल्याण पर व्यय का अनुश्रवण (monitor) करने हेतु व्यय प्रभावशालीता को सुधारना, (7) बैंक के ब्याज को नियंत्रित करके वाणिज्यिक व व्यापारिक क्षेत्र के लिए अतिरिक्त पूंजी उपलब्ध करवाना तथा नये बैंक संबंधी नियम बना कर वसूल न होने वाले ऋण (bad debts) को कम कर धन-अपक्षरण (capital erosion) को रोकना; (8) लाइसेंस देने पर प्रतिबन्धों को कम करना व पुनरावलोकन करना जिससे प्रतिस्पर्धा को प्रबल बनाया जा सके तथा भारतीय उद्योग को गति प्रदान की जा सके, (9) सीमाशुल्क को कम करके भारतीय अर्थव्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धात्मक बनाना; (10) विदेशी पूंजीनिवेश को बढ़ावा देकर दूर-संचार, ऊर्जा, आदि उद्योगों को विकसित करना; (11) पहले जब श्रम-कानूनों के द्वारा श्रमिकों को रोजगार और मजदूरी के संदर्भ में अधिकतम सुरक्षा दिये जाने पर बल दिया जाता था, अब क्योंकि यह नीति कुछ समस्याएँ पैदा कर रही है, श्रम-कानून को श्रमिकों के निष्पादन (performance) से जोड़ करके उद्योगपतियों और श्रमिकों के लिए संयुक्त सुरक्षा जाल को विकसित करना होगा, (12) कृषि क्षेत्र में अब भी क्योंकि देश की दो-तिहाई जनसंख्या और सकल घरेलू उत्पादन (GDP) का एक-तिहाई हिस्सा कृषि पर आधारित है, कृषि विकास को बढ़ावा देना होगा, जिससे 1992-93 की प्रति वर्ष 2.2 प्रतिशत कृषि वृद्धि-दर 3 0 और 4 0 प्रतिशत के मध्य बढ़ सके। यह भूमि-धारणाधिकार (land-tenure) से संबंधित समस्याओं को हल करके, धन विनियोग की मात्रा को बढ़ा कर, ऋण-उधार की उपलब्धता को अधिक सरल करके, समुचित मूल्य-नीतियों को सुनिश्चित करके, नई प्रौद्योगिकियों को विकसित करके, रासायनिक खाद के मूल्यों पर कंट्रोल हटा करके, भूमि की चकबन्दी संबंधी प्रोग्राम को अपना करके, किसान को उसके उत्पादन के लिए लाभकारी मूल्य सुनिश्चित करके, तथा प्रोत्साहन मूल्यों को बनाये रख कर अधिप्राप्ति

(procurement) मूल्यों को बढ़ा कर सम्भव बनाया जा सकता है; (13) ग्रामीण विकास से संबंधित सभी प्रोग्रामों को एकीकृत करके तथा विकेन्द्रीकरण विकास की नीति द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं और साधनों को ध्यान देकर पचायती संस्थाओं द्वारा विकास सबधी प्रोग्राम को सफल बनाना होगा।

ये सब उपाय निर्धनता निवारण को सम्भव बनायेंगे। जब तक सभी नागरिकों को आवश्यक पौष्टिक भोजन, मौलिक शिक्षा, प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा, सुरक्षित पीने का पानी, और स्वास्थ्य रक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध नही होंगी, निर्धनता निवारण प्रोग्राम को सफल नही माना जायेगा।

निर्धनों की समस्याएं और निर्धनता की पीड़ा (Problem of the Poor and the Pains of Poverty)

चवालीस वर्षों की योजना के पश्चात भी भारत अभी तक विश्व के सबसे अधिक निर्धन देशों में से एक है। कई देशों ने जो भारत से कही छोटे हैं, प्रगति की है। ससार के निर्धनों में हर तीसरा व्यक्ति भारतीय है और इस सख्या में निरतर वृद्धि हो रही है।

कुछ परिवर्तनीय स्थितिया जिनके कारण निर्धन व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न हैं ये हैं श्रमिक बल में सहभागिता की मात्रा, रोजगार का प्रकार, परिवार की विशेषताए, वृहत् समाज के ज्ञान की राजनीतिक जागरूकता, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के प्रति चेतना, और राजनीति, धर्म और सामाजिक रीति-रिवाजों में मूल्य अभिमुखीकरण (value orientations)। रोस्सी और ब्लम ने (1969,39-41) दृढता-पूर्वक कहा है कि निर्धन केवल मात्रा में एक दूसरे से भिन्न हैं न कि स्वरुप में।

हमारे समाज में निर्धन जिन महत्वपूर्ण समस्याओं का सामना करते हैं वे हैं (1) सामाजिक भेद-भाव और सामाजिक निन्दा, (2) आवास, और (3) निर्धनता की उप-सस्कृति।

सामाजिक भेद-भाव (Social discrimination)

मालिक/नियोक्ता, अमीर, अधिकारी, और यहा तक कि सरकार भी निर्धनों से घृणा करती है। वे आलसी, अकुशल और समाज पर बोझ माने जाते हैं। उनको हर स्तर पर सताया जाता है, अपमानित किया जाता है और उनसे भेद-भाव बरता जाता है। उनका कोई प्रतिनिधित्व नही करता और वे शक्तिहीन होते हैं। इस कारण वे शक्तिशाली व्यक्तियों के आक्रमण और विद्वेष के सदैव निशाने बनाये जाते हैं। उन्हें निरधारता और सामाजिक पूर्वाग्रह की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। उनमें सामूहिक शक्ति का अभाव होता है और जब कभी वे स्थानीय या लघु स्तर पर समाज के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिक शक्तिशाली समूहों के विरुद्ध एक होने का प्रयत्न करते हैं तो उन लोगों को लगता है कि उनके आधिपत्य को खतरा है और इस कारण उन निर्धनों को कुचल दिया जाता है। उन्हें कर्ज़ पर ऊंची दर पर ब्याज देना पड़ता है। उन पर दोषारोपण किया जाता है और उन्हें अनुशासनहीन, अपरिपक्व, और बहुत

कम दूरदर्शिता वाला कहा जाता है। जिन कार्यालयों में वे जाते हैं वहां उनकी ओर बहुत कम या बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया जाता है। पुलिस तो सबसे पहले उन क्षेत्रों में जाती है जहां ग़रीब रहते हैं जैसे कि केवल ग़रीब ही अपराध करते हैं। वे विरले ही विश्वसनीय, भरोसे के और ईमानदार माने जाते हैं। इस प्रकार समाज के प्रत्येक स्तर पर प्रतिकूल रवैया उनकी आत्मछवि को गिराता है, उनमें हीन-भावना को जन्म देता है, और अपनी सहायता के लिये साधन जुटाने के प्रयत्नों पर उन पर रोक लगाता है।

निवास (Housing)

शहरी क्षेत्रों में आवासहीनता, गंदी बस्तियां और किराये के कानून भयंकर समस्याएं हैं। परिवार के आवास की इकाई और पड़ौस जहा पर वह स्थित है निर्धनता से जुडी समस्याओं के महत्वपूर्ण तत्व हैं। ग़रीबों के मकानों में केवल भीड़-भाड ही नही होती अपितु एकान्त का भी अभाव होता है। परिवार के लिये मकान के नक्शे (design) का महत्व दो ध्रुवीय प्रकार के पारिवारिक मूल्यों की अभिधारणा (postulation) के द्वारा सुझाया जाता है: पारिवारिक (familistic) प्रकार और विमुक्त (emancipated) प्रकार। पहले प्रकार के पारिवारिक मूल्यों की विशेषताएं ये होती हैं: उनमें पारिवारिक कर्तव्यों को निभाने की प्रबल भावनाएं होती हैं; वे परिवार के वृद्ध, निर्बल, और बेरोज़गार सदस्यों को सहारा और सुरक्षा प्रदान करते हैं; वे पारिवारिक परंपराओं से जुड़े होते हैं; पारिवारिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये उसके सदस्य सामूहिक प्रयास करते हैं; और उन्हें परिवार की प्रस्थिति की चिन्ता होती है। दूसरे प्रकार के पारिवारिक मूल्यों की विशेषताएं ये होती हैं: वे व्यक्तिगत लक्ष्यों के लिये स्वयं प्रयास करते हैं; परिवार के प्रति उनके कर्त्तव्य संकुचित होते हैं; और स्वयं के कल्याण को वे परिवार के कल्याण से ऊपर रखते हैं। परिवार को इन मूल्यों की ध्रुवीय किस्मों के बीच निरंतरता की स्थिति के अलावा पड़ौस भी घर के बाहर सदस्यों के संबंधों पर प्रभाव डालता है। शहर की गंदी बस्तियों में पारिवारिक जीवन का एक बड़ा भाग आवासीय इकाई के बाहर बिताया जाता है। घरों की नीरसता बच्चों को सडक पर जाने के लिये बाध्य करती है और इससे माता-पिता के सामने बच्चों को नियंत्रण में रखने की समस्या खड़ी होती है। घर में कम जगह में सोने के ठीक प्रबन्ध नहीं हो पाते और इससे एकान्तता पर प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक तनावों का उनके व्यक्तित्व और व्यवहार पर भी प्रभाव पडता है; स्वाभिमान में कमी आती है और कटु स्वभाव को प्रोत्साहन मिलता है। निर्धनता घटिया मकानों में रहने के लिये बाध्य करती है और संतोषजनक जीवन की पूर्वापेक्षाओं के लिये कुछ भी नहीं छोड़ती है। छोटे मकान पारिवारिक एकता को कमजोर करने में भी सहायक होते हैं।

निर्धनता की उपसंस्कृति (Subculture of Poverty)

आस्कर लुइस के अनुसार जब निर्धनता पीढ़ी दर पीढ़ी चलती है तो वह एक संस्कृति का रूप धारण कर लेती है। लूसी क्रेगबर्ग (1963:335-336) ने कहा है कि यद्यपि गरीबों की सदस्यता

पीढ़ियों के साथ-साथ महत्वपूर्ण मात्रा में परिवर्तित हो जाती है फिर भी आने वाली पीढ़िया अपने व्यवहार और मूल्यों में एक दूसरे से मिलती हैं और यह उनके निर्धनता के कारण हुए एक से अनुभवों और एक से सामाजिक दबावों के शिकार होने के फलस्वरूप होता है। गरीबों के बच्चे हिंसा की उपसंस्कृति को अपनी वसीयत में ग्रहण करते हैं जिसमें शारीरिक आक्रामक प्रतिक्रियाओं को सब सदस्य या तो अपेक्षा करते हैं या आवश्यकता समझते हैं। इस प्रकार की उपसंस्कृति में हिंसा का उपयोग गैर कानूनी आचरण नहीं समझा जाता है और हिंसा करने वाले के अपने आक्रमण के कारण कोई अपराध की भावना उत्पन्न नहीं होती। हिंसा उनकी जीवनशैली का एक अंग बन जाती है, कठिन समस्याओं को सुलझाने का एक माध्यम बन जाती है और विशेषरूप से उन व्यक्तियों और समूहों के बीच अपनाई जाती है जो उसी प्रकार के मूल्यों और मानदंडों का अनुमोदन करते हैं और निर्भर रहते हैं। एक ओर तो यह उपसंस्कृति निर्धनता के प्रभाव के रूप में देखी जाती है, अर्थात् यह व्यक्तियों के व्यवहार और सोचने के संरूपों में एकरूपता का उल्लेख करती है और दूसरी ओर उसे निर्धनता का कारण माना जाता है।

वे उपकरण जिन्होंने भारत की अर्थव्यवस्था को शैशवकाल से परिपक्वता की स्थिति तक विकसित किया, सन् 1978 के पश्चात वे उसके अग्रिम विकास के लिये भयकर रूकावट समझे जाते हैं। उनमें से प्रमुख (1) औद्योगिक लाइसेंस के कानून, (2) एकाधिकारों और विदेशी उद्यमों पर कन्ट्रोल, और (3) छोटे उद्योगों के साथ भेद भावपूर्ण व्यवहार। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि चार वर्षों (1991, 92, 93 और 94) में हमारी सरकार लाइसेंस की कार्यप्रणालियों में गति लाई है, आयात के नियत्रणों में शिथिलता लाई है और उसने उद्योग के बड़े क्षेत्रों को लाइसेंस से मुक्त कर दिया है। निर्धनता को कम करने हेतु सबसे अधिक आवश्यकता है एक ऐसी आर्थिक स्थिति-निर्धारण की कि जो निश्चयात्मक, आक्रामक, और बहुर्मुखी हो न कि अन्तर्मुखी। आज यह कहना पर्याप्त नहीं है कि हम इस प्रकार की कार, या स्टील या सीमेन्ट बना सकते हैं जो कि हमारी घरेलु आवश्यकताओं के लिये ठीक ठीक है। अब हमें अपने से इसकी मांग करनी चाहिये कि हम ऐसी कार बनाए जो जापान और कोरिया की कारों की तुलना में कम से कम उन बाजारों में तो जो उनकी अपेक्षा हमारे से अधिक निकट हैं अधिक बिके और हम स्टील और सीमेन्ट का उत्पादन ऐसी कीमतों और उत्कृष्ठ स्तर पर करें जिससे दूसरे देश उन्हें हमसे खरीदें।

स्वतत्रता के सैंतालिस वर्षों के बाद भी प्रति व्यक्ति औसत वास्तविक आय पहले की तुलना में दुगनी भी नहीं है। कई देशों में यह पाच या छह गुना हो गई है और जापान में यह युद्ध के तुरन्त बाद की आय से पचास गुना है। भारत में निर्धनों और धनवानों में असमानताए यूरोप या जापान की तुलना में बहुत अधिक हैं। यही नही ये कम होने के बजाय बढ़ रही हैं। एक सामान्य भारतीय जीवित रहने से आगे कुछ नही सोच सकता और अब तो केवल जीवित रहना भी सदेह के दायरे में हैं।

आज की व्यवस्था न तो पैसे दिला सकती है और न नौकरी । प्रत्येक पाचवा युवा भारतीय बेरोज़गार है और प्रत्येक चौथा किसान साधनहीन है । क्यों कि पर्याप्त संख्या में नौकरियों नहीं हैं और इस व्यवस्था के रहते कभी भी नहीं होंगी, इस कारण दूसरे पदार्थों की भाति जिनकी कमी है, इन पर भी राशन लगाया जा रहा है । 'मंडलीकरण' नौकरियों की राशन व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नही है ।

मंडल आयोग से जुड़े हुए तीन सामाजिक वैज्ञानिकों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि यह रिपोर्ट असत्य/मनगढ़न्त/काल्पनिक है और जाति/वर्गों के पिछड़े होने संबंधी वर्गीकरण का आधार ही अवैज्ञानिक है और गलत सांख्यिकी पर आधारित है । परन्तु आरक्षण व्यवस्था का सबसे पैशाचिक भाग नौकरियों का वोटों से संबंधित है । इसका निश्चय ही अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ेगा और यह व्यवस्था को और अधिक भ्रष्ट कर देगा ।

यद्यपि सरकार ने राजाओं के प्रिवीपर्स समाप्त करके दस करोड रुपये प्रतिवर्ष बचा लिये किन्तु वह राजनीतिज्ञ महाराजाओं पर सैकड़ो करोड़ रुपये प्रतिवर्ष व्यय कर रही है । आजकल के शासकों की जीवन शैली आलीशान है । परन्तु उन राजनीतिज्ञ महाराजाओं पर आक्रमण करने का कौन साहस कर सकता है जो हमारे राष्ट्र के नीति निर्धारक होने का दावा करते हैं ?

निर्धनता-विरोधी रणनीतिया (Anti-poverty Strategies)

स्वतत्रता के पश्चात केन्द्र और राज्य सरकारों ने निर्धनता को हटाने के लिये निम्नांकित कदम उठाये हैं· (1) पचवर्षीय योजनाएं, (2) राष्ट्रीयकरण, (3) बीस-सूत्री कार्यक्रम, और (4) आई.आर.डी.पी., एन.आर.ई.पी., अन्त्योदय और जवाहर रोज़गार योजना कार्यक्रम । हम इन सभी कार्यक्रमों का एक एक कर के विश्लेषण करेंगे:

पचवर्षीय योजनाए (The Five Year Plans)

योजना आयोग, जिसका गठन 1950 में हुआ था, देश की आवश्यकताओं एवं साधनों का व्यापक सर्वेक्षण कर के पचवर्षीय योजनाएं बना रहा है । प्रथम योजना अप्रैल 1951 में आरम्भ हुई और तीसरी योजना मार्च 1966 में समाप्त हुई । इसके पश्चात अप्रैल 1966 से मार्च 1969 तक तीन एकवर्षीय योजनाए बनी । चौथी योजना अप्रैल 1969 में और आठवी योजना 1992 में आरम्भ हुई ।

प्रथम पचवर्षीय योजना (1951-56) दूसरे विश्वयुद्ध के कारण व 1947 के देश के बंटवारे और अंग्रेजी राज से विरासत में मिली आर्थिक व्यवस्था में गड़बड़ी से हुए असंतुलनों को ठीक करने की दृष्टि से बनाई गई । यद्यपि योजना का लक्ष्य चतुर्मुखी संतुलित विकास करना था परन्तु उसने सबसे अधिक प्राथमिकता कृषि और सिंचाई को दी और इस क्षेत्र पर संपूर्ण योजना बजट का 44.6% लगाया । ऐसा देश की कृषि संबधी आयातों को कम करने और विदेशी मुद्रा को बचाने के लिये किया गया । इस योजना में औद्योगिक क्षेत्र को अधिक महत्व नहीं दिया गया और योजना लागत का 5% से कम उद्योगों पर व्यय किया गया । फिर भी

योजना ने विद्युत विकास, ग्रामीण विकास (सामुदायिक विकास परियोजनाएं) और समाज कल्याण कार्यक्रमों को कुछ महत्व दिया। योजना के पूरे बजट (2378 करोड रुपये) में से केवल दो-तिहाई (65 6%) वास्तव में खर्च हुआ। योजना के अन्त में देश की राष्ट्रीय आय में 18% की वृद्धि हुई और प्रति व्यक्ति आय में 11% की।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61) का लक्ष्य अर्थव्यवस्था का तीव्र गति से औद्योगिकरण और भारतीय समाज को समाजवादी ढाचे का बनाने के लिये विभिन्न वर्गों में आय और धन में अधिक समता लाना था। योजना ने इस पर बल दिया कि विकास से हुए लाभ समाज के अपेक्षाकृत कम सुविधा प्राप्त वर्गों को मिलने चाहिये और आयदनी के केन्द्रीयकरण में क्रमिक कमी होनी चाहिये। उसने आधारभूत और बडे उद्योगों के विकास, रोज़गार के अवसरों के विकास, निजी क्षेत्र के स्थान पर सार्वजनिक क्षेत्र के विकास, और राष्ट्रीय आय में 25% वृद्धि को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाया। इस योजना के दौरान हुआ व्यय (4672 करोड रुपये) प्रथम योजना में हुए व्यय से दुगना था। फिर भी इस योजना का निष्पादन उन आशाओं को जो उससे की गई थी पूरा नही कर पाया। अर्थव्यवस्था के लगभग सभी क्षेत्रों की उपलब्धियां योजना के लक्ष्यों से कम थी। परिणामस्वरूप, प्रथम योजना के दौरान मूल्य-सूचकाक में 13% की कमी के स्थान पर दूसरी योजना में मूल्यों के स्तर में 12.5% वृद्धि हुई।

तृतीय पचवर्षीय योजना (1961-66) का लक्ष्य आत्मनिर्भर विकास की दिशा में एक विशिष्ट प्रगति सुनिश्चित करना था। उसमें पाच लक्ष्यों की एक सूची थी, अर्थात् वार्षिक राष्ट्रीय आय में 5% की वृद्धि, कृषि में *आत्मनिर्भरता, आधारभूत उद्योगों* (जैसे स्टील, विद्युत, केमिकल्स) का विकास, मानव शक्ति के साधनों का अधिकतम उपयोग, और आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण। कृषि को पुन. सबसे अधिक प्राथमिकता दी गई और पूरी लागत का 35% इस क्षेत्र को आवटित किया गया। इसकी तुलना में उद्योगों को 23% और परिवहन और सचार को 25% आवटित किया गया। योजना का उद्देश्य राष्ट्रीय आय को 30% बढाना था और प्रति व्यक्ति आय को लगभग 17%। योजना के दौरान व्यय हुई राशि (12,767 करोड रुपये) आवटित राशि (11,600 करोड रुपये) से 9% अधिक थी।

तृतीय योजना का निष्पादन भी दूसरी योजना की तरह उतना ही हतोत्साहित करने वाला था। पांच वर्ष के काल में राष्ट्रीय आय 5% के लक्ष्य की तुलना में 2 6% ही बढी। कृषि के क्षेत्र में भी उत्पादन को धक्का लगा। औद्योगिक उत्पादन भी 11% के लक्ष्य की तुलना में 7.9% हुआ। 1965-66 की कीमतों का सूचकाक 1960-61 से 32% ऊचा था। भारत-पाक युद्ध, भारत-चीन युद्ध, और मानसून की क्रमिक विफलताएं इसके कारक थे जो मनुष्य के नियत्रण से परे थे। 1965-66 में प्रति व्यक्ति आय वही थी जो 1960-61 में थी। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से बहुत सा ऋण लेना पडा तथा जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा।

तृतीय योजना के अन्त में अर्थव्यवस्था वस्तुत. इतनी बुरी दशा में थी कि चौथी योजना

का जिसे मार्च 1966 में प्रारम्भ करना था, परित्याग करना पड़ा और उसके स्थान पर तीन वार्षिक योजनाएं बनाई गई। 1966 और 1969 के बीच तीन वर्ष के काल, को जिसे योजना की छुट्टी का काल कहा जाता है, उन बुराईयों को ठीक करने में लगाया गया जिन्होंने तीसरी पंचवर्षीय योजना के चलते योजना की प्रक्रिया को अपंग कर दिया था। तीन वर्षों की वार्षिक योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य तीसरी पंचवर्षीय योजना के बचे हुए कार्यों को जारी रखना था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74) के लक्ष्य राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष 5.5% की वृद्धि करना, आर्थिक स्थिरता लाना, आय के वितरण में असमानताओं को कम करना और सामाजिक न्याय को समानता के साथ उपलब्ध करवाना था। पांचवीं योजना के अन्तर्गत कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में समकालिक विकास को पूरी मान्यता प्रदान की गई। यद्यपि इस योजना के दौरान 22,862 करोड़ रुपये की पूर्ण राशि व्यय हुई, उसके उपरान्त भी यह योजना आर्थिक विकास लाने में असफल रही। यह खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्राप्त नहीं कर पाई और न ही रोज़गारों के अवसरों को पैदा करके यह व्याप्त बेरोजगारी की समस्या को हल करने में कोई उल्लेखनीय कार्य कर पाई। मुद्रास्फीति की स्थिति भी और जटिल हो गई। 1960-61 को आधार मानते हुए, थोक मूल्य-सूचकांक (price index) 1968-69 के 165.4 से बढ़कर 1973-74 के अन्त में 281.7 हो गया, यानी पांच वर्ष के काल में 70% की वृद्धि हुई।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) को उस समय सूत्रबद्ध किया गया जब अर्थव्यवस्था पर स्फीति का अत्यधिक दबाव था। उसका लक्ष्य विशेषरूप से निर्धनता का उन्मूलन करना और आत्मनिर्भरता प्राप्त करना था। उसका लक्ष्य निर्धन व्यक्तियों के खण्डों की बड़ी संख्या को निर्धन रेखा से ऊपर उठाना था और इसके लिये 1972-73 की कीमतों को आधार मानकर 40 रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिमाह के न्यूनतम आय को सुनिश्चित करना था। इस योजना के उद्देश्य रोज़गार के अवसरों को बढ़ाना, आत्मनिर्भरता, न्यूनतम मज़दूरी की नीति, क्षेत्रीय असंतुलनों को हटाना, और निर्यात को प्रोत्साहन देना था। इस योजना में राष्ट्रीय आय में 5.5% के वार्षिक विकास की दर का लक्ष्य था।

इस योजना को 1979 के स्थान पर 1978 में ही जनता दल के शासन काल में समाप्त कर दिया गया और छठी योजना अनवरत योजना (Rolling Plan) के रूप में आरम्भ की गई। परन्तु 1978 में जब कांग्रेस पुन. सत्ता में आई तो पांचवीं योजना के काल को 1974 से 1979 तक बतलाया गया। पांचवीं योजना एक विलक्षण रूप से अशुभ सिद्ध हुई। यह वास्तव में वार्षिक विकास कार्यक्रमों का एक समूह मात्र था। यह किसी भी क्षेत्र में अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाई। हां, खाद्यान्न में वृद्धि एक अपवाद था।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) को योजना के पिछले तीन दशकों में हुई उपलब्धियों और कमियों को ध्यान में रखते हुये प्रतिपादित किया गया। इस योजना का सर्वोपरि उद्देश्य दरिद्रता को समाप्त करना था, यद्यपि यह भी माना गया कि इस उद्देश्य की प्राप्ति पांच वर्ष की छोटी अवधि में नहीं हो सकती है। योजना में आर्थिक विकास, बेरोज़गारी का उन्मूलन, आय

के बंटवारे में असमानता को कम करना, प्रौद्योगिकी में आत्मनिर्भरता, समाज के कमजोर वर्गों की जीवन-शैली को ऊपर उठाना, सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार और बढ़ती हुई जनसख्या पर नियंत्रण पर बल दिया गया। इस योजना के दौरान 1,58,710 करोड़ रुपये (1990-91 के मूल्य पर 1,09,291 7 करोड रुपये) की कुल राशि व्यय हुई।

इस योजना ने बहुत अच्छी तरह से विश्वासोत्पादक सफलता अर्जित की तथा इस में 5.2% के विकास के लक्ष्य से भी अधिक विकास हुआ। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) के अनुसार जीवन-रेखा से नीचे रह रहे व्यक्तियो का अनुपात जो 1977-78 में 48.3% था वह 1984-85 में गिर कर 36 9% हो गया।

सातवी पंचवर्षीय योजना (1985-90) में तीन चीजों को प्राथमिकता दी गई। यह थ खाद्यान्न, रोजगार, और उत्पादकता में वृद्धि। बडे पैमाने पर उत्पादनकारी रोज़गार को बढाने पर बल देने के साथ-साथ इस योजना का उद्देश्य निर्धनता के प्रभाव-क्षेत्र में उल्लेखनीय कमी करना और दरिद्रों के जीवन में गुणात्मक सुधार लाना था। निर्धनता अनुपात को 37% से 1990 तक 26% तक गिरने की आशा थी। इस योजना में 1,80,000 करोड रुपये (1989-90 की दरों के अनुसार 3,48,148 करोड रुपये) का कुल आवटन था। तथापि यह योजना भी अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में बिल्कुल असफल रही। कृषि के मोर्चे पर, उत्पादन के क्षेत्र में, रोजगार बढ़ाने में, और देश के भुगतान के सतुलन की स्थिति इन सबको गहरा धक्का लगा।

आठवी पंचवर्षीय योजना (1992-97) यद्यपि अप्रैल 1990 से आरम्भ होनी थी परन्तु केन्द्रीय स्तर पर राजनीतिक अस्थिरता के कारण इसे अप्रैल 1992 से ही लागू किया गया तथा दो वर्षों (1990-91 और 1991-92) को वार्षिक योजना-काल माना गया। वी.पी सिंह सरकार के काल में उप-चेयरमैन रामकृष्ण हेगडे तथा चन्द्रशेखर सरकार के काल में उप-चेयरमैन मोहन धारिया इस योजना को कोई रूप नही दे सके। नरसिम्हाराव सरकार के काल में प्रणव मुकर्जी ने 22 मई 1992 को इसे राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) से पास करवाया। 1991-92 की दरों के अनुसार इसका कुल बजट 7,98,000 करोड रुपये है। इसका यह अर्थ है कि देश प्रतिवर्ष 66,500 करोड रुपये या लगभग 1385 करोड रुपये प्रति सप्ताह खर्च करेगा। इस राशि का 45% भाग सरकार और 55% भाग निजी उद्योग और व्यापार खर्च करेगा।

इस योजना की दिशा रोजगार उत्पत्ति की ओर समझी जाती है। अधिक पूजी ऐसे छोटे उद्योगों में लगाई जायेगी जिनके गहन कार्य होने की सभावना है। इस योजना का लक्ष्य 5 5% से 6.5% समग्र जी.डी.पी. विकास दर, 5% कृषि विकास दर, 7.5% औद्योगिक विकास दर, 8% से 10% सेवा क्षेत्र (service sector) में विकास दर, और 10% निर्यात विकास दर प्राप्त करना है। इस योजना का आकार पिछली योजना से दुगने से कुछ ज्यादा है परन्तु वास्तव में सभी योजनाएं पिछली योजनाओं के आकार से दुगनी रही हैं। विकास की दर का लक्ष्य 5.5% है जो पिछली योजनाओं के लगभग बराबर है। यह अलग बात है कि वे प्रथम और

सातवीं योजनाओं को छोड़ कर कभी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकी । आठवीं योजना इस प्रकार इससे पहले वाली योजनाओं से भिन्न नहीं है और लगता है कि इसके परिणाम भी भिन्न नहीं होंगे ।

पंचवर्षीय योजनाओं का मूल्याकन

यदि हम सातों योजनाओं और आठवीं योजना के पहले दो वर्षों का मूल्यांकन करें तो हम पायेंगे कि हमने योजनाओं के लगभग चार दशक पूरे कर लिये हैं । हमारी सभी योजनाओं का कोई न कोई लक्ष्य था, कभी कृषि उत्पादन में आत्मनिर्भरता, कभी रोजगार में वृद्धि, कभी औद्योगिक विकास, आदि, आदि । परन्तु निर्धनता और बेरोजगारी में सदैव वृद्धि हुई है ।

इस तेंतालीस वर्ष के अन्तराल में आर्थिक विकास की औसत दर 3% रही है । यद्यपि विश्व की 4% औसत विकास दर की तुलना में हमारी विकास दर खराब नही है, परन्तु विकसित देशों की 7 से 10 प्रतिशत विकास दर की तुलना में हमारी विकास दर निसन्देह असन्तोषजनक है । 1951 से 1993 के बीच हमारी वार्षिक राष्ट्रीय आय में लगभग 3.5% की वृद्धि-दर, कृषि उत्पादन में 2.7% वृद्धि-दर, औद्योगिक उत्पादन में 6.1% वृद्धि-दर, और प्रति व्यक्ति वार्षिक उपभोग वृद्धि-दर 1.1% हुई है । यद्यपि सरकार का यह दावा है कि 1992 में निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले व्यक्तियों की संख्या कुल जनसंख्या की केवल 29.9% ही रही थी परन्तु बेरोज़गार व्यक्तियों की सख्या बढ जाने के कारण यह नहीं माना जा सकता है कि निर्धनता पर काबू पा लिया गया है । इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि आज और अधिक व्यक्ति कुंठित हैं और आन्दोलनों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ रही है ।

आठवी योजना में हजारों करोड़ की नई पूंजी भारी उद्योगों, छोटे उद्योगों, बिजली घरों, तेल के कारखानों, खाद के कारखानों, सिंचाई निकायों, परिवहन इकाईयों आदि, में लगेगी । परन्तु क्या यह पैसा बेरोजगारी और निर्धनता के प्रतिशत में कोई कमी ला पायेगा ? क्या यह दरिद्रों के जीवन में कोई गुणात्मक सुधार ला पायेगा ? इससे पूर्व कि हम योजना को एक लंबी छुट्टी देने का निर्णय करें, हमें प्रतीक्षा करनी चाहिये और स्थिति का अवलोकन करना चाहिये । जिन देशों ने अधिक प्रगति की है उनमें कोई योजना आयोग एवं योजनाएं नहीं हैं । ऐसे देश जापान और जर्मनी हैं और इन देशों ने बहुत विकास हुआ है ।

राष्ट्रीयकरण (Nationalisation)

राष्ट्रीयकरण की नीति को 1969 में अपनाया गया और उसी वर्ष 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया । इसके बाद कोयले की खानों का 1972 में राष्ट्रीयकरण किया गया । फिर सरकार ने एक बड़ी निजी लोहे और स्टील कंपनी और खाद्यान्न के थोक व्यापार को अपने नियंत्रण में लिया । राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य कमज़ोर वर्गों को ऋण देना था । यह सच है कि कृषि, लघु उद्योग, व्यवसायियों, और परिवहन संचालकों के उधार का हिस्सा 1969 में 14% से तीव्र गति से बढ़कर 1980 में लगभग 33% और 1988 में 42% हो गया और बैंकों ने ग्रामीण आर्थिक

व्यवस्था के नवीनीकरण में सहायता की, परन्तु राष्ट्रीयकरण के कुछ नकारात्मक गौण परिणाम (side effects) भी हुए हैं। निपुणता, मुनाफे की मात्रा (quantum), सर्वसाधारण को दिये जाने वाली सेवा का स्तर या जमा राशि के संग्रहण के दृष्टिकोण से यदि आका जाये तो बैंक सरकार के दावे के बावजूद गतिनिर्धारक नही रही हैं। निपुणता, पहल और वचनबद्धता राष्ट्रीयकरण के शिकार हुए हैं। केवल दो क्षेत्रों में शाखाओं के विस्तार और कमजोर वर्गों को ऋण देने में ही बैंकों ने आशा से अधिक कार्य किया है। बैंकों से दिये जाने वाले ऋण वास्तव में दरिद्र व्यक्तियों को न दिये जाकर उन व्यक्तियों को दिये जाते है जिनके पास राजनीतिक सहारा होता है। इन ऋणों में से अधिकाश वे हैं जो कभी वसूल ही नही किये जाते।

1990 में जब राष्ट्रीय मोर्चा सरकार सत्ता में आई तो उसने किसानों के 10,000 रुपये से नीचे के ऋण माफ़ करने की नीति की घोषणा की। जबकि केन्द्र और राज्य सरकारों को इसके भार को बाटना था, केवल केन्द्र का ही भार 2,600 करोड और 3,000 करोड़ रुपये के बीच सम्भावित था। पूरी खेती-ऋण माफी योजना का राज्यकोष पर 10,000 करोड़ रुपये का भार पडा। कई अर्थशास्त्रियों ने इस नीति को देश के लिये हानिकारक बतलाया। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने भी कहा कि यह देश की अर्थव्यवस्था को हानि पहुचायेगा।

बीस-सूत्री कार्यक्रम (Twenty-Point Programme)

इंदिरा गाधी ने इस कार्यक्रम को जुलाई, 1975 में प्रस्तुत किया। इसका उद्देश्य निर्धनता और आर्थिक शोषण को कम करना और समाज के कमज़ोर तबके को ऊपर उठाना था। इस कार्यक्रम के पाच महत्वपूर्ण लक्ष्य थे (i) स्फीति नियन्त्रण, (ii) उत्पादन प्रोत्साहन, (iii) ग्रामीण जन-कल्याण, (iv) शहरी मध्यम वर्ग को राहत, और (v) आर्थिक और सामाजिक अपराधों पर रोक। 20 सूत्री कार्यक्रम में ये कार्यक्रम सम्मिलित थे सिंचाई क्षमता में वृद्धि, ग्रामीण रोजगार के लिये उत्पादन कार्यक्रम में वृद्धि, अधिशेष (surplus) भूमि का बटवारा, खेतिहर मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी, बधुआ मजदूरों का पुनर्वास, अनुसूचित जातियों और जनजातियों का विकास, आवासीय सुविधाओं का विकास, विद्युत उत्पादन में वृद्धि, परिवार नियोजन, वृक्षारोपण, प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाओ का विस्तार, स्त्रियों और बच्चों के लिये कल्याणकारी कार्यक्रम, प्राथमिक शिक्षा का विस्तार, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सशक्त करना, औद्योगिक नीतियों का सरलीकरण, काले धन पर नियत्रण, पेयजल सुविधाओं में सुधार, और आन्तरिक ससाधनों का विकास।

जब मार्च 1977 में जनता दल केन्द्र में सत्ता दल बना तो सरकार के परिवर्तन के साथ-साथ इस कार्यक्रम को बद कर दिया गया। फिर जनवरी 1982 मे इस कार्यक्रम को सशोधित रुप के साथ पुन. लागू कर दिया गया। दूसरी चीजों के साथ इस संशोधित कार्यक्रम में ग्रामीण विकास में तीव्र गति लाई गई और ग्रामीण निर्धनता पर सीधा प्रहार किया गया। इसके अतिरिक्त अनुसूचित जातियों और जनजातियों को ऊपर उठाने के लिये विशेष योजनाएं बनाई गई। छठी योजना (1980-85) के दौरान हुए अनुभवों को मध्य नज़र रखते हुये बीस-सूत्री कार्यक्रम को

अगस्त 1986 में पुनःसरचना की गई और इसमें सशोधन लाया गया । इस पुनर्निर्मित कार्यक्रम के उद्देश्य हैं: निर्धनता का उन्मूलन, उत्पादन में वृद्धि, आय की असमानताओं में कमी, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को हटाना, और जीवनस्तर में सुधार । 20 सूत्री कार्यक्रम की 1986 की पुनर्निर्मित योजना में निम्नांकित वचन बद्धताएं हैं. ग्रामीण दरिद्रता पर प्रहार, वर्षा पर आश्रित कृषि के लिये रणनीति, सिंचाई के पानी का और अच्छा उपभोग, और बडी फसलें, भूमि सुधारों का प्रवर्तन, ग्रामीण मजदूरों के लिये विशेष कार्यक्रम, शुद्ध पेयजल, सबके लिये स्वास्थ्य लाभ, दो बच्चों का मानदण्ड, शिक्षा का विस्तार, अनुसूचित जातियों और जनजातियों को न्याय, स्त्रियों के लिये समानता, युवाओं के लिये नये अवसर, लोगों के लिये आवास, गंदी बस्तियों का सुधार, वानिकी (forestry) के लिये नई रणनीति, पर्यावरण की सुरक्षा, उपभोक्ता में दिलचस्पी, गावों के लिये बिजली, और सहानुभूतिपूर्ण प्रशासन । यह तथ्य कि ग्रामीण लोग और शहरी निर्धन आज अधिक असन्तुष्ट और कुण्ठित हैं इस बात का संकेत देता है कि बीस सूत्री कार्यक्रम अपनी वचनबद्धताओं को पूरा करने में असफल रहा ।

आई.आर.डी.पी., एन.आर.ई.पी., जवाहर रोजगार और अन्त्योदय कार्यक्रम (I.R.D.P., NREP, Jawahar Yojana, and Antyodaya)

सरकार द्वारा निर्धनता को कम करने के अनेक कार्यक्रम ग्रामीण निर्धनों के लिये आरम्भ किये गये । इन निर्धन लोगों में छोटे और सीमांत किसान, खेतिहर मज़दूर और गांव के कारीगर सम्मिलित हैं । वर्तमान में चल रहे महत्वपूर्ण कार्यक्रम सारणी 2.3 में दर्शाये गये हैं:

हम इन कार्यक्रमों में से प्रत्येक के ऊपर पृथक से विचार करेंगे ।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) में दो योजनाएं-छोटे किसानों की विकास ऐजेन्सी (SFDA) और सीमान्त किसान और कृषि मजदूर (मार्जीनल फार्मरस् एण्ड अग्रिकलचर्ल लेबर - MFAL)-प्रारम्भ की गई जिससे छोटे और सीमात किसान आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सकें । इसके लिये छोटे खेतों की उत्पादकता बढ़ानी थी और भूमिहीन कृषि मज़दूरों की स्थिति सुधारने के लिये उप-रोज़गारों द्वारा रोज़गार पैदा करना था । एक ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम (रुरल वर्क प्रोग्राम - RWP) भी आरम्भ किया गया जिसके द्वारा उन क्षेत्रों में जहां सूखे की स्थिति निरन्तर बनी रहती थी रोज़गार दिलाना था । पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) के दौरान एस.एफ.डी.ए. (सेल्फ फिनैन्सिंग डेवलपमेंन्ट एजेन्सी) और एम.एफ.ए.एल (मार्जीनल फार्मरस् एण्ड अग्रिकलचर्ल लेबर, MFAL) योजना में विलय कर दिया गया और उनके क्षेत्र के आकार को बढ़ा दिया गया । आर.डब्ल्यू.पी.(रुरल वर्क प्रोग्राम) का नाम बदलकर सूखा प्रवृत्त क्षेत्र कार्यक्रम (ड्राउट प्रोन ऐरियाज़ प्रोग्राम) रख दिया गया । इन सभी कार्यक्रमों का स्थान 1978-79 में आई.आर.डी.पी.(इन्टीग्रेटेड रुरल डेवलपमेंन्ट प्रोग्राम) कार्यक्रम ने ले लिया जिसके तहत अतिरिक्त रोज़गार पैदा करना था और चुने हुये लक्ष्य-समूहों के आय के स्तर को बढ़ाना था । इन समूहों में छोटे और सीमान्त किसान, बटाईदार, कृषि मज़दूर, ग्रामीण कारीगर और अनुसूचित जातिया एवं जनजातियां आतीं हैं ।

सारणी 2.3

ग्रामीणों के लिये गरीबी हटाओ कार्यक्रम

कार्यक्रम	*मूल तत्व*
आई.आर.डी.पी.	स्वय रोजगार के लिये कम ब्याज पर ऋण तथा ज्यादा निर्धन परिवारों को गरीबी-रेखा के ऊपर लाना
एन.आर.ई.पी.	सुस्त मौसम में मजदूरी-रोजगार
आर.एल.ई.जी.पी.	प्रत्येक खेतिहर परिवार को 80-100 दिनों का मजदूरी रोजगार
एम.एन.पी.	प्रारम्भिक और प्रौढ़ शिक्षा, स्वास्थ्य और परिवार नियोजन, पोषण, सड़कों, पेयजल और भूमिहीनों के लिये मकान के लिये भूमि की न्यूनतम सुविधाएं
डी.पी.ए.पी.	सूखा प्रवृत्त क्षेत्रों का क्षेत्रीय विकास
डी.डी.पी.	गर्म और ठंडे मरुस्थलों का क्षेत्रीय विकास
सी.डी.पी.आर.	सामुदायिक सुविधाएं और स्वयं पी.आर.संस्थाओं के लिये
भूमि सुधार	भूमि का पुनः वितरण
जवाहर रोजगार योजना	एक निर्धन परिवार के कम से कम एक सदस्य को एक वर्ष में 50-100 दिनों के लिये रोजगार

आई.आर.डी.पी. (IRDP)

समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme) निर्धनता को दूर करने के लिये सरकार का एक प्रमुख उपकरण है। इसका उद्देश्य चुनिन्दा परिवारों को कई प्रकार के कार्यों में स्व-रोजगार दिलाकर निर्धनरेखा को पार कराना है। ऐसे कार्य निम्नांकित हैं: कृषि, बागवानी और पशु-पालन तो प्रथम क्षेत्र में, बुनाई और दस्तकारी द्वितीय क्षेत्र में, और सेवा और व्यापारिक गतिविधियां तृतीय क्षेत्र में।

आई.आर.डी.पी. का उद्देश्य यह देखना है कि न्यूनतम निश्चित संख्या के परिवार एक प्रदत्त लागत और प्रदत्त समयावधि में निर्धनरेखा को पार कर सकें। इस प्रकार इसमें तीन चर (variables) शामिल हैं (अ) परिवारों की संख्या, (ब) निवेश के लिये उपलब्ध साधन, (स) समयावधि जिसमें लागत या निवेश से आमदनी होने लगे जिससे कि एक परिवार निर्धन रेखा को पार कर सके।

केन्द्र ने मार्च, 1976 में बीस चयनित ज़िलों में आई.आर.डी.पी. शुरू किया, परन्तु अक्टूबर, 1982 से इसे देश के सभी 5,011 ब्लाकों में बढ़ा दिया। यह कार्यक्रम परिवार को विकास की मूल इकाई मानता है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के दौरान 1.5 करोड़ परिवारों को सहायता के लक्ष्य के विपरीत 1.65 करोड़ परिवारों को सहायता प्रदान की गई जिससे वे अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकें और निर्धन रेखा से ऊपर उठ सकें। सातवीं योजना में 2,643 करोड़ रुपये की लागत का अनुमान था और लक्ष्य क्षेत्र दो करोड़ (एक करोड़ पुराने और एक करोड़ नवीन) लाभ भोगियों का था। 1985 के अन्त तक वह परिवार अति निर्धन (very poor) समझा गया जिसकी वार्षिक आय 3,500 रुपये थी तथा वह परिवार

"दरिद्र" (destitute) था जिसकी वार्षिक आय 1225 रुपये से कम थी। इसमें इसका ध्यान नहीं रखा जाता था कि उस परिवार में कितने सदस्य हैं। परन्तु 16 दिसम्बर, 1985 को यह परिभाषा बदल दी गई और उसके अनुसार "दरिद्र" वह माना गया जिसकी वार्षिक आय 6,400 रुपये थी और अनुदान की राशि भी 3,000 रुपये से बढ़ा कर 6,000 रुपये प्रति परिवार कर दी गई।

दि रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (आर.बी.आई.), दि नैशनल बैंक फार एग्रीकल्चर एण्ड रूरल डेवलपमेन्ट (नाबार्ड), दि इन्सटीट्यूट आफ फिनेन्शियल मेनेजमेन्ट एण्ड रिसर्च (आई.एफ.एम.आर), मद्रास, दि प्रोग्राम इवेलुएशन आर्गेनाईजेशन आफ दी प्लानिंग कमीशन (पी.ई.ओ.) और अनेक दूसरी संस्थाओं ने आई.आर.डी.पी. की कार्यान्विति और कार्यप्रणाली के विषय पर अध्ययन किये हैं। चूंकि इन अध्ययनों में से अधिकांश इन कार्यक्रमों के प्रारम्भिक वर्षों के अनुभवों पर आधारित हैं इसलिये उनके निष्कर्ष इसका स्पष्ट चित्रण नहीं करते। अधिक से अधिक वे इस कार्यक्रम की कार्यान्विति के दोषों को इंगित करते हैं। इन अध्ययनों में किसी ने भी इस कार्यक्रम की उपयोगिता पर ऊंगली नहीं उठाई है।

इस योजना की प्रमुख आलोचनाएं ये हैं: (1) दरिद्रतम व्यक्तियों को इससे लाभ नहीं मिला। यह विशेषरूप से तीन कारकों के कारण होता है: (अ) दरिद्र बड़ी राशि की घूस नहीं दे पाते, पेचीदा कागज़ात नहीं भरपाते, गांव के मुखिया को प्रभावित नहीं कर पाते, और उन्हें अपने लिये गारंटीकर्ता नहीं मिलना, (ब) बैंक अधिकारी निर्धन ऋण लेने वालों से व्यवहार करने में अनिच्छुक होते हैं क्यों कि वे सच या गलत यह सोचते हैं कि निर्धनों को ऋण देना खतरे से खाली नहीं है और वसूली बैंक की शाखा के कार्यकुशलता की एक प्रमुख सूचक मानी जाती है, (स) निर्धन स्वयं ही कार्यक्रम में बहुत कम रुचि लेते हैं क्यों कि उन्हें डर होता है कि कहीं कोई उन्हें धोखा न दे दे या यह डर होता है कि कहीं वे उसको वापस न कर पायें। (2) ऋण कार्यक्रम की कार्यान्विति में अत्यधिक भ्रष्टाचार, दुरुपयोग और अनाचार है। ऋणों का अक्सर गलत आवंटन होता है और वह ऊपरी तौर से तो योजना के दिशा-निर्देशों का उल्लंघन भी नहीं लगता है क्योंकि दिशा-निर्देश स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि ऋणों के निष्पक्ष आवंटन के लिये ग्राम सभा की बैठकें बुलाई जायें और उनमें लाभ भोगियों (beneficiaries) का चयन किया जाये। परन्तु वास्तव में यह नहीं होता क्योंकि ग्राम का मुखिया और ग्राम सेवक गांव वालों और प्रशासन के बीच बिचौलियों का काम करते हैं; (ब) ऋण प्राप्त करने के लिये घूंस देना आवश्यक है; और (स) परिवारों के सर्वेक्षण जिस पर योग्य परिवारों की सूची आधारित होनी चाहिये नहीं किये जाते। (3) आई.आर.डी.पी. ऋण लाभ भोगियों के न तो जीवन-स्तरों को उठाता है और न ही लोगों को निर्धन रेखा से ऊपर उठाकर ग्रामीण निर्धनता पर कोई प्रभाव डालता है। यह बात राजस्थान, गुजरात, पश्चिम बंगाल, उत्तरप्रदेश और कर्नाटक में किये गये अनेक अध्ययन दर्शाते हैं।

परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि सरकार द्वारा चलाये जा रहे निर्धनता निवारण

कार्यक्रमों को बद कर देना चाहिये । सरकार अपने दायित्व को नही त्याग सकती । उसे और अधिक ध्यान रोज़गार पैदा करने वाले कार्यक्रमों और भ्रष्टाचार मिटाने पर देना चाहिये जिससे कि प्रतिकूल परिस्थितियों में रह रहे समूह को वर्तमान में चल रही योजनाओं से सही लाभ प्राप्त हो सके ।

टी.आर.वाई.एस.ई.एम.(TRYSEM)

स्वरोज़गार के लिये ग्रामीण युवाओं को प्रशिक्षण (Training of Rural Youth for Self Emoloyment) की योजना 15 अगस्त,1979 को प्रारभ की गई । इसका उद्देश्य ग्रामीण युवकों को तकनीकी ज्ञान देने से है ताकि वे कृषि,उद्योग,नौकरियों और व्यापारिक गतिविधियों के क्षेत्रों में रोज़गार प्राप्त कर सकें । इस प्रशिक्षण के लिये वे ही युवा पात्र होते हैं जो 18-35 आयु समूह के हैं और ऐसे परिवारों के हैं जो निर्धन रेखा से नीचे जीवन व्यतीत कर रहे हैं (जिनका उपभोग व्यय 1984-85 मूल्य आधार पर 534 रुपये तथा नवम्बर 1993 के मूल्य आधार पर 3,250 रुपये प्रति परिवार प्रतिमाह या 650 रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिमाह है)। चयन में प्राथमिकता अनुसूचित जातियों एव जनजातियों, भूतपूर्व सैनिकों और नवी कक्षा उत्तीर्ण व्यक्तियों को दी जाती है । एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिये आरक्षित हैं । प्रशिक्षणार्थियों को 75 रुपये से 200 रुपये प्रतिमाह तक वजीफा दिया जाता है ।

एन.आर.ई.पी. (NREP)

राष्ट्रीय ग्रामीण विकास कार्यक्रम की योजना से ग्रामीण क्षेत्रों में अधिशेष खाद्यान्न (surplus foodgrains) की सहायता से अतिरिक्त रोजगारों के अवसरों को उत्पन्न करना था । प्रारभ में यह कार्यक्रम काम के बदले अनाज कार्यक्रम (Food for Work Programme) कहलाता था । यह 1976-77 में बनाया गया था परन्तु वास्तव में यह 1 अप्रैल,1977 से प्रभावी हुआ। इस परियोजना के अन्तर्गत 1977-78 में रोजगार के 4 4 करोड मानव-दिन (*mandays*) उत्पन्न किये गये,1978-79 में 3 55 करोड और 1979-80 में 5 34 करोड और ये तीन वर्षों में क्रमश 1 28 लाख टन,12 47 लाख टन और 23.45 लाख टन खाद्यान्न का उपयोग करके किये गये । इसके अन्तर्गत निम्नांकित कार्य किये गये बाढ से बचाव,विद्यमान सडकों की मरम्मत,नई सम्पर्क सडकों की व्यवस्था,सिंचाई सुविधाओं में सुधार,पचायत घरों, स्कूल भवनों,चिकित्सा और स्वास्थ्य केन्द्रों का निर्माण और ग्रामीण क्षेत्रों में सफाई करने की स्थितियों में सुधार।

इस कार्यक्रम में कुछ कमियां पाये जाने पर इसका ढ़ाचा छठी योजना (1980-85) के एक भाग के रूप में अक्टूबर,1980 में पुन-बदला गया और अब यह एन.आर.ई.पी. के नाम से जाना जाता है । यह उन ग्रामीण निर्धनों की देखभाल करता है जो मजदूरी पर निर्भर होते हैं और जिनके पास वास्तव में कृषि की मधे की अवधि (lean period) में कोई आय का स्रोत नही होता । इस कार्यक्रम की कार्यान्विति में जिन महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर बल दिया जाता है वे हैं (1)

आवंटन का दस प्रतिशत केवल हरिजन बस्तियों में पीने के पानी के कुओं के लिये और हरिजन क्षेत्रों में सामुदायिक सिंचाई परियोजनाओं के लिये आरक्षित होता है। इसी प्रकार दूसरा दस प्रतिशत सामाजिक वनविद्या (forestry) और ईंधन की लकड़ी को रोपने (fuel plantations) के लिये सुरक्षित होता है। (2) केवल ऐसे ही काम हाथ में लिये जाते हैं जिनमें स्थायित्व होता है। (3) आवंटन दोनों अन्तर-राज्य और अन्तर-जिला/ब्लाक स्तरों पर किये जाते हैं। केन्द्र सरकार प्रत्येक तिमाही राज्य के एन.आरई पी.के हिस्से का नगद आवंटन करती है। (4) इस कार्यक्रम के अन्तर्गत जो परिसम्पत्ति बनती है उसकी देखभाल का दायित्व राज्य सरकार का होता है। (5) पंचायत राज की संस्थाएं इस कार्यक्रम में सक्रिय रूप से लगी हुई हैं।

छठी योजना (1980-85) के दौरान केन्द्रीय योजना में लगभग 980 करोड़ रुपये इस कार्यक्रम के लिये दिये गये थे। 1980-81 के दौरान, यानि छठी योजना के प्रथम वर्ष में इस कार्यक्रम पर हुआ पूरा खर्चा (340 करोड़ रुपये) केन्द्र ने वहन किया। 1981-82 से राज्य खर्चे का 50% हिस्सा वहन कर रहे हैं। फिर भी एन.आरई पी.परियोजनाएं केवल सात करोड़ मानव-दिन ही उत्पन्न कर पाई (छठी योजना में) जिसका अर्थ है कि यह कार्यक्रम ग्रामीण निर्धनों में केवल 8% से 10% को ही पूरा रोज़गार प्रदान कर पाया। सातवी योजना (1985-90) ने दो करोड़ और परिवारों की सहायता की।

अन्त्योदय कार्यक्रम (Antyodaya)

अन्त्योदय का अर्थ होता है उन लोगों का विकास जो सबसे नीचे स्तर (अन्त) पर हैं, यानि दरिद्रों में दरिद्रतम। इस कार्यक्रम को राजस्थान सरकार ने अक्टूबर 2, 1977 में उन लोगों की विशेष सहायतार्थ प्रारम्भ किया जो निर्धन रेखा से नीचे थे। योजना यह थी कि प्रतिवर्ष प्रत्येक गांव में से (33,000 गांवों में से) पाच सबसे अधिक निर्धन परिवारों का चयन किया जायेगा और उनकी आर्थिक उन्नति के लिये सहायता दी जायेगी। प्रारम्भ में 25 गांवों का जो राज्य के विभिन्न पर्यावरण वाले क्षेत्रों में बसे हुये थे, दैवप्रतिचयन (random sampling) किया गया और व्यक्तिगत (individual) परिवारों के बारे में निम्न मदों में सूचना एकत्रित की गई: ऋण की स्थिति, निर्भरता का अनुपात, जमीन की भौतिक परिसंपत्ति, पशु, व्यवसाय, शिक्षा का स्तर, आय और परिवार का आकार। उसके बाद अन्त्योदय की विस्तृत योजना बनाई गई। निर्धन परिवारों के चयन के लिये प्राथमिकता के क्रम के आर्थिक मापदंड इस प्रकार बनाये गये: (1) परिवार जो बिल्कुल निराश्रय थे, जिनके पास उत्पादन परिसंपत्ति नहीं थी, जिनमें कमाने के लिये कोई सक्षम सदस्य 15-59 के आयु समूह में नहीं था; (2) परिवार जिनके पास ज़मीन और पशु जैसी उत्पादक परिसंपत्ति नहीं थी किन्तु जिनमें एक या एक से अधिक व्यक्ति काम कर सकते थे और जिनकी प्रति व्यक्ति आय 20 रुपये प्रतिमाह थी; (3) परिवार जिनके पास उत्पादक परिसंपत्ति थी और जिनकी प्रति व्यक्ति आय 30 रुपये प्रतिमाह थी; और (4) परिवार जिनकी प्रति व्यक्ति आय 40 रुपये प्रतिमाह थी।

परिवारों की पहचान का कार्य ग्रामसभा को सौंपा गया। इस योजना के अन्तर्गत खेती के

लिये भूमि का आवटन,प्रतिमाह पेंशन,बैंक ऋण या रोजगार दिलाने में मदद दी गई। प्रत्येक चयनित परिवार को 30-40 रुपये प्रतिमाह की पेंशन दी गई। बैल,गाडिया,पशुपालक (भैसों, गायों,बकरियों और सूअरों की खरीद के लिये),छावडी बनाने, खाती के औजार,दर्जी,चाय, नाई,या पसारी की दुकानें खुलवाने और साबुन बनाने और निवार बनाने की गतिविधियों के लिये बैंक से ऋण दिलवाये गये।

अन्त्योदय योजना का प्रशासन जिला स्तर पर कलक्टर को और राज्य स्तर पर कृषि विभाग को सौंपा गया। इस योजना का बजट 187 करोड रुपये था और इसके अन्तर्गत 1978 से 1982 तक के पाच वर्षों में छह लाख छह हजार परिवारों की सहायता करने की राजस्थान सरकार की योजना थी। इस राशि में से एक तिहाई (61 करोड रुपये) पेन्शन के रूप में वितरित किया गया, लगभग दो-तिहाई (47 करोड रुपये) ऋणों के रूप में और 4% (नौ करोड रुपये) खादी बोर्डों के माध्यम से सहायता (सब्सिडी और ऋण) के रूप में प्रदान किये गये। इस योजना के अन्तर्गत 31 दिसवर,1988 तक कुल परिवारों (2.61 लाख), जो चुने गये थे, में से 40.5% को ऋण दिये गये, 21 7% को सामाजिक सुरक्षा लाभ दिये गये और 8 8% को रोजगार और दूसरे लाभ दिये गये। (मेहता, 1983 347)

राजस्थान सरकार ने 1981 में इस कार्यक्रम को फिर से पुनर्जीवित किया। उसने प्रत्येक ब्लाक में से निर्धन रेखा से नीचे रह रहे 1800 परिवारों का चयन किया जिन्हें तीन साल की अवधि में लाभ पहुचाया जा सके। इस सहायता पैकेज में से सामाजिक सुरक्षा लाभों और भूमि आवटन को निकाल दिया गया है।

राजस्थान सरकार के पदचिन्हों पर चल कर उत्तरप्रदेश और हिमाचल प्रदेश ने भी 1980 में और गुजरात ने 1992 में उसी मॉडल पर यह कार्यक्रम प्रारम्भ किया। हिमाचल प्रदेश इस योजना के अतर्गत उन परिवारों को सहायता दे रहा है जिनकी वार्षिक आय 3,600 रुपये से कम है।

परन्तु राज्यों में राजनीतिक परिवर्तनों ने कार्यक्रम पर प्रभाव डाला। अब यह कहा जा सकता है कि सब मिलाकर यह योजना पूर्णतया असफल रही। असफलता के प्रमुख कारण थे परिवारों के चयन में पक्षपात, अधिकारी के सहयोग का अभाव, ऋण देने में विलम्ब, और उत्तर रक्षा कार्य (after-care work) की अवहेलना। राजस्थान सरकार ने सितबर, 1990 से इस योजना को पुन आरभ किया है।

आर.एल.ई.जी.पी. (RLEGP)

'रूरल लैन्डलेस एम्प्लौयमेंन्ट गारटी स्कीम' अन्त्योदय योजना से भिन्न है। जब कि अन्त्योदय योजना का पहचान किये गये परिवारों की उत्पादन क्षमता को बढाने का लक्ष्य है, आरएलईजीपी योजना निर्धनों को सरकारी कार्यों में 3 रुपये प्रतिदिन की बहुत कम मजदूरी पर पूरक रोज़गार दिलवाती है। महाराष्ट्र एक ऐसा राज्य है जिसने ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारों के लिये रोजगार गारटी योजना (EGS) का प्रयोग जमीन के लगान की वसूली, सेल्स टैक्स,

मोटर गाड़ी टैक्स,सिंचाई सम्पत्ति और व्यवसायियों पर ई जी.एस अधिभार लगाकर किया है। इस प्रकार जो राशि वसूल होती है वह और उसके साथ राज्य सरकार का बराबरी का अशदान ई जी एस फंड में रोजगार कार्यों को चलाने के लिये जमा कर दिये जाते हैं।

एम.एन.पी. (MNP)

'न्यूनतम आवश्यकता परियोजना' (MNP) 1974-75 में पांचवी पंचवर्षीय योजना के अभिन्न भाग के रूप में शुरु की गई। इसके कार्य क्षेत्र में प्रारम्भिक और प्रौढ शिक्षा, ग्रामीण स्वास्थ्य, पानी की सप्लाई, सडक निर्माण, विद्युतिकरण, आवासहीन मजदूरों के लिये मकान, ग्रामीण क्षेत्रों में पोषण, और शहरीय गदी बस्तियों के पर्यावरण में सुधार आते हैं। पांचवी पचवर्षीय योजना (1974-79) में एम एन पी के लिये 1,518 करोड़ रुपये की राशि आवटित की गई, और छठी योजना (1980-85) में यह 5,807 करोड रुपये थी। छठी योजना में पूरी राशि की 34 5% राशि ग्रामीण पानी की सप्लाई पर व्यय की गई, 20% ग्रामीण सडकों पर, 17 8% प्राथमिक और प्रौढ शिक्षा पर (6-11 और 11-14 आयु समूहों के बच्चों को स्कूलों में भर्ती करके और प्रौढों को अनौपचारिक शिक्षा देकर), 9.8% ग्रामीण स्वास्थ्य पर (प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना करके और स्वयसेवकों की सख्या बढाकर), 6.1% भूमिहीन मजदूरों के ग्रामीण आवासों पर, 5.2% ग्रामीण विद्युतिकरण पर, 3.8% पोषण पर (बच्चों के दोपहर के भोजन पर और गर्भवती महिलाओं के स्वास्थ्य की देखभाल पर), और 2.6% शहरीय गदी बस्तियों के सुधार पर (सेन्टर फार पोलिसी रीसर्च, 1983: 464)।

गरीबी हटाओ और बेकारी हटाओ कार्यक्रम (Garibi Aur Bekari Hatao)

गरीबी हटाओं का नारा मार्च, 1971 में राष्ट्रीय चुनावों के समय इदिरा गांधी ने दिया था और बेकारी हटाओ का नारा अप्रैल, 1988 में अपने राष्ट्रीय सम्मेलन में अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी ने दिया था। वास्तव में काग्रेस दल 'समाजवाद' की बात 1950 के दशक से कर रहा था। उसने अपने 1955 के सम्मेलन, 1964 के भुवनेश्वर सम्मेलन और अप्रैल, 1988 के कामराजनगर सम्मेलन में 'समाजवाद' को अपना प्रमुख लक्ष्य होने की घोषणा की। परन्तु काग्रेस पार्टी 1988 तक इस लक्ष्य को किस सीमा तक प्राप्त कर सकी यह इस तथ्य से प्रगट होता है कि हमारे देश में 10 लाख से अधिक व्यक्ति भीख माग कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं और लगभग आधे लाख व्यक्ति रक्त-दान से जीवित हैं।

जवाहर रोज़गार योजना (Jawahar Rozgar Yojna)

इस कार्यक्रम की घोषणा अप्रैल, 1989 में हुई थी। इस योजना के अन्तर्गत यह आशा की जाती है कि प्रत्येक निर्धन परिवार के कम से कम एक सदस्य को एक वर्ष में 50 से 100 दिनों तक उसके आवास के निकट काम के स्थान पर रोज़गार दिलाया जायेगा। इस योजना के अन्तर्गत

लगभग 30% काम महिलाओं के लिये आरक्षित हैं। दो ग्रामीण मज़दूरी रोजगार कार्यक्रमों (राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम व ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम) को भी इस योजना में मिला दिया गया है। योजना के लिये केन्द्रीय सहायता 80% है। इस योजना की कार्यान्विति ग्राम पंचायत के माध्यम से होती है। पंचायतों, जिनकी जनसंख्या 4000 से 5000 व्यक्तियों के बीच होती है, को 0 80 लाख रुपये से एक लाख रुपये की वार्षिक वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। 1989-90 में इस योजना पर 2,000 करोड रुपये व्यय हुए और 1990-91 में 500 करोड रुपये। यह योजना जनसंख्या के 46% को लाभान्वित करती है।

अन्य योजनाओं की तरह जवाहर रोजगार योजना भी सरकारी उपेक्षा तथा प्रभावी क्रियान्वयन नही होने की शिकार हो गई। (i) इसमें आवंटित राशि का पूरा उपयोग कभी नही होता (ii) इस योजना में पिछले तीन वर्ष में भी रोजगार सृजन (मानव दिवस उपलब्ध करना) का मूल लक्ष्य प्राप्त नही किया जा सका, (iii) व्यय की जाने वाली राशि का बड़ा भाग ठेकेदारों व बिचौलियों के पास चला जाता है। व्यय की राशि का एक बहुत छोटा भाग ही वास्तव में ग्रामीण बेरोजगारों तक पहुच पाता है, (iv) मस्टररोल में फर्जी नाम बता कर श्रमिकों की मज़दूरी उडा लेना तथा उसे बाट लेने की प्रवृत्ति आम बात है, (v) जिन एजेन्सियों के माध्यम से (पंचायत) यह योजना क्रियान्वित की जाती है उनकी भी इस योजना में कोई विशेष रुचि नही है। अत जिन उद्देश्यों के लिए यह योजना प्रारम्भ की गयी थी उनकी पूर्ति में यह पूरी तरह विफल रही है।

निर्धनता-विरोधी कार्यक्रम का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of the Anti-poverty Programmes)

सरकार के निर्धनता निवारण कार्यक्रमों में अव्यवस्थित योजना के कारण बाधाए उत्पन्न होती हैं। दूसरे, सरकार द्वारा कृषि उत्पादन और उत्पादकता की सर्वोच्च प्राथमिकता देने के उपरान्त भी सामाजिक और आर्थिक असमानताए नही मिटी है और आय की असमानताए कम नही हुई हैं। इन योजनाओं के लाभ देश के सभी भागों के सर्वाधिक निर्धन व्यक्तियों तक नही पहुचे हैं। पानी के संसाधन, ऋण, खाद में सबसिडी और अन्य सुविधाए कुछ बडे किसानों ने हडप ली हैं और मध्यम और निर्धन किसानों को ये चीजें बहुत अधिक दरों पर खरीदनी पड़ती हैं। तीसरे, विभिन्न कार्यक्रमों में कोई तालमेल नही है। विभिन्न रोजगार कार्यक्रमों के जवाहर योजना में विलय हो जाने के पश्चात सरकार अब पचायतों को समय पर आवश्यक धन राशि नही भेज पाती है। चौथे, इन कार्यक्रमों से जुडे अधिकारियों का सरकार द्वारा निर्धारित लक्ष्यों में अधिक विश्वास नही है, जिसके परिणामस्वरूप उनको दी गई भूमिका के प्रति वे वचनबद्ध नही होते। इस प्रकार इन कार्यक्रमों को सफल बनाने हेतु लोगों में आवश्यक जागरूकता उत्पन्न करने में वे जरा भी परिश्रम नहीं करते। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि सरकार उपलब्ध संसाधनों का प्रभावी ढग से उपयोग करने में सफल नही हो सकी है। पाचवे, जवाहर योजना की राशि को राज्य अपनी पार्टी के कामों में लगा देते हैं। उदाहरणार्थ, एक अध्ययन से ज्ञात हुआ

है कि केन्द्र सरकार द्वारा आन्ध्रप्रदेश में नालगोंडा जिले में सिंचाई के लिये नये कुओं के लिये 30,000 रुपये मजूर किये गये थे और वे एक राजनीतिक पार्टी ने हडप लिये और एक भी कुआ नही खोदा गया। केवल योजना बनाना ही पर्याप्त नहीं होता। सबसे महत्वपूर्ण सच्चे और वास्तविक प्रयास हैं जो कार्यन्विति एजेन्सियों द्वारा निर्धनता-विरोधी अभियान को सफल बनाने के लिये किये जाने चाहिये।

निर्धनता निवारण के प्रभावी उपाय (Effective Measures in Poverty Alleviation)

वामपथी सोचते हैं कि देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था निर्धनता को कम करने में बाधक है। न्यूनतम वेतन नीति के नहीं होने से मजदूरों में असतोष बढा है और वे उत्पादन बढाने से अधिक हडतालों में दिलचस्पी दिखाते हैं। पूजीपति सोचते हैं कि स्वतत्र लाइसेंस नीति नही होने से औद्योगिक विकास में बाधा आई है। समाजवादी सोचते हैं कि निर्मित माल की कीमतों पर कट्रोल,उद्योगपतियों के लाभ के हिस्से को निश्चित करना,काले धन के विरुद्ध कार्यवाही और शहरी सम्पत्ति पर नियत्रण जैसे उपाय देश में निर्धनता का निवारण कर सकते हैं। बुद्धिजीवी और कुछ अर्थशास्त्री विश्वास करते हैं कि कर के ढांचे में परिवर्तन, दर्शकीय उपभोग पर नियत्रण,प्रशासनिक व्यय में कमी,वितरण प्रणाली में परिवर्तन,और मध्यम वर्ग के उद्यमियों को अधिक प्रोत्साहन राशि से निर्धनता कम होगी।

मोटे तौर पर,निर्धनता के निवारण के उपायों का चार समूहों में वर्गीकरण किया जा सकता है (1) जो मजदूरों की माग को प्रभावित करते हैं। (2) जो श्रमिकों की निपुणता की पूर्ति पर प्रभाव डालते हैं (3) जो आय के स्थानान्तरण पर प्रभाव डालते हैं। और (4) जो विद्यमान सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन पर प्रभाव डालते हैं। इन सब के कारण यह आवश्यक है कि निर्धनता के उन्मूलन के लिये या कम से कम उसे काफी कम करने के लिये निम्नांकित उपाय किये जाने चाहिये.

रोज़गार उत्पन्न करना (Creating Employment)

सातवी योजना के अन्त तक का अनुभव बताता है कि कुछ विशेष रूप की आर्थिक गतिविधियों से रोज़गार उत्पन्न नही होते। इस समूह में वे सभी बडे उद्योग आते हैं,वे सभी उद्योग जिसमें पूंजी की बड़ी राशि लगती है और वे सभी उद्योग जिनके लिये मशीनरी के पूर्जों और कच्चे माल का आयात करना होता है। ये उद्योग केवल बढ़ी माल बनाते हैं जिसमें उच्च और उच्च-मध्यम वर्गों का ही भला होता है। वे कम रोजगार उत्पन्न करते हैं जिस पर निर्धन निर्भर होते हैं। इसलिये छोटे और कुटीर उद्योगों और कृषि को रोज़गार उत्पत्ति के स्रोत मानकर उपेक्षित क्षेत्रों में शुरु करना चाहिये और ऋण और टैक्स के क्षेत्रों में प्रोत्साहन देना चाहिये।

जवाहर रोज़गार योजना (जिसमें अब ई.ज़ी.एस., एन.आर.ई.पी. और एफ.एफ.डब्ल्यू.पी. सम्मिलित है) जैसे साधनों से रोज़गार उत्पन्न करना कठिन नही है। इसके लिये कोई नई

उत्पादन को प्रौद्योगिकी की आवश्यकता नहीं है। इसके लिये केवल राजनीतिक नीति में परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि अनुमानित दो करोड व्यक्ति जो बेरोजगार हैं और इसलिये अनुत्पादक हैं,रोजगार मिलने से उत्पादक हो जाते हैं तो देश के लिये वे एक बडी उत्पादक निधि बन जायेंगे।

यही नहीं व्यक्तियों को नई तकनीकों को अपनाने के लिये प्रेरित करना चाहिये। आज यह काम इतना कठिन नहीं जितना चार दशक पहले था। छोटे किसानों ने विस्तार प्रणालियों को मानना आरम्भ कर दिया है और छोटे उद्यमी प्रौद्योगिकी क्षेत्र में अभिनव परिवर्तन के प्रति अधिक क्रियाशील हो गये हैं। ऋण का जाल भी और अधिक भारी हो गया है जिससे अब अधिक व्यक्ति उत्पादन को बढाने के लिये नवीनतम तरीकों को अपना सकते हैं।

वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice)

निर्धनता की समस्या आवश्यक रूप से केवल जी एन पी विकास की ही समस्या नहीं है अपितु वितरण की भी है। यह सही है कि धन को पहले उत्पन्न करना आवश्यक है,उसके बाद ही वह समाज के विभिन्न वर्गों में ठीक से बाटा जा सकता है। परन्तु विकास की रूपात्मकता और सीमा भी लाभों के स्तर का निर्धारण करती है,जब ये लाभ उन निर्धनों तक पहुँचेगे जो समाज के बेरोमीटर हैं। इसलिये प्राथमिकताओं को बदलने की आवश्यकता है जिससे कि धनी और निर्धनों के बीच बढती असमानता को समाप्त किया जा सके। आय और सपत्ति में पूर्ण समानतावाद कदाचित सभव न हो परन्तु कम से कम ऐसे कानून तो बनाये जा सकते हैं और उन्हे क्रियान्वित भी किया जा सकता है जिनसे धनी व्यक्ति कर की अदायगी से नहीं बच सके और गांवों में भूमि को बेनामी स्थानान्तरणों और सौदों से बचाया जा सके।

आदमी-भूमि स्वामित्व (Man-land Ownership)

यह सही है कि भूमि को नहीं बढाया जा सकता, परन्तु उत्पादन की विकसित प्रौद्योगिकी से बढाया जा सकता है। छोटे खेतों को भी उचित सिंचाई सुविधाओं, आधुनिक तकनीकों के उपयोग और विविधता से लाभप्रद बनाया जा सकता है। भारत में आदमी-भूमि अनुपात 1965 में 0.15 हेक्टर प्रति व्यक्ति से गिरकर 1975 में 0.13 हेक्टर प्रति व्यक्ति और 1988 में 0.12 हेक्टर प्रति व्यक्ति हो गया परन्तु भूमि पर निर्भरता 1970 में 60% से बढकर 1988 में 70% हो गई (सिंह,1988)। इसलिये यदि देश को धनाड्य (prosperous) बनना है तो उद्योग में रोजगार करने वाले व्यक्तियों में से अधिकाश को खपाना (absorb) पडेगा। अमेरिका में राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा 1839 में 69% से गिरकर 1928 में 12% और 1988 में 4% हो गया। अधिकांश विकसित देशों में यही प्रतिमान रहा है।

जनसख्या की वृद्धि को नियन्त्रित करना (Controlling population growth)

यदि भारत की जनसख्या किसी चमत्कार से 1947 के स्तर पर (30 करोड) स्थिर हो जाती तो

अब तक हुआ विकास निर्धनता का पूर्णतया उन्मूलन कर देता । लोगों में आधुनिक दृष्टिकोण के अभाव के कारण निर्धनता बढ़ी है । इसका एक प्रमाण है रूढ़िवाद और प्रान्तीयता का बढ़ना जो कि देश के कल्याण, एकीकरण और उन्नति के लिये एक खतरा बन गया है । इसलिये जनसंख्या पर नियंत्रण रखना प्रमुख कार्य होना चाहिये, चाहे वह समझाने से हो अथवा जबर्दस्ती से । जनसंख्या नियंत्रण पर एक राजनीतिक सर्वसम्मति बनाने का भी समय आ गया है । शिक्षा को नि.शुल्क और अनिवार्य करने से भी व्यक्तियों के दृष्टिकोण को परिवर्तित करने में सहायता मिलेगी जो कि जनसख्या को नियमित करने के लिये आवश्यक है ।

काले धन को समाप्त करना (Elimination of Black Money)

काला धन बेहिसाब पैसा है, कर चोरी कर के छुपाई हुई आय है, गुप्त धन है । उद्योगपतियों, फिल्म उद्योग, व्यापारियों और निगम-क्षेत्रों द्वारा कर-अधिकारी को निरन्तर चलते हुए आख मिचौनी के खेल में धोखा देने के लिये कई चतुर तरीके अपनाये जाते हैं । इस पैसों को प्राय दर्शनीय उपभोग (Conspicuous Consumption) और ऐसे भ्रष्ट कार्यों में खर्च किया जाता है जिससे और अधिक आय एव धन उत्पन्न हो । इस समस्या की छानबीन के लिये 1970 में केन्द्र सरकार में वांचू कमेटी नियुक्त की । उसका मत था कि कर की चोरी और कालाधन हमारे देश में ऐसे चरण पर पहुच गये हैं कि उनसे हमारी अर्थव्यवस्था को खतरा पैदा हो गया है और वे वितरणात्मक न्याय और समानतावादी समाज के सृजन के स्वीकृत उद्देश्यों की पूर्ति के लिये एक चुनौती हो गये हैं । काले धन पर नवीनतम रिपोर्ट राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त संस्थान (National Institute of Public Finance) ने तैयार की है (श्री चलैया की अध्यक्षता में) । यह अनुमान लगाया गया जाता है कि आज काला धन पचास हजार करोड़ रुपये से साठ हजार करोड़ रुपये तक प्रतिवर्ष उत्पन्न होता है । इस रपट के अनुसार भी कर की ऊंची दरों का वर्तमान ढाचा और आर्थिक गतिविधियों के नियन्त्रण का क्षेत्र और पेचीदगी कर की चोरी वाली आय को उत्पन्न करती है ।

योजना का विकेन्द्रीकरण और उसका कार्यान्वयन (Decentralising Planning and its Execution)

ग्रामीण क्षेत्रों में आई.आर.डी.पी., एन.आर.ई.पी., आर.एल.ई.जी.पी., जवाहर योजना और अन्त्योदय जैसी परियोजनाओं की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि उनकी योजना ग्रामीण पंचायतें बनायें । जब तक योजना और उसके कार्यान्वयन का विकेन्द्रीकरण नहीं होगा, जब तक प्रत्येक ग्राम पंचायत निर्धन परिवारों की पहचान का कार्य स्थानीय स्तर पर नहीं करेगी, ये परियोजनाए उन लोगों को लाभ नहीं पहुंचा पायेंगी जिनके लिये वे बनाई गई थीं । शहरी क्षेत्रों में भी नगर परिषदों को स्वरोज़गार कार्यक्रम बनाने चाहिये जो स्थानीय संसाधनों और गंदी बस्तियों में रह रहे लोगों की कारीगरी पर आधारित हो । केवल विकेन्द्रित योजनाएं ही निर्धनता को कम करने में और उससे हमें मुक्ति दिलाने में सहायक हो सकती हैं ।

अन्य उपाय (Other Measures)

उपर्युक्त छ उपायों के अतिरिक्त निम्न उपाय भी निर्धनता निवारण में योग दे सकते हैं (1) समय-बद्ध परिणामोन्मुखी कार्य योजना बनाना। औद्योगिक क्षेत्र में विनियोजन लाखों व्यक्तियों को रोज़गार देगा (2) उत्पन्न विश्व बाज़ारों में भागीदारी करना (3) अनावश्यक सरकारी ख़र्च को रोकने के लिए अत्यधिक बजट परिव्यय में परिवर्तन करना (4) बिजली उत्पादन व वितरण में बढ़ोतरी पर बल तथा वितरण हानि में सुधार करना (5) अवधि ऋणदायी सस्थाओं को प्रोत्साहित करना (6) सार्वजनिक प्रायोजित कार्यक्रम के द्वारा स्वयसेवी सगठनों को आरम्भिक धन (seed money) देने का प्रावधान करना (7) एशिया विकास बैंक की सहायता से बड़े शहरों में जन त्वरित पारगमन प्रणाली (Mass Rapid Transit System) विकसित करना (8) युवकों को कम्प्यूटर, इलेक्ट्रोनिक व्यापार व छोटे उद्योगों में प्रशिक्षण देने के लिए सहायताप्राप्त प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना करना (9) सावधानीपूर्वक नियोजित कार्यक्रम द्वारा महिलाओं को आत्म-निर्भर बनाने में सहायता करना (10) प्रत्येक राज्य में अधिकारियों (bureaucrats) और तकनीकीज्ञों (technocrats) की प्रतिबद्ध समर्पित टीम स्थापित करना जो कार्योन्मुखी (job-oriented) प्रोग्रामों को नियोजित, कार्यान्वित व सतुलित करती रहे (11) विकास परियोजनाओं में लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करना (12) पचायती राज सस्थानों को शक्तिशाली बनाना ताकि वे ग्रामीण विकास के ज़िला और ब्लाक दोनों स्तरों पर प्रजातत्रीय प्रबध के सस्थान बन सकें। सरकारी अधिकारियों को ज़िला और गाव के स्तरों पर एक ओर तकनीकी, प्रबधकीय और विपणन सहायता देनी चाहिये और दूसरी ओर निर्धन परिवारों में सामाजिक चेतना जगानी चाहिये और उन्हें कार्य करने के लिये उद्यत करना चाहिये। (13) गैर-सरकारी सस्थाओं की ग्रामीण और शहरी विकास परियोजनाओं की कार्यान्विति के लिये सहायता लेना। इसमें नियमित कर्मचारियों को न्यूनतम सख्या में रखने की आवश्यकता पड़ेगी और अश कालिक या पूरे समय के लिये परामर्शदाताओं के रूप में अनियमित कर्मचारियों की सख्या बढ़ानी पड़ेगी। ये परामर्शदाता शैक्षिक अथवा स्वयसेवी सस्थाओं से लेने पड़ेंगे। गैर सरकारी सस्थाओं में व्यावसायिक/तकनीकी सस्थाए, पॉलिटेक संस्थान, कृषि विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय सकाए, प्रबंध सस्थाए, शोध सस्थाए, कल्याण/स्वयसेवी सस्थाए और व्यापार सस्थाए और बैंकिंग क्षेत्रों के व्यवसायिक ससाधन सम्मिलित हैं।

इन उपायों के अतिरिक्त, भूमि का पुनर्वितरण, औद्योगिक एकाधिकारों की समाप्ति, राष्ट्रीय अपव्यय पर नियत्रण, सार्वजनिक क्षेत्र में उद्यमों का कुशल और लोकतात्रिक प्रबध, वर्तमान के ऊचे रक्षा बजट में भारी कमी (जैसा कि 1993-94 के बजट में) की गई है। ये सभी कार्यक्रम भी 21वीं शताब्दी की चुनौतियों को पूरा करने व निर्धनता को कम करने में सिद्ध होंगे।

निर्धनता पर प्रहार व्यक्तियों, सरकार, स्वयंसेवी एजेन्सियों और उद्योगपतियों के बीच

एक साझेदारी का आधार बन सकता है। समाज को केवल निर्धनों, वृद्धों, अशक्त व्यक्तियों और नितान्त निराश्रयों जिनके पास जीविका के कोई साधन नहीं हैं, का ही दायित्व नहीं सभालना है, अपितु उसे स्वस्थ्य निर्धनों और बेरोजगारों या अल्प-बेरोजगारों को भी जनसंख्या के एक अभिन्न अंग के रुप में स्वावलंबी बनाने में सहायता प्रदान करना है। धनी लोग करों और कल्याणकारी योजनाओं को लेकर बडबडा सकते हैं, रूढिवादी 'बहुत अधिक सरकारी खर्चे' के विषय में बात कर सकते हैं, परन्तु निर्धनता-विरोधी परियोजनाए अपरिहार्य हैं। निर्धनों के प्रति मानवतावादी चिन्ता जितनी आज है पहले कभी नही रही।

जबतक हम इस बारे में अनिश्चित रहेंगे कि कौनसी विकास प्रणाली का मार्ग अपनाएं हम आर्थिक दृष्टि से असफल रहेंगे। ससाधनों और तकनीकी ज्ञान का अभाव हमारे विकास में बाधक नही है, बाधक हैं राजनीतिक नीतियों का अभाव। योजना का आधार यह तथ्य होना चाहिये कि निर्धनता एक कारण नहीं, बल्कि एक परिणाम है। निर्धनता का निवारण केवल आर्थिक उत्थान का ही प्रश्न नहीं है, परन्तु यह एक सामाजिक और राजनीतिक विषय है जिसका सबध व्यक्तियों की राजनीतिक-सामाजिक चेतना के स्तर से है।

REFERENCES

1. Attarchand, *Poverty and Under-development: New Challenges*, Gian Publishing House, Delhi, 1987.
2. Bagachee S., "Poverty Alleviation Programmes in Seventh Plan: An Appraisal," *Economic and Political Weekly*, Bombay, January 24, 1987
3. Becker, howard, *Social Problems: A Modem Approac*, John Willey & Sons Inc., New York, 1966.
4. Centre for Policy Research: *Population, Poverty and Hope*, Utpal Publishing House, New Delhi, 1983.
5. Dantwala, M.L., "Garibi Hatao Strategy Options," *Economic and Political Weekly*, March 16, 1985
6. Elesh, "Poverty Theories and Income Maintenance: Validity and Policy Relevance," *Social Sciences Quarterly*, 1972.
7. Ghate, P., *Direct Attacks on Rural Poverty Concept*, New Delhi., 1984.
8. Gladwin Thomas, *Poverty*, Little Brown, Boston, 1967.
9. Kriesberg Louis. "The Relationship between Socio-Economic Rank and Behaviour", in *Social Problems*, Vol. 10, 1963.

10. Miller, S.M. and Roby Pamela, *The Future of Inequality*, Basic Books, New York, 1970.
11. Ornati Oscar, "Poverty in America", quoted by Howard Becker in *Social Problems*, 1964
12. Rein Martin, "Problems in the Definition and Measurement of Poverty", in Fewman, Kornbluh and Haber (eds.) *Poverty in America*, University of Michigan Press, Michigan, 1968.
13. Ross, Peter H and Blum Zahava D, *Class, Status and Poverty*, Basic Books, New York, 1967
14. Sagar Deep, "Rural Development Policies of India: A Historical Analysis", *The Indian Journal of Public Administration*, Delhi, Vol 36, No.2, 1990.

अध्याय 3

बेरोजगारी
Unemployment

एक व्यक्ति को अपने जीवन में कई भूमिकाएं निभानी पडती हैं जिनमें से उसकी अधिकतम निर्णायक भूमिका कमाने वाले एक सदस्य की है। यह निर्णायक इसलिये नहीं है कि एक व्यक्ति इस भूमिका को निभाने में अपने जीवन का लगभग एक तिहाई समय लगा देता है, अपितु इसलिये कि यह उसकी आजीविका और प्रस्थिति को निर्धारित करती है तथा उस को अपने परिवार की सहायता और अपने परिवार और समाज के सामाजिक दायित्वों को पूरा करने के योग्य बनाती है। यह उसे शक्तिशाली भी बनाती है। यदि सक्षम और अन्तर्निहित शक्ति रखने वाला व्यक्ति काम करने से इंकार करता है या उसे काम नहीं मिलता है तो न केवल उसे समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं मिलती है, अपितु वह अनेक भावनात्मक एवं सामाजिक समस्याओं से ग्रस्त भी हो जाता है। उसकी दशा से वही प्रभावित नहीं होता, बल्कि उसका परिवार और समाज भी प्रभावित होते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि बेरोज़गारी को समाज की सबसे महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय समस्या कहा गया है। इसलिये ऐसी सब संस्कृतियों में जो अपने को लोकतांत्रिक कहने का दावा करती हैं, रोजगार के अवसर अवश्य होने चाहिये। रोजगार के समान अवसर ही अर्जित प्रस्थिति को समान रुप में प्राप्त करने के लिये एक पूर्वापेक्षा (prerequisite) हैं। बेरोजगारी से निबटने के लिये अभी तक दो दिशा में प्रयत्न हुए हैं। प्रथम, बेरोज़गार की प्रस्थिति का उपशमन (alleviate) करना और द्वितीय, बेरोजगारी को ही खत्म करना। चूकि स्थानीय समुदाय इस समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहे, अतः केन्द्र एवं राज्य दोनों सरकारों ने स्वतंत्रता बाद इस समस्या को अपने हाथों में लिया। फिर भी वे इसे सुलझाने में प्रभावशाली नहीं रही और उन व्यक्तियों को जो आत्मनिर्भर नहीं है सहायता प्रदान नहीं कर पाई। सरकार अभी तक बेरोजगारी को एक सामाजिक तथ्य मानने के बजाय एक आर्थिक घटना ही मानती है।

बेरोज़गारी की अवधारणा (Concept of Unemployment)

बेरोजगारी क्या है ? यदि एक पीएच.डी धारक व्यक्ति किसी दफ्तर में एक छोटे बाबू की तरह काम करता है तो उसे बेरोजगार व्यक्ति नहीं माना जायेगा। अधिक से अधिक उसे अल्प रोज़गार व्यक्ति (underemployed) कहा जायेगा। एक बेरोजगार व्यक्ति "वह है जिसमें कमाने की अन्तर्निहित क्षमता और इच्छा दोनों हैं फिर भी उसे वैतनिक (remunerative) काम नहीं मिल पाता।" समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से बेरोज़गारी की परिभाषा इस प्रकार की गई
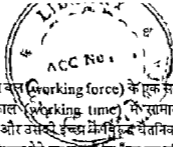
है कि "यह सामान्य कार्यरत बल (working force) के एक सदस्य (यानी 15-59 आयु वर्ग का) को सामान्य कार्य काल (working time) में सामान्य वेतन पर और सामान्य परिस्थितियों में जबरदस्ती और उसकी इच्छा के विरुद्ध वैतनिक कार्य से अलग रखना है।" डी मैलो (1969:24) ने परिभाषा देते हुए कहा है कि "यह वह परिस्थिति है जिसमें एक व्यक्ति इच्छा के बावजूद वैतनिक व्यवसाय की स्थिति में नही है।" नाबा गोपाल दास ने बेरोज़गारी को 'अनैच्छिक निष्क्रियता (involuntary idleness) की स्थिति बतलाया है। भारत के योजना आयोग ने उस व्यक्ति को 'बेरोजगार' कहा है जो एक सप्ताह में एक दिन बगैर काम के रहता है'। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.) ने उस व्यक्ति को कार्यरत (employed) माना है जिसके पास एक सप्ताह (पांच दिन का) में 15 घंटे (लगभग दो दिन) काम होता है। यह परिभाषा एक विकसित देश में, जो बेरोज़गारों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है, मानी जा सकती है, परन्तु यह भारत जैसे विकासशील देशों में नहीं मानी जा सकती जहां कोई बेरोजगारी बीमा योजना नहीं है।

बेरोज़गारी के तीन तत्व है. (i) व्यक्ति में काम करने की क्षमता होनी चाहिये (ii) व्यक्ति में काम करने की इच्छा होनी चाहिये, और (iii) व्यक्ति को काम ढूढ़ने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इसके आधार पर एक व्यक्ति जो शारीरिक और/या मानसिक रूप से अपंग है या जिसे पुरानी बीमारी है और काम नहीं कर सकता, या एक साधू जो मठाधीश होने के कारण काम करना मान मर्यादा के निम्न समझता है, या एक भिखारी जो काम नहीं करना चाहता, ये सभी पूर्ण बेरोज़गारी की स्थिति में नहीं आते। एक समाज को 'पूर्ण रोज़गारी की स्थिति' में तभी कहा जा सकता है जब कि उसकी मजबूरन निष्क्रियता की अवधि न्यूनतम हो। पूर्ण रोज़गारी वाले समाज की चार विशेषताएं होतीं है (i) व्यक्ति को अपनी क्षमताओं और योग्यताओं के अनुरूप वैतनिक कार्य ढूढ़ने में बहुत कम समय लगता है (ii) उसको वैतनिक काम मिलने का पक्का विश्वास होता है (iii) समाज में काम के खाली स्थानों की संख्या काम ढूढने वालों की संख्या से अधिक होती है, और (iv) काम 'पर्याप्त वेतन' पर उपलब्ध होता है।

आकार (Magnitude)

यद्यपि यह बार बार कहा जाता है कि स्वतंत्रता के पश्चात हमारे देश में बेरोज़गारी की चौकाने वाली वृद्धी हुई है परन्तु बेरोज़गार व्यक्तियों की सही संख्या अभी तक मालूम नहीं है क्योंकि योजना आयोग या राष्ट्रीय प्रतिदर्श संगठन (National Sample Survey) या केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organisation) या भारतीय सांख्यिकीय संस्थान (Indian Statistical Institute) ने इसका सर्वेक्षण नहीं किया है। इसलिये जो आंकड़े उपलब्ध हैं वे अनुमान ही हैं। ये अनुमान केवल रोज़गार कार्यालयों में पंजीकृत व्यक्तियों की ही संख्या को ध्यान में रख कर बनाये जाते हैं और ये रोज़गार कार्यालय विशेषतया शहरी क्षेत्रों का ही विवरण देते हैं। रोज़गार कार्यालयों में क्योंकि पंजीकरण स्वैच्छिक होता है, इसलिये सभी बेरोज़गार इन कार्यालयों में अपना नाम पंजीकृत नहीं

करवाते। इसके अतिरिक्त पजीकृत व्यक्तियों में से कुछ पहले से ही सेवायुक्त होते हें, परन्तु और अच्छा काम ढूढने के लिये पजीकरण करवा लेते है। फिर भी सामाजिक वैज्ञानिको में से अधिकाश इस मत के है कि कार्यरत जनसख्या (working population) का एक बडा अनुपात अपने देश में नियमित रुप से सेवायुक्त (employed) नही है और यह कि इन बेरोज़गारों और अल्प सेवायुक्त व्यक्तियों और उनके परिवारों को अपनी परमावश्यक आवश्यकताओं के लिये भी अपने परिवार के सदस्यों या रिश्तेदारों पर निर्भर रहना पडता है।

देश में जबकि 1952 में लगभग 850 रोजगार कार्यालयों में पजीकृत बेकार व्यक्तियों की सख्या 4.37 लाख थी, 1967 में यह बढ़ कर 27 40 लाख, 1971 मे 50.99 लाख, 1976 में 93.26 लाख (सूर्या जनवरी 1979· 50-51), 1981 में 178 3 लाख, 1983 में 219.5 लाख, 1985 में 262 7 लाख, 1987 में 302 4 लाख, 1990 में 346.3 लाख, और 1991 में 363 0 लाख हो गई (इन्डिया 1992, 296)।

1952 को 100 का सूचकाक मानते हुए निम्नाकित बेराजगारी की सूची इसका सकेत देती है कि भारत में स्वतत्रता के पश्चात बेरोजगारी में किस प्रकार वृद्धि हुई है

बेरोज़गारी सूचकाक (1956 = 100)

वर्ष	सूचकाक	वर्ष	सूचकाक	वर्ष	सूचकाक
1952	100	1976	2,134	1983	5,024
1967	627	1980	3,707	1985	6,011
1969	783	1981	4,082	1986	6,641
1971	1,167	1982	4,520	1990	7,894
				1991	8,512

अत. जब 1952 और 1970 के बीच या 18 वर्ष की अवधि में देश में पंजीकृत बेरोज़गार व्यक्ति नौ गुणा बढे, 1971 और 1991 के बीच यह सख्या 7.3 गुणा बढ़ी। यदि 1994 में देश की जनसख्या को 88 करोड के लगभग मानते हैं तो हम कह सकते है कि हमारे देश में कुल व्यक्तियों में से 5.3% बेरोजगार हैं। परन्तु यह मूल्यांकन ग़लत होगा क्यों कि ऐसे व्यक्तियों की संख्या जिनसे नौकरी करने की आशा की जाती है, 15-59 वर्ष के आयु-वर्ग के हैं। क्यों कि 1994 में 88 करोड़ कुल जनसख्या में से लगभग 50 करोड़ इस आयु-वर्ग (15-59) के होंगे, हम यह अनुमान लगा सकते है कि भारत में कार्य योग्य व्यक्तियों में से 6.4 % (50 करोड़ में से लगभग 3.2 करोड) बेरोजगार हैं।

योजना आयोग का अनुमान है कि 1990-91 में ग्रामीण इलाकों में बेरोज़गारों की संख्या 76 लाख 30 हज़ार तथा शहरी इलाकों में 54 लाख 60 हज़ार थी। केन्द्रीय श्रम मत्रालय के आंकड़ों के अनुसार 1992 में जहां देश में बेरोज़गारों की सख्या 2 करोड़ 30 लाख थी, वहीं 1997 तक 5 करोड़ 20 लाख और सन् 2002 तक 9 करोड़ 40 लाख हो जाने की सम्भावना है। शहरी क्षेत्रों में बेरोज़गारी 33 44 प्रतिशत और ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारी 40.24 प्रतिशत

है (हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 9, 1993)। लोक वित और नीति राष्ट्रीय सस्थान (नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ पब्लिक फिनैन्स एण्ड पॉलिसी) द्वारा दिये गये अनुमान के आधार पर बेरोजगार व्यक्तियों को राहत पहुचाने के लिए 1992-93 में लगभग 5,760 करोड रुपये की आवश्यकता थी जो 1993-94 में बढ कर 6,000 करोड हो गयी। केन्द्रीय सरकार वर्तमान में ग्रामीण योजनाओं में केवल 2,800 करोड रुपये ही व्यय कर रही है। अत सरकार को 1993-94 में 3,300 करोड रुपयों की अतिरिक्त अथवा लगभग 120,000-150,000 करोड रुपयों की आवश्यक्ता हुई (हिन्दुस्तान टाइम्स जून 6, 1993)।

मई 1990 में, रोजगार कार्यालयों में पजीकृत व्यक्तियों की सर्वाधिक सख्या पश्चिम बगाल में थी (46 3 लाख), इसके बाद बिहार (31 6 लाख), केरल (31 3 लाख), उत्तर प्रदेश (31.0 लाख), तमिलनाडू (30.5 लाख), महाराष्ट्र (29 9 लाख), आन्ध्र प्रदेश (28.3 लाख), मध्य प्रदेश (20.3 लाख), कर्नाटक (12.5 लाख), असम (9 9 लाख), गुजरात (9 4 लाख), राजस्थान (9.3 लाख), उडीसा (8 6 लाख), देहली (8 0 लाख), पजाब (6.3 लाख), चडीगढ (2 0 लाख), त्रिपुरा (1.5 लाख), जम्मू और कश्मीर (1 1 लाख), मिजोरम (80 हजार), नागालैण्ड (40 हजार) और मेघालय (20 हजार) (राजस्थान पत्रिका, अक्टूबर 15, 1990)। दूसरे शब्दों में, कुल बेरोजगार व्यक्तियों में से लगभग आधे (49.3%) उत्तर भारत के तीन राज्यों (पश्चिम बगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश) और दक्षिण भारत के दो राज्यों (केरल और तमिल नाडू) में निवास करते हैं।

बेरोज़गारी के प्रकार (Types of Unemployment)

बेरोजगारी को ग्रामीण और नगरीय कहकर या मौसमी, चक्रीय, और प्रौद्योगिक कह कर वर्गीकृत किया जा सकता है। नगरीय बेरोजगारी को शैक्षिक और औद्योगिक बताकर उपवर्गीकृत किया जाता है।

मौसमी (seasonal) बेरोजगारी कृषि क्षेत्र और कुछ विशेष उत्पादन इकाईयों जैसे शक्कर और बर्फ के कारखानों में मिलती हैं। एक शक्कर या बर्फ के कारखाने में काम की प्रकृति ऐसी है कि श्रमिकों को एक वर्ष में छह महिने बेकार रहना पडता है।

कृषि (agricultural) बेरोज़गारी कई कारकों के कारण होती हैं। प्रथम, खेत इतने छोटे होते हैं कि परिवार के कार्य योग्य आयु वर्ग (working age) के सदस्यों को वे काम उपलब्ध नही करा पाते। द्वितीय, काम की प्रकृति मौसमी है। मोटे तौर पर भारत में किसान एक वर्ष में लगभग चार से छह महिने बेकार रहता है। बंगाल में नियुक्त एक भूमि राजस्व आयोग (Land Revenue Commission) के अनुसार एक किसान (बगाल में) एक वर्ष में लगभग छह महिने बेकार रहता है। कीटिंग्ज (Keatings) रूरल इकनौमी ऑफ़ बौम्बे डेकन में कहता है कि महाराष्ट्र में किसान एक वर्ष में 180 से 190 दिन काम करता है। केल्वर्ट (Calvert) का मत है कि पजाब में किसान एक वर्ष में 150 दिन से अधिक काम नहीं करता। आर के मुकर्जी ने "रूरल इकनौमी ऑफ इण्डिया" में कहा है कि उत्तर भारत में एक औसत किसान एक वर्ष में

200 दिन से अधिक व्यस्त नही रहता । स्लेटर का "सम साउथ इण्डियन विलेजेज" में मानना है कि दक्षिण भारत में किसान एक वर्ष में केवल साढ़े पाच महीने व्यस्त रहते हैं । जैक "इकनोमिक लाइफ ऑफ ए बगाल डिस्ट्रिक्ट" में कहता है कि एक वर्ष में जूट श्रमिक नौ महीने और चावल-निर्माता साढे सात महीने बेकार रहते हैं । ये सब मौसमी बेरोजगारी के उदाहरण हैं जो कि काम की प्रकृति के कारण होती है । ग्रामीण क्षेत्रों की कुल जनसख्या के केवल 24.9% आत्मनिर्भर हैं, 59.0% बगैर कमाई करने वाले आश्रित हैं, और 11.6% कमाने वाले आश्रित हैं । इसका अर्थ यह होता है कि 29.4% व्यक्ति न केवल अपना भरण-पोषण करते हैं, अपितु बाकी के 70.6% व्यक्तियों को भी रोटी देते हैं ।

चक्रीय (Cyclical) बेरोज़गारी व्यापार और व्यवसाय में उतार चढाव आने के कारण होती है । जब व्यापारियों को ऊचे मुनाफे प्राप्त होते हैं तो वे उनका निवेश व्यापार में कर देते हैं जिससे रोज़गारी बढजाती है, परन्तु जब उन्हें कम मुनाफा होता है या हानि हो जाती है या उनका माल नहीं विकता और जमा हो जाता है तो वे अपने उद्योगों में श्रमिकों की सख्या कम कर देते हैं जिस के कारण बेरोजगारी होती है । जब निवेश बचत से अधिक होता है तो बाज़ार में तेजी आजाती है और जब बचत निवेश से अधिक होती है तो मन्दी आ जाती है । कदाचित यह चक्रीय बेरोजगारी की अवधारणा का अति-सरलीकरण है, परन्तु फिर भी मूलतः यह सही है ।

औद्योगिक (Industrial) बेरोज़गारी के कारण हैं, व्यक्तियो का एक बड़े पैमाने पर ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में स्थानान्तरण, उद्योगों में हानिया, उद्योगों का कम गति से विकास, विदेशी उद्योगों के साथ प्रतिस्पर्धा, अनियोजित औद्योगीकरण, दोषपूर्ण औद्योगिक नीतियां, श्रमिकों की हड़तालें या मालिकों की ताला-बन्दी, वैज्ञानिक पुनर्गठन (rationalization), आदि आदि ।

प्रौद्योगिकी (Technological) बेरोज़गारी स्वचलन (automation) को अपनाने या उद्योगों या दूसरे कार्य-स्थलों पर दूसरे तकनीकी परिवर्तनों के कारण से होती है । यह एक निर्मित वस्तु के उत्पादन के लिये आवश्यक मानव-शक्ति को घटाने के कारण भी होती है । आर्थिक विकास की पूरी अवधि में, विशेषतया औद्योगिक क्रान्ति से, आदमी को बाध्य होकर यंत्रीकरण की प्रक्रिया के साथ समन्वय स्थापित करना पडा है । यान्त्रिकी निपुणताओं के लाभ और हानि दोनों होते हैं । मशीन उत्पादन ने साधारण आदमी के द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की संख्या बढ़ा दी है । इसके फलस्वरूप भौतिक सुख के स्तर में निरन्तर वृद्धि हुई है और इसके साथ-साथ सुख-साधनों के उपभोग में भी वृद्धि हुई है । कुछ विशेष वस्तुएं जो व्यक्तियों के एक ही वर्ग के लिये विलास-वस्तुएं समझी जाती थीं, वे उनके लिये अब अनिवार्य बन गई हैं । दूसरी ओर, उद्योग ने साधारण आदमी की आर्थिक सुरक्षा को कम कर दिया है क्यों कि प्रौद्योगिकी का प्रत्येक विकास श्रमिकों को विस्थापित कर देता है । वास्तव में नये आविष्कार श्रमिकों को विस्थापित करने के अलावा भी कुछ और करते हैं । वे निर्धनता को जन्म

देते हैं जो पुराने निवेशों के विध्वंस होने के परिणामस्वरूप होती हैं और इस प्रकार नये उत्पादनों की मण्डी को प्रतिबंधित कर देते हैं। इस प्रकार एक दूषित चक्र उत्पन्न हो जाता है। अन्त में, यह सत्य है कि प्रौद्योगिकी में सुधार सम्बद्ध सहायक उद्योगों में रोज़गार बढ़ा सकते हैं (ईलियट और मेरिल,1950:607-8), फिर भी यान्त्रिकी साधनों में निरन्तर सुधारों का अर्थ होता है कि रोज़गार के अवसरों में उनके अनुपात में वृद्धि होनी चाहिये, अन्यथा बेरोज़गारी के बढ़े हुए अवशेष (added residue) उत्पन्न हो जायेंगे।

शैक्षिक (Educational) बेरोजगारी इसलिये होती है कि शिक्षा अधिकांशतया जीवन से जुड़ी हुई नहीं होती। वास्तव में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (U G C) ने अपनी वार्षिक प्रतिवेदनों में स्पष्ट रूप से कहा है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली बहुत तबाही और गतिहीनता उत्पन्न कर रही है। शिक्षा प्रणाली अप्रासंगिक है क्यों कि यह उच्च शिक्षा पर बल देती है जो कि केवल एक छोटे अल्प वर्ग को ही दी जा सकती है जिनमें से भी अधिकांश जब स्नातक हो जायेंगे तो वे बहराल या तो बेरोज़गार रहेंगे या रोज़गार के योग्य नहीं। शिक्षा की राष्ट्र की आवश्यकताओं के लिये कोई प्रासंगिकता नहीं है। कोठारी कमीशन (1964-66) ने भी यह स्वीकार किया था कि वर्तमान शिक्षा के विषयों और राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यों और महत्वपूर्ण विषयों के बीच एक चौड़ी खाई है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (U G.C.) के 1977 में किये गये एक अध्ययन के अनुसार विश्वविद्यालय में पढ़ाये जा रहे पाठ्यक्रमों में से अधिकांश में पिछले तीस साल से सशोधन नहीं हुआ है और इसलिये वे पुराने हो चुके हैं। बीसियों विशेषज्ञ समितियाँ—दरअसल 50 से भी अधिक पैनल—स्वतंत्रता के बाद नियुक्त हो चुके हैं जिन्होंने समस्याओं का हल निकालने का प्रयत्न किया है और टनों में आडम्बरपूर्ण प्रतिवेदन (pompous reports) और ज्ञापन (memoranda) निकाले हैं परन्तु इसके उपरान्त भी कहीं कोई परिवर्तन हुआ नहीं लगता है।

उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम के आमूल सुधार में सबसे बड़ी बाधा विश्वविद्यालय के प्राध्यापक हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों से यह आवश्यक हो जायेगा कि प्राध्यापक अपने ज्ञान में निरन्तर वृद्धि कर आज तक के ज्ञान को प्राप्त करें और अपने-अपने क्षेत्रों के आधुनिकतम विकासों से परिचित रहें। प्राध्यापकों की एक बड़ी सख्या अध्ययन के प्रति उदासीन रहती है और ट्यूशन, अंशकालिक व्यापार, और विश्वविद्यालय/कालेज की राजनीति के दलदल में इतनी फंसी रहती है कि उनके लिये शिक्षा एक पेशा न होकर एक व्यापार बन जाता है।

शैक्षिक प्रणाली की अप्रासंगिकता को शिक्षित युवा में बेरोजगारी की बढ़ती हुई दर भी दर्शाती है। 1965-77 अवधि में बेरोजगार स्नातकों की संख्या 21% वार्षिक दर से बढ़ी है (1965 में 9 लाख से 1977 में 56 लाख), फिर 1980-88 के बीच उनकी संख्या 23% प्रति वर्ष की दर से बढ़ी, और जनवरी 1988 और जनवरी 1989 के बीच 19 2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। योजना आयोग (Planning Commission) के अनुसार 1992 में इनकी सख्या 70 लाख और 1997 में 87 लाख होना आंका गया है (हिन्दुस्तान टाइम्स, जुलाई 24, 1993)। आठवीं

पचवर्षीय योजना के एक वर्ष में 85 लाख लोगों को कार्य उपलब्ध कराने का लक्ष्य है और पिछला अनुभव बताता है कि नये उपलब्ध कराये गये कार्यों में से 45.0 प्रतिशत शिक्षित व्यक्तियों को मिलते हैं । इस प्रकार पांच वर्षों (1992-97)में 85 लाख में से 40 लाख नये शिक्षित युवकों को काम मिल पायेगा, अथवा 1997 तक 47 लाख शिक्षित बेरोज़गार रह जायेंगे ।

अनुप्रयुक्त जनशक्ति शोध संस्थान (Institute of Applied Manpower Research) की तो यह मान्यता है कि हर वर्ष 30 लाख शिक्षित युवक श्रम-मार्केट में प्रवेश करते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि 1992-97 के मध्य लगभग 150 लाख युवक श्रम-मार्केट में और प्रवेश करेंगे । इस प्रकार इस संस्थान के अनुसार शिक्षित बेरोजगारों की संख्या 1997 में 2.25 करोड हो जायेगी । इनमें से 1.4 करोड शिक्षित बेरोज़गारों को श्रम मार्केट कार्य उपलब्ध करा पायेगा और 87 लाख शिक्षित व्यक्ति बेरोज़गार ही रहेंगे (हिन्दुस्तान टाइम्स, जुलाई 24, 1993) ।

देश में कुल रोज़गार वृद्धि 2.0 प्रतिशत प्रति वर्ष है और शिक्षितों में रोज़गार वृद्धि प्रति वर्ष 6.5 प्रतिशत है । अत यदि शिक्षित बेरोज़गारों की सख्या कम करनी है तो उच्च शिक्षा को नियंत्रित करना होगा । उच्च शिक्षा में भरती किये गये युवकों की संख्या 1950-51 में 1.7 लाख से बढ कर 1988-89 में 39.5 लाख हो गयी, अर्थात् वार्षिक वृद्धि दर (annual growth rate) 8 6 प्रतिशत थी । माध्यमिक स्तर पर इसी काल में भरती किये गये विद्यार्थियों की सख्या 18 लाख से 185 लाख हो गयी थी, अर्थात् वार्षिक वृद्धि दर 6.3 प्रतिशत थी । इसी कारण मौजूदा शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता है ।

बेरोजगार स्नातकों की सबसे बडी संख्या पश्चिम बंगाल में है (कुल बेरोज़गारों का 27.21%), इसके बाद बिहार (24.85%), केरल (21.10%), कर्नाटक (18.49%), पंजाब (13.7%), तमिलनाडु (12.96%), उत्तर प्रदेश (9.96%), गुजरात (9.23%), महाराष्ट्र (7.68%), राजस्थान (6.54%) और नागालैण्ड (4.42%) में पायी जाती है ।

विश्वविद्यालयों के विभिन्न संकायों के विस्तार का अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं से कोई सबंध नहीं है । कला स्नातकों की संख्या 1980 और 1988 के बीच 13% प्रति वर्ष बढ़ी, जब कि उनकी बेरोज़गारी की दर 26% के हिसाब से बढ़ी । विज्ञान स्नातकों के विषय में अनुरूप (corresponding) प्रतिशत 12.9 और 33.0 रहा; वाणिज्य स्नातकों का 16.4 और 27.4; अभियंता स्नातकों का 4.6 और 29.0; और आयुर्विज्ञान स्नातकों का 12.2 और 37.0 रहा । उत्तर स्नातकों की दशा और भी खराब है । पांचवीं और छठी योजनाओं के अन्तर्गत, दस उत्तर स्नातकों में से केवल पांच को नौकरी मिल सकी । स्थिति की गंभीरता एक राष्ट्रीय बैंक से प्रकट होती है जिसने क्लर्कों-टाइपिस्टों के 100 पदों के लिये स्नातकों और उत्तरस्नातकों से 15,000 आवेदन पत्र प्राप्त किये । यद्यपि सरकार एक अभियंता की शिक्षा पर 40,000 रुपये व्यय करती है फिर भी 1992 में 22,000 अभियन्ता नौकरी ढूंढ रहे थे ।

दूसरी ओर शिक्षित युवा में बेरोजगारी दूसरी समस्याओं को खड़ा करती हैं । वह युवाओं को इतना क्रोधित और कुण्ठित कर देती हैं कि वे आतकवादी, बागी, और देश की अखडता के लिये एक ख़तरा बन जाते हैं । अगस्त-सितम्बर 1990 में मडल कमीशन की सिफ़ारिशों के मानने की घोषणा के उपरान्त हुए व्यापक और वीभत्स आदोलन इस बात के साक्षी हैं कि रोजगार का प्रश्न युवाओं में कितनी गहरी भावनाओं को भडका देता है ।

बेरोज़गारी के कारण (Causes of Unemployment)

अर्थशास्त्रियों ने बेरोजगारी को पूजी के अभाव, निवेश के अभाव, और अधिक उत्पादकता के संदर्भ में व्याख्या की है । कुछ अर्थशास्त्री विश्वास करते हैं कि बेरोजगारी की जड़ें औद्योगिक समृद्धि के बाद व्यापार चक्र में आई मदी में हैं । कुछ का कहना है कि उद्योगों में अव्यवस्थायें (dislocations) और मडी के बारे में भविष्यवाणी करने में असमर्थता ने व्यक्तियों के बहुत बड़े अंश को बेरोज़गार कर दिया है । कुछ और लोगों का मत है कि अचानक आर्थिक अपस्फीती (deflation) और आर्थिक प्रतिस्पर्धा की अवैयक्तिक शक्तियों के फलस्वरूप रोज़गार में कमी आ जाती है । मशीन प्रौद्योगिकी में सुधार, अत्यधिक उत्पादन, कृत्रिम रूप से प्रोत्साहित (falsely stimulated) सट्टेबाजी, आर्थिक सफलता का सामाजिक महत्व और अपरिहार्य मन्दियां-ये सब मजदूरों की माग में कमी करने वाले रोडा खड़ा करदेते हैं। क्लासिकल विचारधारा (Wage Fund Theory) 'मजदूरों की मजदूरी' को बेरोजगारी का मूलभूत कारण मानती है, जिसके अनुसार मजदूरों की मज़दूरी पहले से ही निर्धारित कर दी जाती है परन्तु पूंजी के अभाव के कारण निर्माता बहुत कम मजदूरो को नौकरी पर रखता है जिसके कारण बेरोजगारी बढती है। नई क्लासिकल विचारधारा के अनुसार बेरोजगारी 'अति-उत्पादन' के कारण उत्पन्न होती है । अति-उत्पादन वस्तुओं की कीमतों को घटा देता है जिससे मजदूरों को घटाना आवश्यक हो जाता है । यह क्रम बेरोजगारी को बढाता है । कीन्स (Keynes) (1952.18-22) ने 'बचत की इच्छा' (desire for saving) को बेरोजगारी का कारण बताया है । व्यक्ति निवेश कम करते हैं क्यों कि वे ज्यादा बचाना चाहते हैं । कम निवेश से उत्पादन कम होता है जो बेरोजगारी का कारण बनता है । कुछ अर्थशास्त्रियों ने माग और आपूर्ति में असतुलन को बेरोजगारी का कारण बतलाया है । जब उद्योगों के माल की प्रभावी माग कम हो जाती है तो कीमतें गिरने लगती हैं, कारखाने बद हो जाते हैं, मजदूरी मिलना बद हो जाती है और व्यक्ति बगैर अपनी किसी गलती के नियोजित से अनियोजित श्रेणी में चले जाते हैं । मांग की कमी के कारण हैं प्रारभिक वर्षों में विकास की धीमी गति या व्यापार और वाणिज्य में मदी के कारण निवेश को स्थगित करना (postpone), और/या (निवेश का) स्थानान्तरण औद्योगिक से अनौद्योगिक क्षेत्र में करना । लायनील ऐडी (Lioneal Edie 1926 :422) के मतानुसार बेरोज़गारी आर्थिक ढाचे के विघटन के कारण होती है । इलियट और मेरिल (1950. 606) ने कहा है कि बेरोजगारी विशेषरूप से व्यापारचक्र (business cycle) में मदी जो औद्योगिक समृद्धि के काल के पश्चात आती है, का परिणाम है । तकनीकी

निपुर्णताओं का विकास और श्रमिकों का उत्कृष्ट रूप से विशेषीकृत विभाजन भी हृष्ट-पुष्ट और योग्य व्यक्तियों के नौकरी प्राप्त करने को असंभव बना देता है। बार्टलेट (Bartlett, 1949: 6-9) ने कहा है कि असल में एकाधिकारी उद्योग जैसे लोहे और स्टील का उद्योग भी मंदियां लाने के प्रमुख कारक रहे हैं। उसने आरोप लगाया है कि ये उद्योग अपने उत्पादन को बनाये रखने के लिये उस अवधि में भी अपनी कीमतों को काफी नहीं गिराते हैं जब कि दूसरे उद्योगों की कीमतों के स्तर में गिरावट आती है।

कई विद्वानों की मान्यता है कि बेरोज़गारी के लिये केवल आर्थिक कारकों को ही उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। सामाजिक और वैयक्तिक कारक भी बेरोज़गारी में बराबर सहायक होते हैं। समाजशास्त्रीय शब्दों में बेरोज़गारी को अनेक सामाजिक कारकों जैसे अपमानजनक (degrading) सामाजिक प्रस्थिति, भौगोलिक गतिहीनता, जनसख्या का तीव्र विकास, तथा दोषपूर्ण शैक्षणिक प्रणाली, और वैयक्तिक कारक, जैसे अनुभवहीनता, व्यावसायिक अयोग्यता, बीमारी, तथा असमर्थता के सम्मिश्रण की उपज कहा जा सकता है।

अपमानजनक सामाजिक और कार्य प्रस्थिति बेरोज़गारी इस अर्थ में पैदा करती है कि कुछ व्यक्ति कुछ विशेष कार्यों को करना अपनी मान-मर्यादा के प्रतिकूल मानते हैं। उदाहरणार्थ, युवा आई.ए.एस., आई.पी.एस. और विश्वविद्यालय में शोध व अध्यापन को गौरवपूर्ण कार्य माना जाता है, और स्कूलों में अध्यापन, विक्रय कला (salesmanship) और टाइप करने जैसे कार्यों को नीचे दर्जे का और निम्न पार्श्वक (low profile) मानते हैं। वे इन कार्यों को करने के बजाय बेकार रहना अधिक अच्छा मानते हैं। कई विद्यार्थी यद्यपि शोध में रुचि नहीं रखते, फिर भी पी.एच.डी. की डिग्री के लिये काम करते हैं और दो और तीन वर्षों तक 400, 600 या 800 रुपये के मासिक वजीफे लेने पर राजी हो जाते हैं। वे क्लर्क या टाइपिस्ट की नौकरी नहीं करना चाहते क्यों कि शोध करना उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्रदान करता है और उन्हें 'रिसर्च स्कालर' का दर्जा देता है। वे अपने मित्रों और संबंधियों को यह कहकर टालते रहते हैं कि वे प्रतियोगिता परीक्षाओं के लिये तैयारी कर रहे हैं। यद्यपि वे भलीभांति यह जानते हैं कि उनमें ऐसी परीक्षाओं में भाग लेने की ना तो आवश्यक क्षमता है और ना ही रुचि। कभी कभी युवा व्यक्ति कुछ कार्यों को स्वीकार करने से इसलिये मना करते हैं क्यों कि वे सोचते हैं कि जो कार्य उन्हें दिया जा रहा है उससे उनके परिवार का स्तर ऊंचा है। चार महानगरों (दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास) में युवाओं में व्यावसायिक आकांक्षाओं पर कराये गये जनमत सर्वेक्षण में 52% सूचनादाताओं ने सरकारी नौकरियों और कालेज के प्राध्यापकों के पदों के लिये अपनी अभिरुचि व्यक्त की (करीअर अस्पाइरेशनस द कानफ्लिक्ट विथ रीअलिटिज़, खण्ड 14, संख्या 1, अक्टूबर 1968, 14-15)। ऊंची आकांक्षाएं रखना और ऊंचे स्तर के जीवन की बढ़ती अभिलाषा अच्छी बात है, परन्तु अनुकल्प हितों (substitute interests) और अभिरुचियों को स्वीकार करने से मना करना बुद्धिमता नही है।

जन्मदर में उमड़ या जनसंख्या में तीव्र वृद्धि एक वह कारक है जो काम की उपलब्धता को

बहुत अधिक प्रभावित करता है। गुन्नार मिर्डल (1940), जास्वीडिन का एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री और जनसख्या विशेषज्ञ था, ने जनसख्या की समस्या का लोकतांत्रिक राष्ट्रों के कल्याण के दृष्टिकोण से अध्ययन किया और कहा "मेरी समझ में कोई दूसरा कारक-शान्ति और युद्ध भी नहीं-लोकतंत्रों की दीर्घकालीन नियतों (destinies) के लिये इतना अधिक घातक नहीं है जितना कि जनसख्या का कारक। लोकतंत्र को, न केवल राजनीतिक रूप में अपितु उसके नागरिक आदर्शों और मानव जीवन की सम्पूर्ण अतवस्तु (content) के साथ, इस समस्या का समाधान करना चाहिये अन्यथा वह नष्ट हो जायेगा।" परिवार में बेरोजगार बच्चों की *संख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक माता-पिता पर निर्भरता होगी।* समाज में बेरोजगार व्यक्तियों की जितनी अधिक सख्या होगी उतना ही अधिक सरकार का दायित्व होगा। कई कारणों से सयुक्त परिवार प्रणाली द्वारा उठाये जा रहे दायित्वों के सरूप में परिवर्तन आ रहा है। एकाकी-परिवारों में से अधिकाश परिवारों के लिये बेरोजगार आश्रितों का भरण-पोषण करना आर्थिक दृष्टि से सभव नहीं है। यह अनासक्ति (detachment) न केवल परिवार के सबधों को कमजोर करती है अपितु समाज के लिये कई समस्याए उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार जनसख्या के अनियंत्रित विकास के कारण बढती हुई बेरोजगारी न केवल समाज के दायित्वों को बढ़ाती है, *अपितु बेरोजगार व्यक्ति की प्रतिष्ठा को भी गिराती है और समाज* में उसके सम्मान को नष्ट करती है।

भौगोलिक गतिहीनता भी बेरोजगारी को उत्पन्न करती है। जब व्यक्ति एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाने से मना करते हैं तो एक स्थान पर अधिशेष (surplus) श्रमिक हो जाते हैं और दूसरे स्थान पर श्रमिकों की सख्या अपर्याप्त हो जाती है। गतिहीनता के कारण दूसरे शहरों में नौकरियों की उपलब्धता के बारे में सूचना का अभाव या भाषा की समस्या या पारिवारिक दायित्व भी हो सकते है।

अन्त में, बेरोजगारी दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली का भी परिणाम है। यह शिक्षा प्रणाली जो अंग्रेजों ने 150 वर्षों से भी अधिक समय पूर्व अपनी बढती नौकरशाही के लिये बाबुओं को प्रशिक्षित करने के लिये चलाई थी उसको अब 'अर्थपूर्ण' नहीं कहा जा सकता। यह शिक्षा प्रणाली अपर्याप्त है क्यों कि यह प्राथमिक शिक्षा को सही प्राथमिकता नहीं देती और यह उच्चस्तर पर राजकोष पर भारी कीमत के बाद जो शिक्षा प्रदान करती है *वह उन मनोवृत्तियों को* पैदा नहीं करती जो *राष्ट्र निर्माण* के लिये आवश्यक हैं। शिक्षा उद्योग सही मायने में अतिविशाल है। उसका वार्षिक बजट (पूरे वर्ष के बजट का लगभग 10 प्रतिशत) सुरक्षा के बजट के बाद ही आता है। शिक्षा का लाभ मध्यम और ऊंची आय के छोटे समूह तक सीमित है और वह युवा व्यक्तियों को रोज़गार दिलवाने में सहायक नहीं हो सका है। विडम्बना यह है कि कदाचित वह उनके दिमाग में पाठ्य पुस्तक के ऐसे सिद्धान्तों, जो पुराने हो चुके हैं और जो भारत के विकास के लिये असंगत (inappropriate) हैं, को कूट कूट कर भर देते हैं। *परिणामत. उनका दिमाग एक यात्रा पर लेजाने वाला एक कपड़े के थैले* (duffle-bag) जैसा

हो जाता है, और इस कारण वे नौकरी के योग्य ही नहीं रहते।

जहां तक वैयक्तिक कारकों का प्रश्न है वे हैं: व्यक्ति (नौकरी ढूढ़ने वाले) की युवा अवस्था के कारण उसमें अनुभव का अभाव, वृद्धावस्था जो व्यक्ति की काम करने की क्षमता को प्रभावित करती है, व्यावसायिक प्रशिक्षण का अभाव, शारीरिक असमर्थताएं, रोग-ये सभी कारक बेरोज़गारों और रोज़गार के लिये अयोग्य व्यक्तियों के प्रतिकूल हैं।

बेरोज़गारी के परिणाम (Consequences of Unemployment)

बेरोज़गारी परिवार और समाज को प्रभावित करती है, या यह कहा जा सकता है कि बेरोज़गारी के कारण वैयक्तिक विघटन, पारिवारिक विघटन, और सामाजिक विघटन होते हैं।

वैयक्तिक विघटन के दृष्टिकोण से बेरोज़गार व्यक्ति का मोहभग (disillusionment) हो जाता है और उसमें सनकयन (cynicism) आ जाता है। अपनी उदासी (depression) से मुक्त होने के लिये किसी निकास (outlet) के अभाव में युवा व्यक्ति अपनी रचनात्मक शक्तियों को ग़लत मार्गों पर लगा देते हैं और इसी कारण डकैतियों, राष्ट्रीय मार्गों पर लूट और बैंकों के लूटने में लिप्त युवाओं की संख्या में वृद्धि हो रही है। ये असामाजिक गतिविधियां अनुशासनहीन और दुर्दान्त युवाओं को जीविका ऐंठने का अवसर प्रदान करती हैं। अधिकांश अपराधी निःसंदेह ऐसे लड़कों में से भर्ती किये जाते हैं जिनका बचपन में अपराध करने का इतिहास होता है। इस प्रकार कार्य के अवसरों में कमी आने के कारण दुःसाहसी अपराधियों की संख्या में वृद्धि हुई है। दूसरी ओर कमाने वाले व्यक्ति, जिनकी नौकरी छूट जाती है उनकी दशा भी बुरी है। भूतपूर्व कमाने वालों में शारीरिक रोग और तनाव होने की और आत्महत्या और अपराध करने की संभावना अधिक होती है क्यों कि काम करने के अवसरों के अभाव में उनके लिए अपने आश्रितों को सहारा देना असंभव हो जाता है। उनका अपना दूसरों पर आश्रित रहना बहुदा उन्हें नैतिक रूप से दुर्बल बना देता है क्यों कि यह उन्हें अपमानजनक लगता है। इस देश में कई व्यक्ति यथार्थ का सामना करने के बजाय तस्कर और मादक पदार्थों के व्यापार जैसे अवैध धंधे करने में लगे हैं। आर्थिक मंदियों के दौरान वेतन का घटना और अंशकालिक नौकरियों का बढ़ना व्यक्तियों को और अधिक कुण्ठित करता है। नौकरियों में प्रतिस्पर्धा के कारण वेतन व्यय अविश्वसनीय रूप से कम हो जाते हैं और बेरोज़गारी के बढ़जाने के कारण नौकरी के मिलने की संभावना और भी कम हो जाती है और वेतन भी कम हो जाते हैं। अल्प सेवायुक्त (underemployed) और अल्प वैतनिक (underpaid) को भी इतने ही कठिन सामंजस्य करने पड़ते हैं जितने कि बेरोज़गारों को (वाइट बेक, 1940)।

बेरोज़गारी के कारण हुआ पारिवारिक विघटन का मापना अधिक सरल है। बेरोज़गारी न केवल परिवार के सदस्यों के हितों की एकता को प्रभावित करती है परन्तु वैयक्तिक मनोकांक्षाओं की एकता को भी। सदस्यों की अव्यवस्थित कार्य प्रणाली परिवार में मनमुटाव पैदा करती है जिसके फलस्वरूप न केवल बेरोज़गार पति और उसकी पत्नि के बीच तनाव उत्पन्न हो जाते हैं, अपितु माता-पिता और बच्चों के बीच में भी झगड़े होने लगते हैं। कभी-कभी

बेरोज़गार पति की पत्नि नौकरी करना चाहती है, परन्तु पत्नि के नौकरी करने का विचार ही उसके पारम्परिक और रूढ़ीवादी मूल्यों वाले पति को इतना उत्तेजित कर देता है कि घर में भयकर झगड़ा हो जाता है। कई पति अपनी पत्नियों द्वारा उन क्षेत्रों में जो वे (पति) परम्परागत रूप से अपने समझते हैं, महत्वपूर्ण सत्ताधारण करने पर आपत्ति करते हैं। दूसरी ओर पति और पत्नि के बीच उस समय भी झगड़ा हो सकता है जब कि बेरोज़गार पति अपनी पत्नि को नौकरी करने को कहे और पत्नि घर में छोटे बच्चे होने के कारण इसके लिये अपनी अनिच्छा व्यक्त करे।

बेरोज़गारी के कारण हुए सामाजिक विघटन को मापना अधिक कठिन है। सामाजिक विघटन सामाजिक ढाचे का टूटना है या परिवर्तन है, जिसके कारण सामाजिक नियत्रण के पुराने स्वरूप प्रभावी ढग से काम नही कर पाते या यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक समूह के सदस्यों के सामाजिक सबध टूट जाते हैं अथवा लुप्त हो जाते हैं। बेरोजगारों की गतिविधिया इतनी सीमित हो जाती हैं और उनके विचार इतने कटु हो जाते हैं कि वे काम करने की अपनी इच्छा ही खो बैठते हैं और ऐसी स्थिति में उनकी दक्षता में गिरावट आ सकती है जिससे सारे समुदाय को हानि हो सकती है (जोना कॉलकोर्ड, 1941)। परिवार की लघु बचत और/ या नकद *या माल के रूप में ऋण लेकर चलाने के साहसी प्रयत्न के कई परिवार भोजन और जीवन की* दूसरी आवश्यकताओं में इतनी अविश्वसनीय कमी करते हैं कि वे मन्द भूख (slow starvation) से पीड़ित हो जाते हैं।

बेरोज़गारी को नियन्त्रित करने के लिये किये गये उपाय (Measures taken to Control Unemployment)

हमारे नीति आयोजकों ने आठवी पचवर्षीय योजना में रोजगार उत्पादन को अधिक बल दिया है और उसके माप को इस तरह निश्चित किया है जिससे रोजगार में प्रति वर्ष 30 प्रतिशत की वृद्धि हो। सातवी योजना (1985-90) में उत्पादित होने वाले रोज़गार के पूरे आकार का अनुमान 485.8 लाख था जिसमें योजना के शुरु में पहले से चली आ रही (backlog) 92 लाख नौकरियां भी सम्मिलित थी। योजना में सोचा गया था कि कुल रोजगार 1984-85 में 1.86 करोड़ मानक व्यक्ति वर्ष (standard person year, 'SPY') से बढ़कर 1989-90 में 2.27 करोड़ एस.पी.आई. हो जायेगा जिसका अर्थ होगा 3 99 प्रतिशत की बढ़ोतरी। विशेषरूप से योजना में सोचा गया था कि 1989-90 में विशेष रोज़गार कार्यक्रम जो एन.आर.ई.पी. और आर.एल.ई.जी.पी. के अन्तर्गत आते थे, रोजगार के 22 6 लाख एस.पी.वाई पैदा करेंगे। इसी प्रकार आई.आर.डी.पी. से आशा थी कि कृषि पर एकाग्र कर के वह 30 लाख मानव दिन (man days) उत्पन्न करेगी।

उत्तरप्रदेश सरकार ने बेरोज़गारी की घोर समस्या को सुलझाने के लिये कुछ नवीन कदम उठाये हैं। ये कदम न केवल ग्रामीण व्यक्तियों को विभिन्न क्षेत्रों में नौकरियां दिलवाने में सहायता करेंगे बल्कि बंजर और खेती के अयोग्य भूमि के बड़े क्षेत्रों को भी कृषि योग्य बना देंगे। इससे भूमिहीन ग्रामीणों में कृषि-योग्य भूमि वितरित करना सभव हो जायेगा। इस उद्देश्य

से एक 'भूमि सेना' का सगठन किया गया है। भूमि-सैनिकों को भूमि के वनरोपण के लिये राज्य सरकार द्वारा बैंक ऋण के रूप में पैसा दिया जाता है। यदि ऋण की अदायगी दो वर्षों में हो जाती है तो इन ऋणों पर देय 10.5 प्रतिशत वार्षिक ब्याज नही लगता। एक हेक्टेयर भूमि के वनरोपण पर लगभग 10,000 रुपये लगता है। विश्वास यह है कि भूमि के नीचे और ऊपर जमा हुआ नमक उसे बंजर बना देता है। एक वर्ष तक पानी जमा रहने से भूमि धुल जाती है और फिर ठीक हो जाती है। यह कहा जाता है कि नमक नीचे बैठ जाता है और पौधों की जड़ों को नुकसान पंहुचाना बन्द कर देता है। इस प्रकार बंजर जमीन को कृषि योग्य बना दिया जाता है। इसी प्रकार से नदियों को पास वाली जमीन कृषि योग्य नहीं रहती क्यों कि उसके ऊपर नदी की बाढ़ का पानी बहता रहता है। नदी के बाढ़ के पानी को रोक कर इस ज़मीन को भी पेड़ उगाने और फसलें उगाने के उपयुक्त बनाया जा सकता है। इस प्रकार मिट्टी के कटाव को रोक कर भूमि को गहन खेती के योग्य बनाया जा सकता है। राज्य (उत्तरप्रदेश) में 'भूमि सेना' का संगठन रोज़गार पैदा करने और भूमिहीन मज़दूरों को आर्थिक आत्मनिर्भरता का जीवन व्यतीत करने में सहायता देने के लिये किया गया है। राज्य सरकार ने अपने बजट का 52% ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिये आवटन किया है। इसमें से 1990-91 में 38 करोड़ रुपये व्यय किया गया और 1991-92 में केवल 'भूमि सेना' पर 27 करोड़ रुपये व्यय किया गया। यह अनुमान लगाया जाता है कि आठवी पचवर्षीय योजना में 219 करोड़ रुपये भूमि पर वन रोपण की परियोजनाओं पर खर्च होगा और इससे 1,80,000 भूमिहीन मजदूर लाभान्वित होंगे। अभी तक लगभग 14,370 हैक्टेयर बजर भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिये पहचान लिया गया है और यह कार्य 12 जिलों में चल रहा है जिसमें वाराणासी, कानपुर, इटावा, गाज़ियाबाद, रायबरेली, उन्नाव, सुल्तानपुर और फतहपुर सम्मिलित हैं। एक सैनिक को वनरोपण के लिये एक हजार हैक्टेयर भूमि मिलती है। फरवरी 1991 तक वनरोपण के लिये एक हजार हैक्टेयर भूमि एक हजार सैनिकों में बांटी गई। यह आबंटन 6.3 करोड़ रुपये के अतिरिक्त है जिसका प्रावधान आदर्श ग्राम योजना के अन्तर्गत राज्य के प्रत्येक जिले में बेरोज़गारी को हटाने के लिये किया गया है।

किये गये उपायों का मूल्यांकन (Evaluation of measures adopted)

बेरोज़गारी उन राजनैतिक दलों का एक प्रमुख चुनावी मुद्दा रहा है जो पिछले दो दशकों से सत्ता में रहे हैं परन्तु नीति निर्धारक इसका संतोषजनक हल नहीं निकाल पाये हैं। इसका महत्वपूर्ण कारण यह है कि रोज़गार उत्पादन परियोजनाओं में से अधिकांश को पर्याप्त संसाधन उपलब्ध नहीं हुए।

ग्रामीण बेरोज़गारी (Rural Unemployment)

ग्रामीण बेरोज़गारी के प्रश्न को लें। कई वर्षों से राज्य सरकारों ने कई रोज़गार गारंटी परियोजनाओं की घोषणा की और उनको निर्धनता को कम करने की रणनीतियां माना। काम के बदले अनाज परियोजना शुरु हुई जिसका नाम बदल कर राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार परियोजना

(NREP) रखा गया। फिर ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी परियोजना (RLEGP) और जवाहर रोज़गार योजना आई। इसके प्रश्चात राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने मार्च 1990 में एक नई परियोजना 'रोज़गार गारंटी परियोजना' को जोड दिया, परन्तु यह परियोजना चली ही नही यद्यपि समय समय पर यह घोषणा होती रही कि इसमें महाराष्ट्र के माडल को अपनाया जा रहा है जो कि अच्छे रूप से चल रहा है।

इन परियोजनाओं की असफलताओं का क्या कारण है? हम आरएलईजीपी (RLEGP) को लें जो 1983 में प्रारम्भ हुई और जिसका पूरा पैसा केन्द्र सरकार ने दिया। इस परियोजना का मूल उद्देश्य था ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन मजदूरों के लिये रोजगार के अवसरों का विस्तार करना और एक ग्रामीण भूमिहीन परिवार के कम से कम एक सदस्य को एक वर्ष में कम से कम 100 दिन के रोज़गार की गारंटी देना। 1989 से इस परियोजना का जवाहर रोज़गार योजना में विलय हो गया। भारत के कन्ट्रोलर और आडिटर जनरल (केग) ने अपने परख आडिट (test audit) के दौरान पाया कि जिस सीमा तक रोजगार गारंटी की कल्पना की गई थी उसके लिये 3,750 करोड रुपये की निर्धारित वार्षिक आवश्यकता के स्थान पर 1983 से 1989 वर्षों के बीच वार्षिक उपलब्ध राशि 100 करोड और 762 करोड रुपये के बीच थी। 1988-89 में 762 करोड़ रुपये देना केवल 22 दिनों के लिये रोजगार उपलब्ध कराने के लिये ही पर्याप्त था। इससे भी और बुरा जो अब मालूम हुआ यह था कि 1983 से 1989 तक 3,140 करोड़ रुपये राशि का कुल आवटन हुआ जो कि 3,750 करोड रुपये की वार्षिक आवश्यकता से भी कम था और इसमें से भी केवल 2,797 करोड रुपये का उपयोग हुआ। इस प्रकार न केवल आवश्यक राशि का भुगतान नही हुआ अपितु जो थोड़ी सी राशि उपलब्ध कराई गई थी उसका भी पूरी तरह उपयोग नही हुआ। रिपोर्ट ने कुछ चौंकाने वाले तथ्य प्रस्तुत किये हैं। उपलब्ध निधि (funds) में से 26.50 करोड़ रुपया दूसरी परियोजनाओं में लगा दिया गया और यहां तक कि उसे कारों, जीपों, वातानुकूलित यंत्रों (air-conditioners), विडियो कैमरों और मियादी जमाओं और राष्ट्रीय बचत योजनाओं में निवेश के लिये खर्च किया गया। खाद्यान्न जो आर.एल.ई.जी.पी के अन्तर्गत वितरित किये जाने थे वे जन वितरण ऐजेन्सियों और संगठनों के पास पहुच गये। परन्तु आश्चर्य यह है कि इन सब कमियों के बावजूद इस परियोजना ने 1983-89 की अवधि में 14,72 लाख मानव दिन उत्पन्न किये जो 13,310 लाख मानव-दिन के सरकारी लक्ष्य से अधिक थे। केग (CAG) इन आकडों को प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं मानता। उसने मानव-दिनों की गणना करने के तरीके को गलत बताया। हाज़िरी रजिस्टर के आधार पर उत्पादित मानव-दिनों को सकलित करने के बजाय कुछ राज्य (जैसे आंध्रप्रदेश, बिहार, केरल, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, पजाब, नागालैंड और पश्चिम बगाल) रोज़गार उत्पादन आंकड़ों का सकलन काल्पनिक आधार पर कर रहे थे। वे कुल लागत की मज़दूरी के घटक को निर्धारित न्यूनतम दैनिक मजदूरी की दर से भाग देकर आकडों का सकलन कर रहे थे। महाराष्ट्र के एक ज़िले में यह पाया गया कि वहां मानव दिनों के आकड़े वास्तविक

लागत (जिसमे गैर-मजदूरी का घटक भी सम्मिलित था) को न्यूनतम दैनिक मजदूरी से भाग देकर निकाले जा रहे थे और इस प्रकार आकडे बढाये जा रहे थे।

यदि यह तथ्य ग्रामीण रोजगार परियोजनाओं का निदर्शी (illustrative) है तो कोई आश्चर्य नही कि स्वतत्रता के चार दशकों के बाद भी देश जनसख्या के ऐसे ३६ प्रतिशत का भार अब भी उठा रहा है जो निर्धन रेखा से नीचे है।

शिक्षित बेरोजगार के लिये कौन सी रोजगार परियोजना है ? महत्वपूर्ण परियोजना यह है कि शिक्षित बेरोजगारों को स्व-रोजगार के लिये बैंक ऋण स्वीकृत करती है। केन्द्र सरकार इस प्रयोजना के लिये पूजी की आर्थिक सहायता (Capital Subsidy) देती है और उसे रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया के द्वारा भेजती है। परन्तु ग्रामीण रोजगार परियोजना की भाति स्व-रोजगार के लिये ऋण की योजना भी असफल हो गई है। ऋणों के लेने वालों की सख्या कम हो रही है और वैसे ही केन्द्र से मिलने वाली आर्थिक सहायता भी। सातवी पचवर्षीय योजना में स्व-रोजगार परियोजना से निश्चित किये गये वार्षिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में धीरे-धीरे कमी आई। जब 1985-86 में 2.43 लाख के लक्ष्य के स्थान पर 2.20 लाख बेरोजगार युवाओं को ऋण दिये गये, तो 1986-87 में 2.50 लाख के स्थान पर 2.16 लाख और 1987-88 में 1.25 लाख के स्थान पर केवल 50,000 थे। इस प्रकार लाभभोगियों की सख्या निरंतर घटती गई। यदि स्व-रोजगार परियोजना असफल हो जाती है, जैसा कि प्रवृति दिखाती है तो इसका पचवर्षीय योजनाओं के रोजगार के आकड़ों पर बुरा असर पडेगा। इसके अतिरिक्त, बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण कानून और व्यवस्था के स्तभ और राजनीतिक व्यवस्था पर भी और अधिक भार पडेगा।

जनता दल ने 1990 में अपने चुनाव घोषणा पत्र में 'काम का अधिकार' के नये इनाम (carrot) का वायदा किया। इसका अर्थ था कि सरकार अपनी आर्थिक नीतियों का इस प्रकार निर्धारण करेगी जिससे उन सबके लिये जो यह चाहते है कि उत्पादक और लाभदायक नौकरिया उत्पन्न हो और जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि उन सभी को जो काम करना चाहते हैं, काम के अवसर प्राप्त हों। परन्तु इससे पहले कि वह इस चुनौती को स्वीकार करती, इस सरकार को नवम्बर, 1990 में सत्ता त्यागनी पडी।

प्रश्न यह है कि हमारे देश की वर्तमान स्थिति में क्या 'काम के अधिकार' (Right to Work) की गारटी देना सभव है ? तटस्थ और पक्के आकडों के साथ क्या रोजगार उत्पादन परियोजना की एक निश्चित रूपरेखा बनाई जा सकती है या फिर यह भी क्या लोकप्रिय बनने के लिये एक और झूठा नाटक (piece of populism) होगा ? मेरे विचार में यह अप्रासगिक, पलायनवादी, विषयान्तर करने वाला, छिछोरा और हास्यापद प्रस्ताव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। केवल वादा करने से या सविधान में व्यवस्था कराने से किसी को काम मिलने की सभावना नहीं हो जाती, सिवाय राजनीतिज्ञों को जो असभव वादे करने में प्रवीण होते हैं। व्यापक आर्थिक नीतियों, नवीन रोजगार के उत्पादन की परियोजनाओं, आर्थिक प्रणाली का दक्ष सगठन और

दूसरी व्यावहारिक और परिणाम देने वाली तकनीकों पर पर्याप्त विचार किये बिना ही वे 'काम का अधिकार' के एक और वादे को जोडने को गलत नही समझते । भारी निवेश के बिना काम का अधिकार न तो व्यवहार्य है और न ही काम के लायक । यह एक दूर की भ्रान्ति (fantacy) और एक खोखला दकियानूसी विश्वास मात्र है । एक नौकरी उत्पन्न करने में प्रतिवर्ष बडी राशि की आवश्यकता होती है । ऐसी स्थिति में पाच करोड बेरोजगार व्यक्तियों को नौकरिया देने के लिये इतने ससाधन और अरबों खरबों रुपये कहा से आयेंगे ? क्या यह नारा चारो ओर अपरिमित (wholesale) कुण्ठा और मोह-भग (disillusionment) उत्पन्न नही कर देगा ? क्या 'काम का अधिकार' नौकरी पाने के लिये अदालत की आज्ञा से और मालिक द्वारा नौकरी की सेवाए समाप्त करने के अधिकार से, सामूहिक सौदेबाजी आदि से जुडा हुआ नही है ? क्या यह आरक्षण के अधिकार के प्रतिकूल नही है (एएम सिंहवी, 1990) ? इसलिये क्या हम उन राजनीतिज्ञों, जो जनता को खुश करने के लिये ऐसे नारे देते हैं और वादे करते हैं, के विचारों में कोई विकृत कुतर्क नहीं पाते ?

समस्या का निवारण (Remedy of the Problem)

बेरोज़गार शिक्षित व्यक्तियों की समस्या का एक हल यह हो सकता है कि अर्थव्यवस्था की जनशक्ति आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उच्च स्तर की शिक्षा के लिये प्रवेशों को नियत्रित किया जाये । बहुत पहले (1957 में) यू जी सी के तत्कालीन अध्यक्ष (श्री सी डी देशमुख) ने कहा था कि सब मिलाकर विश्वविद्यालय शिक्षित पुरुषों और महिलाओं की सख्या जिसकी देश को समय-समय पर आवश्यकता पडेगी, को ध्यान में रखते हुए विश्वविद्यालय शिक्षा की पुन सरचना करनी पडेगी। दुर्भाग्यवश, इस आवश्यकता के बावजूद विश्वविद्यालय बढते जा रहे हैं और ऐसी स्थिति हो गई है कि 2000 ई तक 90 लाख स्नातकों के लिये नौकरिया उत्पन्न करनी पडेंगी और उनसे भी केवल पहले के बचे हुए (backlog) बेरोजगार ही खप पायेंगे । यदि स्नातकों और तकनीकी व्यक्तियों की सख्या की वर्तमान वृद्धि दर 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष के चक्रवर्ती दर से बढ़ती जाये तो 2000 ई तक लगभग एक करोड स्नातक बेरोज़गार होंगे । केवल एक नौकरी के लिये 22,000 रुपये प्रति वर्ष की आवश्यकता होती है । उस दर से और देश में कुल पाच करोड बेरोज़गारों के सीमित अनुमान से भारत सरकार को 110 हजार करोड रुपये प्रति वर्ष देना पडेगा । क्या हमारे पास इतनी बडी राशि केवल बेरोजगारों के लिये है ? यदि नही तो फिर सरकार उच्च शिक्षा को नियन्त्रित क्यों नही करती ? इस मामले का मूल बिन्दु यह है कि न केवल सरकार का अपितु राजनीतिज्ञ, प्राध्यापक, विद्यार्थी, जनता सभी का इसमें निहित स्वार्थ है । विद्यार्थी एक ऐसा आश्रय स्थल चाहते हैं जहा उन्हें कुछ समय के लिये बेरोज़गारी के भूत का सामना नही करना पडे । अभिजन (elite) निर्धनों को कीमत पर सबसे अधिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं । राजनीतिज्ञ बडे-बडे विश्वविद्यालयों को इसलिये अधिक चाहते हैं, ताकि कुण्ठित और कुशिक्षित (ill-educated) विद्यार्थियों के गिरोह पैदा हों क्यों कि ऐसे लोग ही उनके राजनीतिक बाहुबल को

मजबूत बनाते हैं।

श्रम कानून दूसरा कारण है जिसकी वजह से नौकरियों में तीव्र वृद्धि नही हो रही है। भारत में मज़दूरों को नौकरी से निकालना वस्तुत असभव है। इसलिये व्यापारी स्थाई कर्मचारियों को रखने के बजाय ठेके पर आदमी रखना ज्यादा पसन्द करते हैं। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि निजी संगठित क्षेत्र में पिछले दस वर्षों में रोजगार-प्राप्त लोगों की सख्या लगभग 74 लाख पर स्थिर रही है। केवल राजकीय क्षेत्र में नौकरियों की संख्या बढ़ रही है, परन्तु यहां भी वृद्धि दर 60 के दशक के प्रथम वर्षों के 6 प्रतिशत से 80 के दशक के बाद के वर्षों में घट कर 2 प्रतिशत से कुछ ऊपर रह गई है। इसलिये सरकार को कड़े कानूनों द्वारा उत्पन्न रोजगार विरोधी लोकाचार (ethos) से निबटना चाहिये।

बेरोज़गारी का यदि कोई समाधान है तो यह नही कि भारतीय उद्योग को अधिक श्रम-अतिशय (labour intensive) बनाया जाये जैसा अतीत में प्रयास किया गया था। इसके बजाय बढते हुए नौकरी के क्षेत्र (growing service sector) से ही यह आशा की जा सकती है कि वह अधिक से अधिक शिक्षित युवाओं को खपा सके। इसके लिये यह आवश्यक है कि सही प्रशिक्षण और वित्तीय सहायता के रूप में सस्थात्मक सहायता प्रदान की जाये। ग्रामीण क्षेत्रों में, गांव को एक एकीकृत इकाई मान कर उसका विकास करने से इस समस्या का आंशिक समाधान हो सकता है।

REFERENCES

1. Attarchand, *Poverty and Underdevelopment*, Gian Publishing House, Delhi, 1987.
2. Bartlett Roland, W., *Security for the People*, Wilcox and Follett Co., Chicago, 1949.
3. D'Mello, *Seminar*, No 20, August, 1969, Delhi.
4. Douglas, Paul H, and Director, Aaron, *The Problem of Unemployment*, The Macmillan Company, New York, 1931.
5. Edie, Lionel D. *Economics: Principle and Problems*, Thomas Y. Crowell Co , New York, 1926,
6. Elliott, Mabel, A. and Merrill, Francis E., *Social Disorganisation* (3rd ed.), Harper & Bros , New York, 1950.
7. Keynes, John Manynard, "An Economic Analysis of Unemployment", in *Unemployment as a World Problem*, University of Chicago Press, Chicago, 1932.

8. Myrdal Gunnar, *Population* Harvard University Press, Cambridge Massachusette, 1940.
9. Naba Gopal Das, *Employment, Unemployment and ... Employment in India, 1968*

अध्याय 4

जनसंख्या विस्फोट
Population Explosion

पिछले दशक में और विशेषरूप से पिछले कुछ वर्षों में राजनैतिक अस्थिरता और साम्प्रदायिक उन्माद (communal fury) के मध्य, जनसंख्या विस्फोट की समस्या पीछे ढकेल दी गई थी। न तो राजनीतिक दल और न सरकार ऐसी समस्या पर, जो कि राष्ट्र के सामने आवश्यकरूप से सबसे कठिन समस्या है, अपना ध्यान केन्द्रित करने को तैयार थे। परन्तु समाज विज्ञानों में इस तथ्य की विशिष्टता बताने के लिये विद्वानों के अध्ययनों और विचारों की कोई कमी नहीं है कि भारत आर्थिक विकास की दौड़ में विशेषरूप से इसलिये पिछड़ रहा है क्यों कि उसने जनसंख्या की वृद्धि को नियन्त्रित करने में कोई प्रगति नही की है।

जनसंख्या में वृद्धि (Increase in Population)

भारत की जनसख्या आज (1994) विश्व की जनसंख्या की 16.0 प्रतिशत है। इसकी तुलना में एक दशक पूर्व यह 15.0 प्रतिशत थी। चीन के बाद भारत विश्व का दूसरा, अमरीका तीसरा और रुस चौथा सबसे बडे देश हैं। इन देशों की पूरे विश्व में जनसंख्या है: चीन: 21.7 प्रतिशत, अमरीका: 6.0 प्रतिशत और रस: 5.0 प्रतिशत। भारत और इन तीन देशों (चीन, रुस और अमरीका) में विश्व की जनसख्या की लगभग आधी (48.7%) जनसंख्या रहती है। 1993 के मध्य पाकिस्तान की जनसंख्या 12.23 करोड़, बंगला देश की 11.38 करोड़, नेपाल की 2.3 करोड़, श्रीलंका की 1.78 करोड़ तथा भूटान की 8 लाख थी। जिस पैमाने पर भारत की आबादी बढ़ रही है वह मन को दहलाने वाली है। जब कि 1600 ई. में हमारे देश की आबादी का अनुमान 10.0 करोड था, वह 1871 में 25.4 करोड़, 1931 में 27.89 करोड़, 1941 में 31.86 करोड़, 1951 में 36.10 करोड़, 1961 में 43.92 करोड़, 1971 में 54.81 करोड़, 1981 में 68.51 करोड़, और 1991 में 84.43 करोड़ हो गई (इंडिया 1992, 9)। भारत सरकार के स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मन्त्रालय के परिवार कल्याण विभाग द्वारा दिये गये आंकड़ों के अनुसार सितम्बर 1992 में भारत की जनसंख्या 87.294 करोड़ थी (हिन्दुस्तान टाइम्स, अक्टूबर 23, 1992)। इस प्रकार जब हमने 1931-41 के दशक में 3.96 करोड लोग अपनी आबादी में जोड़े, 1941-51 में 4.24 करोड़, 1951-61 में 7.81 करोड, 1961-71 में 10 89 करोड, 1971-81 में 13.70 करोड़ और 1981-91 में 15.87 करोड़ जोड़े। 1931-61 के तीन दशकों में जब कि आबादी में शुद्ध (net) वृद्धि 16.1 करोड़ थी, 1961-91 के तीन दशकों में वह 40.4 करोड़ थी। अर्थात् जब 1921-51 में प्रतिशत में वृद्धि 12.9 थी, 1961-91 में वह 24.1 थी।

1981-91 के दशक में 16 09 करोड़ व्यक्तियों की वृद्धि का अर्थ होता है 1.60 करोड़ व्यक्तियों की प्रतिवर्ष वृद्धि, या लगभग 44 72 हज़ार व्यक्तियों की प्रतिदिन वृद्धि, या 31 05 व्यक्तियों की प्रति मिनट वृद्धि। परन्तु परिवार कल्याण मन्त्रालय के अनुसार भारत में प्रति मिनट वृद्धि 49 तथा प्रति वर्ष वृद्धि 1 करोड़ 70 लाख है (हिन्दुस्तान टाइम्स, अक्तूबर 23, 1992)। इसकी तुलना में 1961-71 के दशक में व्यक्तियों की सख्या में प्रति मिनट वृद्धि 21 थी, 1951-61 के दशक में 15 थी, और 1941-51 के दशक में आठ थी। यह इस बात का संकेत देता है कि वर्तमान शताब्दी के मध्य के दशकों में जहा जनसख्या की वृद्धि दर मध्यम थी अब वह अधिक तेज़ और चिन्ताजनक हो गई है।

महाविपदा (disaster) यह है कि

- पृथ्वी पर आज हर छटा व्यक्ति भारतीय है और इस शताब्दी के अन्त तक हर पाचवा जीवित व्यक्ति भारतीय होगा।
- भारत हर तीन सप्ताह में अपनी जनसख्या में लगभग 10 लाख व्यक्ति जोड लेता है।
- भारत हर वर्ष अपनी जनसख्या में एक आस्ट्रेलिया या एक श्रीलका व हर दस वर्ष में एक यूरोप के बराबर जनसख्या जोड़ लेता है।
- सन 2025 तक भारत चीन को पीछे छोड़ ससार का सबसे अधिक जनसख्या वाला राष्ट्र बन जायेगा, जबकि चीन की 123 करोड की तुलना में भारत की जनसख्या 138 करोड होगी (1992 में चीन की जनसख्या 117 करोड़ थी)। भारत में वर्तमान में जब जनसख्या वृद्धि दर 2.1 प्रतिशत है, चीन में 1 2 प्रतिशत है। अत जब चीन में जनसख्या दुगनी होने में 60 वर्ष लगेंगे, भारत में 34 वर्ष ही लगेंगे।
- प्रजनन अवधि (reproductive period) को पार करने वाले दम्पत्तियों से हर वर्ष तीन गुना अधिक दम्पत्ति उसमें प्रवेश करते हैं और इस कम आयु के समूह की जनन क्षमता (fertility) की दर उन लोगों की जनन-क्षमता, जो प्रजनन क्षेत्र को छोड़ रहे हैं, से तीन गुनी अधिक होती है।
- वृद्धि की वर्तमान दर से अधिकाश भारतीयों का जीवन 30-40 वर्ष उपरान्त असहनीय हो जायेगा-चिकित्सा सुविधाओं को उपलब्ध कराना अति कठिन हो जायेगा, शिक्षा, मकान आदि का खर्चा अत्यधिक हो जायेगा, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा विशिष्ट व्यक्तियों का अनन्य परमाधिकार (exclusive prerogative) बन जायेगा, और खाद्यान्नों की कमी राष्ट्र के तीन पचमाश (three fifths) भाग को निर्धनता रेखा के नीचे ढकेल देगी।

भारत की जनसख्या को इस शताब्दी के अन्त तक 95 करोड पर सीमित करने के लक्ष्य की प्राप्ति असभव हो गई है। आकडों से हम कितनी भी बाज़ीगरी करलें, विशेषकर दम्पतियों की गर्भनिरोधक वस्तुओं के प्रयोग पर सहमति के संबध में, परन्तु हम इस कटु यथार्थ को नही नकार सकते कि जब हम अगली शताब्दी में प्रवेश करेंगे तो हम 100 और 101 करोड के बीच

कहीं होंगे।

जनसंख्या की वृद्धि के कारण (Causes of Population Growth)

जनसंख्या विस्फोट के निम्नांकित महत्वपूर्ण कारण हैं.

जन्म और मृत्यु की दरों में बढ़ती हुई दरार (Widening Gap between Birth and Death Rates)

भारत में जन्म दर मृत्यु-दर से बहुत अधिक है। जन्म दर की औसत वार्षिक दर 1961-71 के दौरान 41.2 प्रति हजार से घट कर 1971-81 में 37.2 प्रति हजार हो गई। 1991 में जन्मदर में और गिरावट आई। 1989 में प्रति हजार 30.5 की तुलना में 1991 में वह 29.9 प्रति हज़ार थी (हिन्दुस्तान टाइम्स, सितम्बर 22, 1992)। मृत्यु दर में भी समान कमी आई है। 1961-71 के अन्तराल में 19.2 प्रति हज़ार से कम होकर 1971-81 के दशक में वह 15.0 प्रति हज़ार हो गई। मृत्यु दर 1988 में 11.0 की तुलना में 1991 में 9.2 प्रति हज़ार प्रति वर्ष थी (हिन्दुस्तान टाइम्स, नवम्बर 1, 1992)। 1991 की जनगणना के अनुसार 1991-96 की अवधि में जन्म दर में संभावित गिरावट 27.5 और मृत्यु दर में 8.7 होने की आशा है। इस प्रकार क्यों कि जन्म दर ने सीमांत कमी दिखाई है और मृत्यु दर कुछ तेजी से नीचे गई है, अत: इसलिये इस बढ़ती हुई दरार ने हमारी जनसंख्या को तीव्रता से बढ़ाया है।

पिछले तेरह वर्षों में परिवार का औसत आकार 4.2 बच्चों पर ठहरा हुआ है। यदि हम एक वर्ष में देश में जन्म लेने वालों की संख्या (1.7 करोड़) में गर्भपात की वार्षिक संख्या (50 और 60 लाख के बीच) को जोड़ दें, तो हम दहशत पैदा करने वाले निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि इस परिवार नियोजन के युग में 14-45 वर्षों के प्रजनन आयु-समूह में किसी भी समय पांच भारतीय स्त्रियों में से एक गर्भवती होती है।

जन्म-दर और मृत्यु-दर का रहन-सहन के स्तर से गहरा सम्बन्ध है। जैसे-जैसे जीविका-स्तर ऊंचा होता जाता है मृत्यु-दर तो कम होता ही है, पर जन्म-दर में भी तीव्र कमी होती है। यह ही कारण है कि जन्म-दर व जनसंख्या वृद्धि में कमी के लिए देश के आर्थिक व सामाजिक विकास पर अधिक बल दिया जाता है। भारत में पिछले 45 वर्षों में विकास अवश्य हुआ है। आज़ादी के पूर्व उत्पादन विकास दर जब केवल 1.0 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, वर्तमान में यह 3.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष है। जब जनसंख्या की वृद्धि 2.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष है, तब उत्पादन विकास दर अच्छा ही जायेगी। परन्तु विकास का लाभ अमीरों को अधिक और ग़रीबों को कम मिला है। हमारी अधिक जनसंख्या क्योंकि निर्धन है, अत: जन्म-दर अब भी बहुत अधिक है जिस कारण जनसंख्या में वृद्धि निरन्तर बनी रही है।

विवाह के समय कम आयु (Low age at marriage)

हमारे देश में बाल विवाह सामान्य हैं। 1931 की जनगणना के अनुसार भारत में 72 प्रतिशत

विवाह 15 वर्ष की आयु के पहले और 34 प्रतिशत दस वर्ष की आयु के पहले हुए । तब से स्त्रियों और पुरुषों दोनों के विवाह की औसत आयु बराबर बढी है । स्त्रियों के विवाह की औसत आयु 1901 में 13.1 से बढकर 1911 में 13.2, 1921 में 13 1, 1931 में 13 7, 1941 में 14.7, 1951 में 15 6, 1961 में 16.1, 1971 में 17.2 और 1981 में 17.6 थी । 1994 में यह आयु औसत 18.1 मानी जा रही है । इसके सामने पुरुषों के विवाह की औसत आयु 1901 में 20 0 से बढ़कर 1921 में 20.7, 1951 में 19 9, 1961 में 21 4, 1971 में 22 2 और 1981 में 22.6 थी (हैन्डबुक आन सोशल वेल्फेअर स्टटिस्टिक्स, 1981 50) । 1994 में यह औसत 23 1 आंकी जा रही है । इस प्रकार यद्यपि विवाह की औसत आयु निरन्तर बढ रही है फिर भी आज कई लडकियाँ ऐसी आयु में विवाह करती हैं जब कि वे सामाजिक, भावात्मक, शारीरिक और कालानुक्रम रूप से विवाह के योग्य नही होती । उपर्युक्त चारों दृष्टिकोणों से समाजशास्त्रीय दृष्टि से लडकी की सही आयु 21-23 वर्ष और लडके के लिए 24-26 वर्ष मानी जाती है । शिशु मृत्यु दर का सीधा सबध विवाह के समय स्त्रियों की आयु से है । यदि हम विवाह के समय स्त्रियों को आयु के हिसाब से तीन समूहों में विभाजित करें अर्थात 18 से कम, 18-20 और 21 और उसके ऊपर, तो हम पायेंगे कि ग्रामीण क्षेत्रों में (1978 में) इन तीनों समूहों में प्रत्येक में शिशु मृत्यु दर क्रमश 141, 112 और 85 थी और शहरी क्षेत्रों में यह क्रमश 78, 66 और 46 थी (सोशल वेलफेअर स्टटिस्टिक्स, 1981 50) । यदि हम जनन-क्षमता (fertility) की दरों का आयु-समूहों से मिलान करें तो हम पायेंगे कि जैसे-जैसे आयु-समूह (age group) बढता है, वैसे-वैसे जनन-क्षमता की दर कम होती जाती है । यदि जनसख्या की वृद्धि को कम करना है तो स्त्रियों के विवाहों को 18-21 आयु-समूह की अपेक्षा 21-24 के आयु-समूह में ज्यादा अच्छा समझा जाना चाहिये ।

भारत में प्रख्यात जनांकिकी के विशेषज्ञ श्री अशीश बोस का भी कहना है कि "हम गर्भनिरोधक प्रौद्योगिकी (contraceptive technology) की, धन सम्बन्धी प्रोत्साहन की, वन्ध्यकरण (sterilisation) सख्या की, परिवार नियोजन के लक्ष्यों को बात न करें, इसके स्थान पर समस्या के मानवीय आयामों पर बल दें । इस सम्बन्ध में विवाह की आयु प्रमुख हैं । 14-18 वर्ष की किशोर लड़कियों के लिए निपुणता-निर्माण (skill formation) और आय-उत्पादन (income generation) के प्रोग्राम विवाह की आयु को ऊंचा उठाने में अधिक सहायक होगा" (हिन्दुस्तान टाइम्स, नवम्बर 1, 1992) ।

घोर निरक्षरता (*High Illiteracy*)

परिवार नियोजन का स्त्रियों की शिक्षा से सीधा सबध है और स्त्रियों की शिक्षा का सीधा संबध है विवाह के समय आयु से, स्त्रियों की आम प्रतिष्ठा से, उनके जनन-क्षमता के आचरण (fertility behaviour) से, और शिशु मृत्यु-दर आदि से । 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में कुल साक्षरता प्रतिशतता दस वर्ष पहले 43.56 की तुलना में अब 52 11 है । पुरुषों की साक्षरता प्रतिशतता 63 86 है जब कि स्त्रियों की 39 42 है (हिन्दुस्तान टाइम्स 26 मार्च,

1991) । शिक्षा एक व्यक्ति को उदार,नये विचारों को ग्रहण करने वाला और तार्किक बनाती है । यदि स्त्री और पुरुष दोनों शिक्षित हैं तो वे परिवार नियोजन के तर्क को आसानी से समझ लेंगे,परन्तु यदि उनमें से एक या दोनों निरक्षर हैं तो वे अधिक रूढ़ीवादी,अतार्किक और धार्मिक विचारों के होंगे । यह बात इस से स्पष्ट हो जाती है कि केरल जहा (1991 में) कुल साक्षरता दर 90.59 प्रतिशत थी और स्त्रियों की साक्षरता दर 86.93 प्रतिशत थी,वहां जन्म दर सबसे कम (22.4 प्रति हजार) है जब कि राजस्थान में जहां स्त्रियों की साक्षरता दर (1991 में) बहुत ही कम (20.84%) है,वहा देश में तीसरी सबसे अधिक जन्मदर (36.4%) है । सबसे अधिक यह उत्तरप्रदेश में (37.5%) है और उसके बाद मध्यप्रदेश (37.1%) आता है । ये सांख्यिकीय आकडे दूसरे अधिकाश राज्यों पर भी लागू होते हैं ।

परिवार नियोजन के प्रति धार्मिक विचार (Religious attitude Towards Family Planning)

जो व्यक्ति धर्म के मामले में परम्परागत और रूढ़ीवादी विचार रखते हैं वे परिवार नियोजन के उपायों के उपयोग के विरुद्ध होते हैं । ऐसी स्त्रिया देखने को मिलती हैं जो परिवार नियोजन की इसलिये पक्षधर नहीं हैं कि वे भगवान की इच्छाओं के विरुद्ध नहीं जा सकतीं । ऐसी भी कुछ स्त्रिया हैं जो यह दलील देती हैं कि स्त्री के जीवन का उद्देश्य बच्चों को जन्म देना है । दूसरी स्त्रियां निष्क्रिय रुख अपनाती हैं: "यदि मेरे भाग्य में अधिक बच्चे लिखे हैं,तो वे होंगे । यदि नहीं,तो नहीं होंगे । मुझे क्यों इसकी चिन्ता करनी चाहिये ?"

भारतीय मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा जन्मदर अधिक है । 1978 में आपरेशन्स रिसर्च ग्रुप दिल्ली के द्वारा मुसलमानों में किये गये सर्वेक्षण के अनुसार यद्यपि पुरुष और स्त्री दोनों प्रत्यार्थियों को परिवार नियोजन के तरीकों के बारे में जानकारी थी,परन्तु या तो वे धार्मिक कारणों की वजह से उनके उपयोग के विरुद्ध थे या उनको इनके बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं थी ।

अपर्याप्त प्रेरणा (Inadequate Motivation)

उच्च वर्ग के लिए बड़े परिवार का होना कोई समस्या नहीं है और निम्न वर्ग के लिए भी कमाने वाले व्यक्तियों के अधिक होने से बड़े आकार का परिवार लाभदायक ही होता है । इस कारण निम्न वर्ग का परिवार,परिवार नियोजन के प्रोग्राम सम्बन्धी नारे को कोई महत्व नहीं देता । इनकी प्रेरणा के लिए इनकी आर्थिक उन्नति आवश्यक है जो उनके विचारधारा को बदलेगी और यह तथ्य स्वीकार करायेगी कि बच्चों की शिक्षा व रहन-सहन का उच्च स्तर ही इनके भविष्य को सुधारेगा । नि शुल्क प्राथमिक शिक्षा,विशेष कर लड़कियों के लिए,प्राथमिक स्वास्थ्य देखरेख,तथा नये व्यवसाय अपनाने के लिए प्रशिक्षण जैसे कार्यक्रम ही उनको छोटे परिवार के लिए प्रेरित करने के सही साधन होंगे ।

दूसरे कारण (Other Causes)

जनसंख्या में वृद्धि के जिम्मेवार कुछ और कारण भी हैं: संयुक्त परिवार प्रणाली और इन परिवारों में बच्चों को पालने की युवा दम्पत्तियों में जिम्मेवारी का अभाव, मनोरंजन की सुविधाओं का अभाव, और वासक्टामी (vasectomy), ट्यूबकटमी (tubectomy) और लूप के दुष्प्रभावों के बारे में जानकारी का अभाव या गलत जानकारी। वासक्टामी के प्रति पुरुषों में बहुत सी भ्रान्तियां हैं। उनके अनुसार उससे कामवासना में क्षति, नपुंसकता, कमजोरी तथा शक्ति व ताकत की कमी उत्पन्न होती है। यह सब विचार निराधार हैं। वास्तव में यह गर्भरोध की सरल, सस्ती, शीघ्रगामी और सर्वाधिक प्रभावशाली पद्धति है। पूरी जानकारी न होने के कारण पुरुष अपनी पत्नी को बन्ध्यकरण के लिए मनाता है। भारत में शल्यचिकित्सीय गर्भरोध (surgical contraception) पद्धतियों के प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में 80 प्रतिशत बंध्याकरण पद्धति को ही अपनाते हैं। 1960 के दशक में भारत में वासक्टामी लोकप्रिय हुई थी। 1965-74 के मध्य लगभग 55 लाख वासक्टामी सचालित की गयी थी। परन्तु अब वर्ष में कुल आपरेशन में से 5-10 प्रतिशत ही वासक्टामियाँ होती हैं। अत. यह आवश्यक है कि टी.वी., रेडियो, समाचार-पत्रों आदि द्वारा पुरुषों को सही तथ्य पहुंचाकर शिक्षित किया जाये।

कई ग़रीब स्त्रियां अधिक बच्चे पैदा करती हैं इसलिये नही कि उन्हें ज्ञान नही है, परन्तु इसलिये कि उन्हें इनकी आवश्यकता होती है। यह इस बात से स्पष्ट है कि हमारे देश में लगभग चार-पांच करोड़ बाल-मजदूर हैं। इस पुस्तक के आठवें अध्याय में (बाल दुरुपयोग और बाल श्रमिक) यह बतलाया गया है कि तमिलनाडू के अकेले शिवकाशी जिले में माचिस और पटाखे के उद्योगों में लगभग 75,000 बाल-मज़दूर काम कर रहे हैं। इनमें से लगभग 45,000 पन्द्रह वर्ष की आयु से कम हैं और लगभग 10,000 दस वर्ष से कम। दूसरे राज्यों में भी सख्या इतनी ही बड़ी है। यदि परिवार इन बच्चों को काम करने से रोकदें तो उनकी पारिवारिक आय समाप्त हो जाये।

जनसख्या विस्फोट के परिणाम (Effects of Population Explosion)

जनसंख्या के विकास का व्यक्तियों के जीवन-स्तर से सीधा सबंध है। यही कारण है कि स्वतंत्रता के पश्चात कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में अपूर्व प्रगति के उपरान्त भी हमारी प्रति व्यक्ति आय पर्याप्त मात्रा में नही बढ़ी है। हमारे नगरों में विस्मित कर देने वाली भीड़-भाड़ (appalling overcrowding) ने परिवहन, बिजली और दूसरी सेवाओं को वस्तुतः ध्वस्त कर दिया है। हमारे नगरों की जनसख्या कैन्सर के समान बढ रही है, उस पर कोई रोक नहीं है और गदी बस्तियां में भी बढोतरी हो रही है। इससे शहरी और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में अपराध और झगडे बढ़े हैं। यह सब हमारे देश में 1 7 करोड व्यक्तियों के प्रतिवर्ष बढ जाने का परिणाम है। यदि इसी दर से जनसख्या बढती रही तो कुछ ही दशकों में हमारे पास बेरोज़गारों, भूखे और

निराश व्यक्तियों की एक फौज खड़ी हो जायेगी जो कि देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों और संस्थाओं की जड़ों को हिला देगी। सभी क्षेत्रीय मार्गों का एक संख्यात्मक आयाम होता है। चाहे वो शिक्षा हो या नियोजन, स्वास्थ्य, आवास, पानी की सप्लाई हो या और कोई क्षेत्र हो, चिरस्थायी प्रश्न यह है कि कितनों के लिये ? आज की 89 करोड़ (1994 में) जनसंख्या के लिये यह सोचना ही निरर्थक है कि 2000 ई. तक सब के लिये नौकरियां या आवास या स्वास्थ्य-सुरक्षा कार्यक्रम उपलब्ध करा दिये जायेंगे और विशेषकर उस (यानि 2000) समय तक जब 12 करोड़ व्यक्ति और बढ़ जायेंगे और उन्हें भी समायोजित करना पड़ेगा।

यह अनुमान लगाया गया है कि हमारे देश में लगभग 1.35 करोड़ व्यक्तियों की बढ़ोतरी पर हमें 1.35 लाख प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूल, 10,000 उच्च माध्यमिक स्कूल, प्राथमिक स्कूल और माध्यमिक स्कूलों के लिये 5 लाख अध्यापक, उच्च माध्यमिक स्कूलों के लिये 1.5 लाख अध्यापक, 4000 अस्पताल और डिस्पेंसरियां, 1500 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, दो लाख अस्पताल के पलंग, 50,000 डॉक्टर, 25,000 नर्सें, 20 लाख टन अनाज, 25,000 मीटर कपड़ा और 27 लाख मकान की आवश्यकता होगी (इंडिया टुडे, 16-30 सितंबर, 1979:53)।

ये आंकड़े क्या भविष्यवाणी करते हैं ? भारत की इक्कीसवीं शताब्दी में बड़ी छलांग लगाने के लिये उल्टी गणना आरंभ हो गई है। सत्तर के दशक के आरंभ में प्रकाश और आशा थी। फिर अस्सी के दशक में बाइबल जैसे उलटाव (biblical reversal) से अंधकार आया, जनसंख्या विस्फोट, आतंकवाद और अलगाववाद ने ज़ोर पकड़ा। अस्सी का दशक जब लड़खड़ा कर समाप्त हुआ और नब्बे के दशक में प्रवेश कर तीन-चार वर्षों में तो सब मामलों ने धरातल को छू लिया है। नब्बे के दशक के शेष छः वर्षों में हमारे यहां क्या होने वाला है ? हमारे देश को या तो विश्व की बहुत अधिक प्रतियोगी अर्थव्यवस्था से समझौता करना पड़ेगा और या असफलता का मुंह देखना पड़ेगा। नब्बे के दशक के पहले साढ़े तीन वर्ष समाप्त होने के उपरान्त अब भारत को ऐसा नेता चाहिए जो पुनःसंरचना (restructuring) और खुलेपन (opening up) को चुने और अपने देश को बचाने का प्रयास करे। हमें ऐसे नेता की आवश्यकता है जो कि निर्भीक हो और जनसंख्या विस्फोट के मामले का गंभीरता से सामना कर सके। यदि हमें ऐसा नेता नहीं मिलता तो हमारा भविष्य अंधकारमय होगा।

जनसंख्या नीति (Population Policy)

'नीति' एक कार्य योजना है, लक्ष्यों और आदर्शों का विवरण है, विशेषतौर पर वह जो एक सरकार या राजनीतिक दल आदि बनाती है। "यह वर्तमान और भविष्य के निर्णयों का पथ प्रदर्शन करती है।" "जनसंख्या नीति" अतिसीमित अर्थ में यू.एन.ओ. (1973:632) के अनुसार "जनसंख्या के आकार, संरचना, वितरण और विशेषताओं को प्रभावित करने का एक प्रयत्न है"। अधिक व्यापक दायरे में "वह उन आर्थिक और सामाजिक स्थितियों, जिनके जनांकिकी (demographic) परिणाम होने की संभावना होती है, को नियंत्रित करने के

प्रयत्नों को सम्मिलित करती है" । डोरोथी नोर्टमेन (1975 20) ने सीमित अर्थ को 'अप्रत्यक्ष नीति' कहा है जो कि जनसंख्या की विशेषताओं पर सीधा प्रभाव डालती है और व्यापक अर्थ को 'अप्रत्यक्ष नीति' कहा है जो कि विशेषताओं को परोक्ष रूप से प्रभावित करती है और कभी कभी तो उसके उद्देश्य भी स्पष्ट नहीं होते ।

कोई भी सार्वजनिक नीति, जिसमें जनसख्या नीति भी आती है, भविष्य की ओर एक कदम है और इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये एक प्रयास है । इसलिये इसके निर्धारण में लक्ष्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये विगत और वर्तमान प्रवृत्तियों को महत्व देना होगा । इसके अलावा उन सामाजिक परिस्थितियों को भी जो इन प्रवृत्तियों को दिशा और तीव्रता प्रदान करती हैं, तथा संभावित भविष्य की रूप-रेखाओं (projections) और इच्छित लक्ष्यों पर पहुचने में उन विकल्पों को भी ध्यान देना होगा जिनकी प्राप्ति की भी सभावना है । इसका अर्थ यह होता है कि नीति (जनसख्या) को सहभागियों, मूल्यों या लक्ष्यों, सस्थाओं और ससाधनों से सम्बद्ध किया जाना चाहिये ।

हम दो तरह की जनसख्या नीतियों का सुझाव दे सकते हैं. (अ) प्रसव-विरोधी (anti-natal) नीति जिसका उद्देश्य जनसख्या की वृद्धि को कम करना है, और (ब) वितरण संबंधी (distributional) नीति जो जनसख्या के वितरण सबधी असतुलनों का विवेचन करती है । नेशनल एकेडमी आफ साइन्सेज के अनुसार जनसख्या नीति वह है (अ) जो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार जनांकिकी प्रक्रिया पर प्रभाव डालती है (उदाहरणार्थ, व्यक्तियों को नगरों से उपनगरों में बसने के लिये प्रेरित करना), और (ब) जो उन मार्गों पर जो जनांकिकी प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती हैं, विचार करती हैं (उदाहरणार्थ, व्यक्तियों को उपनगरों में मूल सुविधाए उपलब्ध कराना) ।

भारत जैसे विकासशील देश की जनसख्या नीति को ये लक्ष्य बनाने पड़ेंगे (i) सख्या को घटाना, (ii) जनता में जागरूकता उत्पन्न करना, (iii) आवश्यक गर्भनिरोधक वस्तुओं को प्राप्त करना, (iv) कानून बनाना जैसे गर्भपात को वैध करवाना, और (v) प्रोत्साहन (incentives) और निरुत्साहन (disincentives) देना । दूसरी ओर, उसके ये भी लक्ष्य होने चाहिये. (अ) घनी आबादी वाले क्षेत्रों में व्यक्तियों के केन्द्रीकरण पर रोक लगाना, (ब) नये क्षेत्रों में लोगों को कारगर ढंग से बसाने के लिये सार्वजनिक सेवाए और सुविधाए उपलब्ध कराना, और (स) कार्यालयों को कम आबादी वाले क्षेत्रों में ले जाना ।

एक बार जनसख्या नीति की आवश्यकता समझ ली जाती है तो फिर उसको बनाना पड़ेगा । इसको बनाने के लिये विशेषज्ञों की समितियों और आयोगों का गठन किया जायेगा जिनमें वे एक दूसरे से विचार-विमर्श करके, सलाह लेकर और अध्ययन करके नीति तैयार करेंगे । फिर वह विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा कार्यान्वित की जायेगी और उसके बाद उसका समय-समय पर मूल्यांकन किया जायेगा ।

भारत की जनसख्या नीति निम्नांकित बातों को ध्यान में रख कर बनाई गई है· (अ)

जनसख्या का पूर्ण आकार,(ब) विकास की ऊंची दर, और (स) जनसंख्या का ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में अनियमित वितरण। चूंकि हमारी नीति का लक्ष्य था 'जीवन को गुणात्मक रूप से ऊपर उठाना' और 'व्यक्ति की सुख-शान्ति को बढ़ाना', इसलिये वह व्यक्तियों की व्यक्तिगत सिद्धि और सामाजिक प्रगति के प्राप्ति के बड़े उद्देश्य को प्राप्त करने की एक साधन बन गई। आरम्भ में 1952 में बनाई गई नीति तदर्थ, लचीली और प्रयास एवं भूल पद्धति (trial and error approach) पर आधारित थी। धीरे धीरे उसमें अधिक वैज्ञानिक योजना का समावेश हुआ। राष्ट्रीय योजना समिति (National Planning Committee) (जिसे 1938 में इन्डियन नेशनल कांग्रेस ने नियुक्त किया) ने 1940 में डॉ. राधाकमल मुखर्जी की अध्यक्षता में जनसंख्या पर जिस उपसमिति को निर्मित किया उसने आत्मसंयम, संतति-नि॰ (birth control) के लिये सस्ते और निरापद तरीकों की जानकारी फैलाने और संतति-निग्रह चिकित्सालयों को खोलने पर बल दिया। उसने विवाह की आयु बढाने, बहु-विवाह को रोकने, आनुवांशिक रोगों से ग्रसित व्यक्तियों को वन्ध्य (sterilize) करने के लिये एक सुजननिक (eugenic) कार्यक्रम बनाने की अनुशंसा भी की। 1943 में सरकार द्वारा नियुक्त भोर कमेटी ने आत्मनियंत्रण के तरीके की निन्दा की और 'परिवारों की संकल्पित परिसीमन' (deliberate limitation) का समर्थन किया। स्वतंत्रता के पश्चात 1952 में एक जनसंख्या नीति समिति का और 1953 में एक परिवार नियोजन शोध और परियोजना समिति का गठन किया गया। 1956 में केन्द्रीय परिवार नियोजन बोर्ड स्थापित किया गया जिसने बाध्याकरण (sterilization) पर बल दिया। साठ के दशक में जनसंख्या के विकास को यथोचित समय में स्थिर करने के लिये एक अधिक सशक्त परिवार नियोजन कार्यक्रम की वकालत की गई। आरम्भ में सरकार का विश्वास था कि लोगों में परिवार नियोजन कार्यक्रम के प्रति काफी उत्साह है और सरकार को गर्भनिरोध की केवल सुविधाएं ही उपलब्ध करवानी हैं परन्तु बाद में यह आभास हुआ कि लोगों में प्रेरणा की आवश्यकता है और जनता को इस बारे में शिक्षित करना पड़ेगा। चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) का प्रमुख उद्देश्य वार्षिक जन्मदर को 1974 के वर्ष तक घटा कर 32 प्रति हज़ार करना था और उसमें परिवार नियोजन को ऊंची प्राथमिकता दी गई। 1971 में 'मेडिकल टर्मिनेशन आफ प्रेगनेन्सी एक्ट' बनाया गया। पांचवीं पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन कार्यक्रम का मां और शिशु स्वास्थ्य कार्यक्रमों के साथ एकीकरण किया गया। 1976 में भारत सरकार ने जनसंख्या नीति की घोषणा की जिसका लोकसभा ने अनुमोदन किया। उसके अनुसार छटी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक जन्मदर को घटाकर 25 प्रति हज़ार करना था। तथापि, आपातकाल के समय लोगों को नसबंदी करने के लिये जबरदस्ती भी की गई जिससे परिवार नियोजन कार्यक्रम को धक्का लगा। 1980 के बाद से सरकार इस कार्यक्रम को चलाने में अधिक सावधानी बरत रही है।

परिवार नियोजन (Family Planning)

भारत पहला देश था जिसने 1950 के दशक में सरकार के सहारे से चलाये जाने वाला परिवार

नियोजन कार्यक्रम तैयार किया जब कि विश्व के शेष भाग इस समस्या से अपरिचित थे। फिर भी आज 44 वर्ष पश्चात भारत जनसंख्या नियंत्रण में पीछे चल रहा है। 1975 और 1977 के बीच कुख्यात आपातकालीन शासनकाल में, राजनीतिक नेता और उनके कई अतरंग मित्र, सरकारी अधिकारीगण और पुलिस के सिपाही चिल्ला चिल्ला कर नसबंदी की वकालत कर रहे थे। उन्होंने महत्वाकांक्षी कार्यक्रम बनाये और जनता की इच्छा के विरुद्ध उनको कार्यान्वित किया और नसबंदी के लिये इतने सख्त और बाध्य करने वाले तरीके अपनाये कि आज कोई जनता से परिवार नियोजन के बारे में बात करने को राजी नहीं होता। संबंधित अधिकारी उससे कतराते हैं। विशेषज्ञों ने लक्ष्य प्राप्त करने की आशा को धूमिल कर दिया है। वास्तव में देश के पास कोई प्रभावी कार्यक्रम अथवा प्रभावी लक्ष्य नहीं है। राजनीतिक दल इस विषय से सावधानी से किनारा काटते हैं और इस विषय में एक शब्द भी बोले बगैर चुनाव अभियान चलाये जाते हैं। इस प्रकार जो कभी बहुत ही प्रभावशाली राजनीतिक मामला था वह एकाएक गौण हो गया।

1977 में 'परिवार नियोजन' का नाम बदल कर 'परिवार कल्याण' कर दिया गया और ऐसे कार्य जो उसके सामर्थ्य के बाहर थे, जैसे परिवार कल्याण के समूचे पहलू जिसमें महिलाओं के शैक्षिक स्तर में सुधार भी सम्मिलित था, इसमें सम्मिलित कर दिये गये। परिवार नियोजन में भारत ने यू.एन.एफ.पी. के नियम को अपनाया जिसके अनुसार पहले बच्चे में देरी और आगे वाले बच्चे में अन्तराल करना होता है।

परिवार नियोजन में जो तरीके अपनाये जाते हैं वे हैं नसबंदी (sterilization), वासक्टमी (vasectomy), गोलिया, विदड्रोअल (withdrawal), रिदम (rhythm), शीद (sheath) और डायफ्राम (diaphragm)। गोलिया ऊंचे सामाजिक-आर्थिक समूहों में सर्वाधिक लोकप्रिय है, विदड्रोअल और शीद मध्यम सामाजिक-आर्थिक समूहों में और बन्ध्यीकरण निम्न सामाजिक वर्ग में ज्यादा पसन्द किया जाता है। परिवार नियोजन के लिये आपरेशन सामाजिक दृष्टिकोण से समृद्ध व्यक्तियों में अधिक लोकप्रिय नहीं है क्योंकि यह समूह संतति-निग्रह (birth control) के दूसरे तरीकों से अधिक प्रभावित है। स्त्रियों की बडी संख्या एक से अधिक तरीकों का इस्तेमाल करती है और यह परिस्थितियों, उपलब्धता और समय की मनःस्थिति पर निर्भर करता है।

अपनाये गये उपाय (Measures Adopted)

सरकार ने 1951 में परिवार नियोजन चिकित्सालयों की स्थापना की और पहली पंचवर्षीय योजना के काल (1951-56) में 147 चिकित्सालय स्थापित किये। दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61) में 1949 चिकित्सालय और जोडे गये। इसकी लागत पहली योजना के 15 लाख रुपये से बढ़कर दूसरी में 21.6 करोड़ रुपये और सातवी योजना में 3,250 करोड़ रुपये हो गई।

परिवार नियोजन के विभिन्न तरीकों में से सरकार 'कैम्प उपागम' (camp approach) पर अधिक निर्भर रहती है जिसमें ज़िला अधिकारियों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपने नीचे

के अधिकारियों पर बंध्याकरण अभियान (अधिकांशतया पुरुषों की नसबदी) को तेज करने के लिये दबाव डालें। सरकार विभिन्न राज्यों और जिलों के लिये लक्ष्य निर्धारित करती है और उन्हें प्राप्त करने के लिये प्रेरक करने वाले, वित्तीय और दमनकारी उपायों को काम में लेती है। लक्ष्य प्राप्ति की सबसे ऊची दर (190.9%) 1976-77 में रही जब बंध्याकरण कार्यक्रम को आपातकाल के दौरान बडी निष्ठुरता और निर्दयता से कार्यान्वित किया गया। विभिन्न वर्षों में बध्याकरण के लक्ष्यों की उपलब्धि-दर 40 प्रतिशत और 65.0 प्रतिशत के बीच घटती-बढती रही है। 1976-77 में उपलब्धि निष्पादन की सबसे ऊंची दर को 'संजय परिणाम' (Sanjay Effect) कहा जाता है जो कि दमनकारी, निर्दयता, भ्रष्टाचार और उपलब्धि के बढाये गये आंकड़ों के कारण था। सजय गाधी ने आई.यू.डी. (लूप) तरीके और परम्परागत गर्भनिरोध (कान्डोम) के तरीके से ज्यादा बध्याकरण के तरीके पर बल दिया। संजय गांधी (अध्यक्ष, भारतीय युवा कांग्रेस) के तरीकों की निर्दयता और क्रूरता के सबसे बुरे शिकार हरिजन, चपरासी, क्लर्क, स्कूल अध्यापक, निर्दोष ग्रामीण, अस्पताल के मरीज़, जेल के कैदी, और फुटपाथ पर रह रहे लोग हुए। परिवार नियोजन के तरीकों (वन्ध्यीकरण) के द्वारा की गई क्रूरता के कारण अन्ततोगत्वा इन्दिरा गाधी की सरकार 1977 में गिर गई।

गावों में स्थापित प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र भी परिवार नियोजन कार्यक्रमों में लगे हुए हैं। वे दो विशेष कार्य करते हैं व्यक्तियों को सेवाएं उपलब्ध कराना और इन सेवाओं के बारे में प्रभावी ढग से प्रचार करना जिससे व्यक्तियों को परिवार नियोजन को स्वीकार करने की प्रेरणा मिले। 1992 में लगभग 22,000 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, लगभग 1.31 लाख उप-केन्द्र और 2,297 समुदाय स्वास्थ्य केन्द्र थे। लगभग पांच लाख चिकित्सक और अर्द्ध-चिकित्सक और 6 लाख प्रशिक्षित दाई इसमें लगे हुए थे। इसके अतिरिक्त लगभग पांच लाख अंशकालिक ग्रामीण स्वास्थ्य गाइड भी थे।

अर्जित प्रगति (Progress Achieved)

पहली पचवर्षीय योजना के पश्चात बाद की पचवर्षीय योजनाओं ने परिवार नियोजन कार्यक्रम को अधिक से अधिक प्राथमिकता दी, परन्तु 1968-69 में ही जन्मदर में उल्लेखनीय कमी हुई। जन्मदर जो 1961 में 41 7 प्रति हजार थी, वह 1969 में गिरकर 39 हो गई। चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) का लक्ष्य 1972-73 तक जन्मदर को घटा कर 32 प्रति हजार करना था। परन्तु लक्ष्य सात बिन्दुओं से पीछे रह गया। 1974 के अन्त में जन्मदर 38 प्रति हज़ार थी। *1981 में वह 37.2, 1986 में 32.5 और 1992 में 29.2 हो गई। जब 1941-51 के दशक के* दौरान प्रतिशत वृद्धि 13.3 थी वह 1951-61 में बढकर 21.5, 1961-71 में 24.8, 1971-81 में 24.6 और 1981-91 में 23.5 हो गई। लक्ष्यों की प्राप्ति लगभग सभी क्षेत्रों में अनर्थकारी रही। अब वन्ध्यीकरणों की संख्या कम हो गई है। आई.यू.डी. (लूप) के निरोधकों की संख्या भी घटी है; और परम्परागत गर्भनिरोधकों के उपयोग करने वाले भी कम हो गये हैं। आज यह प्रयत्न इस सीमा तक ढीला पड़ गया है कि डॉ. आशिष बोस, जो हमारे देश के एक प्रसिद्ध

जनांकिकिज्ञ (demographer) हैं, ने देहली में 8 फरवरी, 1991 को '1990 के दशक में भारतीय जनसंख्या' के अपने भाषण में कहा, "परिवार नियोजन कार्यक्रम हमारे देश में पूर्णरूप से असफल हो गया है और उसकी सफलता के लिये एक बिल्कुल नये उपागम की आवश्यकता है।"

1951 से 1981 तक परिवार नियोजन प्रोग्राम द्वारा हम ने 4 4 करोड बच्चों का तथा 1981 से 1991 तक 1.3 करोड बच्चों का जन्म रोक लिया है। मार्च 1993 तक कुल 15.5 करोड बच्चों का जन्म रोका गया हैं। इस प्रकार परिवार नियोजन प्रोग्राम के अभाव में वर्तमान वार्षिक वृद्धि 2.11 प्रतिशत के स्थान पर 2.71 प्रतिशत होती। (हिन्दुस्तान टाइम्स, जुलाई 11, 1994)।

जनसंख्या को नियन्त्रित करने में हमारी प्रगति अत्यधिक धीमी रही है। यह तब स्पष्ट हो जाता है जब हम इसकी तुलना चीन से करते हैं, जिसने सशक्त परिवार नियोजन कार्यक्रम के द्वारा 1970 से 20 करोड़ बच्चों के जन्म को टाल दिया और जननक्षम माताओं की जनन-क्षमता दर (fertility rate) को 5.82 से घटा कर 2.5 कर दिया (बच्चों की औसत सख्या जिन्हें एक स्त्री अपने बच्चों को 15 से 49 तक जन्म देने वाले वर्षों (child bearing age) में जन्म देगी) (हिन्दुस्तान टाइम्स, 19 नवम्बर, 1988)। चीन ने शहरी क्षेत्रों में एक बच्चा प्रति दम्पति और ग्रामीण क्षेत्रों में दो बच्चे प्रति दम्पति का मानदड अपनाया और नियोजित बच्चे और माता पिता को कई प्रोत्साहन दिये। जिन्होंने इन मानदडों का उल्लंघन किया उन्हें दडित किया गया। नियोजित बच्चे को 14 वर्ष की आयु तक उसकी शिक्षा एव पालन पोषण के लिये विशेष भत्ते दिये गये और दम्पत्ति को मकान बनाने के लिये या कार्य मशीनरी के लिये ज़मीन दी गई। चीन में इस कार्यक्रम का एक प्रमुख भाग देर से विवाह करने और देर से बच्चे पैदा करने को प्रोत्साहित करना है। 1988 में चीन की जनसंख्या 108 करोड थी (इसके स्थान पर भारत की 82 करोड़ थी) और जन्म दर 23 86 प्रति हज़ार (इसके स्थान पर भारत में 31.5 थी), मृत्युदर 7.1 प्रति हज़ार (इसके स्थान पर भारत में 11.0 थी), और राष्ट्रीय विकास 16 16 प्रति हजार था (इसके स्थान पर भारत में 20.5 था)।

परिवार नियोजन के प्रति अभिवृत्तिया (Attitudes Towards Family Planning)

सामान्य भारतीय स्त्री को परिवार नियोजन का विचार बेचा जा चुका है। परिवार नियोजन के प्रति स्त्री के रुख पर दूसरे कारकों के साथ-साथ शिक्षा, आयु, वेतन की पृष्ठभूमि, पति का व्यवसाय, स्त्री की नौकरी की परिस्थिति का भी प्रभाव पडता है। आयु की दृष्टि से यह पाया गया है कि परिवार नियोजन का अनुमोदन करने वालों का प्रतिशत अधिक आयु समूहों में कम होता है। परन्तु अधिक आयु समूहों में भी दो तिहाई इसका अनुमोदन करती हैं। इससे यह स्पष्ट रुप से प्रकट होता है कि आयु का ध्यान किये बग़ैर भारतीय स्त्रियों का एक बडा बहुमत परिवार नियोजन का अनुमोदन करता है। खन्ना और वर्गिस द्वारा परिवार नियोजन के प्रति भारतीय स्त्रियों के रुख पर किया गया एक सर्वेक्षण (इन्डियन विमेन टुडे, 1978) यह बतलाता है कि परिवार नियोजन का अनुमोदन नहीं करने वाली 15-24 के बीच की आयु की स्त्रियों की

प्रतिशतता 10.0 से कम थी। यह आंकड़ा आयु के साथ बढ़कर 45 वर्ष के ऊपर वाली स्त्रियों में 36 पर पहुंच गया। शोधकर्ताओं ने यह भी पाया कि जहां परम्परा से लगाव रखने वाली स्त्रियां अपने को 'भाग्य' पर छोड़ देती हैं, वहीं युवा, शिक्षित, और अधिक जानकार स्त्रियां परिवार के आकार में अत्यधिक दिलचस्पी दिखाती हैं।

इस लेखक ने भी 1981 में जयपुर ज़िले के सात गांवों का 'ग्रामीण स्त्रियों में अधिकारों के प्रति जागरूकता' पर एक सर्वेक्षण किया था। सर्वेक्षण के दौरान 753 विवाहित महिलाओं (18-50 वर्ष के आयु-समूह की) और 733 पुरुषों से परिवार नियोजन पर प्रश्न पूछे गये। इस प्रश्न पर कि एक दम्पत्ति के अधिकतर कितने बच्चे होने चाहिये, 7.0 प्रतिशत महिलाओं ने उत्तर दिया कि वे जितने चाहे उतने होने चाहिये, 63.5 प्रतिशत 2-3 बच्चों के पक्ष में, और 29.5 प्रतिशत 4-5 बच्चों के पक्ष में थीं। इसके विपरीत 60.9 प्रतिशत पुरुषों के विचार में एक दम्पति के 2-3 बच्चे होने चाहिये, 27.8 प्रतिशत 4-5 बच्चों के पक्षधर थे, और 11.3 प्रतिशत के अनुसार एक दम्पति के उनके चाहे अनुसार बच्चे होने चाहिये। इस प्रकार लगभग दो-तिहाई सूचनादाता केवल 2-3 बच्चों के पक्षधर थे।

इसके अतिरिक्त, 25 प्रतिशत महिला सूचनादाता परिवार नियोजन के किसी भी तरीके के उपयोग की समर्थक नहीं थीं, 45 प्रतिशत इसका पूर्णरूप से समर्थन करती थीं, और 30 प्रतिशत परिवार नियोजन के तरीकों का कुछ शर्तों के साथ समर्थन करती थीं। कुल 566 महिलाओं में से जो पूर्ण या आंशिक रूप से परिवार नियोजन की पक्षधर थीं, उनमें से 43.3 प्रतिशत अपने परिवार के आकार पर नियन्त्रण रखने के लिये वास्तव में कुछ तरीकों का प्रयोग कर रहीं थीं। शेष 321 स्त्रियों ने गर्भ निरोधक का प्रयोग नहीं करने के ये कारण बतलाये: उनके पति किसी भी उपाय के प्रयोग के लिये अनुमति नहीं देते (42.4%); वे एक या दो और बच्चे चाहती थीं (25.2%); बच्चे को जनने की उनकी आयु निकल चुकी (15.0%); आवश्यक गर्भ-निरोधक उनके गाँवों में उपलब्ध नहीं थे (6.5%); उन्हें गर्भनिरोधकों का प्रयोग करने का पर्याप्त ज्ञान नहीं था (10 0%); और वे लड़के चाहती थीं क्यों कि उनके केवल लड़कियां ही थीं (3.1%)।

यह भी पाया गया कि सूचनादाताओं (स्त्रियां) में से 9.4 प्रतिशत गर्भपात के पक्ष में थीं और 90.6 प्रतिशत उसके विरुद्ध थीं। 2.7 प्रतिशत ने तो गर्भपात करवाया भी था। यह सब बतलाता है कि महिलाएं अपनी जनन क्षमता पर नियन्त्रण रखना चाहती हैं और पुरुष भी अपने परिवारों को नियोजित करना चाहते हैं। यह भी आवश्यक है कि उन्हें चिकित्सा, अर्द्ध-चिकित्सा, सामाजिक और सामुदायिक संस्थाओं और कार्यकर्ताओं के द्वारा समय-समय पर आवश्यक सूचनाएं, प्रशिक्षण और साधन उपलब्ध कराये जाने चाहिये।

देवेन्द्र कोठारी ने राजस्थान में 1988 में किये गये सर्वेक्षण में पाया कि अध्ययन किये गये व्यक्तियों में से 88.1% परिवार नियोजन के पक्ष में थे और 11.9% विपक्ष में थे (फैमिली वैलफेयर प्रोग्राम इन राजस्थान, आइ.आइ.एम.एम.आर, जयपुर, 1989: 71)। राष्ट्रीय परिवार

स्वास्थ्य सर्वेक्षण के 1993 के निष्कर्षों के अनुसार राजस्थान में 13-49 आयु-समूह की वर्तमान में विवाहित महिलाओं में से 90 0% को परिवार नियोजन की कोई एक विधि ज्ञात थी, 76 2% को गर्भनिरोधक वस्तु पाने का साधन भी मालूम था, परन्तु केवल 31 8% ही वास्तव में किसी एक गर्भनिरोधक उपाय का प्रयोग कर रही थीं (देवेन्द्र कोठारी, मार्च, 1994)।

राव और इनबराज द्वारा 1970 में तमिलनाडू के वेलोर नगर और उसके आसपास के गावों में परिवार नियोजन के प्रति अभिवृत्तियों पर एक सर्वेक्षण किया गया। कुल 2,426 व्यक्तियों का साक्षात्कार इस उद्देश्य से किया गया कि क्या दम्पत्ति बच्चों की सख्या को नियन्त्रित करने में अपने को सक्षम समझते हैं। लगभग 37 प्रतिशत ने 'हा' में उत्तर दिया और 41 प्रतिशत ने 'ना' में (दि जर्नल आफ फेमिली वेल्फेयर जून 1970, 20-22) 1899 व्यक्तियों में से जो इसे संभव मानते थे, 46 6 प्रतिशत ने इसे परिवार नियोजन के उपायों से सभव माना, 37.5 प्रतिशत ने आत्मसयम द्वारा और 15.9 प्रतिशत ने किसी विशेष उपाय का उल्लेख नहीं किया। जब उनसे पूछा गया कि क्या वे परिवार नियोजन के पक्ष में हैं, 64 4 प्रतिशत ने 'हा' में और 25.4 ने 'ना' में उत्तर दिया। परिवार नियोजन के उपायों के विरोध में होने के कारण थे ये स्त्रियों के लिये हानिकारक है, ये परिवार की आर्थिक स्थिति और भगवान की इच्छा के विरुद्ध है, और यह अप्राकृतिक व्यवहार की परिधि में आता है। फिर भी तथ्य यह है कि दस व्यक्तियों में से सात परिवार नियोजन के पक्ष में हैं जिससे यह पता चलता है कि आज व्यक्ति अपनी मान्यताओं और मूल्यों में अधिक परम्परावादी नहीं है।

1965 में नेशनल इस्टीट्यूट आफ कम्युनिटी डेवलपमेन्ट ने 16 राज्यों के 365 गावों और 43 जिलों और 7,224 प्रत्यर्थियों का अध्ययन किया और यह पाया कि 51 6 प्रतिशत परिवार नियोजन का अनुमोदन करते हैं और 23 7 प्रतिशत उसका विरोध करते हैं (बालाकृष्ण और नारायन मूर्ती, दि जर्नल आफ फेमिली वेल्फेयर, दिसम्बर, 1966 42)।

खन्ना और वर्गिस के सर्वेक्षण ने यह बतलाया था कि परिवार नियोजन का समर्थन शिक्षा से संबंधित है। 40 प्रतिशत स्त्रिया जो प्राथमिक स्कूल शिक्षा या उससे नीचे की शिक्षा प्राप्त थीं, परिवार नियोजन का समर्थन नहीं करती थी। यदि शैक्षिक स्तर माध्यमिक स्कूल के स्तर तक भी बढ़ जाता है तो प्रतिशतता 14 तक गिर जाती है। यह बतलाता है कि शिक्षा परिवार नियोजन के प्रति रुख में बहुत भारी परिवर्तन लाती है। यदि किसी स्त्री को परिवार नियोजन के तरीकों की जानकारी नहीं होती है तो वह रूढ़ीवादी बनी रहती है और अंधविश्वासों और आशंकाओं में लिप्त रहती है।

अनौपचारिक शिक्षा भी परिवार नियोजन के उपायों के उपयोग पर प्रभाव डालती है। कई युवा स्त्रियां परिवार नियोजन के पक्ष में हैं परन्तु इसके बारे में कि यह कैसे अपनाया जाये, वे नहीं जानतीं। पति की निरक्षरता भी इसमें बाधा डालती है क्यों कि उन्हें परिवार को नियोजित करने की चिन्ता नहीं होती।

चूकि निरक्षरता हमारे समाज के अधिक दरिद्र समूहों में है इसलिये यह देखा जाता है कि

निचले स्तर की कम पढ़ी लिखी स्त्रियां परिवार नियोजन के तरीकों को मानने के लिये अनिच्छुक हैं। उनका तर्क यह होता है कि क्यों कि उनके पास पैसे का सहारा नहीं है इसलिये उनके बच्चों की कमाई ही उन्हें जीवित रहने की आशा प्रदान करती है। एक सामान्य भारतीय दम्पत्ति तीन बच्चों से कम से संतुष्ट नहीं होता। बार बार देश के विभिन्न भागों में हुए अध्ययन इसको सिद्ध करते हैं। कुछ वर्ष पूर्व स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय के तत्वाधान में एक ऊंचे पैमाने पर सर्वेक्षण किया गया और उसमें 32,000 सूचनादाता सम्मिलित हुए। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अधिकांश दम्पत्ति न केवल तीन या उससे अधिक बच्चे चाहते हैं, पर वे यह भी चाहते हैं कि उनमें से दो लडके हों (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 5 नवम्बर, 1987)।

1991 में परिवार नियोजन फाउन्डेशन, दिल्ली, कारनेल विश्वविद्यालय, अमरीका, और आपरेशनस् रीसर्च ग्रुप, दिल्ली ने "भारतीय किशोरों में जनसंख्या सम्बन्धी सामाजीकरण" पर एक सर्वेक्षण किया जिसमें नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल जाने वाले लड़कों और लड़कियों के अभिवृत्तियों का अध्ययन किया गया। उत्तरप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली से 22 ज़िलों से चुने गये 251 स्कूलों के 14-17 वर्ष आयु-समूह के 17,185 बच्चों से साक्षात्कार लिये गये थे। अधिकांश सूचनादाता परिवार में दो बच्चों के नियम के पक्ष में थे। 90 प्रतिशत सूचनादाता एक लड़का और एक लड़की के पक्ष में थे, तथा 73 प्रतिशत ने बच्चे के लिंग को कोई महत्व नहीं दिया। अधिकांश सूचनादाता लड़के और लड़की के लिए विवाह की आयु 22 वर्ष के कम सही नहीं मानते थे। यद्यपि सूचनादाताओं में से काफ़ी बच्चे किसी न किसी गर्भनिरोधक पद्धति की जानकारी रखते थे परन्तु उन्हें इसका स्पष्ट ज्ञान कम था। अधिकांश ने माना कि इसका ज्ञान उन्हें टी.वी. से प्राप्त हुआ है (हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 15, 1992)।

एक तथ्य यह है कि यद्यपि पुरानी पीढ़ी का रुख निष्क्रिय निस्सहायता का रहता है परन्तु वे चाहते हैं, कि उनकी पुत्रियों के कम बच्चे हों और वे संतति-निग्रह के तरीकों को अपनाएं। ग्रामीण क्षेत्रों में देखा गया है कि छह बच्चों वाली स्त्री अपनी विवाहित बेटी के तीसरा बच्चा होने पर उसे बाध्य करती है कि वह प्रसूति को रोकने के लिये आपरेशन करवा ले। शहरी क्षेत्रों में विशेषकर संयुक्त परिवार व्यवस्था के टूटने के पश्चात एकाकी परिवारों की स्त्रियां बच्चों को पालने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करती हैं। नौकर एक समस्या होते हैं और सास-ससुर से या अपनी मां से कहीं-कहीं थोड़ी मदद मिलती है। मकान भी प्राय: एक समस्या खड़ी कर देते हैं और उपयोगी वस्तुओं की कमी रहती है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि शहरी स्त्रियां जो कम उम्र वाले समूह में होती हैं, परिवार नियोजन के तरीकों की पक्षधर होती हैं जिससे कि वे अपना ध्यान अपनी जीविका पर लगा सकें।

यद्यपि बड़ी संख्या में स्त्रियां परिवार नियोजन का अनुमोदन करती हैं फिर भी उनमें से केवल आधी ही वास्तव में उसके अनुसार आचरण करती हैं। खन्ना और वर्गिस के सर्वेक्षण ने दर्शाया कि जितना स्तर नीचे होता है उतनी ही स्त्रियां परिवार नियोजन के तरीकों से अनभिज्ञ होती हैं। उनके सर्वेक्षण में ऊंचे सामाजिक आर्थिक स्तर के गर्भनिरोधकों के प्रयोग करने वालों

राजस्थान और मध्यप्रदेश जैसे राज्यों में जहा आवश्यकता बहुत अधिक है, उपयोग 15.0 प्रतिशत से भी कम है। असंख्य अध्ययनों ने इस बिन्दु पर प्रकाश डाला है कि गांवों में केवल वही माध्यम जो व्यक्तियों के प्रश्नों का तत्काल उत्तर दे सकते हैं, परिवार नियोजन में सहायता प्रदान कर सकते हैं। ब्लाक परिवर्द्धन शिक्षक (Block Extension Educators) और स्वास्थ्य सहायक (Health Assistants) को केवल यही भूमिका दे रखी है। परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि अन्तर-वैयक्तिक सम्पर्क बहुत कम है।

परिवार नियोजन प्रचार के हमारे क्या उद्देश्य और तरीके होने चाहिये ? एक महत्वपूर्ण सुझाव है कि हमारा नारा होना चाहिये: "तीसरा बच्चा कभी नहीं और 35 वर्ष की आयु के बाद एक भी नहीं" । ये दो विकल्प हैं जो कि एक दम्पत्ति के पूर्ण नियन्त्रण में है। इस तरह का प्रचार और उसके साथ जीवनस्तर में सुधार, ज्यादा अच्छी शिक्षा, बच्चों (दो) के स्वास्थ्य की गारंटी और महिलाओं/माताओं की उन्नत स्वास्थ्य सेवाए दम्पत्तियों का ऐसा मानस बना देंगी कि वे स्वय भी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये काम करने में दिलचस्पी दिखलायेंगे। पैसे का प्रोत्साहन प्रेरणाकारक नहीं हो सकता। पैसा दम्पत्ति को प्रेरणा देने वाले अभियानकर्त्ता के लिये प्रोत्साहन हो सकता है, परन्तु उस व्यक्ति के लिये नहीं जो नसबदी करवाने जा रहा है।

अप्रैल 1976 में तत्कालीन स्वास्थ्य और परिवार नियोजन मंत्री डॉ.करन सिंह ने लोक सभा में राष्ट्रीय जनसख्या नीति (National Population Policy) पेश की जिसका निर्धारण सरकारी और ग़ैर-सरकारी संगठनों, शैक्षणिक संस्थाओं और प्रसिद्ध जनांकिकिज्ञों (demographers) और अर्थशास्त्रियों के लंबे और गहन विचार-विमर्श के पश्चात किया गया था। इस नीति में बहुत प्रकार के कार्यक्रम सम्मिलित थे। वे थे: विवाह की वैधानिक आयु बढ़ाना, उन राज्यों के वित्तीय प्रोत्साहन बढ़ाना जो परिवार नियोजन के क्षेत्र में अच्छा कार्य करें, नारी शिक्षा को सुधारने की ओर ध्यान देना, जनसाधारण को सभी उपलब्ध माध्यमों (रेडियो, टेलिविजन, प्रेस, फिल्में) से शिक्षित करना, नसबंदी के लिये सीधे वित्तीय प्रोत्साहन आरम्भ करना, और प्रजनन प्राणि विज्ञान (reproductive biology) और गर्भ निरोध विषयों में शोध के लिये एक नया प्रतिवल देना। यद्यपि इस नीति का लोकसभा ने अनुमोदन कर दिया, परन्तु इसकी योजना उस समय बनाई गई थी जब आपातकाल लागू था। जैसे पहले कहा जा चुका है कि संजय गांधी, अध्यक्ष, भारतीय युवा कांग्रेस के नेतृत्व में नसबंदी अभियान में इतनी ज्यादतियां हुई कि इस नीति का लोगों ने विरोध किया। उत्तर भारत के कुछ राज्यों में इस कार्यक्रम को इतने अत्युत्साही और असंवेदनशील ढग से चलाया गया कि आपातकाल के बाद 1977 में चुनाव के दौरान ये ज्यादतियां चुनाव का एक महत्वपूर्ण मसला बन गई और केन्द्र में कांग्रेस चुनाव हार गई और स्वतंत्रता के तीस वर्ष बाद पहली दफा एक ग़ैर-कांग्रेसी दल देश में सत्ता में आ गया। 1980 में जब इन्दिरा गांधी पुन. सत्ता में आई तो वे परिवार नियोजन कार्यक्रमों के प्रति अपनी वचन बद्धता को पुनर्जीवित करने में अत्यधिक सतर्क और निरुत्साही हो गई। तब से राज्यों और केन्द्र में लगभग सभी सरकारों की नीति इतनी असन्तुलित रही है

कि जनसंख्या की विकास दर जिसकी 2.0 प्रतिशत अक के नीचे पहुचने की आशा थी,1993 में 2.11 प्रतिशत के आसपास थी।

कुछ विद्वान जनसंख्या विस्फोट को आने वाले वर्षों में रोकने के लिये आशावादी रूपरेखा पेश करते हैं। एक बात जो प्रायः कही जाती है वह यह है कि हमारे देश में कई अप्रयुक्त (untapped) साधन हैं कि यदि उन्हें उपयुक्त तरीके से काम में लाया जाये तो आज की जनसख्या की तिगुनी जनसंख्या का भरण-पोषण कर देंगे। दूसरी बात जिस पर ज़ोर दिया जाता है वह यह है कि औद्योगिक प्रगति, आर्थिक विकास और निर्यात में वृद्धि, जैसे तरीके निर्धनता, बेरोज़गारी, और जनसख्या में बढ़ोतरी का निवारण कर देंगे। ये दोनों मत अनुभवहीनता के परिचायक और अप्रमाणिक हैं। एक देश के लिये वही सपदा और सेवाए लाभदायक और महत्वपूर्ण हैं जो जनसख्या की आवश्यकताओं की आपूर्ति करने के लिये वास्तव में उपलब्ध हैं, ना कि वे जिनके उपलब्ध होने की सभावना है। देश में वर्तमान राजनीतिक अस्थिरता के होते हुए, सत्ताधारी दल सामुदायिक विकास के बजाय शक्ति पर केन्द्रीभूत हैं। बढती हुई जातीयता, प्रान्तीयता, प्रादेशिकता, और भाषावाद के बीच हम अपने सत्ताधारी अभिजन (power elite) से यह कैसे आशा कर सकते हैं कि वे विकास और आधुनिकीकरण और/या अप्रयुक्त ससाधनों का दोहन करने में रुचि लेंगे ?

राष्ट्रीय विकास परिषद की जनसख्या सम्बन्धी उप-समिति ने एक सुझाव दिया है कि जन-प्रतिनिधि कानून (Representation of People Act) में सशोधन करके जिन व्यक्तियों को दो से अधिक सन्तान हैं, उन्हें ससद और राज्य विधान सभा चुनावों के लिए अयोग्य घोषित कर दिया जाना चाहिये। यदि यह सुझाव स्वीकृत हो जाता है (जिसकी सम्भावना 1.0 प्रतिशत भी नही है) तो परिवार नियोजन प्रोग्राम में यह एक क्रान्तिकारी प्रयास होगा। राजस्थान सरकार ने 1992 में राजस्थान पचायत एक्ट को सशोधित करके यह प्रावधान रखा है कि जिन व्यक्तियों के दो से अधिक बच्चे हैं, वे पचायतों के लिए चुनाव नही लड सकेंगे। यदि पचायत सदस्य होने के पश्चात व्यक्ति को तीसरी सन्तान होती है तो उसकी सदस्यता स्वत: ही समाप्त हो जायेगी। (हिन्दुस्तान टाइम्स, नवम्बर 18, 1992)।

जनसख्या विस्फोट को नियन्त्रित करने के लिये सुझाये गये उपाय (Measures Suggested to Control Population Explosion)

राज्यों का खडो और क्षेत्रो मे विभाजन (Division of States into Zones and Regions)

देश में पिछले साढ़े चार दशकों में विकास भी बहुत हुआ है। प्रति व्यक्ति उपभोग में 50 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है, बाल मृत्यु दर में कमी आई है, साक्षरता दर में विस्तार हुआ है, औसत पोषण स्तर में उन्नति हुई है, और जीवन प्रत्याशा (life expectancy) में भी वृद्धि मिलती है। परन्तु इस प्रगति के उपरान्त भी भूख से पीड़ित व्यक्तियों की सख्या 17 करोड के आसपास आकी गयी है, अशिक्षित व्यक्तियों की सख्या 32.4 करोड है, मातृ मृत्यु दर बढ़ी है और

लगभग 1.25 लाख महिलाओं की प्रतिवर्ष गर्भावस्था और बाल-जन्म से मृत्यु होती है (हिन्दुस्तान टाइम्स, जून 8, 1992)। क्या ये सब चिन्ता के विषय नहीं है ? अगर निर्धन व्यक्तियों की जीवन-स्तर को सुधारना है, तो क्या जनसंख्या वृद्धि को कम करना आवश्यक नहीं होगा ? कम बच्चों की सख्या और बच्चों में अन्तराल से माता और बच्चे के स्वास्थ्य को भी लाभ पहुंच सकेगा।

हमारे देश में जनसंख्या विस्फोट का जारी रहना कुछ आत्मपरीक्षण चाहता है। सरकार इस समस्या के आकार से परिचित है और सोचती है कि चौंकाने वाली जनसख्या वृद्धि राष्ट्र और सरकार के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है। परन्तु परिवार नियोजन के क्षेत्र में निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये 1976-77 में अपनाये गये सख्त उपायों के सरकार के अनुभव ने आने वाली सरकारों को अत्यन्त सतर्क कर दिया है।

फिर भी काम करने के लिये अभी समय है। बड़ौदा के आपरेशन रिसर्च ग्रुप के दो जनसंख्या विशेषज्ञों ने फरवरी,1990 के अध्ययन में बतलाया है कि इस समस्या से किस प्रकार निबटा जा सकता है। जनन-क्षमता के सरूप (fertility patterns) के आधार पर उन्होंने देश के 350 जिलों को 16 खण्डों (zones) और चार क्षेत्रों/इलाकों (region) में बांटा है। उन्होंने ऐसे जिलों और खण्डों की पहचान की है जो परिवार नियोजन का जनन क्षमता की दरों पर स्पष्ट प्रभाव दर्शाते हैं। उन्होंने ऐसे क्षेत्रों को भी मालूम किया है जहां परिवार नियोजन के लिये कोई प्रयत्न नहीं किये जाने के बावजूद ये दरें नीची रही हैं और उन क्षेत्रों को भी जो दुष्कर क्षेत्र हैं जहां अधिकतम प्रयास की आवश्यकता है। 1990 के सर्वेक्षण ने बतलाया है कि अधिक जनन-क्षमता के क्षेत्र हैं: अरूणाचल प्रदेश (जन्मदर 35.2), बिहार (34.4), हरियाणा (34.8), मध्य प्रदेश (35.1), उत्तरप्रदेश (37.0), और राजस्थान (33.9)। क्षेत्रीय पद्धति से किया गया उपागम परिवार नियोजन कार्यक्रम के क्रियान्वयन में आई कमियों को दूर करने में सहायता करेगा, ऐसी आशा की जाती है।

नये गर्भनिरोधकों की तलाश (Searching for New Contraceptives)

नये, सस्ते, उपयोग में आसान और अहानिकर गर्भनिरोधक की तलाश को अभीतक विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है। यद्यपि गोलियों (pills) का प्रचलन काफी हो गया है और यह हरियाणा, मध्यप्रदेश, पंजाब, पश्चिम बगाल, गुजरात, और उड़ीसा में बढ़ता जा रहा है फिर भी यह आवश्यक है कि भारतीय जडी बूटियों का उनका प्रभाव जानने के लिये गहन अनुसंधान किया जाना चाहिये। अंडमान और निकोबार द्वीप समूहों की कुछ जनजातियों जिनमें जनन-क्षमता की दर बहुत कम है, की स्वास्थ्य स्थिति और आहार-सबंधी आदतों पर भी सशक्त अनुसंधान अपेक्षित समाधान प्रदान कर सकता है।

कम आयु में विवाह पर नियन्त्रण (Controlling Ecarly Marriages)

विवाह की आयु और परिवार के आकार का परिवार नियोजन के प्रति दृष्टिकोण से सीधा

सम्बन्ध है । केरल में हुए एक अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि 1970 के मध्य में विवाह की औसत आयु अधिक हो गई । 1969 में 15-19 वर्षों के आयु-समूह की विवाहित स्त्रियों की सख्या 30 0 प्रतिशत थी, जब कि 1974 में वह घटकर 14.0 प्रतिशत हो गई । जो स्त्रिया 20-24 आयु-समूह में थीं उनमें 1969 में 73 0 प्रतिशत से 1974 में घटकर 56 0 प्रतिशत होगई (इंडिया टुडे, 1-15 मार्च, 1980) । समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से केरल में जन्मदर में अत्यधिक कमी का यह एक महत्वपूर्ण कारण है । इस प्रकार विवाह की आयु को बढाने से दूसरे राज्यों में भी निश्चित रूप से परिवार का आकार छोटा हो सकता है । इसके लिये आवश्यक जनजागरण उत्पन्न करने की आवश्यकता है ।

सामाजिक प्रतिमानों में परिवर्तन लाने की समस्या अत्यन्त कठिन है । ग्रामीण क्षेत्रों में बच्चों की संख्या, और विशेषकर लडकों की सख्या महत्वपूर्ण समझी जाती है क्यों कि वे बुढ़ापे के सभावित आश्रयदाता माने जाते हैं । प्रौढ शिक्षा के उपाय कदाचित इन क्षेत्रों में भी आवश्यक जागरूकता उत्पन्न कर सकते हैं ।

आर्थिक विकास (Economic Development)

आर्थिक विकास एक उत्कृष्ट गर्भनिरोधक सिद्ध हो सकता है । माग और आपूर्ति के विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार हमें किसी भी कीमत पर परिवार नियन्त्रण करना है । किसी भी आर्थिक समीकरण को सतुलित करने के लिये हम या तो आपूर्ति को बढा सकते हैं जो कि हमारे वित्तीय और भौतिक ससाधनों पर निर्भर है, या माग को कम कर सकते हैं जो कि विभिन्न सेवाओं और पदार्थों की मांग कर रहे व्यक्तियों की सख्या पर निर्भर है । उदाहरण के तौर पर, आपूर्ति के दृष्टिकोण से, 1.7 करोड व्यक्तियों के लिये जो प्रतिवर्ष हमारे देश की जनसंख्या में जुड जाते हैं तीस लाख मकान बनाने के लिये हमें 3,000 करोड रुपयों की वार्षिक लागत की आवश्यकता है यह मानते हुए कि एक छोटा मकान बनाने में केवल 10,000 रुपये लगेंगे । परन्तु यदि इस समस्या को माग के दृष्टिकोण से देखा जाये और यदि जनसख्या नियत्रण की प्रभावशाली रणनीति के द्वारा जनसख्या में 1.7 करोड के वार्षिक जोड को हम रोकदें तो तीस लाख मकानों की माग या मकानों के बनाने के लिये 3,000 करोड रुपये प्रतिवर्ष की मांग समाप्त हो जायेगी (अहलुवालिया, 1987) । इस प्रकार मांग को कम करना इतना ही अच्छा है जितना आपूर्ति को बढाना । यह *आपूर्ति और माग* को बिना किसी कीमत के सतुलित करना है, और यह कीमत-मुक्त (no-cost) समाधान है जिसकी हम खोज में हैं । जो मकान पर लागू होता है वही शिक्षा, नौकरियों, परिवहन और स्वास्थ्य के क्षेत्रों पर भी लागू होता है । प्रत्येक समस्या को माग के दृष्टिकोण से निबटना बहुत लाभकर होगा ।

इस उपागम का एक दूसरा महत्वपूर्ण आयाम है । यदि आपूर्ति के दृष्टिकोण से इस समस्या को देखते हैं तो यह दूसरे क्षेत्रों में भी अलग अलग माग को बढा देगी । उदाहरणार्थ, यदि हम मकानों की सख्या बढ़ाते हैं तो उससे सीमेन्ट, ईटों, लकडी के माल और बिजली के सामान की मांग भी बढेगी । परन्तु यदि इस समस्या का उपागम माग के दृष्टिकोण के ओर से

होता है तो इससे अपेक्षित मकानों की संख्या कम हो जायेगी और दूसरे सभी क्षेत्रों में भी दबाव कम हो जायेगा। 49 जन्म प्रति मिनट या 1.7 करोड जन्म प्रतिवर्ष के साथ शिक्षा, परिवहन और कल्याण जैसे क्षेत्रों में पैसे और सामग्री की मांग इतनी बढ़ जायेगी कि दस साल में स्थिति हाथ से बाहर निकल जायेगी और देश और उसकी अर्थव्यवस्था को अगणनीय और असुधार्य क्षति हो जायेगी।

निष्कर्ष (Conclusion)

हमारी सरकार की जनसंख्या नीति का उद्देश्य न केवल व्यक्तियों की सख्या की अनियत्रित वृद्धि (जनसंख्या विस्फोट) पर अंकुश लगाना होना चाहिये अपितु जनसंख्या के अनियंत्रित आने-जाने को रोकना और शहरी क्षेत्रों में व्यक्तियों के बढ़ते हुए केन्द्रीकरण (population implosion) को रोकना और व्यक्तियों के पंचमेल मिश्रण (population displosion) के लिये पर्याप्त आवास स्थान (living space) और आकर्षक पर्यावरण उपलब्ध कराना भी होना चाहिये। इन लक्ष्यों को ऐसी नीतियों, जिनका उद्देश्य जनसंख्या नियत्रित करना है और भौतिक और मानव ससाधनों को लाभप्रद कार्यों में लगाने की योजना बनाना है, के सृजन और क्रियान्वयन से संयुक्त रूप से जोड देना पड़ेगा। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि अपने आप में भले ही समस्या नहीं लगे परन्तु यदि उसे संसाधनों की उपलब्धता से जोड़ दिया जाये तो यह चिन्ता का विषय बन जायेगी।

परिवार नियोजन कार्यक्रम को दलदल से निकालना है जिसमें वह फंस गया है। इसके लिये इस कार्यक्रम को अपने अन्दर देखना है और अपने को अपने अधिकार से एक विकास निवेश मानना है। वास्तव में जनसंख्या वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिये विकास सबसे अच्छा तरीका है, यद्यपि इसका उलटा भी सही है कि तीव्र जनसंख्या वृद्धि धीमे, यदि नकारात्मक नहीं है तो विकास का एक अचूक नुसखा है। परिवार नियोजन कार्यक्रम के फिर से पैर जमाने के लिये कई प्रकार के उपाय करने पड़ेंगे। जबरदस्ती से काम नहीं बनेगा; समझाने-बुझाने से ही सफलता मिलेगी। कानूनी उपाय सहायक हो सकते हैं, परन्तु जो अत्यावश्यक है वह है सामाजिक चेतना एवं भागीदारी जो उत्तरदायित्वपूर्ण पितृत्व उत्पन्न करे।

आनुपातिक जनांकिकी परिणाम प्राप्त करने के लिये परिवार नियोजन कार्यक्रम में नसबंदी पर अधिक बल देने के स्थान पर अंतरालन पद्धति को प्रोत्साहन देना चाहिये। तीन-पंचमांश (three-fifths) विवाहित स्त्रियां हमारे देश में 20 वर्ष की आयु से कम हैं और दो या अधिक बच्चों की मां हैं। हमें 'बच्चे बच्चों को जन्म दे रहे हैं' के तथ्य को रोकना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति केवल अतराल पद्धति को प्रोत्साहन देकर और लड़कियों का विवाह 21 वर्ष की आयु के बाद करने से ही हो पायेगा।

परिवार नियोजन जनसख्या विस्फोट को नियन्त्रित करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के अतिरिक्त स्त्रियों की सामान्य स्थिति सुधारने में भी सहायता करेगा। एक स्त्री जिसे कई बच्चों का पालन-पोषण करना पड़ता है और जिसे बार बार प्रसव कराना पड़ता है, को अधिक समय

अध्याय 5

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा
Communalism and Communal Violence

साम्प्रदायिकता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति और उसके साथ जुड़ी हुई हिंसा ने धार्मिक अल्पसंख्यकों और नृजातीय (ethnic) समूहों में असुरक्षा की भावना जागृत कर दी है। विशेष रूप से मुसलमान और सिख आने वाले समय में भेदभाव और झगड़े की संभावना से डरते हैं। यह केवल उनका भय ही हो, परन्तु राष्ट्र अपने देश की एक छठी (one-sixth) जनसंख्या को आतंक, संदेह और असुरक्षा का शिकार बनने नहीं दे सकता। 1990 और 1993 के मध्य कश्मीर, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, गुजरात, असम, और आंध्रप्रदेश में हुई घटनाएं साम्प्रदायिक विष के विविध रूपों का प्रचुर प्रमाण देती हैं और उसके विनाशकारी परिणाम का अनुभव कराती हैं। मुसलमानों, सिखों और दूसरे धार्मिक अल्पसंख्यकों को भारत का संविधान संरक्षण प्रदान करता है और उसमें पूर्ण न्याय, सहिष्णुता, समानता और स्वतंत्रता का प्रावधान है। परन्तु इस काल में जब धार्मिक रूढ़िवाद, धर्मान्धता, असहिष्णुता और संकीर्णता की चरम सीमा पर पहुंचने वाला है, तब मुसलमानों द्वारा 'रामराज्य' की परिकल्पना को ग़लत व्याख्या करके यह अर्थ लगाया जाता है कि यह भगवान राम का राज्य है, अर्थात्, हिन्दू राज्य। आतंकवादियों पर नज़र रखने और उन्हें धार्मिक स्थलों में रहने से रोकने के लिये पुलिस की गुरुद्वारों, दरगाहों, मस्जिदों, या अन्य पुण्य स्थानों (जैसे अमृतसर में 1984 में या श्रीनगर (कश्मीर) में नवम्बर 1993 में) के पास उपस्थिति को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप माना जाता है। इसलिये राष्ट्र की शांति एवं एकता की क्षति को रोकने के लिये साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या का विश्लेषण करना और उस पर विचार करना आवश्यक है। 'सम्प्रदायवाद' की परिभाषा करना आज नितान्त जरूरी है। और यह मालूम करना भी इतना ही संगत है कि 'साम्प्रदायिक' कौन है।

यदि एक हिन्दू अभिमान से कहता है कि वह हिन्दू है तो क्या यह साम्प्रदायिकता है ? यदि एक मुसलमान कहता है कि उसे मुसलमान होने का गर्व है और एक अच्छे मुसलमान बने रहने के लिये वह जान भी गवा देगा तो क्या वह साम्प्रदायिकता मानी जायेगी ? जब एक अल्पसंख्यक समुदाय को लगता है (सही या ग़लत) कि उसका कई दशकों से अन्याय से दमन हुआ है और उसका शोषण और वंचन हो रहा है और वह प्रतिक्रिया दिखाता और तीखा विरोध करता है, कभी हिंसात्मक रूप से भी, तो क्या यह साम्प्रदायिकता कही जा सकती है ? यदि ईसाई, बौद्ध, और पारसी अपने व्यक्तिगत और निजी जीवन अपनी इच्छा के अनुसार व्यतीत करते हैं, अपने विश्वासों और धर्म मतों के अनुसार व्यतीत करते हैं तो क्या वे साम्प्रदायिक हैं ?

साम्प्रदायिकता चिरस्थायी या टिकाऊ राजनीतिक स्वार्थ परायणता की उपज है और इसको इस प्रकार विकसित और सुरक्षित (conserve) किया जाता है कि जिससे अपने कुकर्म छुप जायें और दूसरे व्यक्तियों का ध्यान इस ओर से हट जाये। इस राजनैतिक खेल योजना के अन्तर्गत कई मनगढ़न्त घटनाओं का 'पर्दाफाश' करने का नाटक रचा जाता है जिससे ऐसा लगे कि साम्प्रदायिक अपराध के लिये प्रतिद्वन्द्वी ही दोषी है। इस राजनैतिक खेल-योजना में सदैव नेता वह कहते हैं जो कहना नहीं चाहते और वह नहीं कहते जो कहना चाहते हैं।

टी.के. ऊमन (1989) ने साम्प्रदायिकता के छह आयाम (dimensions) बतलाये हैं: आत्मसातकरणवादी (assimilationist), कल्याणकारी (welfarist), पलायनवादी (retreatist), प्रतिशोधपूर्ण (retaliatory), पृथक्तावादी या अलगाववादी (separatist), और प्रथावादी (secessionist)। आत्मसातकरणवादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें छोटे धार्मिक समूहों का बड़े धार्मिक समूह में समावेश/एकीकरण (assimilate/integrate) कर लिया जाता है। इस प्रकार की साम्प्रदायिकता यह दावा करती है कि सब जनजातिया हिन्दू हैं और जैनी, सिख, और बौद्ध हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अन्तर्गत आते हैं। कल्याणकारी साम्प्रदायिकता का लक्ष्य किसी विशेष समुदाय का कल्याण होता है, जैसे जीवन-स्तर को सुधारना और शिक्षा एवं स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना; उदाहरणार्थ, ईसाई संस्थाएँ ईसाईयों की उन्नति के लिये काम करती हैं, या पारसी संस्थाएँ पारसियों के उत्थान में कार्यरत रहती हैं। इस तरह के सामुदायिक संगठन का उद्देश्य केवल अपने समुदाय के सदस्यों के हित में कार्य करना होता है। पलायनवादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक छोटा धार्मिक समुदाय अपने को राजनीति से अलग रखता है; उदाहरण के लिये, बहाई समुदाय जिसने अपने सदस्यों के लिये राजनीति में भाग लेना अवैध घोषित किया हुआ है। प्रतिशोधपूर्ण साम्प्रदायिकता दूसरे धार्मिक समुदायों के सदस्यों को हानि और चोट पहुंचाने का प्रयत्न करती हैं। पृथक्तावादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक धार्मिक समुदाय अपनी संस्कृति की विशेषता बनाये रखना चाहता है और देश में एक अलग राज्य की मांग करता है; उदाहरणार्थ, उत्तरपूर्वी भारत में कुछ मिज़ो और नागाओं की मांग, असम में बोडों की मांग और बिहार में झाड़खड की जनजातियों की मांग। अन्त में, प्रथावादी साम्प्रदायिक्ता वह है जिसमें एक धार्मिक समुदाय अपनी अलग राजनैतिक पहचान चाहता है और एक स्वतंत्र देश की मांग करता है। खालिस्तान की माग कर रहा सिखों का एक बहुत ही छोटा उग्रवादी (militant) भाग इस प्रकार की साम्प्रदायिकता को अपना रहा है। इन छह प्रकारों की साम्प्रदायिकता में से पिछले तीन रुप समस्यायें खड़ी करते हैं और जिनके कारण आन्दोलन, साम्प्रदायिक झगड़े, आतंकवाद और बगावत उत्पन्न होते हैं।

भारत में साम्प्रदायिकता (Communalism in India)

भारत के अनेकवादी (pluralistic) समाज में केवल धार्मिक समुदाय ही नहीं हैं जैसे, हिन्दू (82.63%), मुसलमान (11.36%), ईसाई (2.43%), सिख 1.96%), बौद्ध (0.71%),

जैन (0.48%), आदि, आदि। हिन्दू कई सम्प्रदायों में बटे हुए हैं, जैसे आर्यसमाजी, शैव, सनातनी, और वैष्णव। इसी प्रकार जहा एक ओर मुसलमान शिया और सुन्नी में बटे हुए हैं वहा दूसरी ओर उनमें अशरफ (कुलीन-aristocrats), अजलफ (जुलाहे, कसाई, खाती, तेली) और अरज़ल भी सम्मिलित हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक सबध एक लबे अंतराल से तनावपूर्ण रहे हैं जब कि हिन्दुओं और सिखों ने एक दूसरे को पिछले दस एक वर्षों से (विशेष कर 1984 से) सदेह की दृष्टि से देखना शुरू किया है। यद्यपि दक्षिण भारत के एक राज्य में हिन्दुओं और ईसाईयों, और मुसलमानों और ईसाईयों में झगडों के बारे में सुना जाता है, परन्तु सब मिलाकर भारत में ईसाई यह नहीं सोचते कि दूसरे समुदाय उनका वचन (deprivation) या शोषण करते हैं। मुसलमानों में शिया और सुन्नी अवश्य एक दूसरे के प्रति द्वेष की भावना रखते हैं। यहा हम मुख्यत हिन्दू-मुसलमान सबधों और सक्षेप में हिन्दू-सिख सबधों का विश्लेषण करेंगे।

हिन्दू-मुसलमान साम्प्रदायिकता (Hindu-Muslim Communalism)

भारत पर मुसलमानों के आक्रमण दसवी शताब्दी में आरम्भ हो गये थे, परन्तु मोहम्मद गजनवी और मोहम्मद गोरी जैसे प्रारम्भिक मुसलमान विजेता धार्मिक आधिपत्य जमाने की अपेक्षा लूटने में अधिक दिलचस्पी रखते थे। उस समय जब कुतुबुद्दीन देहली का पहला सुल्तान बना तब इस्लाम ने भारत में पैर जमाये। इसके पश्चात मुगलों ने अपने साम्राज्य को सगठित किया और इस प्रक्रिया में इस्लाम को भी। मुगल शासकों द्वारा अपनाई गई नीतियों में से कुछ ने, जैसे धर्म-परिवर्तन के प्रयत्न और हिन्दू मदिरों को तोड कर उन पर मस्जिद बनाने जैसे कार्यों ने हिन्दू और मुसलमान समुदायों के बीच साम्प्रदायिक झगडों को भडकाया। जब अंग्रेजों ने ईस्ट इडिया कपनी के माध्यम से भारत पर अपना आधिपत्य जमाया, तो उन्होंने प्रारम्भ में हिन्दूओं को सरक्षण देने की नीति अपनाई, परन्तु 1857 के प्रथम स्वतत्रता सग्राम के पश्चात जिसमें हिन्दु और मुसलमान कधे से कधा मिलाकर लडे, अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' (डिवाइड और रूल) की नीति अपनाई, जिसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक झगडों को प्रोत्साहन मिला और उनका आधिपत्य कायम रहा। हिन्दुओं और मुसलमानों के सबध तब और अधिक तनावपूर्ण हो गये जब स्वतत्रता सग्राम के दौरान शक्ति-राजनीति (power politics) का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार यद्यपि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच पारस्परिक विरोध एक पुराना मामला है परन्तु भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता स्वतत्रता सग्राम के दौरान अंग्रेजी शासन की विरासत है। साम्प्रदायिकता आज महत्वपूर्ण तरीके से परिवर्तित सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में चलती है। अब यह एक ऐसी समस्या समझी जाती है जो देश के विकास की प्रक्रिया में बाधा और विकार उत्पन्न करती है। हमारे धर्मनिरपेक्ष आदर्शों के लिये जिन पर हमारा सविधान बल देता है, यह अकेला सबसे बडा खतरा है। साम्प्रदायिक स्वार्थ साम्प्रदायिक द्वेष की आग को भड़काते रहते हैं।

हम हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति और ऐतिहासिक मूल कारणों का परीक्षण

करेंगे जिससे समकालीन संदर्भ में इस तथ्य के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त हो सके। राजनीतिक दलों, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया, के क्या धार्मिक और राजनीतिक विचार और आकांक्षाएं थीं ? भारतीय समाज की विविधता को देखते हुए राष्ट्रीय आंदोलन के सभी समूहों के स्वार्थों को समायोजित करना था जैसे आर्थिक, भाषाई और धार्मिक। राष्ट्रीय अपील को विविध समूहों की एकता के लिये दो महत्वपूर्ण कारकों पर कार्य करना था: प्रथम, उपनिवेशी शासकों के शोषण से मुक्ति, और द्वितीय, समस्त नागरिकों के लिये प्रजातान्त्रिक अधिकार। क्या प्रमुख राजनीतिक दल जैसे कांग्रेस, मुस्लिम लीग, कम्युनिस्ट पार्टी और हिन्दू महासभा इन विचारों से सहमत थे ? कदाचित नहीं। कांग्रेस दल की साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दलों के प्रति क्या नीति थी ? इतिहासकार बिपनचन्द्र के अनुसार (कम्युनेलिजम इन मॉडर्न इंडिया) कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही 'चोटी से एकता' (unity from the top) की नीति अपनाई जिसके अन्तर्गत मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग के मुसलमानों, जिन्हें मुसलमान समुदाय का नेता माना जाता था, को अपनी ओर करने का प्रयत्न किया गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों की जनता की साम्राज्य विरोधी (anti-imperialist) भावनाओं से सीधी अपील करने के बजाय यह उन (मध्यम और उच्च वर्ग के मुसलमान) पर छोड़ दिया गया कि वे मुसलमान जनता को आन्दोलन में सम्मिलित करें। यह 'चोटी से एकता' उपागम साम्राज्यवाद से लड़ने के लिये हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रोत्साहित नहीं कर पाया। टर्की में अंग्रेज़ों के हस्तक्षेप के विरुद्ध मुस्लिम लीग द्वारा चलाया हुआ खिलाफत आन्दोलन एक धार्मिक मामले से जुड़ा हुआ था। कांग्रेस ने तो इस आन्दोलन को केवल समर्थन दिया था। जितने गंभीर प्रयत्न हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये 1918 और 1922 के मध्य हुए, वे हिन्दू, मुसलमान और सिख समुदायों और कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं के वार्तालाप के रूप में हुए। कई बार कांग्रेस धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की शक्तियों के एक सक्रिय संगठनकर्ता के रूप में कार्य करने के बजाय विभिन्न साम्प्रदायिक नेताओं में बिचौलिये के रूप में कार्य करती थी (फ्रन्टलाइन, 2-15 अप्रैल 1988:99-104)। इस प्रकार प्रारम्भ में राष्ट्रीय नेतृत्व में यह अप्रत्यक्ष सहमति थी कि हिन्दू मुसलमान और सिख पृथक समुदाय हैं जिनमें केवल राजनीतिक और आर्थिक मामलों में एकता है, परन्तु धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथाओं में नहीं। साम्प्रदायिकता के बीज इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में बोये गये। फिर भी, मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा, संगठन के रूप में 1936 तक काफी कमज़ोर रहे। 1937 के चुनावों में मुस्लिम लीग ने प्रान्तीय विधान सभाओं में मुसलमानों के लिये कुल आरक्षित सीटों (482) में से केवल 22.0 प्रतिशत सीटें जीतीं। मुस्लिम बहुसख्यक प्रान्तों में भी उसकी स्थिति ठीक नहीं रही। 1942 के बाद ही मुस्लिम लीग एक सशक्त राजनैतिक दल की तरह उभरी और उसने समस्त मुसलमानों की तरफ से बोलने का दावा किया। एम.ए. जिन्ना ने कांग्रेस को एक 'हिन्दू' संगठन कहा और अंग्रेज़ों ने इस दावे का अनुमोदन किया। कांग्रेस के अन्दर भी मदन मोहन मालवीय, के.एम मुन्शी, और सरदार पटेल जैसे कुछ नेताओं ने हिन्दू-समर्थक दृष्टिकोण अपनाया। इस प्रकार कांग्रेस अपने में से

साम्प्रदायिक तत्वों को निकाल नहीं पाई। पाकिस्तान का नारा मुस्लिम लीग ने लाहौर में सर्वप्रथम 1940 में दिया। मुस्लिम जनता के विभिन्न समूहों में पाकिस्तान के बारे में विभिन्न मत (perceptions) थे। मुसलमान कृषकों के लिये पाकिस्तान का अर्थ था हिन्दू ज़मींदार के शोषण से मुक्ति, मुसलमान व्यापारी वर्ग के लिये उसका मतलब था सुव्यवस्थित हिन्दू व्यापारिक तन्त्र से छुटकारा, मुसलमान बुद्धिजीवी वर्ग के लिये उसका अर्थ था बेहतर रोज़गार के अवसर। बाद में जब कांग्रेस नेताओं ने 1946 में विभाजन को स्वीकृति दे दी, तो उससे 1947 में लाखों की संख्या में हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों का रक्तपात और हत्याकाण्ड की वीभत्सता में उनका विस्थापन (displacement) हुआ। लगभग दो लाख व्यक्तियों का 1947 के विभाजन दंगों में मारे जाने का अनुमान है और लगभग 60 लाख मुसलमान और साढ़े चार लाख हिन्दू और सिख शरणार्थी हो गये। विभाजन के बाद भी कांग्रेस साम्प्रदायिकता पर काबू नहीं पा सकी। इसलिये यह कहा जा सकता है कि भारत में हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता के राजनीतिक-सामाजिक स्रोत थे और उनमें झगड़े के लिये केवल धर्म ही कारण नहीं था। आर्थिक स्वार्थ और सांस्कृतिक और सामाजिक रीति-रिवाज़ (जैसे त्यौहार, सामाजिक प्रथायें, और जीवन शैलियां) भी कारक थे जिन्होंने दोनों समुदायों को और विभाजित किया।

आज भारत में मुसलमान दूसरा सबसे बड़ा धार्मिक समुदाय है और विश्व में दूसरे सबसे बड़े मुस्लिम अल्पसंख्यक हैं। लगभग 12 करोड़ मुसलमान हमारे देश के सब भागों में फैले हुए हैं। जम्मू और कश्मीर, असम और पश्चिम बंगाल जैसे कुछ राज्यों में हिन्दु जनसंख्या की तुलना में मुस्लिम अनुपात अधिक हैं (7.3.1)। मुसलमान भी भाषा, संस्कृति और सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में इतने ही भिन्न है जितने कि हिन्दू। उत्तरप्रदेश के मुसलमानों और केरल या जम्मू और कश्मीर के मुसलमानों में कोई समानता नहीं है। उनको मिलाने वाला कारक केवल धर्म है, यहां तक कि उनकी भाषा भी एक नहीं है। यद्यपि 11.4 प्रतिशत भारतीय मुसलमान हैं, उनमें से केवल 5.0 प्रतिशत उर्दू बोलते हैं और सब उर्दू बोलने वाले मुसलमान नहीं हैं। सूक्ष्म अवलोकन (closer look) से यह स्पष्ट है कि 16 शहर जो हिन्दू-मुस्लिम दंगों के लिये अति संवेदनशील (susceptible) हैं वे हैं, उत्तरप्रदेश में मुरादाबाद, मेरठ, अलीगढ़, आगरा और वाराणसी, महाराष्ट्र में औरंगाबाद, गुजरात में अहमदाबाद, आन्ध्र प्रदेश में हैदराबाद; बिहार में जमशेदपुर और पटना, असम में सिलचर और गोहाटी, पश्चिम बंगाल में कलकत्ता, मध्यप्रदेश में भोपाल, जम्मू और कश्मीर में श्रीनगर, और उड़ीसा में कटक। इन शहरों में 11 भारत के उत्तरी क्षेत्र में आते हैं, तीन पूर्वी क्षेत्र में और दो दक्षिण के क्षेत्र में। जम्मू और कश्मीर और लक्षद्वीप को छोड़कर जहां मुसलमान नागरिकों की जनसंख्या सर्वाधिक है, दूसरे राज्यों में इनका केन्द्रीयकरण 20 प्रतिशत से 50 प्रतिशत के बीच घटता बढ़ता रहता है। क्या यह माना जा सकता है कि भारत के दक्षिण में मुसलमान सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक मिलेजुले हैं क्योंकि उनकी व्यापार और वाणिज्य में भागीदारी है जिससे सब समुदायों के साथ सद्भाव आवश्यक हो जाता है? परन्तु ऐसा तो उत्तरप्रदेश के पांच नगरों में भी है। इसलिये हमें इस

तथ्य के लिये कोई दूसरा कारण ढूंढना पड़ेगा।

हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष (antagonims) अनेक पेचीदा कारकों के घालमेल (comples set of factors) के कारण हो सकता है। ये कारक हैं: (1) मुस्लिम आक्रमण जिनमें आक्रमणकारी धन लूटते थे और हिन्दू मदिरों पर/के समीप मसजिदें बनाते थे। (2) अंग्रेजों का अपने शाही शासन (imperial rule) के दौरान अपने स्वार्थों के लिये मुस्लिम अलगाववाद को प्रोत्साहन। (3) विभाजन के पश्चात भारत में कुछ मुसलमानों का व्यवहार जिन्होंने क्रिकेट मैच में पाकिस्तान टीम की जीत के बाद पाकिस्तानी झंडा फहराया और कुछ मुसलमानों के आह्वान पर राष्ट्रीय स्वतत्रता दिवस को 'काले दिन' के रूप में मनाया जाना जिसके परिणामस्वरूप बहुमत समुदाय में यह भावना उत्पन्न हुई कि मुसलमान देशभक्त नहीं हैं। मुसलमान की एक रूढिबद्ध छवि जो भारतीय मानस में घर किये हुए है, वह एक धर्मान्ध, अंतर्मुखी बाह्य जाति की है। इसी प्रकार मुसलमान एक हिन्दू को चालाक और शक्तिशाली अवसरवादी समझता है जो उसे उत्पीडित (victimise) करता है और अपने को मुख्यधारा (main stream) से विमुख समझता है। (4) देश में अपना स्थान बनाने के लिये मुस्लिम राजनीतिक दलों में एक नई आक्रामकता। इसकी कई चर्चाएं हैं कि कुछ मुसलमान उग्रवादी 'विदेशी पैसा' प्राप्त कर रहे हैं, विदेशी एजेन्ट बने हुए हैं, एक सुव्यवस्थित योजना के द्वारा देश के धर्मनिरपेक्ष आदर्श को कलंकित करने में लगे हुए हैं, और मुसलमानों को भड़काने की कोशिश कर रहे हैं। (5) मुसलमानों में एकता लाने और उनकी समस्याओं को सुलझाने में मुस्लिम नेता कदाचित इस कारण असफल हुए हैं क्यों कि पश्चिम एशिया और पाकिस्तान में व्याप्त मुस्लिम कट्टरवादिता ने उन्हें प्रभावित किया है और इस कारण उनमें कुण्ठाए उत्पन्न हो गई हैं। मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानों की संख्या (numerical strength) का अनुचित लाभ उठाया है (विशेषरूप से केरल और यू पी में), अदला-बदली के सौदे किये हैं जिससे कि उन्हें लोकसभा और विधानसभा में कुछ सीटें मिल जायें, और उन्हें और उनके मित्रों को शक्ति और धन की प्राप्ति हो जाये। (6) सरकार भी मुसलमानों की उपेक्षा करने की जिम्मेदार है। इनका बहुत बडा भाग अपने को अलग-थलग मानता है और इस कारण वे मतलबी नेताओं के तत्पर शिकार हो जाते हैं। सत्ता प्राप्त अभिजन (elite) केवल धार्मिक मैत्री का पाठ पढाते हैं और उन्हें मुसलमानों की समस्याओं के समाधान में अधिक रूचि नहीं है। हिन्दू नेतृत्व केवल उन मुसलमान नेताओं से सम्पर्क रखता है जो कि उनकी बात मानते हैं।

कोई आश्चर्य नहीं कि भारतीय मुसलमान अपने भविष्य को 'हम' बनाम 'वे' ('us' versus 'they') का प्रश्न मानते हैं। जब कभी वे अपनी मागें सामने रखते हैं, जैसा कि समाज का कोई भी खण्ड अपनी शिकायतों को व्यक्त करने के लिये करेगा, तो वह अधिकतर हिन्दू-मुस्लिम हिंसा की ज्यादती (orgy) के रूप में फट पड़ता है और इसके पश्चात यह आरोप लगाया जाता है कि इसमें विदेशी हाथ है। मुस्लिम समस्या को क्या केवल सांप्रदायिक समस्या ही समझा जाये? क्या यह सच नहीं है कि हिन्दू-मुस्लिम मामला तमिलनाडु के

ब्राह्मण-विरोधी आंदोलनों का, यू पी., बिहार और कुछ अन्य राज्यों में अन्तर्जातीय झगड़ों, या असम में बंगाली- असमियों के झगडों या महाराष्ट्र में मराठी बनाम गैर मराठी झगडों से भिन्न नही है ? समस्या वास्तव में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की है ।

हिन्दू उग्रवादी यह कहते हैं कि इस देश में मुसलमानों की ओर अधिक ध्यान (pamper) दिया जा रहा है । 1992-93 के राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद के मसले ने साम्प्रदायिक सद्‌भाव के संतुलन को और भी गडबड़ा दिया है । काग्रेस से उम्मीदें छोडने के उपरान्त मुसलमानों का जनता दल में विश्वास हो गया था (1990) । परन्तु जनता दल के टूटने से और जनता दल (एस) के सत्ता में आने से (नवम्बर 1990) और उसके पश्चात राजीव गाधी की हत्या (मई 1991) से और नवम्बर 1993 के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी का चार राज्यों (राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश व हिमालचल प्रदेश) में से पुन एक राज्य में सत्ता में आने से भ्रान्तिया उत्पन्न हुई हैं । मुसलमान अपनी सुरक्षा और बचाव के लिये आज कही अधिक चिन्तित हैं ।

हिन्दू-सिख साम्प्रदायिकता (Hindu-Sikh Communalism)

सिख भारत की जनसख्या के 2 प्रतिशत से भी कम (1 3 करोड) हैं । यद्यपि ये पूरे देश में दूर दूर तक फैले हुए है, उनका सबसे बडा केन्द्रीयकरण पजाब में है जहा वे बहुमत में हैं । सिख धर्म का आरम्भ हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध एक सुधार आदोलन के रूप में हुआ था । दसवें गुरु के बाद सिखों में गुरुओं की परपरा समाप्त हो गई और ग्रथ साहब को सर्वाधिक आदर दिया जाने लगा । सिखों के पूजा स्थल महन्तों के नियन्त्रण में थे, जिनमें से कुछ ने अपने पद का दुरुपयोग किया और निजी सम्पत्ति जोडी । बीसवी शताब्दी के प्रारभिक वर्षों में कुछ युवा सिखों ने सिख महन्तों के आधिपत्य (monopoly) के विरुद्ध एक आन्दोलन शुरु किया । ये व्यक्ति-जिन्हें अकाली कहा जाता है-चाहते थे कि पूजा स्थलों का प्रबन्ध लोकतात्रिक ढग से चुने गये प्रतिनिधियों की सस्था के हाथ में हो । जब सिखों ने गुरुद्वारों को भ्रष्टाचारी महतों के चंगुल से छुडाने के लिये एक कडा सघर्ष किया तो 1925 में एस जी पी सी (सिख गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी) का जन्म हुआ । प्रारम्भ से ही एस जी पी सी अत्यन्त शक्तिशाली रही है । उसके अध्यक्ष (श्री तोहडा जो 1986 में केवल छह महिने छोड कर 18 वर्षों तक इसके अध्यक्ष रहे और जिन्होंने नवबर, 1990 में अध्यक्षता का पद त्याग दिया था परन्तु पुन नवम्बर, 1991 और फिर नवम्बर 1993 में अध्यक्ष का कार्यभाल सभाल लिया) ने सिखों के मामलों में सदैव एक प्रमुख भूमिका निभाई है । उन्हें पजाब का मुख्यमत्री बनाने वाला और हटाने वाला तक कहा जाता है । 1991 तक कोई भी अकाली उनकी मदद के बिना नही ठहर सकता था । 1992-93 में मुख्यमन्त्री बेअन्त सिह द्वारा पजाब में उग्रवादियों व आतकवाद की समस्या का समाधान करने के पश्चात तोहडा की शक्ति अब कम हो गयी है ।

एक दूसरे सिख समूह ने, जो निरकारी कहलाता है, सिख धर्म में घुस आये मतान्धों (dogmas), कर्मकाण्डों (rituals) और परपराओं के विरुद्ध आन्दोलन शुरु किया । इस प्रकार निरकारी आन्दोलन एक सुधार आन्दोलन था (विशुद्ध रूप से धार्मिक) जो सिखों की पूजा

पद्धति में हिन्दू धर्म की प्रथाओं के प्रवेश के विरुद्ध था। उसने कई देवताओं की पूजा बंद करने पर बल दिया और कर्मकाण्डों और संस्कारों में सादगी, आडंबरहीनता और पवित्रता को पुनः चालू किया। निरंकारी सिख धर्म में 1943 तक रहे, उसके बाद तनाव पैदा हो गया। अविभाजित अकाली दल ने मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में 1973 में सिखों द्वारा शासित स्वायत्तशासी (autonomous) पंजाब की मांग की। 17 अक्टूबर 1973 को अकालियों ने एक प्रस्ताव पारित किया जो अब आनन्दपुर प्रस्ताव के नाम से लोकप्रिय है। उसमें उन्होंने 45 मांगें रखीं। तत्पश्चात अकाली उग्रवादियों और नरमपंथियों में बट गये। एक उग्रवादी समूह जरनेल सिंह भिंडरावाले के नेतृत्व में अस्सी के दशक के प्रारंभ में एक शक्तिशाली समूह के रूप में उभरा। प्रारम्भ में उसने सिख धर्म को पवित्र करने के उद्देश्य से निरकारियों के विरूद्ध आन्दोलन चलाया, परन्तु अन्त में उसने सिखों के अलगाववाद का आन्दोलन शुरु किया और खालिस्तान की मांग रखी। यद्यपि सिखों का एक छोटा भाग अभी भी इस मांग के लिये काम कर रहा है, किन्तु अकालियों का बहुमत एक ऐसे राज्य के पक्ष में है जिसमें केन्द्र का अधिकार केवल सुरक्षा, विदेशों से संबध, संचार, रेल्वे और मुद्रा तक ही सीमित हो।

सिख आंदोलन जो अस्सी के दशक के प्रारम्भ में हुआ और जब एक स्थानीय संपादक की हत्या हुई, श्रीनगर की उड़ानों पर एक वायुयान का अपहरण हुआ और एक कल्पित राष्ट्र, खालिस्तान के लिये पासपोर्ट जारी किये गये, तब से यह आन्दोलन तेजी पकड़ने लगा। हत्याओं और गोलियों की संख्या बढ़ने लगी और सिखों का विरोध संगठित उग्रवादी एवं अधिकाधिक हिंसक हो गया। 1984 में जब अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में उग्रवादी सिखों द्वारा इकट्ठे किये गये हथियारों को ज़ब्त करने और आतंकवादियों को निकालने के लिए पुलिस ने गुरुद्वारे में 'आप्रेशन ब्लूस्टार' योजना के अन्तर्गत प्रवेश किया तो यह सिखों से सहा नहीं गया और अनेक सिख सरकार (और कुछ हिन्दुओं) के विरुद्ध हो गये। फिर अक्टूबर 1984 में जब श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के उपरान्त दिल्ली आदि शहरों में हज़ारों सिखों की हत्या की गयी व उनके मकान व दुकान आदि जलाये गये तो उनमें इतना आक्रोश पैदा हो गया कि कुछ आतंकवादी सिखों ने ट्रेन और बसों में यात्रा करने वाले हिन्दुओं को चुन-चुन कर मार डाला। मई 1988 में जब अमृतसर में स्वर्ण मन्दिर में पुनः "आपरेशन ब्लैक थन्डर" योजना द्वारा अनेक उग्रवादियों को दस दिन के घेरे के उपरान्त समर्पण करने के लिए मजबूर किया गया, तब सिख उग्रवादियों ने बहुत से शहरों में बम विस्फोट किये। कनाडा से भारत आने वाले एक जहाज़ को बम-विस्फोट के द्वारा उडा कर सैकडों हिन्दुओं को मार डाला गया। बहुत से हिन्दू पंजाब से भाग कर अन्य राज्यों में बस गये।

अतः लगभग नौ-दस वर्ष हिन्दू-सिख समुदायों के सम्बन्धों में अविश्वास/विरोध/वैमनस्य बना रहा। पर पंजाब में आतंकवाद की समस्या के लगभग समाप्त होने के उपरान्त अब (1994 में) दोनों समुदायों के सम्बन्ध पहले जैसे सामान्य और सौहार्दपूर्ण हो गये हैं।

नृजातीय हिंसा (Ethnic Violence)

हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों और हिन्दू-सिख झड़पों और तनाव के अलावा हमें विभिन्न नृजातियों के बीच सबंधों के बारे में क्या लगता है, जैसे सिंहलियों और तमिलों के बीच या असमियों और गैर-असमियों के बीच ? असम में लगभग 150 वर्षों तक राज्य का आर्थिक विकास राज्य के बाहर से लाये हुए मजदूरों और उद्यमियों से हुआ। इस 150 वर्ष के अन्तराल में असम तथा कथित 'बाहर से आये हुये व्यक्तियों' की कई पीढ़ियों का घर बन चुका है। इन व्यक्तियों का असम की धरती के अलावा न कोई घर है और न कोई जमीन। कुछ तो वस्तुत अमीर हो गये हैं परन्तु अधिकांश अत्यधिक गरीब हैं। असमियों (अहोर्स-Ahors) की जनसख्या ने अब राष्ट्रीयता का प्रश्न उठाया है। ऑल आसाम स्टूडेन्ट्स यूनियन (ए ए एस यू) और ऑल आसाम गण संग्राम परिषद (ए जी एस पी) (जिसने ए जी पी को राजनीतिक दल के रूप में जन्म दिया) ने भ्रमित होकर बाहर से आये हुये व्यक्तियों को विदेशी कहा (जिनमें बागलादेश से आये हुए बंगाली शरणार्थी भी थे)। विदेशी (बाहिरागाट) जो अवैध रूप से घाटी में छुपे हुए थे, उनकी सख्या के काल्पनिक आंकडे पेश किये गये। एक चरण में इन्हें पचास लाख बतलाया गया तो दूसरे चरण में साठ लाख और फिर एक और चरण में इन्हें सत्तर लाख कहा गया। असम को विदेशियों से मुक्त कराने के मुद्दे ने राज्य को छह वर्ष तक बदी (ransom) बना कर रखा - 1979 से असम समझौते तक जो 15 अगस्त, 1985 में हुआ। बोडों, बगालियों, मारवाड़ियों और ग़ैर-असमी मुसलमानों के विरुद्ध नफरत फैलाई गई। इस अलगाववादी आन्दोलन ने हज़ारों निर्दोष व्यक्तियों की जानें ली। नौगाव जिले के नीली क्षेत्र में और उसके आसपास दस गांवों में 1,383 स्त्रियों, बच्चों और कुछ पुरुषों की हत्या इस नृजातीय हिंसा का एक भाग था। ए.जी एस.पी. जो 1985 और 1990 के बीच सत्ता में रही इस नृजातीय तनाव को नही रोक पाई।

यू.एल.एफ.ए. उग्रवादियों ने राज्य में एक आन्दोलन छेडा और कोई आश्चर्य नही कि चुनाव, जो जनवरी 1991 में होने थे, के बजाय राज्य में नवम्बर, 1990 में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। फौज और सुरक्षा बलों ने विद्रोहियों को पकड़ने और हथियार बरामद करने के लिये एक अभियान आरम्भ किया। राष्ट्रपति शासन 30 जून, 1991 में हटा लिया गया जब राज्य में कांग्रेस (आई) ने सत्ता सभाली। परन्तु उल्फा (यू एल एफ ए) उग्रवादियों ने नई सरकार के सत्ता संभालने के पहले ही दिन 14 सरकारी कर्मचारियों का, जिनमें ओ एन जी सी के आठ शीर्ष अधिकारी थे, को राज्य के विभिन्न भागों से अपहरण करके झटका दिया। उग्रवादियों के अभी तक समझ में नही आया है कि असम दूसरे अन्य राज्यों की भाति है, और वह भारत के सभी वैध नागरिकों का है चाहे वे कोई भी भाषा बोलते हों, किसी भी धर्म का पालन करते हों, और किसी भी प्रकार की सस्कारों और कर्मकाण्ड (rituals) में विश्वास रखते हों।

बिहार में बेल्ची, पंतनगर, जमशेदपुर, नारायणपुर, दोहिया, पारसबीघा, और यू पी., और दूसरे राज्यों के गांवों में जाति को लेकर हुए हत्याकांडों को हम कैसे समझायेंगे ? सामुदायिक हिंसा की कुछ घटनाए ऊंची जातियों और नीची जातियों में तनाव के कारण हुई, जब कि अन्य

ज़मीन के झगड़ों के कारण। हत्या और बलात्कार की ज्यादतियों और मारपीट, लूटने और आगजनी की घटनाएं कई प्रकार से राजनीतिक नेताओं द्वारा भी अपने स्वार्थवश करवाई जाती है।

नृजातीय (ethnic) हिंसा श्रीलका में अभी भी चल रही है। उत्तरपूर्वी प्रान्त में तमिल वहुमत के भविष्य के प्रश्न को लेकर एलटीटीई. (लिवरेशन टाइगर्स आफ तमिल ईलम) सिंहली सरकार और फौज के साथ लड रहा है। उसने आई पी के.एफ (इंडियन पीस कीपिंग फोर्स) के हस्तक्षेप की परवाह नहीं की और उसकी वापसी की माग कर उन्हें वापस भारत आने पर मजबूर किया है। अंग्रेज उन्नीसवी शताब्दी में मद्रास के विभिन्न भागों से दस लाख से अधिक तमिल मजदूरों को रोज़गार की आकर्षक शर्तों का वादा करके श्रीलका से चाय और काफी के बगीचों में काम करने के लिये ले गये थे। तमिलों ने श्रीलका की समृद्धता के लिये एक सौ वर्ष से अधिक श्रम किया, परन्तु 1948-49 में सिन्हालियों की सरकार ने कठोर नागरिकता कानून बनाये जिन्होंने उन्हें नागरिकता से वचित कर दिया। पचहत्तर सदस्यों वाली श्रीलंका की पार्लियामेन्ट में उनका प्रतिनिधित्व घटकर आठ रह गया। इस मामले में तमिलों और सिंहलियों की सरकार में चर्चा चलती रही और 1964 में भारत और श्रीलंका की सरकारों के बीच एक समझौता हुआ (जिसे श्री मावो-शास्त्री समझौता कहा जाता है) जिसके तहत सवा पाच लाख तमिलों को भारत वापस भेजा जाना था और श्रीलंका को 15 वर्ष के अन्तराल में तीन लाख तमिलों को नागरिकता प्रदान करनी थी। इस सब के बावजूद भी डेढ़ लाख तमिल नागरिकता से वचित रह जाते थे। कुछ समय बाद दोनों सरकारों के बीच एक और समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत प्रत्येक को 50,000 नागरिकताहीन तमिलों को और लेना था। परन्तु 1976 से श्रीलंका सरकार समझौते में 15 वर्ष की अवधि के प्रावधान को बराबर बढ़ाती रही। भारत ने 1982 में इस अवधि को और बढ़ाने से मना कर दिया। सिंहलियों के भारतीयों के विरुद्ध विद्रोह और बढती हुई नृजातीय हिंसा ने स्थिति को और अधिक खराब कर दिया। तमिलों का दावा है कि उनके समुदाय के व्यक्तियों की सामूहिक (mass) हत्यायें हुई हैं, उनके कारखानों, होटलों और दुकानों को आग लगा दी गई और सिंहली सिपाहियों ने उनको यातनायें दीं। भारत-श्रीलका समझौते पर इस परिप्रेक्ष्य में 29 जुलाई, 1987 को हस्ताक्षर हुए और इन्डियन पीस कीपिग फोर्स (आर पी के.एफ) को श्रीलंका में शान्ति बनाये रखने को भेजा गया। शांति को पुनःस्थापित करने और श्री लका को अस्पतालों, बिजली घरों और स्कूलों को चलाने में सहायता देने में 1,100 भारतीय जवान और अफसर हताहत हुए और 30,000 ज़ख्मी हो गये। तथापि, श्रीलका के नये राष्ट्रपति ने आ पी क़े.एफ. की धीरे-धीरे वापसी की मांग की और आ.पी.क़े एफ सभी जवान 1990 में वापस भारत बुला लिये गये। परन्तु तमिलों की अपने अधिकारों के लिये लड़ाई जारी है और नृजातीय हिंसा अभी भी व्यापक है।

साम्प्रदायिक हिंसा (Communal Violence)

अवधारणा (Concept)

साम्प्रदायिक हिंसा की समस्याए और विशेषताएं विद्यार्थी आदोलनों, श्रमिकों की हड़तालों, और किसानों के आंदोलनों में हिंसा की समस्याओं और विशेषताओं से भिन्न हैं। अवधारणा के स्तर पर हमें साम्प्रदायिक हिंसा और आदोलनों (agitations) और आतंकवाद (terrorism) और राज्य प्रतिरोध और विद्रोह (insurgency) में अन्तर करना चाहिये। यह अन्तर छ स्तरों पर देखा गया है जन सग्रहण (mass mobilization) और हिंसा की मात्रा, सम्बद्धता की मात्रा, आक्रमण का लक्ष्य (target), दगों का यकायक भड़क उठना (flare-ups), नेतृत्व और दंगों से पीडित व्यक्ति और उसके परिणामों के अनुभव (सिंह, वी.वी., 1990)।

आंदोलनों में जनसग्रह (mass mobilization) जुलूसों, प्रदर्शनों और घेरावों के रूप में विरोध प्रकट करने और शिकायतों एव मागों को प्रस्तुत करने के लिये किया जाता है। साम्प्रदायिक हिंसा में व्यक्तियों का सग्रहण दूसरे समुदाय के विरुद्ध किया जाता है। इसमें आन्दोलनों के बारे में पहले से जानकारी नहीं मिलती (unpredictable), वे अनियत्रित होते हैं और इनमें एक भावनात्मक रोष और हिंसात्मक अभिव्यक्ति होती है जो दगों का रूप धारण कर लेती हैं।

हिंसा की मात्रा (degree of violence) और हिंसा करने के तरीके भी आदोलनों और साम्प्रदायिक दगों में भिन्न होते हैं। आतकवाद में जन समर्थन निष्क्रिय, अप्रकट और गुप्त होता है। यह मान कर कि राज्य विद्रोह असभव है, कुछ ही ऐसे सक्रिय, सशस्त्र उग्रवादी गुट होते हैं जो योजनाबद्ध तरीके से हिंसा का प्रयोग करते हैं। राज्य विद्रोह में जन समर्थन राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिये संगठित किया जाता है। इसके विपरीत साम्प्रदायिक हिंसा में जन समर्थन सामाजिक व्यवस्था के प्रति रोष व्यक्त करने के लिये सगठित किया जाता है। राज्य विद्रोह (insurgency) में प्रशिक्षित गुट भाग लेते हैं जब कि साम्प्रदायिक दंगों में अप्रशिक्षित लोग लिप्त होते हैं। राज्य विद्रोह में जनता में प्रचार शासन के विरुद्ध होता है जब कि साम्प्रदायिक दगों में वह सामाजिक पक्षपात, सामाजिक उपेक्षा और सामाजिक एव धार्मिक शोषण के विरुद्ध होता है।

सम्बद्धता की मात्रा (degree of cohesion) भी साम्प्रदायिक हिंसा, आन्दोलन, आतंकवाद और राज्य विद्रोह में भिन्न-भिन्न होती है। साम्प्रदायिक दगे की स्थिति में सम्बद्धता की ऊंची मात्रा शत्रुता, तनाव और जनसख्या के धुवीकरण के कारण होती है जबकि आन्दोलनों में वह स्वार्थ के युक्तिकरण पर आधारित है। आतकवाद और राज्य विद्रोह में सबद्धता सक्रिय कार्यकर्ताओं और उनके नेता के बीच होती है; जनता में यह इसकी तुलना में कम होती है।

राज्य विद्रोह और आतकवाद में आक्रमण का लक्ष्य (target) सरकार होती है। आन्दोलनों में वह सत्ताधारी समूह होती है और साम्प्रदायिक हिंसा में 'शत्रु' समुदाय के सदस्य

उसके लक्ष्य होते हैं। कभी कभी आंदोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में हिंसा का प्रयोग सरकारी सम्पत्ति को लूटने और जलाने में किया जाता है। असामाजिक तत्वों को आन्दोलनों और साम्प्रदायिक दगों में खुली छूट मिल जाती है, परन्तु आतकवाद और राज्य विद्रोह में ऐसा नहीं होता। राज्य विद्रोह और आतंकवाद में जिन शस्त्रों का उपयोग किया जाता है, वे आंदोलनों और साम्प्रदायिक झगड़ों में किये जाने वाले शस्त्रों से अधिक आधुनिक और परिष्कृत (sophisticated) होते हैं।

साम्प्रदायिक दंगों का यकायक भड़क उठना (flare up) विशेष सामाजिक ढांचे तक सीमित रहता है, जबकि राज्य विद्रोह और आतंकवाद में यह अनियत और अनिश्चित होता है। आंदोलनों में उपद्रव किन्हीं विशेष ढांचों को लेकर नहीं होते, अपितु विदित वंचनों और व्यक्तियों के संगठन पर आधारित होते हैं।

आतंकवाद राज्य विद्रोह और आदोलनों में नेतृत्व (leadership) आसानी से पहचाना जा सकता है परन्तु साम्प्रदायिक दगों में सदैव नहीं। साम्प्रदायिक दंगों में ऐसा कोई नेतृत्व नहीं होता जो दंगे की स्थिति को नियन्त्रित कर सके अथवा उसे रोक सके। दूसरी ओर आंदोलनों, आतंकवाद और राज्य विद्रोह में जो कुछ होता है, वह नेताओं के निर्णय के अनुरूप होता है और स्थिति पर उनका प्रभावी नियत्रण रहता है।

अन्त में, साम्प्रदायिक हिंसा के परिणाम (aftermath) होते हैं:- तीव्र शत्रुता, पूर्वाग्रह और एक समुदाय के दूसरे के प्रति पारस्परिक शक। आन्दोलनों में मानव हानि तुलनात्मक दृष्टि से कम होती है यद्यपि सम्पत्ति की कभी कभी अधिक हानि हो जाती है। जब आंदोलनों में समझौता हो जाता है तो सरकारी एजेन्सियों के विरूद्ध वैरभाव भी समाप्त हो जाता है और बदले की भावना भी कुछ समय पश्चात चली जाती है। आतंकवाद में पीड़ितों में से अधिकांश निर्दोष होते हैं। वे उग्रवादियों के प्रति निष्क्रिय रहते हैं और निष्क्रिय व्यवहार से वे स्वयं को अधिक सुरक्षित समझते हैं। पीड़ित व्यक्तियों में प्रतिशोध की भावना हो ही नहीं सकती क्यों कि उग्रवादी गुमनाम होते हैं और संगठित रूप से परिष्कृत शस्त्रों से लैस होते हैं। राज्य-विद्रोहों में पीड़ित व्यक्तियों में अधिकाश सुरक्षा बलों के सदस्य या सरकारी कर्मचारी होते हैं जो राज्य विद्रोह के लिये प्रत्युपायों (counter-measures) में सहायता करते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक हिंसा प्रमुख रूप से घृणा, द्वेष और प्रतिशोध पर आधारित है। अब हम साम्प्रदायिक हिंसा की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

साम्प्रदायिक दगों की विशेषताएं (Features of Communal Riots)

पिछले साढ़े चार दशकों में देश में हुए बड़े साम्प्रदायिक दंगों के अध्ययनों ने यह उद्घाटित किया है कि:(1) साम्प्रदायिक दंगे धर्म की तुलना में राजनीति से अधिक प्रेरित होते हैं। मदान कमीशन ने भी, जिसने मई, 1970 में महाराष्ट्र में हुए साम्प्रदायिक दंगों की छानबीन की, इस पर बल दिया था कि "साम्प्रदायिक तनावों के वास्तुकार (architeds) और निर्माता (builders) सम्प्रदायवादी और राजनीतिज्ञों का एक वर्ग होता है-वे अखिल भारतीय और स्थानीय नेता जो

अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने, अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने, और अपनी सार्वजनिक छवि को समृद्ध बनाने के लिये हर अवसर का लाभ उठाना चाहते हैं और इसके लिये वे हर घटना को साम्प्रदायिक रंग देते हैं और इस प्रकार जनता के आगे वे अपने आप को अपने समुदाय के धर्म और अधिकारों के हिमायती के रूप में प्रस्तुत करते हैं"। (2) राजनीतिक स्वार्थों के अलावा आर्थिक स्वार्थ भी साम्प्रदायिक झगडों को भडकाने में प्रबल भूमिका अदा करते हैं। (3) साम्प्रदायिक दंगे दक्षिण और पूर्वी भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक आम हैं। (4) ऐसे शहरों, जिनमें साम्प्रदायिक दंगे एक या दो बार हो चुके हैं, में इनके पुन होने की सभावना ऐसे शहरों की अपेक्षा में जहां कभी दगे नहीं हुए अधिक प्रबल होती है। (5) अधिकाश साम्प्रदायिक दंगें धार्मिक त्योहारों के अवसर पर होते हैं। (6) दगों में घातक हथियारों का उपयोग बढ़ रहा है।

साम्प्रदायिक दंगो का प्रभाव-क्षेत्र (Incidence of Communal Riots)

भारत में साम्प्रदायिक उन्माद1946-48 के दौरान अपनी पराकाष्ठा (peak) पर पहुच गया था। 1950-1963 के काल को साम्प्रदायिक शाति का काल कहा जा सकता है। देश में राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक विकास ने साम्प्रदायिक स्थिति को सुधारने में अपना योगदान दिया। दंगों के प्रभावक्षेत्र 1963 के बाद एकाएक बढ़ गये। पूर्वी भारत के विभिन्न भागों जैसे कलकत्ता, जमशेदपुर, राऊरकेला और राचो में 1964 में भयकर दगे हुए। साम्प्रदायिक हिंसा की लहर 1968 और 1971 के बीच, जब केन्द्र और राज्यों में राजनीतिक नेतृत्व कमजोर था, सारे देश में फैल गई। कांग्रेस 1969 में विभाजित हुई थी और कुछ राज्यों में एस.वी.डी. सरकारें राजनैतिक सत्ता में थी। देश में 1954-55 और 1988-89 के बीच हुए साम्प्रदायिक दंगों की कुल सख्या को सूचीबद्ध किया गया है : 1954-55.125, 1956-57:100, 1958-59:60, 1960-61:100, 1962-63:100, 1964-65 675, 1966-67.310, 1968-69:800, 1970-71:775, 1972-73 425, 1974-75:400, 1976-77 315, 1978-79:400, 1980-81:710, 1981-82.830, 1982-83.950, 1983-84:1090, 1984-85·1200, 1985-86:1300, 1986-87:764, 1987-88.711, 1988-89.611 (सरोलिया, 1987.60 और दि हिन्दुस्तान टाइम्स, दो अप्रैल, 1990)।

नवम्बर-दिसम्बर, 1990 में उत्तरप्रदेश, आंध्रप्रदेश और गुजरात में हुए साम्प्रदायिक दगे इस अनर्थकारी मोड़ का सकेत देते हैं जो साम्प्रदायिक स्थिति ने ले लिया है। आन्ध्र प्रदेश में 8 और 11 दिसबर, 1990 के बीच हुए दंगों में 50 लोगों से अधिक झडपों में मारे गये। अलीगढ में भी जहां उसी काल में दगे हुए थे 100 से अधिक लोगों के मारे जाने की खबर थी। कानपुर में कम से कम छह लोग मारे गये, 27 जख्मी हुए और कई लूट और आगजनी के मामलों की रपट दर्ज हुई। एटा (उत्तरप्रदेश) में 13 लोग मारे गये। बेलगाव (कर्नाटक) में अप्रैल 1992 में हुए दंगों में नौ व्यक्ति मारे गये थे। बनारस (उत्तरप्रदेश) में नवम्बर 1991 में, हापुर (उत्तरप्रदेश) में फरवरी 1992 में, सीलम्पुर में मई 1992 में, और समईपुर बदली (दिल्ली) में

जुलाई 1992 में हुए दंगे यह सिद्ध करते हैं कि देश में साम्प्रदायिक एकता कमजोर हो रही है। महाराष्ट्र में नासिक जिले में जुलाई 20, 1992 को दंगे जनता पार्टी के सदस्यों द्वारा अयोध्या में मन्दिर निर्माण के विरोध में पत्थर फैंकने के प्रदर्शन के बाद आरम्भ हुए थे जिसमें अनेकों व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी थी और भारी सम्पत्ति नाश हुई थी। मुन्धा कस्बे में केरल की राजधानी त्रिवेन्द्रम के निकट जुलाई 1992 के दंगे में दंगाइयों ने बम विस्फोट, तेजाब के बल्ब व धारदार हथियारों आदि का प्रयोग कर इस्लामिक सेवक संघ के लोगों ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा पर हमला करके अनेक व्यक्तियों को मार दिया था और घायल किया था। यह घटना पूर्व नियोजित थी और इसका उद्देश्य साम्प्रदायिक तनाव पैदा करना था। अक्टूबर 6, 1992 में सीतामढी के दंगे में 37 व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी (कुछ के अनुमार वास्तव में 100 से अधिक व्यक्ति मारे गये थे), अनेक घायल हुए थे और 500 से अधिक मकान जलाये गये थे। दंगों का कारण दुर्गा पूजा कमेटी के सदस्यों द्वारा मुस्लिम क्षेत्र से निमीलन (immersion) जुलूस ले जाना था। दिसम्बर 6, 1992 में अयोध्या में विवादित स्थान (disputed shrine) के गिराने के बाद अनेक राज्यों में साम्प्रदायिक दंगों में पांच दिन में 1,060 व्यक्ति मारे गये थे। उत्तरप्रदेश में 236, असम में 76, कर्नाटक में 64, राजस्थान में 30, और बंगाल में 20 व्यक्ति मारे गये थे। इस हिंसा के बाद सरकार ने इस्लामिक सेवक संघ, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद व जमाते इस्लामी हिन्द जैसे संगठनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। बाद में दो तीन संगठनों से यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया था।

बम्बई में अप्रैल 1993 में हुए बम विस्फोटों और उसके बाद कलकत्ता में बम विस्फोटों के उपरान्त जो साम्प्रदायिक दंगे हुए थे, उनमें 200 से अधिक हिन्दुओं और मुसलमानों के मारे जाने के समाचार थे। बम्बई बम विस्फोट के कुछ ही दिनों बाद दिल्ली के एक मशहूर इमाम ने एक वक्तव्य दिया था कि "अब हमारे जीवित रहने का मूल मुद्दा है। हम जिंदा रहने के लिए हथियार उठाने की सम्भावना को भी नकार नहीं सकते"। संघ परिवार नेताओं ने यह दावा किया कि "भारत हिन्दू राष्ट्र है; हिन्दू संस्कृति ही प्रामाणिक भारतीय संस्कृति है; मुसलमान वास्तव में महमदी हिन्दू हैं, तथा सभी हिन्दुस्तानी परिभाषा से ही हिन्दू हैं"। हिन्दू और मुस्लिम धर्मान्धजनों (fanatics) के इसी आक्रमणकारी दृष्टिकोण के कारण साम्प्रदायिक तनाव पैदा होता है और दंगे भड़कते हैं। जब साम्प्रदायिक तनाव-टकराव राजनेताओं का निहित स्वार्थ बन जाता है तो हालात और बिगड़ते हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से, जबकि 1961 में भारत के 350 जिलों में से 61 जिले संवेदनशील माने गये, 1979 में 216, 1986 में 186, 1987 में 254, और 1989 में 186 जिले संवेदनशील (sensitive) जिलों की परिभाषा में आये। जान की क्षति के अतिरिक्त साम्प्रदायिक दंगों से माल का व्यापक विनाश होता है और इनका आर्थिक गतिविधियों पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ 1983 और 1986 के बीच 14 करोड़ रुपये के माल का नुकसान हुआ (टाइम्स आफ इंडिया, 25 जुलाई, 1986)। 1986 और 1988 के बीच तीन वर्षों में

साम्प्रदायिक दंगों की 2,086 घटनाओं में 1,024 व्यक्ति मारे गये और 12,352 जख्मी हुए।

सर्वाधिक साम्प्रदायिक दंगे 1988 में महाराष्ट्र (96) में हुए, इसके बाद उत्तरप्रदेश (85), बिहार (84), पश्चिम बगाल (74), मध्यप्रदेश (43), राजस्थान (19), असम (8), जम्मू और कश्मीर (5), हरियाणा (3), केरल (2), और देहली (2)। हाल के वर्षों में गुजरात सभी प्रकार के सम्प्रदायवादियों के शिकार का अड्डा बन गया है। 1986 में 142 दगों के विपरीत, 1987 में 146 और 1988 में 69 दगे हुए।

साम्प्रदायिक हिंसा के कारण (Causes of Communal Violence)

साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या को समझने के लिये दो उपागमों का उपयोग किया जा सकता है. (क) ढांचों की कार्यप्रणाली का निरीक्षण करना और (ख) उसके उद्भव की प्रक्रिया के कारण मालूम करना। पहले प्रकरण (case) में साम्प्रदायिक हिंसा को सामाजिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली या समाज के ढांचों के सचालन के अध्ययन से समझा जा सकता है जब कि दूसरे प्रकरण में नियोजित/अनियोजित या चेतन/अचेतन तरीके महत्वपूर्ण होते हैं जो कि साम्प्रदायिक हिंसा को जीवित रखते हैं। साम्प्रदायिक हिंसा को प्रथम प्रकरण में एक 'तथ्य' के रूप में लिया जाता है या एक 'निश्चित' घटना समझा जाता है और फिर उसके औचित्य ढूंढे जाते हैं, जब कि दूसरे में साम्प्रदायिक हिंसा के उद्भव के लिये सहसबधों को ढूंढने का प्रयास किया जाता है ताकि उसका एक प्रक्रिया के रूप में अध्ययन किया जा सके।

विभिन्न विद्वानों ने साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या का विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से अध्ययन किया है और उसके होने के विभिन्न कारण बताये हैं और उसे रोकने के लिये विभिन्न उपाय सुझाये हैं। मार्क्सवादी विचारधारा साम्प्रदायिकता का संबंध आर्थिक वचन और बाज़ार की ताकतों पर एकाधिकार नियंत्रण को प्राप्त करने के लिये धनवान और निर्धन के बीच वर्ग-संघर्ष से बतलाती है। कुछ राजनीतिज्ञ इसे सत्ता का सघर्ष मानते हैं। समाजशास्त्री इसे सामाजिक तनावों और सापेक्षिक वचनों से उत्पन्न हुई घटना कहते हैं। धार्मिक विशेषज्ञ इसे हिंसक कट्टरवादियों और अनुसारकों (conformists) की शक्ति का प्रतीक कहकर पुकारते हैं।

बहुकारक उपागम में दस प्रमुख कारक साम्प्रदायिकता के कारणों के बताये गये हैं (सलेलिया, 1987.62)। ये हैं सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, कानूनी, मनोवैज्ञानिक, प्रशासनिक, ऐतिहासिक, स्थानीय, और अन्तर्राष्ट्रीय। सामाजिक कारकों में सामाजिक परपराएं, जाति एवं वर्ग-अहम् (class ego), असमानता और धर्म पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण सम्मिलित है; धार्मिक कारकों में धार्मिक नियमाचारों और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों में गिरावट, सकीर्ण और मतान्ध धार्मिक मूल्य, राजनीतिक लाभों के लिये धर्म का उपयोग और धार्मिक नेताओं की साम्प्रदायिक विचारधारा सम्मिलित है, राजनीतिक कारकों में धर्म पर आधारित राजनीति, धर्म-शासित राजनीतिक सस्थाएं, राजनीतिक हस्तक्षेप, साम्प्रदायिक हिंसा का राजनीतिक औचित्य और राजनीतिक नेतृत्व की असफलता सम्मिलित हैं; आर्थिक कारकों में आर्थिक शोषण और पक्षपात, असन्तुलित आर्थिक विकास, प्रतिस्पर्धा का बाज़ार, अप्रसरणशील

(non-expanding) आर्थिक व्यवस्था, श्रमिकों का विस्थापन और असमावेशन (non-absorption) और गल्फ से आये हुए पैसे का प्रभाव सम्मिलित है; कानूनी कारकों में सम्मिलित हैं, समान कानून सहिता, सविधान में कुछ समुदायों के लिये विशेष प्रावधान और रियायतें, कुछ राज्यों को (जैसे कश्मीर) विशेष दर्जा, आरक्षण नीति और विभिन्न समुदायों के लिये विशेष कानून, मनोवैज्ञानिक कारकों में सम्मिलित हैं, सामाजिक पूर्वाग्रह, रूढ़िबद्ध (stereo typed) अभिवृत्तिया, अविश्वास, दूसरे समुदाय के प्रति विद्वेष और भावशून्यता, अफवाहें, भय का मानस (fear psyche) और जनसंपर्क के साधनों द्वारा गलत जानकारी देना/ गलत अर्थ लगाना/ अयथार्थ रूप प्रस्तुत करना; प्रशासनिक कारकों में शामिल हैं, पुलिस और दूसरी प्रशासनिक इकाईयों में समन्वयन का अभाव, कुसज्जित और कुप्रशिक्षित पुलिस कर्मचारी, गुप्तचर विभागों की अकुशल कार्यप्रणाली, पक्षपाती पुलिस के सिपाही, पुलिस की ज्यादातियां और निष्क्रियता और अकुशल पी.ए.सी.; ऐतिहासिक कारकों में शामिल हैं, विदेशी आक्रमण, धार्मिक संस्थाओं को क्षति, धर्म परिवर्तन के लिये प्रयत्न, उपनिवेशीय शासकों की फूट डालो और राज करो की नीति, विभाजन का मानसिक आघात पिछले साम्प्रदायिक दंगे, जमीन, मंदिर और मस्जिद के पुराने झगड़े; स्थानीय कारकों में सम्मिलित हैं, धार्मिक जुलूस, नारेबाज़ी, अफवाहें, ज़मीन के झगड़े, स्थानीय असामाजिक तत्व और गुटों में प्रतिद्वन्दिता; और अन्तर्राष्ट्रीय कारकों में सम्मिलित हैं, दूसरे देशों द्वारा दिये जा रहे प्रशिक्षण और वित्तीय सहायता, भारत की एकता को भंग करने और कमज़ोर बनाने के लिये दूसरे देशों द्वारा षड्यंत्र रचाना और फिर साम्प्रदायिक सगठनों को समर्थन देना।

इन उपागमों के विपरीत, हमें एक ऐसे समष्टिपरक (holistic) उपागम की आवश्यकता है जिसके द्वारा साम्प्रदायिक हिंसा को समझा जा सके। यह उपागम विभिन्न कारकों पर बल देगा और बड़े कारकों और छोटे कारकों में भेद करेगा। सिरिल बर्ट (1944) की तरह हम इन कारकों का चार उपसमूहों में वर्गीकरण कर सकते हैं: अधिकतम स्पष्ट (most conspicuous), प्रमुख सहयोगी (chief cooperating), लघु गंभीर (minor aggravating), और ऊपरी तौर से निष्क्रिय (apparently inoperative)। विशेष रूप से ये कारक हैं: साम्प्रदायिक राजनीति एवं धार्मिक कट्टरवादियों को राजनीतिज्ञों का समर्थन, पूर्वाग्रह (जिसके कारण पक्षपात, परिहार (avoidance), शारीरिक आक्रमण और निर्मूलन होते हैं), साम्प्रदायिक संगठनों का विकास और धर्म परिवर्तन। मोटे तौर पर, हमें अपना ध्यान धर्मान्धों, असमाजिक तत्वों, और उन निहित आर्थिक स्वार्थों जो प्रतिद्वंद्वी समुदायों में हिंसा भड़काते हैं पर केन्द्रित करना चाहिये। मेरी अभिधारणा (thesis) यह है कि "साम्प्रदायिक हिंसा धार्मिक कट्टरवादियों द्वारा भड़काई (instigated) जाती है, इसकी पहल (initiated) असामाजिक तत्वों द्वारा की जाती है, राजनीति में सक्रिय व्यक्ति इसे समर्थन (supported) देते हैं, निहित स्वार्थ इसे वित्तीय सहायता (financed) प्रदान करते हैं और ये पुलिस और प्रशासकों की निर्दयता (callousness) के कारण फैलती है"। जब कि साम्प्रदायिक हिंसा

प्रत्यक्ष रूप से इन कारणों के कारण होती है परन्तु वह कारक जो हिंसा को फैलाने में सहायक होता है वह है एक नगर विशेष का पर्यावरणीय खाका (ecological lay-out) जो दंगाईयों को पकड़ में नहीं आने देता। मेरी अभिधारणा की पुष्टि करते हैं मध्य भारत के गुजरात में बड़ोदा और अहमदाबाद के साम्प्रदायिक दंगों के एकल अध्ययन (case-studies), उत्तर प्रदेश में मेरठ, अलीगढ़ और मुरादाबाद के दंगे, पश्चिम बंगाल में जमशेदपुर के दंगे, उत्तर भारत में कश्मीर में श्रीनगर में दंगे, दक्षिण भारत में हैदराबाद व केरल में दंगे, और पूर्वी भारत में असम में दंगे।

इन सब एकल अध्ययनों में से हम एक केस दृष्टांत (illustration) के लिये ले सकते हैं-मेरठ में मई, 1987 में हुए साम्प्रदायिक दंगों का केस। इस शहर में पिछले 45 वर्षों में एक दर्जन से अधिक बार साम्प्रदायिक हिंसा का गंभीर प्रकोप हुआ है। मेरठ की जनसंख्या दस लाख के आसपास है। 1987 के दंगे मेरठ में 16 मई को शुरू हुए, चौबीस घंटे में वे पुरानी देहली की चाहरदीवारी में स्थित शहर में फैल गये और उसके कुछ दिन बाद मोदी नगर, बुलंदशहर, हापुड़, गाज़ियाबाद, मुरादनगर, मुजफ्फरनगर और मुरादाबाद भी इससे प्रभावित हो गये। यह घटना एक ज़मीन के विवाद में चार मुसलमानों द्वारा एक हिन्दू लड़के की हत्या से भड़क उठी। जब पुलिस इन मुसलमानों को गिरफ्तार करने गई तो तीन सिपाहियों को गली में घसीटा गया और उनकी राइफलें छीन ली गई। लड़ाई जो कि आरम्भ में पुलिस और मुलज़िमों के बचाने वालों के बीच थी ने शीघ्र ही साम्प्रदायिक रंग ले लिया। एक दुकान को आग लगाई गई और उसके मालिक को छुरा घोंप के हत्या कर दी गई। इस संकुल लड़ाई (melee) में कुछ धार्मिक कट्टर पंथियों ने मस्जिद के लाउडस्पीकर से ऐलान किया कि धर्म के श्रद्धालु आएं और अपने धर्म की रक्षा करें। इससे मुसलमान और हिन्दू झगड़े में आमने सामने आ गये जिसके फलस्वरूप कई घृणित घटनाएं घटीं।

अगले दस दिनों में सेना, अर्द्धसैनिक बलों और सशस्त्र पुलिस ने हिंसा समाप्त करने के लिये शहर को घेर लिया। इस कालावधि में धर्मान्धों (fanatics) और असामाजिक तत्वों ने 20 करोड़ से अधिक सम्पत्ति को लूटा/ नष्ट कर दिया, 150 लोगों की हत्या कर दी और लगभग 1,000 लोगों को जख्मी कर दिया। प्रशासकों और अफसरों की क्रूरता इससे स्पष्ट होती है कि उन्होंने उन पुलिस टुकड़ियों को हटा लिया जो केवल दो महिने पहले हुए दंगों के बाद शहर का दौरा कर रही थीं। उनकी यह उदासीनता इस तथ्य से विशेषरूप से सुस्पष्ट हो जाती है कि गुप्तचर विभाग की सूचनाओं ने यह बताया था कि दोनों समुदायों के सदस्यों ने बहुत भारी मात्रा में हथियार जमा करना शुरु कर दिया था। प्रशासन इस सीमा तक चला गया कि उसने उन व्यक्तियों को जिन्हें पिछले दंगों में शांति भंग करने के आरोप में गिरफ्तार किया था रिहा कर दिया। उस समय झगड़े का पर्याप्त संकेत था क्यों कि पूजा स्थलों से बराबर घोषणाएं हो रही थीं। इस दंगे में साम्प्रदायिक और असामाजिक तत्वों ने लोगों की धार्मिक भावनाओं का अनुचित लाभ उठाया और एक महीने पहले धार्मिक नेताओं ने जोशीले और भड़काने वाले

भाषण दिये। (मुसलमान नेताओं ने सारे देश से आये हुए तीन लाख मुसलमानों को देहली में सम्बोधित किया, जब कि हिन्दू नेताओं ने एक लाख हिन्दूओं की सभा को अयोध्या में सम्बोधित किया)। प्रशासन ने गुप्तचर विभाग से मिली सूचनाओं पर कोई कदम नहीं उठाया और कई राजनीतिज्ञों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच स्थानीय दस्तकारियों जैसे कैंची बनाना और कपड़े के व्यापार में जो प्रतिद्वद्विता थी उसे बढ़ावा दिया। पी ए सी की प्लाटून ने भी तनाव को नियन्त्रण में करने की आड़ में पास के गावों में आदमियों के एक छोटे समूह को मार कर और मकानों को जलाकर साम्प्रदायिक पक्षपात दिखाया।

ये सब तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि किस प्रकार धार्मिक कट्टरवादी, असामाजिक तत्व, राजनीतिज्ञ, अफसर और पुलिस शहर में साम्प्रदायिक तनाव और हिंसा की उत्पत्ति और उसे भड़काने के लिये उत्तरदायी थे। इस समष्टिपरक (holistic) उपागम में कुछ कारकों की व्याख्या आवश्यक है। मुसलमानों में भेदभाव की असगत भावना है। आज देश में मुसलमानों की सख्या पूरी जनसख्या की 11.4 प्रतिशत है। 1986 तक मुसलमानों की प्रतिशतता आई ए एस में 2.9, आई.पी.एस में 2.8, बैंकों में 2 2 और न्यायपालिका में 6.2 थी। इसलिये मुसलमानों में यह भावना जागृत हुई कि उनके साथ भेदभाव हो रहा है और उन्हें सब क्षेत्रों में अवसरों से वंचित रखा जा रहा है। सत्य यह है कि जो मुसलमान इन नौकरियों के लिये प्रतियोगिता में भाग लेते हैं उनकी संख्या बहुत कम है। परन्तु उन्होंने धार्मिक भेदभाव और भाई-भतिजावाद के आरोप लगाकर इसके बारे में बहाने ढूढने का प्रयत्न किया है। मुसलमानों में भेदभाव की भावना हास्यास्पद और निर्मूल है।

दूसरा कारक खाड़ी और दूसरे देशों से भारत में पैसे का प्रवाह है। मुसलमान बड़ी संख्या में अच्छी राशि कमाने और धनी बनने के लिये खाड़ी देशों में प्रवास करते हैं। ये मुसलमान और खाड़ी के शेख मस्जिदें बनाने, मदरसे खोलने और खैराती मुसलमान सस्थाओं को चलाने के लिये मुक्त हस्त से भारत को पैसा भेजते हैं। इस प्रकार यह विश्वास किया जाता है कि यह धनराशि मुस्लिम कट्टरवादिता को सहायता पहुंचाती है। पाकिस्तान एक ऐसा देश है जिसके शासकों में भारत के प्रति सदैव द्वेष की भावना रही है। वे निरन्तर भारत में अस्थिरता उत्पन्न करने में रुचि लेते रहे हैं। अब अधिकारिक रूप से यह सिद्ध हो गया है कि पाकिस्तान मुसलमान और सिख आतंककारियों (जम्मू और कश्मीर और पंजाब के) को प्रशिक्षण और सैन्य सामान देकर उनकी सक्रिय रूप से सहायता कर रहा है। नवम्बर 1993 में श्रीनगर में हज़रतबल दरगाह में भी पाकिस्तान का हाथ साबित हो गया। पाकिस्तान और दूसरी सरकारों के इन अस्थिरता उत्पन्न करने वाले प्रयत्नों ने हिन्दुओं में मुसलमानों के प्रति दुर्भावना और संदेह पैदा किया है। यही बात भारत में हिन्दू कट्टरवादियों और हिन्दू सगठनों के लिये भी कही जा सकती है जो मुसलमानों और मुस्लिम सगठनों के विरुद्ध द्वेषपूर्ण भावनाओं को भड़काते हैं। अयोध्या में राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद का विवाद, मथुरा में कृष्ण जन्मभूमि और उसके समीप मस्जिद के रूप में किया गया परिवर्तन, वाराणसी में काशी विश्वनाथ मन्दिर और उसके बराबर में

मस्जिद का विवाद, और सभल में विवादास्पद मस्जिद जिसके लिये यह दावा किया जाता है कि यह पृथ्वीराज चौहान के काल से शिव भगवान का मन्दिर था और मुस्लिम नेता (स स) का मुसलमानों को आह्वान कि वे गणतन्त्र दिवस का बहिष्कार करे और 26 जनवरी, 1987 को 'काले दिन' के रूप में मनाए, ऐसे प्रकरणों ने दोनों समुदायो के बीच दुर्भावना को बढावा दिया है।

प्रेस और सचार माध्यम भी कभी कभी अपने तरीके से साम्प्रदायिक तनावों को बढाने में अपना योगदान देते हैं। कई बार अखबारों में छपी खबरें सुनी सुनाई अफवाहों का गलत प्रस्तुति पर आधारित होती हैं। इस प्रकार की खबरें आग में चिनगारी का काम करती हैं और साम्प्रदायिक भावनाओं को भडकाती हैं। यह अहमदाबाद के 1969 के दगों में हुआ जब 'सेवक' ने यह खबर छापी कि मुसलमानों ने कई हिन्दू स्त्रियों को निर्वस्त्र किया और उनके साथ बलात्कार किया। यद्यपि इस खबर का दूसरे दिन ही खडन किर दिया गया, परन्तु नुकसान तो हो ही चुका था। इसने हिन्दुओं की भावनाओं को उकसाया और साम्प्रदायिक दगा करवाया।

कई समस्याओं में से एक जो विगत वर्षों से हिन्दुओं और मुसलमानों को उत्तेजित कर रही है वह है मुस्लिम व्यक्तिगत कानून (Muslim Personal Law)। सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा शाहबानो के पक्ष में दिये गये फैसले ने मुसलमानों में यह डर पैदा कर दिया कि उनके व्यक्तिगत कानून में दखलदाजी की जा रही है। राजनीतिज्ञ भी अपने को सत्ता में बनाये रखने के लिये स्थिति का अनुचित लाभ उठाते है। भारतीय जनता पार्टी, विश्व हिन्दू परिषद, शिव सेना और आर एस एस सगठन हिन्दुओं के समर्थक होने का दावा करते हैं। उसी प्रकार मुस्लिम लीग, जमाते-इस्लामी, जमायत-उलेमाये-हिन्द, मजलिसे-इत्तिहादुल मुसलमीन और मजलिसे-मुशाबरात अपनी धार्मिक समस्याओं की हिमायत करके मुसलमानों को अपने वोट बैंकों की तरह उपयोग करते हैं। जम्मू और कश्मीर, आध्र प्रदेश, गुजरात, केरल, उत्तर प्रदेश, बिहार और बम्बई की साम्प्रदायिक राजनीति इस प्रकार के आचरण के उदाहरण हैं। राजनीतिज्ञ सामाजिक वातावरण को अपनी भडकाने वाले भाषणों, लेखों और प्रचार द्वारा साम्प्रदायिक उन्माद से प्रभावित कर देते हैं। वे मुसलमानों के दिमाग में अविश्वास के बीज बो देते हैं और हिन्दुओं में भी विश्वास हो जाता है कि उन्हें मुसलमानों को आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रों में विशेष रियायतें देने के लिये अनुचित लाभ उठाते हैं और उनकी अपनी प्रथाओं और संस्कारों की विभिन्नताओ को भी उजागर करते हैं। नेतागण व्यक्तियों के मस्तिष्क में भय और सदेह भरने के लिये आर्थिक दलीलों का भी प्रयोग करते हैं और अपने अनुयायियों को थोडी सी छेड-छाड पर दगा शुरू करने के लिये तैयार करते हैं। ऐसा भिवाडी, मुरादाबाद, मेरठ, अहमदाबाद, अलीगढ़ और हैदराबाद में हुआ।

सामाजिक कारक, जैसे मुसलमानों द्वारा परिवार नियोजन के उपायों को नही अपनाना भी हिन्दुओं में सदेह और दुर्भावना उत्पन्न करते हैं। 1982 में विश्व हिन्दू परिषद ने महाराष्ट्र में पुणे और शोलापुर में पर्चे बाटे जिसमें मुसलमानों द्वारा परिवार नियोजन कार्यक्रम को स्वीकार नही करने की और बहुविवाह प्रथा का पालन इस उद्देश्य से करने की कि जिससे उनकी जनसख्या

में कथित रूप से वृद्धि हो जाये और वे भारत में मुस्लिम सरकार बना लें, की निन्दा की गई। यह सब प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और प्रशासनिक कारकों का सम्मिश्रण स्थिति को गंभीर बनाता है और जिस कारण साम्प्रदायिक दंगे होते हैं।

राष्ट्रीय एकता आन्दोलन तथा साम्प्रदायिक संघर्षों पर नियन्त्रण (National Integration Movement and Control on Communal Conflicts)

जून 1962 में राष्ट्रीय एकता परिषद की स्थापना की गई थी जिसने क्षेत्रवाद और साम्प्रदायिकतावाद निवारण के लिए दो समितियाँ नियुक्त की थीं। परन्तु चीन के आक्रमण ने जिस राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा दिया था, उसने राष्ट्रीय एकता परिषद के कार्य को सीमित कर दिया। परन्तु यह एकता एक अल्पकालिक घटना थी और जल्द ही साम्प्रदायिक हिंसा ने पुनः जोर पकड़ा जिस कारण 1968 में राष्ट्रीय एकता परिषद की पुनर्रचना की गयी। इस बार साम्प्रदायिकतावाद, क्षेत्रवाद व शिक्षण सम्बन्धी समस्याओं के लिए तीन कमेटियाँ बनायी गयीं। इसके अतिरिक्त एक स्थायी (standing) कमेटी भी बनायी गयी थी। इन कमेटियों ने यद्यपि दिशानिर्देश (guidelines) देने तथा कानून निर्माण व प्रशासनिक कार्यक्रम सम्बन्धी अच्छे सुझाव दिये थे, परन्तु 1970 तक ये कमेटियाँ निरुपयोगी हो गयी थीं। 1973 में यद्यपि कर्णधार (steering) समिति को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया गया परन्तु यह निष्फल रहा। राष्ट्रीय एकता परिषद को पुनः पहले 1980 में और फिर 1984 में सक्रिय किया गया पर अधिक सफलता नहीं मिली। 1986 में इसे सक्रिय बना कर पंजाब के मामले पर बल दिया गया। सितम्बर 1986 में पाँच व्यक्तियों की एक उप-समिति बना कर अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करने तथा साम्प्रदायिक सद्भाव को बढ़ाने की चेष्टा की गयी। इस उप-समिति की रिपोर्ट पर तीन वर्षों तक चर्चा नहीं की जा सकी। फरवरी 1990 में एक बार फिर राष्ट्रीय एकता परिषद की मीटिंग करके पंजाब, कश्मीर और अयोध्या मसलों पर नये उपाय अपनाने पर वार्ता की गयी परन्तु इस बार भी परिषद को सफलता नहीं मिली क्योंकि भारतीय जनता पार्टी ने इसका बहिष्कार किया। नवम्बर 1991 में अयोध्या मसले पर चर्चा करने के लिए एकता परिषद की मीटिंग बुलायी गयी। दूसरी मीटिंग दिसम्बर 1991 में कश्मीर और पंजाब के मसले पर की गयी। फिर जुलाई 18, 1993 को मीटिंग रखी गयी पर ये सब बैठकें निष्फल रहीं तथा अभी तक साम्प्रदायिक सदभाव की समस्या का राष्ट्रीय एकता परिषद कोई हल नहीं ढूंढ पायी है।

साम्प्रदायिक हिंसा के सिद्धान्त (Theories of Communal Violence)

साम्प्रदायिक हिंसा एक सामूहिक हिंसा है। जब समुदाय के लोगों का एक बड़ा भाग अपने सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति में असफल हो जाता है या यह महसूस करता है कि उनके विरुद्ध भेदभाव हो रहा है और उन्हें समान अवसरों से वंचित रखा जा रहा है, तो उसमें कुण्ठा और मोहभंग की भावनाएं जागृत हो जाती हैं। यह सामूहिक कुण्ठा [जिसे फायराबेन्ड्स

(Feierabends) और नेसवोल्ड (Nesvold) ने 'नियमित कुण्ठा' (Systematic Frustration) कहा है] सामूहिक हिंसा को जन्म देती है। फिर भी समस्त समुदाय हिंसात्मक विरोध प्रदर्शित नहीं करता। दरअसल में असंतुष्ट व्यक्ति जो सत्ता में होने वाले समूह या सत्ता में होने वाले अभिजनों (जिनके आचरण के विरुद्ध वे विरोध करते है) के विरुद्ध जो कार्यक्रम आयोजित करते हैं वह प्राय अहिंसात्मक होता है। वह केवल प्रतिवादियों का एक छोटा सा दल ही होता है जो अहिंसा को अप्रभावी मानता है और संघर्ष की सफलता के लिये हिंसा को अत्यावश्यक समझता है। यही गुट अपनी विचारधारा की शक्ति की पुष्टि करने के लिये प्रत्येक अविचारित (precipitating) अवसर का हिंसा का प्रयोग करने के लिये उपयोग करता है।

यह उप-समूह, जिसका हिंसात्मक आचरण होता है, समस्त समुदाय या असंतुष्ट व्यक्तियों के समूचे समूह का प्रतिनिधित्व नही करता। इस उप-समूह के आचरण का अधिकाशतया समूह के बाकी व्यक्ति साफ-साफ तरीके से समर्थन नही करते। इस प्रकार मेरा दावा हिंसात्मक दंगाई आचरण के पुराने सिद्धान्त (riff-raff theory) के बहुत समीप आ जाता है जिसका मानना है कि व्यक्तियों में अधिकाश इस उपसमूह के हिंसात्मक विचलित व्यवहार को अस्वीकार करते हैं, उसका विरोध करते हैं और उसे *'दायित्वहीन' आचरण समझते हैं।*

प्रश्न यह उठता है कि 'व्यक्तियों का समूह' किस कारणवश हिंसात्मक हो जाता है? सामूहिक हिंसा पर महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रस्तावों (propositions) में से दो ये हैं: (i) यह उत्तेजना के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, और *(ii) यह उन नियमाचारों से सामजस्य रखता है* जो इसके उपयोग को समर्थन देते हैं। इसके लिये कुछ महत्वपूर्ण प्रचलित सिद्धान्तों का विश्लेषण करना आवश्यक है। मनो-विकृति सिद्धान्तों को अलग करते हुए (क्यों कि वे *आक्रामक की मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के लक्षणों और रोगात्मक विकारों को हिंसा के* प्रमुख निर्धारक मानते हैं और मैं इसे वैयक्तिक हिंसा की व्याख्या करने के लिये महत्वपूर्ण मानता हूँ न कि सामूहिक हिंसा की व्याख्या करने के लिये) दूसरे सिद्धान्तों का दो श्रेणियों में वर्गीकरण हो सकता है: *(अ) सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विश्लेषण* के स्तर पर, और *(ब)* सामाजिक-सांस्कृतिक या समाज वैज्ञानिक विश्लेषण के स्तर पर। पहली श्रेणी में कुण्ठा-आक्रमण (Frustration-Aggression) सिद्धान्त, विकृति (Perversion) *सिद्धान्त, अभिप्राय आरोपण (Motive-Attribution) सिद्धान्त,* और आत्ममनोवृत्ति (self-attitude) सिद्धान्त को सम्मिलित किया जा सकता है, जब कि दूसरी श्रेणी में व्यवस्था तनाव (System Tension) सिद्धान्त, व्याधिकी (Anomie) सिद्धान्त, हिंसा की उपसंस्कृति (Sub-culture of violence) *का सिद्धान्त और समाज-सीख* (Social Learning) सिद्धान्त को सम्मिलित किया जा सकता है। मेरा मत है कि ये सब सिद्धान्त साम्प्रदायिक दंगों की सामूहिक हिंसा के तथ्य को समझाने में विफल रहते हैं। मेरा सैद्धान्तिक उपागम (जो *सामाजिक बन्धन* (Social Bond) *उपागम कहलाता है)* सामाजिक संरचनात्मक स्थितियों के समाजवैज्ञानिक विश्लेषण पर केन्द्रित हैं।

सामाजिक बन्धन का सिद्धान्त (Social Bond Theory)

जिन परिस्थितियों के कारण सामूहिक साम्प्रदायिक हिंसा होती है वे हैं: तनाव, पद की कुण्ठा (status frustration), और विभिन्न प्रकार की सकट-स्थितिया । मेरी धारणा यह है कि हिंसा का उपयोग आक्रामक (aggressors) इस लिये करते हैं क्यों कि वे असुरक्षा और चिन्ता से ग्रसित होते हैं । इन भावनाओं और चिन्ताओं की उत्पत्ति उन सामाजिक अवरोधों से होती है जो कि दमनात्मक सामाजिक व्यवस्थाए और सत्ताधारी अभिजनों (power elite) द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं । इन (भावनाओं) की उत्पत्ति उस व्यक्ति की पृष्ठभूमि और पालन-पोषण से भी होती है जिसने उस (व्यक्ति) के लिये कठिनाईयाँ उत्पन्न की हैं और जो कि उस (व्यक्ति) के सामाजिक प्रतिमानों और सामाजिक सस्थाओं के प्रति असगत और अवास्तविक मनोवृत्तियों की प्रवृत्ति को और बिगाड़ देती है । मेरा सिद्धान्त आक्रामक के व्यवहार में तीन कारकों को भी ध्यान में रखता है, अर्थात् समजन (adjustment) (पद में), लगाव (attachment) (अपने समुदाय के प्रति) और वचन बद्दता (commitment) (मूल्यों के प्रति) और साथ में सामाजिक वातावरण (जिसमें व्यक्ति/ आक्रामक रहते हैं) और व्यक्तियों (आक्रामकों) का सामाजिकृत व्यक्तित्व । मेरा सैद्धान्तिक मॉडल इस प्रकार महत्व देता है सामाजिक व्यवस्था को, आक्रामकों के व्यक्तिगत व्यक्तित्व संरचना को, और समाज के उप-सास्कृतिक सरूपों को जिनमें व्यक्ति हिंसा का उपयोग करते हैं । सामाजिक व्यवस्था में, मैं उन तनावों और कुण्ठाओं को सम्मिलित करता हूँ जो कि समाज में सामाजिक संरचनाओं (परिवार, मित्र-समूह, समुदाय, आदि) के फलस्वरूप होते हैं । व्यक्तित्व संरचना में, मैं व्यक्तिगत आक्रामकों के समजन, लगाव और वचनबद्दता को सम्मिलित करता हूँ; और उप-सांस्कृतिक सरूपों में मैं उन मूल्यों को सम्मिलित करता हूँ जो समाज के नियन्त्रण में एक साधन के रूप में काम करते हैं ।

मेरी धारणा है कि असमंजन (maladjustment), विरक्ति (non-attachment) और अवचनबद्दता (non-commitment) के कारण एक सापेक्षिक वंचन (relative deprivation) की भावना उत्पन्न हो जाती है । सापेक्षिक वचन का अर्थ है एक समूह की अपेक्षाओं और उसकी क्षमताओं के बीच अनुभव की गई विसंगति (क्षमताओं का अर्थ है व्यक्तियों/समूहों का यह सोचना कि समान अवसर और न्यायसंगत साधन मिलने की दशा में वे भी अपनी अपेक्षाओं को प्राप्त करने या बनाये रखने में सक्षम हैं) । यहां महत्वपूर्ण शब्द है 'अनुभव की गई' (आक्रामकों के द्वारा); इसलिये आचरण के भिन्न रूपभेद या सापेक्षिक वंचन के कारण सदैव हिंसा नहीं भड़कती ।

सापेक्षिक वचन (एक समूह का) तब होता है जब (i) अपेक्षाएं बढ़ती हैं जब कि क्षमतायें वही रहती हैं या उनमें गिरावट आ जाती हैं या (ii) अपेक्षाए वही रहती हैं और सक्षमताओं का ह्रास हो जाता है । क्यों कि अपेक्षाएं और सक्षमताएं बोध (perception) पर निर्भर होती हैं इसलिये एक समूह के मूल्यों का महत्वपूर्ण सबध होता है (अ) कि किस तरीके से वह समूह

वंचन का अनुभव करेगा,(ब) वह लक्ष्य जिसको वह *(सापेक्षिक वचन) अपना निशाना बनायेगा*, और (स) वह रूप जिसमें वह उसे प्रदर्शित करेगा। चूंकि प्रत्येक समूह/व्यक्ति भिन्न भिन्न शक्तियों से प्रभावित होता है इसलिये प्रत्येक समूह/व्यक्ति हिंसा के प्रति या सामूहिक साम्प्रदायिक हिंसा के प्रति अपनी प्रतिक्रिया भिन्न भिन्न प्रकार से व्यक्त करेगा।

सामूहिक साम्प्रदायिक हिसा की अनेक घटनाओं में से (जैसे 1978 में अलीगढ,1979 में जमशेदपुर,1980 में मुरादाबाद,1981 में हैदराबाद,1982 और फिर 1987 मे मेरठ,1984 में भिवंडी और देहली,1985 मे अहमदाबाद,1990 में जयपुर,1991 में वाराणसी और 1992 में बम्बई) एक को लें। हम 1985 के अहमदाबाद के दगों को लेते हैं। अहमदाबाद में हिंसा वचन (deprivation) की भावना के कारण हुई। प्रमुख समस्या आरक्षण समस्या थी जिसमें दोनों गुट आरक्षण विरोधी और आरक्षण समर्थक वंचित और कुण्ठित थे। उनकी कुण्ठा का राजनीतिक दलों ने अपने निहित स्वार्थों के लिये अनुचित लाभ उठाया और आरक्षण के विषय को जाति और धर्म से जोडा गया। असामाजिक तत्वों का,जो राजनीतिक बल पर अवैध शराब के धंधे में लगे हुए थे और पनप रहे थे,साम्प्रदायिक अविश्वास फैलाने में उपयोग किया गया। एक छोटी सी शरारत जनसख्या में आग भडकाने के लिये पर्याप्त थी क्योंकि वह बहुत बुरी तरह साम्प्रदायिक धाराओ में डूबी हुई थी।

मेरा सामाजिक बन्धन सिद्धान्त आवश्यक रूप से हिसा का अभिजन सिद्धान्त नही है जहां कि एक छोटा समूह,जो विचारधारा के सदर्भ में बेहतर है,हिसा को फैलाने में पहल करता है। यह समूह यह निर्णय भी लेता है कि उसको किस प्रकार सम्पूर्ण कुण्ठित समूह (जिसका पक्षधर बनकर वह विरोध को हिंसात्मक रूप से मुखर करता है) की भलाई के लिये काम में लाया जाये। इसके अतिरिक्त यह छोटा समूह कुण्ठित जनता के व्यापक सामूहिक कार्य पर निर्भर नही रहता है। इस सदर्भ में मेरी व्याख्या रूढ़िवादी मार्क्सवादी सिद्धान्त के विरुद्ध है क्यों कि मार्क्स ने इस प्रकार के विद्रोह और जनक्रान्ति की परिकल्पना नहीं की थी।

ध्रुवीकरण और क्लस्टर के प्रभाव का सिद्धान्त (Theory of Polarisation and Cluster Effect)

हाल में एक नई अवधारणात्मक पैराडाइम (conceptual paradigm) का सृजन भारत में अन्तर (inter) और अन्दरूनी (intra) सामुदायिक हिंसा को समझाने के लिये किया गया है। यह उत्तरप्रदेश में साम्प्रदायिक दंगों के आनुभाविक अध्ययन पर आधारित है (सिंह,वी वी, साम्प्रदायिक दगे,1990)। यह पैराडाइम तीन धारणाओं पर आधारित है- ध्रुवता (polarity), फूट (cleavage), और क्लस्टर अथवा गुच्छ समूह (cluster)। ध्रुवता से तात्पर्य "सादृश्यता (affinity), सम्बद्धता (affiliation), सलग्नता (belongingness), सरोकार (concern) और अभिन्नता (identity) के ऐसे भाव से है जो व्यक्ति किसी विशेष समस्या का सामना करते समय एक दूसरे के प्रति रखते हैं"। समस्या धार्मिक, सैद्धान्तिक, राजनीतिक या आर्थिक हो सकती है: ध्रुवीकरण (polarization) "अभिन्नता और सम्बद्धता की एक

ऐसी तीव्र भावना (heightened sense) है जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों या समूहों में भावात्मक,मानसिक या भौतिक संचालन हो जाता है जिस से एकता उत्पन्न होती है ।" फूट एक ऐसी घटना है जिसके द्वारा एक विशेष स्थान पर जनसंख्या दो विभिन्न ध्रुवों में बँट जाती है जिनके परस्पर-विरोधी,विषमता वाले या प्रतिकूल सिद्धान्त या प्रवृत्तियाँ होती है । गुच्छ समूह (cluster) एक ध्रुव वाले व्यक्तियों (polarity) के निवास स्थान के संरूप को बतलाता है जो कि एक विशेष क्षेत्र में एक विशेष समय पर समानता (commonness) प्रदर्शित करते हैं । इस पैराडाइम का सृजन (built up) दंगों से पहले, दगों के समय, और दंगों के बाद की स्थितियों के तथ्यों के आधार और विभिन्न सामाजिक समूहों (ध्रुवों जो आपस में वैर भाव रखते हैं) के सदस्यों के सामूहिक आचरण के विश्लेषण के आधार पर किया गया है । चूंकि साम्प्रदायिक दंगों में दो विरोधी सामाजिक समूह होते हैं इसलिये यह आवश्यक है कि वैर-भाव (जो वास्तव में मनोदशा और मन है), सरचनात्मक प्रेरकता (concluciveness) (जो वास्तव में भौतिक स्थिति है) और पूर्वाग्रह का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाये ।

व्यक्ति अकेलेपन में कमज़ोर और असुरक्षित होता है । शक्ति संग्रहण/सम्मेलन/जमाव (assembly), सामूहिकता और समूहों में होती है । एक व्यक्ति अपने लाभ और सुरक्षा के लिये उनमें मिल जाता है । समाज में हर समय विभिन्न ध्रुवताएं (polarities) विद्यमान होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिये ये ध्रुवताए अन्तर-व्यक्तिगत सम्बन्धों के विषय में सन्दर्भ (references) का काम करते हैं । ध्रुवताए दो प्रकार की होती हैं-स्थाई और अस्थाई । पहली श्रेणी में सिद्धान्त, धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्र और लिंग आते हैं । ये ध्रुवताएं व्यक्ति की मूल पहचान बताती हैं जो व्यक्ति के अन्तिम समय तक रहती हैं । दूसरी श्रेणी में व्यवसाय, पेशा, और वे कार्य आते हैं जो निहित स्वार्थों पर आधारित हैं । यद्यपि सामान्यतया ध्रुवताएं आपस में अनन्य (mutually exclusive) नहीं होतीं, परन्तु वे अनन्य उस समय हो जाती हैं जब कि ध्रुवीकरण के फलस्वरूप समाज में जनसंख्या के विवाद और विभाजन की अनुभूति से फूट पड़ जाती है । तब जनता सामान्यतः एक अकेली ध्रुवता से एक ही प्रकार से जुड जाती है तो वह उस समय पर उस विशेष स्थान पर उस विशेष जनसंख्या की एक प्रमुख ध्रुवता बन जाती है । यह प्रमुख ध्रुवता जनसख्या के आवास का संरूप निर्धारित करती है, यानि ध्रुवता पर आधारित गुच्छ समूह जनांकिकी आवासीय सरूप (demographic living pattern) को चिन्हित (dot) करते हैं । पुराने शहरों और कस्बों में ये गुच्छ समूह धर्म, जाति और सम्प्रदाय पर आधारित होते हैं, परन्तु आधुनिक नगरों में ये वर्गों पर अधिक आधारित होते हैं । जब इस प्रकार के क्लस्टर दो भिन्न ध्रुवताओं के कारण बनते हैं (जैसे धर्म/या धार्मिक संप्रदाय) तो वहा झगड़ा होता है ।

गुच्छ समूह (क्लस्टर) में रहने की सामाजिक गतिकी (Social dynamics) यह होती है कि गुच्छ समूह दंगा-प्रवृत्त स्थिति (riot-prone situation) के उभारने में अति प्रेरक सिद्ध होते हैं क्योंकि अन्तर-व्यक्तिगत सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं और ऐसी उत्तेजनाएं (irritants) उत्पन्न हो जाती हैं जिन्हें एक का दूसरे के प्रति जानबूझ कर किया गया अपमान, वंचन

(deprivation) और चोट समझा जाता है । ऐसी घटनाएं गुच्छ समूहों के अधिकांश लोगों को अपनी ही ध्रुवता वाली जनसंख्या में सम्पर्क बनाने के लिये प्रोत्साहित करती हैं और यह जन विद्रोह पैदा करने में मदद करती हैं ।

नेतृत्व के स्तर पर दिया जाने वाला साम्प्रदायिक आह्वान (call) भी ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में तेजी लाता है । उदाहरणार्थ, मुस्लिम जनसंख्या को मेरठ में 1982 में शाही इमाम बुखारी द्वारा दिये गये भडकाने वाले भाषण से हिन्दूओं में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अपने हितों की रक्षा के लिये उनमें मुसलमानों के विरुद्ध ध्रुवीकरण हो गया जिससे अन्तत शहर में साम्प्रदायिक दगा हुआ । उसने इसी प्रकार का भडकाने वाला भाषण 8 अप्रैल, 1988 को अनतनाग, कश्मीर में दिया और कश्मीरी मुसलमानों को यह कह कर भडकाया कि विभाजन के बाद उन्हें गुलाम बना दिया गया है । उसने बलपूर्वक कहा कि केन्द्र ने उनके लिये बेहतर आर्थिक स्थितियां पैदा नही की हैं, उनको अपने अधिकारों से वचित रखा जा रहा है, और उनकी समस्याओं की अनदेखी की जा रही है ।

ध्रुवता के प्रभुत्व (polarity dominance) की प्रकृति पाच कारकों पर निर्भर है (1) समय और स्थान (यानि कालावधि, क्षेत्र, स्थान और स्थिति या भौगोलिक सीमायें), (2) सामाजिक सरचना (यानि, जाति, समुदाय और सामाजिक समूह) (3) शिक्षा (यानि हित के प्रति जागरूकता), (4) आर्थिक स्वार्थ, और (5) नेतृत्व (यानि भावात्मक भाषण, वायदे और नेताओं की नीतियां) ।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर वी वी सिंह दगा-प्रवृत्त (साम्प्रदायिक) सरचना का निम्नांकित रूप से वर्णन करते हैं

(1) अभिज्ञेय (identifiable) गुच्छ समूहों (क्लस्टरों) में द्वि ध्रुवता (bi-polarity) वाली जनसख्या,
(2) अति सामीप्य (close proximity),
(3) सामान्य स्वार्थ और उसके फलस्वरूप वैर भाव,
(4) ध्रुवित हुई जनसख्या की शक्ति (potency) । शक्ति सख्यात्मक बल, आर्थिक सपन्नता, हथियारों के रखने की स्थिति, नेतृत्व की किस्म, और कार्यक्रम की शक्ति, और
(5) जिले की पुलिस और सरकारी प्रशासन की प्रशासनिक स्वार्थपरायणता (expediency) और अकुशलता ।

साम्प्रदायिक दगों के भडकने की प्रक्रिया (flare up) को वी वी सिंह ने निम्नांकित रूप से समझाया है:

पुलिस की भूमिका (Role of Police)

साम्प्रदायिक हिंसा में पुलिस की भूमिका दगा करने वालों को गिरफ्तार करना, दगाई को जो

एक स्थान पर जमा हो गये हैं खदेड़ना, ग़लत अफ़वाहों को फैलने से रोकना (ग़लत अफ़वाहें जो दूसरे ज़िलों और राज्यों में विभिन्न समुदायों के व्यक्तियों को भड़काती हैं), और जनता में शान्ति बनाये रखना है । पुलिस कानून और शांति की व्यवस्था बनाये रखने की भूमिका को राजनीतिज्ञों, प्रशासनिक अधिकारियों, न्यायपालिका और कुल मिलाकर जनता के सक्रिय सहयोग के बिना अदा नहीं कर सकती । अधिकांशतया यह देखने में आता है कि हमारे देश में प्रशासनिक अधिकारी कर्मकाण्डी (ritualist) होते हैं, राजनीतिज्ञ निहित स्वार्थों से वशीभूत होकर कार्य करते हैं, न्यायपालिका के मजिस्ट्रेट/जज परंपरावादी होते हैं और जनता को पुलिस में विश्वास नहीं होता । इस प्रकार पुलिस को अपनी अपेक्षित भूमिकाएं निभाने में कई प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता है । इसलिये पुलिस द्वारा दंगों पर नियंत्रण रखने और साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने का परीक्षण इन प्रतिबंधों के परिप्रेक्ष्य में करना होगा ।

आरेख 1

साम्प्रदायिक दंगों के भड़काने की प्रक्रिया
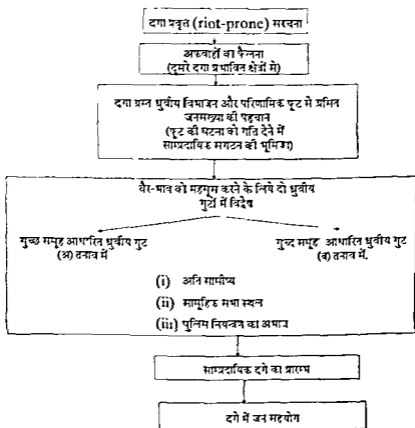
साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने के लिये दगाप्रवृत्त क्षेत्रों में तनाव बनने के लक्षणों पर रोक लगाना और तनाव रोकने का प्रबध करना आवश्यक है पुलिस को उन राज्यों, जिलों और शहरों में जहां साम्प्रदाथिक दगे बहुधा हुआ करते हैं के दगा प्रवृत्त सरचनाओं को पहचानना पड़ता है और शहर के खाके में ध्रुवीकरण पर आधारित जनसख्या के गुच्छ समूहों (क्लस्टरों) पर निगरानी रखनी पड़ती है। ध्रुवीकरण पर आधारित जनसख्या के क्लस्टर सब एक प्रकार के नहीं होते। एक क्लस्टर कट्टरवादी या उदारवादी या उग्र सुधारवादी या मिश्रित हो सकता है। क्लस्टर अपने पेशे में, आचरण के सरूपों में, और नेतृत्व की ओर अपनी प्रतिक्रिया में भिन्न होते हैं। पुलिस के लिये सवेदनशील क्षेत्रों, सामूहिक सभा स्थलों, हिंसा के लक्ष्य, असुरक्षित पट्टियों (belts), छुपने के स्थान और दगों के समय आश्रय स्थलों को पहचानने के लिये यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वह विभिन्न क्लस्टरों के व्यक्तियों, उनकी उग्रवादी प्रवृत्तियों और कार्य प्रणाली पर नजर रखे।

दगा प्रवृत्त क्षेत्रों में तनाव-प्रबन्ध (tension management) के लिये अन्तर-गुट झगडों से सबधित सूचकाक तैयार करने की आवश्यकता है। ये सूचकाक हैं तनाव बनाने वाले विवाद-विषयों की पहचान, सामूहिक चिन्ताओं की जानकारी, विवाद-विषयों का उपचार और भग हुई प्रतिष्ठा को पुन प्रतिष्ठित करना, वार्तालाप (negotiation), कार्यरत (functional) गुटों को गतिशील बनाना और अफवाहों को रोकना। अफवाह प्रबन्ध (rumour management) में अफवाह क्षेत्र को अलग करना, प्रति सन्तुलन (counter-balance), अफवाह फैलाने वालों को निष्क्रिय करना और लोक प्रशासन को सवेदनशील बनाना।

निर्धारणात्मक/आदेशात्मक उपाय (Prescriptive measures)

साम्प्रदायिक झगडों का नासूर सारे भारत में व्याप्त है। कई शहर विगत कई वर्षों से साम्प्रदायिक बारूद के पीपे (powder keg) बने हुए हैं। एक बडी सख्या में ऐसे राज्य हैं जहा साम्प्रदायिकता ने अपनी जड़ें गहरी और स्थाई रूप से जमा ली हैं और साम्प्रदायिक राजनीति चरम सीमा पर है। अस्सी के दशक में लगभग 4000 व्यक्ति साम्प्रदायिक दगों में मारे गये। सत्तर के दशक की तुलना में यह सख्या लगभग चार गुनी है। सत्तर के दशक में, 1969 के अहमदाबाद के दगों के बाद जब 1500 व्यक्ति मारे गये थे, तुलनात्मक रूप से शांति रही। पिछले कुछ दशकों में सम्प्रदायवादियों को अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है। साम्प्रदायिक सगठनों की संख्या जो 1951 में एक दर्जन से कम थी वह 1991 में बढ कर 500 से भी अधिक हो गई और उनकी सक्रिय सदस्यता कई लाखों में हो गई है। साम्प्रदायिक हिंसा से प्रभावित ज़िलों की सख्या बढी है। कई व्यक्ति जिनके विरुद्ध निश्चित अपराधिक इतिहास है, उन नेताओं को समर्थन दे रहे हैं जो साम्प्रदायिक दर्शन में विश्वास रखते हैं, और अपने को पुलिस कार्यवाही से बचाने के लिये उन्हें कवच की तरह काम में ले रहे हैं और सम्मान प्राप्त करने के लिये उन्हें अपनी बैसाखी बनाया हुआ है।

यदि उमड़ते हुए साम्प्रदायिकता के इस ज्वार को उलटा नही गया तो यह सारे देश को

बहाकर ले जायेगा। इसके हल दोनों राजनीतिक-मनोवैज्ञानिक और प्रशासनिक-आर्थिक हैं। स्वतत्रता से पहले यह दलील देना सरल था कि साम्प्रदायिक हिंसा अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' नीति का परिणाम था। अब वास्तविकता अधिक जटिल है। धर्म का राजनीतिकरण हो गया है और राजनीति का अपराधीकरण। जब तक सब समुदाय अपने को एक राष्ट्र का भाग नही मानते तब तक साम्प्रदायिक अशान्ति को रोकना कठिन होगा। एक देश, जो अपनी नीतियों के धर्मनिरपेक्ष होने पर गर्व करता है, को ऐसे राजनीतिज्ञों से सावधान रहना चाहिये जो कि केवल अपने धार्मिक समुदाय के ही लिये बोलते हैं। उसे ऐसे अधिकारियों को अनावृत्त और पृथक कर देना चाहिये जो धर्म निरपेक्षता को केवल एक सैद्धान्तिक सभावना ही मानते हैं। पुलिस अब और समय के लिये साम्प्रदायिक समस्या को पनपने नही दे सकती जिस प्रकार से वह अब तक पनपी है।

साम्प्रदायिक दगों से निबटने के लिये निम्नलिखित प्रभावी कदम उठाये जा सकते हैं साम्प्रदायिक मानसिकता रखने वाले राजनीतिज्ञों को रोकना और उन्हें चुनाव लडने से वचित करना, धर्मान्ध लोगों को प्रतिरोधक दण्ड देना, दोष निवारक (corrective) उपायों का उपयोग करना, जैसे पुलिस विभाग को राजनीतिज्ञों के नियत्रण से मुक्त करना, पुलिस के खुफिया विभाग को शक्तिशाली बनाना, पुलिस बल की पुनः संरचना करना, पुलिस प्रशासन को अधिक सवेदनशील बनाना, पुलिस अधिकारियों के प्रशिक्षण कार्यक्रम में संशोधन करना, और उन्हें धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाने के योग्य बनाना। एक कुशल पुलिस सगठन, प्रबुद्ध पुलिस कर्मचारी और सुसज्जित और विशेष प्रशिक्षण प्राप्त पुलिस दल निश्चित रूप से सकारात्मक परिणाम देंगे।

सरकार को ऐसे उपाय भी करने होंगे जिससे कि भेदभाव और वंचन, जो वास्तविक रूप से नहीं हैं, की भावनाए खत्म हो जायें। सरकार को उग्रवादी साम्प्रदायिक व्यक्तियों को तथा उनकी कानून की व्यवस्था समाप्त करने की क्षमता को लक्ष्य मानना होगा। कश्मीर में पार्थक्यवादी (secessionists), पजाब में उग्रवादी, केरल में इस्लामिक सेवक संघ, उत्तरप्रदेश में बजरग दल (अब प्रतिबन्धित संगठन) तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ व शिव सेना जैसे संगठनों को सरकार को अपनी अमन चैन व शान्ति स्थापित रखने सम्बन्धी मशीनरी/शासनतन्त्र द्वारा सामना करना होगा। छोटे असुरक्षित समुदाय अपनी रक्षा के लिए सदा सरकार तथा साम्प्रदायिक पार्टियों पर निर्भर रहते हैं। कश्मीर के हिन्दू पडित, बम्बई व उत्तरप्रदेश में साम्प्रदायिक हिंसा के अबोध मुस्लिम पीड़ित व्यक्ति, तथा आन्ध्र प्रदेश, केरल, गुजरात, आदि में हिन्दू-मुसलमान दगों के पीडित व्यक्ति अपनी जान और सम्पत्ति के संरक्षण के लिए धर्मनिरपेक्ष सरकार की खोज में हैं। 1980 के दशक व 1990 दशक के पहले तीन वर्षों में पायी जाने वाली साम्प्रदायिक्ता ने धर्मनिरपेक्ष सरकार पर उत्तरदायित्व डाला है कि वह उभरते हुए साम्प्रदायिक तत्वों को नाश करे। आज साम्प्रदायिकता धीरे-धीरे बढ़ रही (marching) है, धर्मनिरपेक्षता पीछे जा (retreat) रही है तथा राज्य रक्षणात्मक

(defensive) कार्य कर रहा है। ब्लू स्टार आपरेशन के बाद की अवस्था में सरकार रक्षणात्मक थी, शाह बानो केस में सरकार पीछे जा रही थी, अयोध्या में मन्दिर-मस्जिद विवाद पर 1992 में और नवम्बर 1993 में कश्मीर में हजरतबल दरगाह विवाद पर सरकार घेरे से बाहर (under siege) थी। इन सभी परिस्थितियों में सिख, मुस्लिम और हिन्दू सम्प्रदायवादी आक्रमण (offensive) पर थे। अतः सरकार को अल्पकालीन व दीर्घकालीन रणनीतियों द्वारा हिन्दू, मुस्लिम और सिख साम्प्रदायिकता का सामना करना होगा।

वर्तमान में सरकार जन-कार्यों और चुनावों में धर्म पर आधारित राजनीति की उभरती समस्या का भी सामना कर रही है, यद्यपि नवम्बर 1993 में चार राज्यों में हुए चुनावों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जनता इस प्रकार की राजनीति को स्वीकार नहीं करती। प्रतीकात्मक कार्य (symbolic gestures) पर्याप्त नहीं होंगे। मुसलमानों की वास्तविक समस्याओं, जैसे रोज़गार, साक्षरता, और हर क्षेत्र में उनको न्यायसगत प्रतिनिधित्व देना, का समाधान करना आवश्यक है। अल्पसख्यक समुदायों के विकास और उनमें व्यापक निरक्षरता और बेरोजगारी को हटाने के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। धर्मनिरपेक्ष सरचनाओं को बढावा देना और सुरक्षित रखना चाहिये। इन धार्मिक सस्थाओं पर ज़ोरदार आक्रमण किये जाने चाहिये जो साम्प्रदायिकता को पनपाती हैं। समुदायों के बीच सदेह की भावना को सख्ती से मिटा दिया जाना चाहिये। एक समान कानून सहिता (common civil code) की आज अत्यन्त आवश्यकता है। विशेष समुदायों के लिये कोई विशेष कानून नहीं होने चाहिये और किसी राज्य को कोई विशेष दर्जा नहीं दिया जाना चाहिये। आरक्षण नीति को हटाना पड़ेगा। राजनीतिक जोड-तोड से भी निबटना पडेगा। उन राजनीतिज्ञों से जो पुलिस कार्यवाही में हस्तक्षेप करते हैं और झगडा करने वालों की गिरफ्तारी नहीं होने देते सख्ती से पेश आना होगा। धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों को क्रियाशील बनाने के लिये जनमत और जन-चेतना उत्पन्न करना होगी।

इन उपायों के साथ साथ दूसरे उपाय जो साम्प्रदायिक हिंसा को रोकने के लिये सरकार को अपनाने चाहिये वे हैं (1) दगा-प्रवृत्त क्षेत्रों में धर्मनिरपेक्ष मनोवृत्ति के जिला और पुलिस अधिकारियों को लगाना चाहिये (2) साम्प्रदायिक अपराधों की जाच के लिये विशेष अदालतें अलग से लगाई जानी चाहिये (3) साम्प्रदायिक दगों से पीड़ितों के पुनर्निवास के लिये तत्काल सहायता और पर्याप्त वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई जानी चाहिये (4) उन सबके विरुद्ध जो साम्प्रदायिक तनाव भडकाते हैं या हिंसा में भाग लेते हैं कठोर कार्यवाही होनी चाहिये।

इस प्रकार देश में साम्प्रदायिक तनावों को रोकने के लिये और साम्प्रदायिक सामजस्य लाने के लिये बहु-रुपीय उपायों की आवश्यकता है। हमें न केवल धार्मिक सम्प्रदायवाद से लडना है परन्तु राजनीतिक सम्प्रदायवाद को भी रोकना है जो अधिक भ्रष्ट करने वाला और ख़तरनाक है। भारत में मुसलमानों और सिखों में से अधिकाश में साम्प्रदायिक हिंसा की प्रवृत्ति नहीं है और अधिकाश हिन्दू भी ऐसे नहीं हैं। मुस्लिम और सिख समुदायों के सदस्य भी

निश्चित रूप से मानते हैं कि बढते हुए तनाव को रोका जा सकता है यदि किसी प्रकार राजनीतिज्ञों को अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिये व्यक्तियों से अनुचित लाभ उठाने से रोक दिया जाये। आम मुसलमान भी धीरे धीरे राजनीतिज्ञों की शोषण की नीयत को समझ रहा है। धार्मिक नारेबाजी अब उस पर ज्यादा असर नहीं करती। अब उसमें यह छिपी हुई अभिलाषा नहीं है कि आर्थिक क्षतिपूर्ति की मांग वह देश की सीमा की दूसरी ओर से करे। वह यहां बहुत अधिक सुरक्षित महसूस करता है। यदि मुसलमानों और दूसरे अल्पसख्यकों को यह सोचने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है कि वे स्वतत्र भारत के बराबर नागरिक न होकर एक कीमती वस्तु हैं जिनका चुनाव के समय व्यापार किया जाता है तो उनमें राष्ट्रीय हित के लिये अधिक प्रयास करने के लिये कभी जोश उत्पन्न नही होगा। सामाजिक वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों को गंभीरता से विचार करना होगा कि साम्प्रदायिक्ता की राष्ट्रीय व्याधि (malaise) को और इससे जुडे हुए विषयों जैसे धार्मिक हिसा, अलगाववाद (separatism), पार्थक्यवाद (secessionism) और आतकवाद को किस प्रकार नियन्त्रण में रखा जाये।

REFERENCES

1. Chandra, Bipin, *Communalism in Modern India*, Vikas, New Delhi, 1984.
2. Das, Veena, (ed.), *Mirrors of Violence: Communities, Riots and Survivors in South Asia*, Oxford University Press, Delhi, 1990.
3. Engineer, Asghar Ali, (ed.), *Communal Riots in Post-Independence India*, Sangam Books, Delhi, 1984.
4. ———, *Delhi Meerut Riots: Analysis, Compilation and Documentation*, Ajanta Publications, Delhi, 1988.
5. Ghosh, S.K. *Riots: Prevention and Control*, Eastern Law House, Calcutta, 1971.
6. Gopal, Servepalli, (ed.) *Anatomy of a Confrontation*, Vikas Penguin Books, New Delhi, 1991.
7. Hasan, Mushirul, *Nationalism and Communal Politics in India*, Manohar Publications, New Delhi, 1991.
8. Kapur, Rajiv A. *Sikh Separatism: The Politics of Faith*, Vikas Publishing House, Delhi, 1987.
9. Krishna Gopal, "Communal Violence in India: A Study of Communal Disturbance in Delhi", *Economic and Political Weekly*, Vol. XX, No. 2, 1985, pp. 61-74.
10. Ooman, T.K. *The Hindustan Times*, Delhi, 8 August, 1989.

11. Sarolia, Shankar, *Indian Police Issues and Perspectives*, Gaurav Publishers, Jaipur, 1987.
12. Singh, V.V, *Communal Riots* (an unpublished Ph.D thesis), University of Rajasthan, Jaipur, 1991
13 *Frontline*, Madras, 2-15 April, 1988, pp 99-104
14. *The Hindustan Times*, Delhi, 21 August 1986 and 17 March, 1988.

अध्याय 6

पिछड़ी जातियां, जन-जातियां और वर्ग
Backward Castes, Tribes and Classes

भारत में अधिकारहीन व्यक्तियों की प्रस्थिति में, विशेषकर जन-जातियों और उन जातियों और वर्गों में जिन्हें जन्म के सयोग से नीचा दर्जा दिया गया है, सुधार लाना किसी भी सरकार का, जो प्रजातन्त्र के प्रति वचनबद्ध है, एक महत्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिये। भारत का संविधान अनुसूचित जातियों और जन जातियों और दूसरे पिछड़े वर्गों को इस उद्देश्य से संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करता है जिससे उनकी सामाजिक निर्योग्यताए हटाई जा सकें और उनके विविध अधिकारों को बढ़ावा मिल सके। प्रमुख सुरक्षाएं (safeguards) ये हैं: अस्पृश्यता का उन्मूलन, सामाजिक अन्याय और विभिन्न प्रकार के शोषण से सुरक्षा, धार्मिक सस्थाओं में जाने की सभी समूहों को छूट, दुकानों, रेस्तरा, कुए, तालाब और सडकों पर जाने के प्रतिबन्ध को हटाना, स्वतन्त्रता से घूमने और सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार देना, शिक्षण संस्थाओं में भर्ती होने का अधिकार देना, राजकीय कोष से अनुदान मिलना, नौकरियों में उनके लिये आरक्षण के लिये राज्य की अनुमति, लोक सभा और राज्य की विधान सभाओं में विशेष प्रतिनिधित्व देना, उनके कल्याण को बढावा देने और उनके हितों की रक्षा के लिये अलग से विभाग और परामर्श समितियाँ स्थापित करना, बेगार का उन्मूलन, और अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और नियंत्रण के लिये विशेष व्यवस्था।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हितों की सुरक्षा के लिये एक कमीशन का गठन भी किया गया है। इसका नाम अब "नेशनल कमीशन फॉर शेड्यूल्ड कास्टस एन्ड शेड्यूल्ड ट्राइब्स" रख दिया गया है। वह अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विकास से सम्बन्धित विषयों और नीतियों के बारे में एक परामर्श संस्था की तरह कार्य करता है। इसमें सामाजिक मानव शास्त्र, सामाजिक कार्य और दूसरे सामाजिक विज्ञान के क्षेत्रों के विशेषज्ञ होते हैं। नेशनल कमीशन के महत्वपूर्ण कार्य हैं:

- अस्पृश्यता के विस्तार और उससे उपजता हुआ सामाजिक भेद भाव और मौजूदा उपायों के प्रभाव का अध्ययन।
- सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों, जिनके कारण अनुसूचित जातियों और जनजातियों के व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध होते हैं, का अध्ययन।
- अनुसूचित जातियों ओर जनजातियों के विकास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करना जिससे यह सुनिश्चित्त किया जा सके कि इन समूहों का समाज की मुख्य धारा में एकीकरण

हो जाये।

नेशनल कमीशन में एक अध्यक्ष और ग्यारह सदस्य होते हैं। इसका कार्यकाल तीन वर्ष है।

प्रारम्भ किये गये कल्याण-उपाय (Welfare Measues Undertaken)

राज्य सरकारों में अनुसूचित जाति एव जनजाति और अन्य पिछडे वर्गों के कल्याण को देखने के लिये पृथक विभाग है। उनका प्रशासनिक ढाचा विभिन्न राज्यों में अलग अलग है। कई स्वयं सेवी संगठन भी अनुसूचित जातियों एव जनजातियों के कल्याण को बढाने के लिये कार्य करते हैं। आखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने वाले महत्वपूर्ण सगठन हैं हरिजन सेवक सघ, दिल्ली; हिन्दू भगी सेवक समाज, नई दिल्ली, और भारतीय आदिमजाति सेवक सघ, नई दिल्ली।

पंचवर्षीय योजनाओं में अनुसूचित जातियों एव जनजातियों के कल्याण पर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रत्येक योजना में पिछली योजना की तुलना में विशेष कार्यक्रमों पर निवेश का आकार घटाया-बढाया गया है। प्रथम योजना (1951-56) में 30 04 करोड रुपये का व्यय (कुल परिव्यय का 1.45%), द्वितीय योजना (1956-61) में बढकर 79 41 करोड रुपये (कुल परिव्यय का 1.72%), तृतीय योजना (1961-66) में 100 40 करोड रुपये (कुल परिव्यय का 1.17%), चतुर्थ योजना (1969-74) में 172.70 करोड रुपये (कुल परिव्यय का 1 09%), पचम योजना (1974-79) में 296 19 करोड रुपये (कुल परिव्यय का 0 75%), और छठी योजना (1980-85) में 1,337.21 करोड रुपये (कुल परिव्यय का 1 37%) हो गया। सातवी योजना में यह व्यय कुल परिव्यय का 1 42% और आठवी योजना में 1 36% था। राज्य सरकारें भी अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण पर काफी बडी राशि व्यय कर रही है।

केन्द्र के तत्वावधान में चलाई जा रही कुछ महत्वपूर्ण परियोजनाए हैं (1) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के युवकों को विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं (आई ए एस., आई पी एस आदि) के लिये तैयार करना और प्रशिक्षण देना जिससे विभिन्न सेवाओं में उन का प्रतिनिधित्व सुधरे, (2) उच्च शिक्षा के लिये वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिये पोस्ट मैट्रिक छात्रवृत्ति, (3) स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटी में अध्ययन कर रही अनुसूचित जातियों एव जनजातियों की लड़कियों के लिये आवासीय सुविधाए प्रदान करने के लिये छात्रावासों का निर्माण। (4) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के वि[illegible] और उनकी समस्याओं में शोध के लिये प्रसिद्ध सामाजिक विज्ञान और शोध संस्थाओं को वित्तीय सहायता, (5) मेडिकल और इंजीनियरिंग पाठ्यक्रमों के अनुसूचित जाति एव जनजाति के विद्यार्थियों को पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध कराना, और (6) भारत से बाहर उच्च शिक्षा के लिये छात्रवृत्तियाँ और यात्रा अनुदान।

उनके शीघ्र विकास के लिये उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त सविधान में विधानसभा के अंगों में विभिन्न स्तरों पर पर्याप्त प्रतिनिधित्व का प्रावधान भी है और नौकरियों और शिक्षण

संस्थाओं में आरक्षण है। यह आरक्षण अनुसूचित जातियों के लिये 15.0 प्रतिशत और अनुसूचित जनजातियों के लिये 7.5 प्रतिशत है। कई राज्यों में इसकी सीमा अधिक है। उदाहरणार्थ, कर्नाटक में अनुसूचित जनजातियों का आरक्षण 68.0 प्रतिशत है तो दूसरी ओर उत्तरपूर्वीय राज्यों में 85.0 प्रतिशत है। उत्तरपूर्व के कुछ राज्यों में यह प्रतिशत 95.0 तक बढ़ाने का प्रस्ताव है और तमिलनाडु और कर्नाटक में 70 प्रतिशत और 80 प्रतिशत तक। इस सम्बन्ध में दूसरे राज्य भी पीछे नहीं हैं।

यद्यपि पृथक निर्वाचन क्षेत्र के सिद्धान्त को नही माना गया है, फिर भी समय समय पर कुछ चुनाव क्षेत्र अलग कर दिये जाते हैं जहां से केवल अनुसूचित जातियों एव जनजातियों के ही व्यक्ति चुनाव लड सकते हैं। आरक्षित स्थानों की संख्या जनसंख्या में उनके अनुपात को प्रतिबिंबित करता है।

सरकारी सेवाओं में उनके लिये विशेष कोटा निर्धारित किया जाता है। आरक्षण केवल भर्तियों तक ही सीमित नहीं हैं परन्तु वे उच्चस्तर स्थानों पर पदोन्नति तक के लिये भी बढ़ा दिये गये हैं। उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के लिये कई छूटें भी दी गई हैं जैसे आयु सीमा में छूट, पात्रता (suitability) के स्तर में छूट, तथा योग्यता और अनुभव में छूट।

अनुसूचित जनजातिया (The Scheduled Tribes)

जनजातियों की शक्ति (The Tribal Strength)

भारत की जनजाति संख्या जो 1981 की जनगणना के अनुसार 5.38 करोड़ थी, 1991 में बढ़कर 6.76 करोड़ हो गई। यह इंगलैंड की जनसंख्या के लगभग बराबर है। देश की संपूर्ण जनसख्या की 7.95 प्रतिशत जनजातियां हैं (जबकि 1981 में यह 7.83% थी)। यह अफ्रीका के बाद भारत में पूरे विश्व की दूसरी सबसे बड़ी जनजाति की संख्या है। 1981-91 में अनुसूचित जनजातियों की कुल जनसंख्या अन्य खण्डों की तुलना में बढ़ी है। जब जनसंख्या की कुल वृद्धि देश में इस दशक में 23.79 प्रतिशत बढ़ी, अनुसूचित जनजातियों की संख्या 25.67 प्रतिशत बढी। सर्वाधिक वृद्धि केरल में हुई और तत्पश्चात गुजरात और राजस्थान में। 12 राज्यों में इनकी संख्या बढ़ी, 12 में यह घट गयी और एक में स्थिर रही।

जनजातियां भारत के प्रत्येक भाग में फैली हुई हैं। वे संख्या में कुछ सौ से लेकर कई लाख तक घटती बढ़ती हैं। सर्वाधिक जनजातीय संख्या (लगभग 99 लाख) मध्य प्रदेश में है और उसके बाद उड़ीसा (51 लाख), बिहार (50 लाख), राजस्थान (32 लाख), पश्चिम बंगाल (26 लाख), आन्ध्रप्रदेश (23 लाख), असम (14 लाख) व मेघालय (8 लाख) में हैं। नागालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मणीपुर, मिज़ोरम व उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या दो लाख और चार लाख के बीच है। देश की पूरी जनजातीय संख्या की आधी संख्या सात राज्यों में मिलती है। यदि जनजातीय संख्या राज्य की कुल जनसंख्या के अनुपात में देखें तो मिज़ोरम में यह 95 प्रतिशत है, नागालैण्ड में 89 प्रतिशत, मेघालय और अरुणाचल प्रदेश में 80 प्रतिशत, त्रिपुरा में

70 प्रतिशत, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में 23 प्रतिशत, गुजरात में 14 प्रतिशत, राजस्थान में 12 प्रतिशत, तथा असम व बिहार में लगभग 10 प्रतिशत। इस प्रकार चार प्रदेश ऐसे हैं जहां जनजातीय संख्या राज्य की कुल जनसंख्या से 75 प्रतिशत से ऊपर है।

जनजातियों की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं ये हैं कि उनमें से अधिकांश पृथक भूभागों में रहते हैं, उनकी आजीविका के प्रमुख स्रोत कृषि और वन उत्पादनों को एकत्रित करना है, वे लाभ के लिऐ खेती नहीं करते, वे अभी भी वस्तु-विनिमय (barter) पर निर्भर रहते हैं, वे अपनी आमदनी का अधिक भाग सामाजिक और धार्मिक उत्सवों पर व्यय करते हैं, और बड़ी संख्या में वे निरक्षर हैं और जगल के ठेकेदारों और साहूकारों द्वारा सताये जाते हैं।

जनजाति शोषण और अशान्ति (Tribal Exploitation and Unrest)

सदियों से जनजातियां भारतीय समाज का एक असभ्य भाग समझा जाता रहा है। वे जंगलों में और पहाड़ियों पर रहते थे और उनका अपने तथाकथित सभ्य और विकसित पड़ोसियों से सम्पर्क आकस्मिक से अधिक नहीं था। चूंकि जनसंख्या के दबाव नहीं थे, इसलिये उनके क्षेत्रों में घुसने का और उन पर बाहरी मूल्य और विश्वास थोपने का कोई प्रयास नहीं किया गया। परन्तु जब अंग्रेजों ने देश में अपनी स्थिति को सगठित किया तो उनके उपनिवेशीय आकाक्षाओं और प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिये आवश्यक हो गया कि पूरे देश को एक प्रभावी सचार व्यवस्था से जोड दिया जाये। अंग्रेजों ने भूस्वामित्व और भूराजस्व की प्रणाली को आरंभ किया। वार्षिक करों को तिगुना कर दिया गया जो कि जनजाति के किसानों की भुगतान क्षमता से परे था। जनसंख्या के बढ़ते दबाव के कारण कई बाहर के व्यक्ति भी जनजाति क्षेत्रों में बसने लगे। अपने पैसे की शक्ति से वे ऋण की सुविधा लोगों को घर बैठे उपलब्ध कराने लगे। प्रारम्भ में इसने जनजातियों को राहत पहुंचाई परन्तु धीरे धीरे यह प्रणाली शोषण करने लगी। कानून की नई-नई खुली न्याय-पालिकाओं ने शोषकों की सहायता की। पहले आर्थिक और बाद में सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण ने जनजाति के नेताओं को उत्तेजित कर दिया और उन्होंने जनजाति के लोगों को सगठित कर आंदोलन आरंभ किया। वंचन (deprivation) की भावनाओं के बढ़ने से जन आन्दोलन और संघर्ष भी बढ़े। प्रारम्भ में वे खून चूसने वालों और उनके अधिकारों को हडपने वालों के विरुद्ध थे, परन्तु अन्त में वे सरकार और शासकों के विरुद्ध हो गये।

जनजाति अशान्ति और असतोष इस प्रकार कई उत्तरदायी कारकों का संचित (cumulative) परिणाम था। इसके प्रमुख कारण थे :

- अकर्मण्यता, उदासीनता और प्रशासकों और अफसरों में जनजाति की शिकायतों को दूर करने में सहानुभूति का अभाव।
- जंगल के कानूनों और नियमों का कठोरपन।
- जनजाति की जमीनों को अजनजाति के व्यक्तियों के कब्ज़े में जाने की रोक के लिये कोई कानून नही होना।

- ऋण की सुविधाओं का अभाव ।
- जनजाति की जनसख्या के पुनर्निवास के लिये सरकारी कार्यवाही में अकुशलता ।
- जनजाति समस्याओं को हल करने में राजनीतिक अभिजनों में अभिरुचि और सक्रियता का अभाव ।
- उच्चस्तरीय समितिओं की सिफारिशों को कार्यान्वित करने में विलम्ब ।
- सुधारक (reformatory) उपायों की कार्यान्विति में पक्षपात ।

सक्षेप में जनजाति अशान्ति के कारणों को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कहा जा सकता है ।

जनजाति समस्याएं (Tribal Problems)

जनजातियों के सदस्य जिन प्रमुख समस्याओं का सामना करते हैं, वे हैं:

- उनके पास अलाभकर ज़मीनें होती हैं जिससे उनकी पैदावार कम होती है और इस कारण वे सदैव कर्जे में डूबे रहते हैं ।
- जनसख्या का केवल एक छोटा सा प्रतिशत ही व्यावसायिक गतिविधियों के द्वितीय एवं तृतीय क्षेत्रों में भाग लेता है ।
- आदिवासी क्षेत्रों में ज़मीन का काफी बड़ा हिस्सा कानून के ज़रिये गैर-आदिवासियों को हस्तान्तरित कर दिया गया है । आदिवासियों की मांग है कि ये ज़मीन उन्हें वापस की जाये । दरअसल में आदिवासी जंगल का उपयोग करने और उसके जानवरों का शिकार करने में अधिक स्वतंत्र थे । जंगल उन्हें न केवल मकान बनाने के लिये सामग्री उपलब्ध कराते हैं बल्कि उन्हें ईंधन, बीमारियों को ठीक करने के लिये जड़ी बूटियां, फल, जंगली शिकार इत्यादि भी देते हैं । उनका धर्म उन्हें विश्वास दिलाता है कि उनकी कई आत्माएं (वन देवता और वन देवी) पेड़ों और जंगलों में रहती हैं । उनकी लोक गाथाओं में मानवों और आत्माओं के संबंधों का प्रायः वर्णन मिलता है । इस प्रकार के वन के प्रति भौतिक और भावनात्मक लगाव के कारण आदिवासियों ने सरकार द्वारा उनके पारंपरिक अधिकारों पर लगाये गये अंकुशों पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त की है ।
- जनजाति विकास कार्यक्रमों ने आदिवासियों के आर्थिक स्तर को उठाने में अधिक सहायता नहीं की । अंग्रेजों की नीति ने आदिवासियों का कई प्रकार से भीषण शोषण किया क्यों कि उमने ज़मींदारों, भूस्वामियों, साहूकारों, जंगल के ठेकेदारों और आबकारी, राजस्व और पुलिस अधिकारियों का पक्ष लिया ।
- बैंकिंग सुविधाएं आदिवासी क्षेत्रों में इतनी अपर्याप्त हैं कि आदिवासियों को प्रमुखतया साहूकारों पर निर्भर रहना पड़ता है । आदिवासियों की इसलिये यह मांग है कि कृषि ऋण राहत कानून बनाये जायें जिससे कि उन्हें उनकी गिरवी रखी हुई ज़मीन वापस मिल सके ।
- आदिवासियों में से 90 प्रतिशत खेती करते हैं और उनमें से अधिकांश भूमिहीन हैं और स्थान बदल बदल कर खेती स्थानान्तरिक कृषि करते हैं । उन्हें खेती के नये तरीके अपनाने

में मदद करनी चाहिये।

- बेरोज़गार और अल्प-रोजगार वाले व्यक्तियों की आय के अनुपूरक स्रोतों का पता लगाने में सहायता की आवश्यकता है, जैसे पशुपालन, मुरगीपालन, हाथकर्घा बुनाई और दस्तकारी क्षेत्र का विकास।
- अधिकाश आदिवासी बहुत कम जनसंख्या वाली पहाड़ियों पर रहते हैं और आदिवासी क्षेत्रों में संचार और यातायात बहुत कठिन होते हैं। इसलिये आदिवासियों को कस्बों और शहरों से दूर एकाकी जीवन जीने से रोकने के लिये नई सड़कों का जाल बनाना चाहिये।
- आदिवासियों का ईसाई मिशनरी शोषण करते हैं। कई आदिवासी क्षेत्रों में ब्रिटिश काल में व्यापक धर्म परिवर्तन हुआ था। यद्यपि मिशनरी आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा के क्षेत्र में अग्रगामी रहे हैं और उन्होंने अस्पताल भी खोले हैं परन्तु वे आदिवासियों को अपनी संस्कृति से विमुख करने के भी उत्तरदायी हैं। ईसाई मिशनरियों में कई बार उन्हें भारत सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये भी भड़काया है।

आदिवासियों और गैर आदिवासियों के बीच सम्बन्ध बिगड़ रहे हैं और गैर आदिवासी अपनी सुरक्षा हेतु अधिकाधिक रूप से अर्द्धसैनिक बलों पर निर्भर हो रहे हैं। आदिवासियों के लिये पृथक राज्यों की माग ने मिज़ोरम, नागालैण्ड, मेघालय, मणीपुर, अरुणाचल प्रदेश और त्रिपुरा में विद्रोह का रूप ग्रहण कर लिया है। पड़ौसी देश जो भारत के विरुद्ध हैं इन भारत विरोधी भावनाओं का अनुचित लाभ उठाने में सक्रिय हैं। इन राज्यों में जो आदिवासी क्षेत्रों से घिरे हुए हैं विदेशी नागरिकों की घुसपैठ, बन्दूकों की तस्करी, मादक पदार्थों का व्यापार और तस्करी बहुत भीषण समस्याए हैं।

संक्षेप में, आदिवासियों की प्रमुख समस्याएं हैं: निर्धनता, ऋण, निरक्षरता, बंधुआपन, बीमारी, और बेरोज़गारी।

जनजाति संघर्ष (Tribal Struggles)

आदिवासियों ने कई विद्रोह किये हैं। इनका पहला विद्रोह 1772 में बिहार में हुआ और उसके बाद कई विद्रोह आन्ध्रप्रदेश, एंडमान और निकोबार द्वीपों, अरुणाचल प्रदेश, असम, मिज़ोरम, और नागालैंड में हुए। अठारवी और उन्नीसवी शताब्दियों में विद्रोह करने में महत्वपूर्ण जनजातिया थी. मीज़ो (1810), कोल (1795 और 1831) मुंडा (1889) दफलास (1875), खासी और गारो (1829), कचारी (1839), सन्थाल (1853), मुड़िया गोन्ड (1886), नागा (1844 और 1879), भुइया (1868) और कोंध (1817)।

स्वतत्रता के पश्चात हुए जनजातियों के संघर्षों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है: (1) संघर्ष जो *बाहर के व्यक्तियों के द्वारा शोषण से हुए* (जैसे कि संथालों और मुंडों के), (2) संघर्ष जो कि आर्थिक वंचन (deprivation) के कारण हुए (जैसे कि मध्य प्रदेश में गोडों का और आन्ध्र प्रदेश में महरों का), और (3) संघर्ष जो कि अलगाववादी प्रवृतियों के कारण हुए (जैसे कि नागाओं और मीज़ो के)।

जनजाति आन्दोलनों को उनकी अभिमुखता (orientation) के आधार पर चार प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है: (1) आन्दोलन जो राजनीतिक स्वायतता और एक राज्य की रचना चाहते हैं (नागा, मीज़ो और झाड़खड), (2) कृषि-संबंधी आन्दोलन, (3) जंगलों पर आधारित आन्दोलन और (4) सामाजिक-धार्मिक या सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन (भगत आन्दोलन, दक्षिण गुजरात की जनजातियों का आन्दोलन या सान्यालों का रघुनाथ मुर्मी का आन्दोलन)।

यदि हम सभी जनजातियों के आन्दोलनों को देखें जिनमें नागाओं की क्रान्ति (जो 1948 में प्रारम्भ हुई और 1972 तक चली जब कि नई चुनी हुई सरकार सत्ता में आई और नागा विद्रोह नियन्त्रित हुआ), मीजोओं के आन्दोलन (गुरिल्ला युद्ध जो अप्रैल 1970 में मेघालय राज्य के बनने के बाद समाप्त हुआ और जिसे 1972 में असम और मीज़ोरम में से बनाया गया), गौंड (Gond) राज आन्दोलन (मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के गौंडों का जिसे एक अलग राज्य बनाने के लिये 1941 में आरंभ किया गया और जो अपनी चरमसीमा पर 1962-63 में पहुंचा), नक्सलवादी आन्दोलन (बिहार, पश्चिम बंगाल, आन्ध्रप्रदेश और असम की जनजातियों का), कृषि-सबंधी आन्दोलन (मध्यप्रदेश में गोन्ड (Gond) और भीलों का), और जंगलों पर आधारित आन्दोलन (गोन्डों का जंगलों में अपने प्रथागत अधिकारों को प्राप्त करने के लिये), तो यह कहा जा सकता है कि जनजाति अशान्ति और उसके परिणामस्वरूप होने वाले आन्दोलन प्रमुख रूप से मुक्ति प्राप्त करने के लिये हुए। यह मुक्ति थी (i) अत्याचार और पक्षपात से, (ii) उपेक्षा और पिछड़ेपन से, और (iii) ऐसी सरकार से जो कि जनजातियों की निर्धनता, भूख, बेरोज़गारी और शोषण की दुर्दशा के प्रति कठोर हृदय रखती थी।

जनजाति के शोषण के तीन उदाहरण उनके संघर्षों के कारण पर प्रकाश डालने के लिये दिये जा सकते हैं। स्वतत्रता के समय एक सरकारी आदेश हुआ करता था जिसके अन्तर्गत ज़मीनों के सभी सौदे जनजातियों के पक्ष में ही होते थे। 1974 में तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने एक आदेश निकाला जिसने ग़ैर-आदिवासियों को उस क्षेत्र में 15 एकड़ ज़मीन (5 पानी वाली और 10 सूखी) के स्वामित्व की अनुमति दी। इस आदेश के पश्चात ग़ैर-आदिवासी लोगों ने आदिवासी जमीन का एक बड़ा हिस्सा अपने कब्जे में कर लिया। आदिवासी दावा करते हैं कि 30,000 एकड़ जमीन 1974 और 1984 के बीच ग़ैर-आदिवासियों के पास चली गई। इस काल में भूमि विवाद के 2000 मुकदमें कचहरियों में दर्ज हुए और 400 आदिवासियों को सज़ा हो गई। तेलगुदेशम सरकार ने 1984 में कांग्रेस सरकार के आदेश को रद्द कर दिया जिसके कारण ग़ैर आदिवासियों ने प्रतिरक्षात्मक रुख अपना लिया। जनजातियों को कट्टरवादियों ने गैर-आदिवासी सामन्तवर्गों के विरुद्ध संगठित कर दिया। गोन्डों (आदिवासी) और गैर-आदिवासियों में निरन्तर हिंसक घटनाएं होती रहीं। एक ऐसी घटना में आदिवासी गैर आदिवासियों की कपास और जवार की खड़ी फसल को उठा लेगये। ग़ैर-आदिवासियों ने इस पर लड़ाई की और आदिवासियों की झोपड़ियों को आग लगा दी, उनकी स्त्रियों के साथ

बलात्कार किया, कई लोगों को मार डाला और उन्हें दास-श्रम करने के लिये बाध्य किया। एक दूसरी घटना में 40 आदिवासियों को 250 गैर-आदिवासियों ने पकड़ लिया और रातभर पीटने के बाद उन्हें पुलिस के सुपुर्द कर दिया। इसके अलावा एक और घटना में 21 गैर-आदिवासी जंगल से कथित रूप से ईंधन की लकड़ी चुराते हुए आदिवासियों द्वारा पकडे गये, वे उन्हें अपने गाव ले गये और जब तक पुलिस ने उन्हें नही छुडाया उनको बंदी बनाये रखा।

एक दूसरे मामले में 10 मार्च, 1984 को गोन्डों ने आंध्रप्रदेश के अदिलाबाद ज़िले में कैसलापुर स्थान पर एक मदिर की छत पर एक झडा फहराया। कुछ ने उसे धार्मिक झडा बतलाया और कुछ ने उसे विद्रोह का झडा माना। पुलिस उस स्थान पर चार जीपों और दो वेनों में पहुची। जब वह वहां से गई उस समय तक 40 व्यक्ति जख्मी हो चुके थे और 70 को गिरफ्तार कर लिया गया था। उसका दावा था कि "नक्सलियों के आदेश पर आदिवासियों द्वारा किये गये विद्रोह को दबा दिया गया है।" क्या वास्तव में यह विद्रोह था या केवल असतोष का भडकना?

तीसरा मामला एक जनजाति सम्मेलन का है जो महाराष्ट्र में नागपुर के पास विदर्भ क्षेत्र में 25-26 फरवरी 1984 को आयोजित किया गया था। सम्मेलन का स्थान एक छोटा गाव कमलपुर था जिसकी जनसंख्या लगभग 1000 थी। सम्मेलन में 20,000 व्यक्तियों के आने की आशा थी। उसका उदघाटन नागपुर हाईकोर्ट बार एसोसियेशन के अध्यक्ष को करना था और सभापतित्व विजय तेंदुलकर (उपन्यासकार), तपन बोस (फिल्म निर्देशक) और सुहासिनी (सिने कलाकार) जैसे व्यक्तियों को करना था। सम्मेलन के दो दिन पहले उस स्थान के सारे मार्गों को सील कर दिया गया, 1000 व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया गया और निषेधाज्ञा जारी कर पाच या उससे अधिक व्यक्तियों के जमा होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। रोचक चीज यह थी कि जिन व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया था उन पर इस तरह के आरोप थे जैसे आपत्तिजनक साहित्य उनके पास होना, जगलों में पेडों को गिराना और वन सम्पदा की चोरी करना (ऑन लुकर, 7 अप्रैल, 1984·29)। स्वागत समिति के अध्यक्ष को वन सम्पदा की चोरी के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया। उसे मजिस्ट्रेट ने रिहा कर दिया परन्तु तुरन्त बाद उसे किसी दूसरे आरोप में पुन गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरे जो गिरफ्तार किये गये उनमें सगीतज्ञ थे जिन्हें सम्मेलन में कला प्रदर्शन करना था और बम्बई, हैदराबाद और मद्रास के विद्यार्थी संगठनों के प्रतिनिधि थे। इस प्रकार से जो एक अहानिकार सम्मेलन के रूप में समाप्त हो जाता जिसमें अधिकाधिक कुछ जोशीले भाषण हो जाते, उसे एक बडी घटना में परिवर्तित कर दिया गया और सभास्थल को एक युद्ध-शिविर का रूप दे दिया गया।

यह सब आदिवासियों की कुण्ठाओं को प्रदर्शित करता है। जब कानून उनकी सहायता नही करता, सरकार कठोर-हृदय रखती है और पुलिस उन्हें सुरक्षा प्रदान करने में असफल रहती है और उन्हें तंग करती है तो वे शोषकों के विरुद्ध हथियार उठा लेते हैं। ये सघर्ष और आन्दोलन यह इंगित करते हैं कि आदिवासी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये दो रास्ते अपनाते हैं. (अ)

सरकार के साथ समझौता और बातचीत का अहिंसा का रास्ता और बिना हिंसा/क्रान्ति को अपनाये विभिन्न प्रकार के दबाव डालने वाले संघर्ष करना और (ब) क्रान्ति और जन-सघर्ष का उग्रवादी मार्ग जो कि शोषित/उत्पीड़ित आदिवासियों के स्तर की युद्ध करने की क्षमता के विकास पर निर्भर है। इन दोनों मार्गों के परिणाम भिन्न हैं। पहला ऐसा सघर्ष है जो सुधार लाता है जब कि दूसरा समुदाय के ढांचे को परिवर्तित करता है। आदिवासी समस्याओं से ग्रसित चल रहे हैं और अभी भी असन्तुष्ट और वचित महसूस करते हैं, ये इस बात को दर्शाता है कि दोनों ही मार्गों ने उनकी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता नहीं की है।

विकास कार्यक्रम (Development Programmes)

अंग्रेजों ने जनजाति क्षेत्रों में अपने प्रशासनिक संरूप अध्यारोपित (superimpose) किये और जनजातियों को अपने व्यक्तियों से परस्पर अन्तर्क्रिया के परपरागत तरीकों से वंचित किया। जनजातियों में कोई लिखित कानून नहीं होते हैं परन्तु समुदाय का दण्ड-विधान इतना शक्तिशाली होता है कि उसका विरोध करने का किसी में साहस नही होता। प्रत्येक शारीरिक रूप से योग्य व्यक्ति सकट काल में अपने गाव की सुरक्षा के लिये अपने जीवन की बाजी लगाने को तैयार रहता है। आदिवासी गाव एक स्वायत्तशासी ईकाई होती थी और मीजो और खासी पहाडियों को छोड़कर जहां कुछ गावों के प्रशासन का कभी कभी समन्वय एक प्रधान द्वारा किया जाता था और उसकी सहायता के लिये वयोवृद्धों की एक समिति होती थी, गांव सभी प्रकार से स्वतत्र होता था। यह प्रथक्करण उन्हें अपने सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक संरचनाओं के रूप में अधिक शक्ति को सुरक्षित रखने में सहायक होता था।

स्वतंत्रता के पश्चात संविधान सभा ने ए.वी.ठक्कर की अध्यक्षता में एक उप-समिति का गठन किया जिसकी सिफारिशों के बाद जनजाति क्षेत्रों का विकास समस्त भारतीयों के विकास का एक अभिन्न अग बन गया।

सविधान के अन्तर्गत जनजाति क्षेत्रों में बधुआ श्रम पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परन्तु व्यवहार में ये अधिकाश राज्यों के जनजाति क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। 1976 में जब 'बॉन्डेड लेबर सिस्टम (अबोलिशन) एक्ट' पास हुआ, तो यह पाया गया कि देश के 80 प्रतिशत बंधुआ मज़दूर अनुसूचित जाति एवं जनजाति के हैं। साहूकारों और महाजनों की आदिवासियों पर गिरफ्त को ढीला करने के लिये सरकार ने 'लार्ज एरिया मल्टीपर्पज सोसाइटीज' (एल.ए.एम.पी.ज) गठित की। परन्तु उसके कार्य को संतोषजनक नहीं पाया। बड़ी संख्या में यह पाया कि आदिवासियों को धोखा देकर उनसे बैंक ऋणों पर हस्ताक्षर करवा लिये गये। सहकारी समितियों ने उत्पादन कार्यों के लिये पर्याप्त ऋण नहीं दिये, कृषि और जंगल की छोटी उत्पादित वस्तुए नही खरीदी, और आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की उचित मूल्य की दुकानें नहीं खोली।

जनजाति विकास द्वि-कोण (two-pronged) उपागम पर आधारित रहा है (अ) विकास की गतिविधियों को प्रोत्साहित करना जिससे कि अनुसूचित जनजातियों का जीवन-स्तर ऊंचा

उठे, और (ब) उनके हितों की कानूनी और प्रशासनिक सहायता द्वारा सुरक्षा। जनजाति विकास परियोजनाओं के लिये पचम पचवर्षीय योजना (1974-79) और 1991 में बनाई गई जनजाति उपयोजनाओं के अन्तर्गत 19 राज्य/केन्द्रीय क्षेत्र और 372 लाख जनजाति आबादी आती है। योजनाओं की कार्यान्विति 184 इंटिग्रेटेड ट्राइबल डेवलपमेन्ट प्रोजेक्टस् (आई.टी.डी.पीज.) के द्वारा की जाती है और इनमें 73 आदिकालीन जनजातियाँ सम्मिलित हैं। उप योजनाओं के लिये वित्तीय ससाधन, राज्य योजनाओं, विशेष केन्द्रीय सहायता (कल्याण मंत्रालय से), केन्द्रीय मंत्रालयों के कार्यक्रमों और वित्तीय संस्थानों से प्राप्त होते हैं।

जनजाति उपयोजनाओं के लिये पचम पचवर्षीय योजना (1974-79) में 1,100 करोड़ रुपये, छटी योजना (1980-85) में 5,535 करोड़ रुपये और सातवी योजना में 10,500 करोड़ रुपये की राशि आवटित की गई। आठवी योजना में जनजाति उप-योजना रणनीति के विशेष लक्ष्य जो रखे गये, वे हैं (i) कृषि, छोटे उद्यमों, उद्यान-विज्ञान और पशुपालन के क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाना, (ii) जनजातियों को ऋण देने, मधुआपन, जगल, मदिरा बेचने आदि में शोषण की समाप्ति, (iii) शिक्षा और प्रशिक्षण कार्यक्रमों का विकास, (iv) जनजाति क्षेत्रों का विकास, और (v) जनजाति क्षेत्रों के पर्यावरण की उन्नति। बीस-सूत्री कार्यक्रम ने भी अनुसूचित जनजातियों के विकास पर ध्यान केन्द्रित किया था और उसमें जनजाति के परिवारों को वित्तीय सहायता करके उन्हें निर्धन रेखा से पार करवाना भी सम्मिलित था।

जनजाति शोध संस्थाएं भी जनजातियों पर शोध और उनके प्रशिक्षण में ही न केवल लाभदायक भूमिका निभाती हैं, अपितु जनजातियों की उप-योजनाएं बनाने में, परियोजनाओं की रपटों और उनके मूल्याकन में भी सहायता करती हैं। ये संस्थायें वर्तमान में 12 राज्यों में कार्य कर रही हैं जिनमें आन्ध्रप्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, केरल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उडीसा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, तमिलनाडु, और पश्चिम बगाल सम्मिलित हैं। जनजाति के व्यक्तियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विक्रय के लिये 'ट्राइबल कोओपरेटिव मार्केटिंग डेवलपमेन्ट फेडरेशन ऑफ इंडिया' (टी.आर.आइ.एफ.ई.डी.) का गठन किया गया है। यह जनजातियों के शोषण की समाप्ति और अधिक अच्छे मूल्य दिलवाने का भी कार्य करता है।

अनुसूचित जातियां (Scheduled Castes)

संख्या (The Strength)

अनुसूचित जातियों की कुल जनसंख्या 1981 की जनगणना के अनुसार 10.475 करोड़ थी जो 1991 में बढ़कर 13.623 करोड़ हो गई। अनुसूचित जातियां देश की पूरी जनसंख्या की 16.73 प्रतिशत है (जबकि 1981 में यह 15.81 प्रतिशत थी)। अनुसूचित जातियों की सबसे बड़ी संख्या उत्तरप्रदेश में है (देश में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या का 22.3%), इसके बाद आते हैं परिचम बगाल (11.4%), बिहार (9.6%), आन्ध्रप्रदेश (9.6%), तमिलनाडु (8.5%), मध्यप्रदेश (7.0%), राजस्थान (5.6%), कर्नाटक (5.3%), पंजाब (4.3%)

और महाराष्ट्र (4.3%)। इस प्रकार अनुसूचित जातियों की दो-तिहाई जनसंख्या छह राज्यों में संकेन्द्रित है।

अनुसूचित जाति के लगभग 84.0 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं और कृषि-श्रमिकों, बटाईदारों, काश्तकारों और सीमान्त किसानों की तरह काम करते हैं। लगभग सभी व्यक्ति जो झाड़ू लगाने, सफाई करने और चमड़े के काम में लगे हैं अनुसूचित जाति के हैं।

1991 की जनगणना के अनुसार काम/व्यवसायों में कार्यरत अनुसूचित जातियों की पूरी 1,362 लाख जनसंख्या में 574.76 लाख व्यक्ति (42.2%) श्रमिकों की श्रेणी में आते हैं। सपूर्ण श्रमिकों में से 53.8 प्रतिशत चमड़े के श्रमिक हैं, 12.4 प्रतिशत जुलाहे हैं, 7.9 प्रतिशत मछुआरे हैं, 6.8 प्रतिशत ताड़ी निकालने वाले हैं, 5.2 प्रतिशत छ्वडी और रस्से बनाने वाले हैं, 4.6 प्रतिशत धोबी हैं, 3.7 प्रतिशत सफाई करने वाले हैं, 1.3 प्रतिशत दस्तकार हैं, 1.3 प्रतिशत फल-सब्जी बेचने वाले हैं, और 0.1 प्रतिशत खाती और लोहार हैं। शेष 1.3 प्रतिशत किन्हीं दूसरे छोटे व्यवसायों में लगे हैं। बधुआ मज़दूरों में से लगभग दो-तिहाई अनुसूचित जातियों में से हैं। अनुसूचित जाति के लोगों में साक्षरता बहुत ही कम है। यह 1981 में केवल 12.4 प्रतिशत थी, जब कि इसके विपरीत पूरे भारत का औसत 41.3 प्रतिशत था (अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को अलग कर के)। इनमें से अधिकाश निर्धन रेखा के नीचे रहते हैं और सामाजिक एवं आर्थिक शोषण के शिकार हैं। सैद्धान्तिक रूप से अस्पृश्यता को भले ही समाप्त कर दिया गया हो परन्तु व्यवहार में अनुसूचित जाति के लोग अभी भी भेद-भाव के शिकार हैं।

अनुसूचित जातियों के लिये विकास की रणनीतियां (Development Strategies for the Scheduled Castes)

अनुसूचित जातियों के विकास के लिये छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) में एक व्यापक त्रिकोणीय रणनीति तैयार की गई थी। यह तीन परियोजनाओं का सम्मिश्रण था: (i) केन्द्रीय मंत्रालयों और राज्य सरकारों के विशेष घटक योजनाएं-'स्पेशल कॉम्पोनेन्ट प्लान्स' (Special Components Plans) (ii) राज्य की अनुसूचित जातियों के लिये एस.सी.पी.को विशेष केन्द्रीय सहायता और (iii) राज्यों में अनुसूचित जाति विकास निगम।

'विशिष्ट काम्पोनेन्ट योजना' (एस.सी.पी.) विकास की ऐसी परियोजनाओं की पहचान पर विचार करती हैं जो अनुसूचित जातियों को लाभ पहुंचायेगी, सभी विभाज्य (divisible) कार्यक्रमों से पैसे का निर्धारण (quantification of funds) करती हैं, और विशेष लक्ष्यों (targets) को मालूम करती हैं कि इन कार्यक्रमों से कितने परिवारों को लाभ पहुंचेगा। व्यापक उद्देश्य यह है कि अनुसूचित जातियों के परिवारों की आय में भरपूर रूप से वृद्धि हो। मूल सेवाओं और सुविधाओं का प्रावधान और सामाजिक और शैक्षणिक विकास के अवसरों की प्राप्ति भी एस.सी.पी. के दायरे में लानी हैं। छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के अन्तर्गत एस.सी.पीज. के लिये 4,481 करोड़ रुपये का प्रावधान अलग से किया गया था। 1993 तक केवल आठ केन्द्रीय मंत्रालयों ने अनुसूचित जातियों के लिये एस.सी.पीज. का गठन किया था।

'स्पेशल सेन्ट्रल एसिस्टेन्स' (एस सी ए) अनुसूचित जातियों के लिये एस सी पी अनुसूचित जातियों के लिये राज्य योजनाओं और कार्यक्रमों का योगज (additive) है। विशेष परियोजनाओं के लिये वह कोई क्रमबद्ध सरूप (systematic pattern) का पालन नही करता। केन्द्र की इस अतिरिक्त सहायता को राज्य अपनी एस सी पीज की लागत में सम्मिलित करने के साथ-साथ बडी मात्रा में आमदनी उत्पन्न करने वाली आर्थिक विकास परियोजनाओं में भी लगाते हैं जिससे कि निर्धन रेखा के नीचे रहने वाले अनुसूचित जाति के अधिकतर सख्या के परिवारों को उनके आर्थिक विकास में सहायता दी जा सके। उदाहरणार्थ, 1980-81 से 1992-93 तक राज्य योजना के कुल व्यय का प्रत्येक वर्ष में केवल 4 प्रतिशत और 7 प्रतिशत के बीच एस सी पी पर व्यय हुआ, जबकि इस अवधि में एस सी ए के अन्तर्गत प्राप्त हुई राशि प्रतिवर्ष 100 करोड रुपये और 175 करोड़ रुपये के बीच रही।

राज्यों ने अनुसूचित जाति विकास निगमों को आर्थिक विकास की बैंक-ग्राह्य (Bankable) परियोजनाओं के बारे में अनुसूचित जाति के परिवारों और वित्तीय सस्थाओं के बीच सम्पर्क स्थापित करने पर विचार करना पडता है। निगम इन परिवारों को पैसा उपलब्ध करवाती है और ऋण की सहायता देती है और इस प्रकार वित्तीय सस्थाओं से अनुसूचित जाति के परिवारों के लिये अधिक मात्रा में धन उपलब्ध करवाती हैं। निगम 18 राज्यों और तीन केन्द्रीय प्रदेशों में गठित हुए हैं। केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को निगमों की शेयर पूजी में निवेश के लिये 49 51 के अनुपात में अनुदान देती है। उदाहरणार्थ, जब 1980-81 और 1989-90 के दौरान राज्य सरकारों का प्रतिवर्ष अशदान 14 करोड और 19 करोड रुपये के बीच घटा बढा, उस समय में प्रतिवर्ष केन्द्र द्वारा निगमों को दी गई राशि 13 करोड और 15 करोड रुपयों के बीच घटी बढी।

निगम 12,000 रुपये तक का ऋण उपलब्ध करवाती है। पारपरिक व्यवसायों जैसे कृषि, पशुपालन और घरेलू उद्योग को वित्तीय सहायता का प्रबन्ध करने के अतिरिक्त निगम व्यवसायों में विविधता (diversification) लाने के लिये छोटी दुकानों, उद्योगों, आटो रिक्शाओं और कई दूसरे व्यापारों और व्यवसायों के लिये भी धन देती है। कई निगम सिंचाई सुविधाओं जैसे कुओं और ट्यूब वैलों के लिये भी वित्तीय सहायता प्रदान करती है। इनमें से कुछ प्रशिक्षण भी देती हैं जिससे कि लाभ-भोगी लाभकारी व्यवसायों को कर सके या अपनी दस्तकारी में सुधार कर सकें। सुलभ शौचालय परियोजनाए भी कई राज्यों में निर्जल शौचालयों को जलवाहित (water-borne) शौचालयों मे परिवर्तित करने के लिये चलाई गई हैं जिससे सफाई करने वाले इस कार्य से मुक्त हो सकें और उनका दूसरे व्यवसायों में पुनर्वास किया जा सके।

अनुसूचित जातियो के विरुद्ध अपराध (Crimes Against Scheduled Castes)

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये कल्याण मन्त्रालय (Ministry of Welfare) और राष्ट्रीय आयोग (नेशनल कमीशन ऑन शिड्यूल्ड कास्ट्स एन्ड शिड्यूल्ड

ट्राइब्स) के प्रतिवेदन निरन्तर अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराधों की संख्या में वृद्धि का विवरण देते रहे हैं। अनुसूचित जाति की स्त्रिया उच्चजाति के आदमियों के द्वारा बलात्कार की शिकार होती हैं। अनुसूचित जाति के पुरुषों का दूसरी ओर उनकी ज़मीनों को हड़पने, उन्हें कम मज़दूरी देने, उन्हें बधुआ मज़दूरों की तरह काम में लेने इत्यादि के रूप में उच्च जातियों द्वारा शोषण किया जाता है। इस प्रकार के शोषण को रोकने के लिये केन्द्र सरकार ने व्यापक दिशा-निर्देश बनाये हैं जिनमें निवारक उपाय भी दिये गये हैं और आवश्यक कार्यवाही के लिये उन्हें राज्यों के पास भेज दिया गया है। राज्यों ने इस सम्बन्ध में जो उपाय किये हैं वे हैं:

- अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित ज़मीन और मज़दूरी के झगड़ों के बारे में सरकार को अवगत कराने के लिये सम्बन्धित मशीनरी को कसना।
- अनुसूचित जातियों को उनकी ज़मीन का या उस जमीन का जो उन्हें आवटित हुई है, कब्जा दिलाने में सहायता करना।
- पुलिस अधिकारियों को विशेष आदेश देना कि अनुसूचित जातियों की जमीनों पर अवैध कब्ज़े के मामलों में वे हस्तक्षेप करें। पुलिस को हिदायत दी गई है कि अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराधों को विशेष सूचित मामलों की तरह माना जाये और उनकी शीघ्र सुनवाई और सजा का प्रबन्ध किया जाये।
- कृषक श्रमिकों को वैधानिक न्यूनतम मज़दूरी दिलाने में सहायता करना।
- (कुछ राज्यों में) अनुसूचित जातियों के मामलों को शीघ्र निबटाने के लिये विशेष अदालतों का गठन।
- अफसरों को निर्देश दिये गये हैं कि जब वे दौरे पर हों तो अपना कुछ समय अनुसूचित जातियों के आवासीय क्षेत्रों में बिताए।
- डी.आई.जी. पुलिस के अधीन विशेष अनुसूचित जाति कक्ष का गठन यह सुनिश्चित करने के लिये किया गया है कि अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराध सही तरीके से दर्ज हों, उनकी शीघ्र जाच हो, और उनका शीघ्र फैसला हो।
- राज्य स्तरीय समितियों (राज्यों में) का मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में गठन हो जो कि अनुसूचित जातियों के कल्याण से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर विचार करे।

पुलिस द्वारा दर्ज अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराधों की संख्या में वृद्धि इस बात से स्पष्ट होती है कि 1955 में पुलिस द्वारा दर्ज किये गये 180 मामलों के विपरीत, 1960 में दर्ज किये मामलों की सख्या 509, 1972 में 1,515, 1979 में 13,884, 1987 में 19,342, और 1992 में 21,796 हो गई। इन में से (1992 में) 712 केस मारे जाने के, 1734 केस मारपीट के, 1042 केस बलात्कार के, तथा 664 केस आगजनी के थे (हिन्दुस्तान टाइम्स, जुलाई 7, 1993)। 1955 का छुआ-छूत कानून का 1976 में पुन. नाम प्रोटेक्शन आफ सिविल राइट्स एक्ट (Protection of Civil Rights Act, 1955) कर दिया गया। अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराधों की अधिकतम सख्या उत्तरप्रदेश में दर्ज की जाती है और इसके बाद मध्यप्रदेश,

बिहार, केरल, राजस्थान, कर्नाटक, महाराष्ट्र और गुजरात आते हैं। उदाहरणतया, 1992 में दर्ज किये गये अनुसूचित जातियों के विरुद्ध सपूर्ण अपराधों की सख्या में से 29.5 प्रतिशत उत्तर प्रदेश में, 27 8 प्रतिशत मध्यप्रदेश में, 15 5 प्रतिशत बिहार में, 6 4 प्रतिशत केरल में, और 5.5 प्रतिशत राजस्थान में थी। इसके अतिरिक्त 10 1 प्रतिशत हिंसा के मामले, 7.3 प्रतिशत आगजनी के मामले, 7 10 प्रतिशत बलात्कार के मामले और 2 8 प्रतिशत हत्या के मामले थे।

अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अत्याचार और हत्या के विषय में मई 1977 की बिहार के बैल्ची गाव की घटना को भुलाया नही जा सकता। इसी प्रकार की घटनाए 1978 और 1993 के बीच उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार और मध्यप्रदेश में भी हुई। इन्ही अत्याचारों के कारण हरिजनों ने समय समय पर मुसलमान और ईसाई धर्मों में अपना धर्म परिवर्तन किया। इस प्रकार का धर्म परिवर्तन तमिलनाडु के मीनाक्षीपुरम से फरवरी 1981 में रिपोर्ट किया गया जिसमें 1,000 हरिजनों ने इस्लाम धर्म को अगीकार किया।

कल्याणकारी परियोजनाओ का मूल्याकन (Evaluation of Welfare Schemes)

ऐसा विश्वास किया जाता है कि पददलित (under-privileged) व्यक्तियों ने पिछले साढ़े चार दशकों में बहुत कम उन्नति की है। इन जातियों, जनजातियों और वर्गों के लिये बनाई गई कई कल्याण और विकास योजनाओं में एक कर्मकाण्डी दिखावा (ritualist formalism) ही रहा है। वित्तीय प्रोत्साहनों और शैक्षिक आरक्षणों ने इन खण्डों को बहुत कम लाभ पहुचाया है। जिस प्रकार की शिक्षा इन्हें दी जाती है उसका उनकी जीवन-शैली से कोई सबन्ध नहीं है और उसके बारे में शका उठाई गई है। विद्या के नये लोक-चरित्र (ethos) में इन्हें ढालने के लिये कोई प्रयत्न नही किये गये और ना ही उनमें मौखिक और गैर-मौखिक कुशलता उत्पन्न की गई जो कि शैक्षिक सफलता के लिये एक पूर्वापेक्षा है (दुबे, एस सी., सितबर, 1990)। स्कूल और कालेज/यूनिवर्सिटी छोड देने वालों की दर ने चौंकाने वाले परिमान धारण कर लिये हैं। यूनिवर्सिटी/कालेज स्तर पर प्राध्यापक शिकायत करते हैं कि एस सी/एस टी के विद्यार्थी तभी दिखाई देते हैं जब उनकी छात्रवृत्ति के चैक समाज कल्याण विभाग से प्राप्त होते हैं। कक्षाओं से वे अधिकाशतया अनुपस्थित रहते हैं। यद्यपि उनकी उपस्थिति की प्रतिशतता बहुत कम होती है, फिर भी वे परीक्षा में भाग ले लेते हैं क्यों कि यूनिवर्सिटी प्रशासन की यह नीति रहती है कि आखिरी क्षण पर उपस्थिति की अनिवार्य प्रतिशतता को हटा दिया जाये। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश-परीक्षाओं में उनके द्वारा निम्नस्तर का प्रदर्शन उनके शिक्षा के स्तर का नीचा होना प्रतिबिंबित करता है। एक उदाहरण इस बात को सिद्ध करता है। 1989 में मध्यप्रदेश में व्यावसायिक कालेज की प्रवेश-परीक्षाओं में इतने कम एस सी और एस टी के विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए कि उनके लिये न्यूनतम पात्रता (minimum eligibility) के अकों को उत्तरोत्तर घटाना पडा। इजीनियरिंग विषय के लिये अनारक्षित कोटे के लिये न्यूनतम अक 50 प्रतिशत थे, अनुसूचित जातियों के लिये ये 35 0 प्रतिशत और अनुसूचित जनजाति के लिये 25 0 प्रतिशत थे। अन्त में, अनुसूचित जाति के 15 प्रतिशत अक वाले विद्यार्थियों और अनुसूचित जनजाति

के 7.0 प्रतिशत अंक वाले विद्यार्थियों को प्रवेश देना पड़ा (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 3 सितंबर, 1990)।

दूसरी पिछड़ी जातियां/वर्ग (Other Backward Castes/Classes)

अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिये आरक्षण का प्रावधान स्वतंत्रता के पश्चात बनाये गये संविधान में कर दिया गया था, परन्तु सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी जातियों/वर्गों (SEBCs) के लिए केन्द्रीय सरकार की नौकरियों में 27 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा जनता सरकार ने 7 अगस्त, 1990 को ही की। यह मंडल कमीशन की रिपोर्ट की क्रियान्विति के रूप में किया गया। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट 31 दिसंबर, 1980 को पेश की थी। इस पर लोक सभा और राज्य सभा दोनों में 1982 में चर्चा हुई और उसके बाद यह मामला पुन. विचार के लिये एक सचिवों की समिति को सौंप दिया गया था। यह मामला ससद के दोनों सदनों में बार बार उठाया गया परन्तु इस पर कोई कार्यवाही नही हुई। मंडल कमीशन की सिफारिशों को मानने की एकाएक घोषणा को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री वी.पी. सिंह का राजनीतिक निर्णय कहा गया जिसको उसके क्रियान्वन से उठने वाले विभिन्न मामलों के गहन अध्ययन किये बिना और जातियों और सूचकों (indicators) के चुनने के औचित्य और वैधता को सत्य प्रमाणित किये बिना अपना लिया गया।

मंडल कमीशन ने एक विशेष जाति/वर्ग को पिछड़ा मानने के लिये किन मापदंडों का उपयोग किया ? कमीशन ने तीन सूचकों (indicators) का उपयोग किया था: सामाजिक, शैक्षिक, और आर्थिक (वी.गौरी शकर. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 24 अक्टूबर, 1990)। सामाजिक सूचकों के सम्बन्ध में चार, शैक्षिक सूचकों में तीन, और आर्थिक सूचकों में चार मापदंड थे। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह सूचक थे।

चार सामाजिक सूचक थे: (i) जातियां/वर्ग जिन्हें दूसरे व्यक्ति सामाजिक रूप से पिछड़ा मानते हैं, (ii) जातिया/वर्ग जो अपने जीवन यापन के लिये शारीरिक श्रम करते हैं, (iii) जातिया/वर्ग जिनमें राज्य के औसत से अधिक कम से कम 25.0 प्रतिशत स्त्रियां और 10.0 प्रतिशत पुरुष 17 वर्ष की आयु के पहले ग्रामीण क्षेत्रों में विवाह कर लेते हैं और कम से कम 10.0 प्रतिशत स्त्रियां और 5.0 प्रतिशत पुरुष इस (17 वर्ष) आयु से पहले शहरी क्षेत्रों में विवाह करते हैं, और (iv) जातिया/वर्ग जिनमें स्त्रियों की श्रम में भागेदारी राज्य के औसत से कम से कम 25 प्रतिशत अधिक है।

तीन शैक्षिक सूचक थे (i) जातिया/वर्ग जिनमें 5-15 वर्ष के आयु-समूह के बच्चे जो कभी स्कूल नही गये राज्य के औसत से कम से कम 25.0 प्रतिशत अधिक हैं, (ii) जातियां/वर्ग जिनमें 5-15 आयु समूह के विद्यार्थियों के स्कूल छोड़ने (drop-outs) की दर राज्य के औसत से कम से कम 25.0 प्रतिशत अधिक है और (iii) जातिया/वर्ग जिनमें मैट्रिक/हायर सेकन्ड्री फेल लोगों का अनुपात राज्य के औसत से कम से कम 25 प्रतिशत अधिक है।

चार आर्थिक सूचक थे (i) जातिया/वर्ग जहां परिवार की सम्पति का औसत मूल्य राज्य

के औसत से कम से कम 25 प्रतिशत नीचे है, (ii) जातिया/वर्ग जिनमें कच्चे मकानों में रह रहे परिवारों की सख्या राज्य के औसत से कम से कम 25 प्रतिशत अधिक है, (iii) जातिया/वर्ग जिनमें 50.0 प्रतिशत परिवारों के पीने के पानी का स्रोत आधे किलोमीटर से अधिक है, और (iv) जातिया और वर्ग जिनके परिवारों में ऋण लेने की सख्या राज्य के औसत से 25.0 प्रतिशत अधिक है।

प्रत्येक सूचक को जो लाभ (weightage) दिया गया था वह मनमाना एव असगत था। सामाजिक सूचकों को तीन अश (points) का, शैक्षिक सूचकों को दो अश का, और आर्थिक सूचकों को एक अश का लाभ दिया गया। कुल मूल्य 22 अश का था। जिन जातियों ने 50 0 प्रतिशत अश (यानी 11 अश) या उससे अधिक प्राप्त किये उन्हें 'पिछडा' बतलाया गया।

मडल कमीशन की पिछडी जातियों के लिये आरक्षण की रिपोर्ट को लागू करने के सरकार के निर्णय का विद्यार्थियों ने व्यापक विरोध किया। सारे देश में स्वत स्फूत आदोलन भड़क उठे। कई परिवार अपने बच्चों को शिक्षित करने में तकलीफ उठाते हैं और बलिदान करते हैं। हमारे देश में भयकर बेरोज़गारी के कारण लाभकर रोज़गार पाने की सम्भावना पहले ही कम रहती है। अधिकाश विद्यार्थी बेरोज़गारी अथवा अल्प-रोज़गारी के दु स्वप्न से पीडित रहते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार के 'निर्वाचकीय निर्णय' (electoral decision) से कि जाति के आधार पर पहले से विद्यमान अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिये 22 5 प्रतिशत के आरक्षण के अलावा 27 0 प्रतिशत का पिछडी जातियों के लिए नौकरियों में और आरक्षण किया जाये, युवाओं में कुण्ठाए जाग्रत होना स्वाभाविक था।

इससे पूर्व *अल्पसख्यक आयोग ने जिसके अध्यक्ष एम एस बेग थे, अपनी रिपोर्ट में मडल* आयोग की सिफारिशों के अनुसार पिछडी जातियों को मान्यता देने के विरुद्ध सचेत किया था। जब जनता दल सरकार ने मंडल रिपोर्ट को लागू करने के अपने निर्णय की घोषणा की तो किसी राजनीतिक दल ने इसका खुल कर विरोध नहीं किया। सभी दलों ने अस्पष्ट रुख अपनाया, यद्यपि प्रमुख राजनैतिक दलों ने इस शर्त के साथ उसे अस्पष्ट अथवा प्रत्यक्ष समर्थन दिया कि उसका आधार जाति न होकर आर्थिक आवश्यकता होनी चाहिये। केवल नेशनल फ्रन्ट सरकार ही इस पर अडिग रही कि मडल रिपोर्ट को किसी भी परिस्थिति में परिवर्तन नही किया जायेगा। लोगों में व्याप्त आक्रोश कम करने के लिये उसने मडल द्वारा प्रस्तावित 27 0 प्रतिशत आरक्षण के अतिरिक्त सरकारी नौकरियों में 10 0 प्रतिशत आरक्षण आर्थिक आधार पर भी रखने का प्रस्ताव रखा। तथापि अब यह सर्वविदित तथ्य है कि मंडल रिपोर्ट के मामले में नेशनल फ्रन्ट में भी आन्तरिक मतभेद थे।

मडल रिपोर्ट को स्वीकृत करने के सरकार के सही उद्देश्य को चुनौती देते हुए छात्र उग्र व्यवहार करने को तत्पर हो गये और उन्होंने आदोलन और आत्मदाह किये। 19 सितबर 1990 (*जब कि एक देहली के कालेज के तृतीय वर्ष के छात्र के आत्मदाह का प्रथम प्रकरण रिपोर्ट किया* गया) और 16 अक्तूबर 1990 के बीच में मडल कमीशन की सिफारिशों को लागू करने के

सरकार के निर्णय के विरुद्ध 160 युवाओं ने आत्महत्या करने का प्रयास किया। वे सब 25 वर्ष की आयु से कम थे और उनमें से अधिकांश स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी थे या बेरोज़गार थे (सन्डे, नवबर 4-10, 1990:39)। उनमें से बडी संख्या ने खुले आम अपने को आग लगाई जब कि कुछ ने चुपचाप ज़हर खा लिया अथवा आत्मदाह किया। इन छब्बीस दिनों में देहली में 17 आत्मदाह के प्रयासों के मामले हुए और इसी तरह के मामले पजाब में होशियारपुर, उत्तरप्रदेश में जौनपुर और लखनऊ, राजस्थान में कोटा, और बिहार में पटना जैसे स्थानों में हुए। अधिकाश मामलों के शिकार निम्न-मध्यम वर्ग के परिवारों के थे। उच्च वर्ग के और निर्धन व्यक्ति मडल-विरोधी लहर से प्रभावित नही हुए। सभी मामलों में विद्यार्थियों ने अपने पीछे अतिनाटकीय और अत्यन्त कटु पत्र छोड़े। कई स्थानों पर पुलिस की गोली से कई छात्र मारे गये और हज़ारों गिरफ्तार किये गये। छात्रों ने भी हज़ारों सरकारी वाहनों, निजी बसों, कारों और रेलगाडियों को क्षति पहुचाई। यद्यपि सरकार ने नुक्सान के सही आंकड़े नहीं बताये फिर भी करोडों रुपये की क्षति का अनुमान लगाया गया। व्यवस्था के प्रति कुण्ठा और रोष था, एक भावना थी कि व्यवस्था ने उन्हें झूठी आशा बंधाई कि शिक्षा उन्हें नौकरियां उपलब्ध करा देगी।

इसके पहले कि हम यह देखें कि नेशनल फ्रन्ट सरकार और चन्द्रशेखर सरकार के उपरान्त 1991 में जब नरसिंह राव की कांग्रेस सरकार सत्ता में आयी, तो उसने किस तरह मंडल कमीशन के सुझावों को 1992 और 1993 में सशोधित करके देश में लागू किया, मन्डल आयोग के सुझावों के पक्ष और विपक्ष में तर्कों का मूल्याकन करना आवश्यक है।

मडल रिपोर्ट के पक्ष मे तर्क (Arguments in Favour of Mandal Report)

मंडल आयोग की सिफारिशों के पक्ष में निम्नाकित तर्क दिये जाते हैं:

- ये संविधान की अनिवार्य आवश्यकता (mandatory requirement) की पूर्ति करते हैं जिसमें समाज के उन वर्गों को सतुष्ट करना है जिनमें कई दशकों से अन्दर ही अन्दर असंतोष उबल रहा था।
- हमारा यह नैतिक एव सामाजिक कर्त्तव्य है कि यह सुनिश्चित करें कि उत्पीड़ित और दमित (suppressed) व्यक्तियों और धनाढ्य (affluent) व्यक्तियों में समाज में समता हो। शोषित व्यक्तियों में विश्वास की भावना भरी जाने की आवश्यकता है।
- जैसा अधिकाश लोग समझते हैं, सिफारिशें पूर्ण रूप से जाति पर आधारित नहीं हैं। उदाहरण के लिये, बिहार में राजपूत इस सूची में नहीं हैं परन्तु गुजरात में राजपूत इसमें हैं; बिहार में पटेल इस सूची में हैं जब कि गुजरात के पटेल इस में नहीं हैं; और उत्तरप्रदेश और बिहार के यादव इसमें सम्मिलित हैं परन्तु हरियाणा के नहीं। इस प्रकार आधार प्रत्येक राज्य में किसी जाति विशेष की स्थिति है।
- राष्ट्र की अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े वर्ग की 52 प्रतिशत जनसंख्या का कुल 4.0 प्रतिशत मात्र का प्रथम श्रेणी सरकारी और राजकीय क्षेत्र में प्रतिनिधित्व है। यह कमज़ोर वर्गों के साथ नितात अन्याय है जिसको ठीक करने की

आवश्यकता है।

- आरक्षण विरोधियों का आरक्षण के विरोध में एक तर्क 'योग्यता' के प्रश्न पर आधारित है। सामान्यत यह विश्वास किया जाता है कि योग्यता उच्च जातियों में ही निवास करती है, इसलिये उपनिवेशीय नीति की तरह उन्हें देश को चलाने, उसकी सेवाओं को करने और निम्न जातियों को सभ्य बनाने के भार को वहन करने की अनुमति दी जानी चाहिये। क्या यह तर्क वैध और न्याय सगत है ? क्या इस तर्क का ब्रिटिश सरकार समर्थन नही करती थी जब वह ऊचे पद अंग्रेजों को देती थी और नीचे पद भारतवासियों को ? क्या अंग्रेजों की भारत को स्वराज देने की अनिच्छा इस प्रकार के तर्क पर आधारित नही थी ? क्या हमने उसे स्वीकार किया ? यदि हमने इस तर्क को उस समय भ्रामक बतलाया तो आज इसी तर्क को निम्न जातियों और वर्गों के विरुद्ध कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? इसके अतिरिक्त यदि यह तर्क दिया जाता है तो क्या हमने निम्न जातियों को योग्यता प्राप्त करने के ठोस अवसर प्रदान किये हैं ? यदि हमारी सरकार एक ओर तो समस्त नागरिकों को समान मानती है और दूसरी ओर पिछडे वर्गों को समान अवसर प्रदान नही करती तो यह शोषित वर्गों पर प्रभुत्व जमाये रखने के अतिरिक्त कुछ भी नही है। इसलिये इन दलित और शोषित व्यक्तियों को आरक्षण देने के लिये हमें बहुत आत्म निरीक्षण की आवश्यकता है क्यों कि यह एक ऐसा विचार है जिसका हम में से कई सहज ही विरोध करते हैं।

मंडल रिपोर्ट के विरोध मे तर्क (Arguments Against the Mandal Report)

मंडल रिपोर्ट की कई ओर से कई कारणों को लेकर तीखी आलोचना हुई है। उसके विरुद्ध पाच प्रमुख तर्क हैं·(i) अन्य पिछडी जातियों/वर्गों की परिभाषा करने में उपयोग किये गये मापदण्ड, (ii) जनसख्या प्रक्षेपणों (projections) के लिये जनसख्या विकास की एक कल्पित स्थिर दर (assumed constant rate) के आधार पर बहुत पुराने जनसख्या के आकडों का उपयोग, (iii) दूसरी पिछडी जातियों/वर्गों की पहचान के लिये सबधित तथ्यों और आकडों में गोलमाल, (iv) प्रतिचयन कार्यप्रणाली (sampling procedure) में वस्तुनिष्ठता का अभाव और एकत्रित किये गये आकडों में कमिया, (v) पारिभाषिक विसगतिया (discre pancies), विशेषकर 'जाति' और 'वर्ग' शब्दों के उपयोग के सन्दर्भ में। हम इन तर्कों का विस्तार निम्नाकित रूप से कर सकते हैं

1. 'पिछडेपन' की परिभाषा केवल जाति के आधार पर की गई है। इससे घृणास्पद जाति सबधी पूर्वाग्रह और पक्षपात जो (जाति) व्यवस्था में प्रचलित है बने रहेंगे। कोई भी विशेष प्रावधान समस्त निर्धन व्यक्तियों के लिये बगैर जाति का ध्यान किये होना चाहिये और केवल आर्थिक मानदण्डों पर आधारित होना चाहिये। इसके अतिरिक्त दूसरी पिछडी जातियों/वर्गों का पता लगाने के लिये केवल 'जाति' के एक मापदण्ड का उपयोग बहुल (multiple) मापदण्डों जैसे धर्म, आय, व्यवसाय और किसी मोहल्ले में मकान (जिनपर कई विद्वानों ने बल दिया है) के

महत्व को रेखांकित (under score) करता है ।

2. यद्यपि 'जाति' की परिभाषा करने के लिये बहुत प्रयत्न किये गये, 'वर्ग' की कोई परिभाषा नहीं दी गई और समाजशास्त्रीय दृष्टि से जाति और वर्ग दो पृथक श्रेणिया हैं । इसलिये मडल रिपोर्ट ने अधिक से अधिक 'अन्य पिछडी जातियों' का और न कि 'अन्य पिछड़े वर्गों' का पता लगाया जिसकी आवश्यकता थी ।
3. अन्य पिछड़ी जातियां/ वर्गों की पहचान करने का मापदण्ड अनियमित, ऊटपटाग और राजनीति से प्रेरित है । वह विशुद्ध वैज्ञानिक विधि पर आधारित नही है । मडल कमीशन ने जाति/वर्ग के सामाजिक, शैक्षिक, और आर्थिक पिछडेपन को ज्ञात करने के लिये जो ग्यारह सूचक अपनाये इनमें अच्छे सूचकों की विशेषताओं का अभाव है । उदाहरणार्थ, सामाजिक मूचक जो अल्प आयु में विवाह के मापदण्ड से सबंधित है किसी विशेष जाति या वर्ग में ही नही पाया जाता, अपितु यह एक अत्यन्त पुरानी सामाजिक बुराई है जो साधारणतया सभी जातियों और वर्गों में पाई जाती है । इसलिये इसको जातियों और वर्गों में एक दूसरे में भेद प्रदर्शित करने के लिये सूचक के रूप में काम में नही लिया जाना चाहिये था । इसी प्रकार श्रम में स्त्रियों की भागीदारी वाले सामाजिक सूचक को एक आर्थिक सूचक माना जाना चाहिये क्यों कि स्त्रियों को अपनी पारिवारिक आय बढाने के लिये काम करना पडता है । इसके अतिरिक्त मामीण महिलाओं में अपने परिवार के खेती के कार्यों में सहायता करने की एक आम प्रवृत्ति होती है और यह किसी विशेष जाति अथवा वर्ग से सम्बन्धित नही है ।

इसी प्रकार एक व्यक्ति को 'शैक्षिक रूप से पिछड़ा' माना जाना था यदि उसके पिता और दादा ने प्राथमिक स्तर से आगे अध्ययन नहीं किया है । उसको 'सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा' माना जाना था यदि (हिन्दू होने की अवस्था में) वह तीन द्विज वर्णों में नही आता था, यानि कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य नहीं था, और/या (गैर-हिन्दू होने की अवस्था में) वह उन हिन्दू जातियों से धर्मान्तरित (convert) था जिन्हें सामाजिक रूप से पिछड़ा हुआ परिभाषित किया हुआ है या उसके पिता की आय प्रचलित निर्धन रेखा (अर्थात् 107 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति माह) से नीचे थी । क्या ये विस्तृत जाच-पड़तालें वास्तव में की गई थी ? प्रमाण इसे नहीं दर्शाता है ।

अधिकतम निरुत्साह करने वाला भाग आर्थिक सूचकों का चयन है जहां प्रति व्यक्ति पारिवारिक आय को बिल्कुल ही छोड़ दिया गया है । परिवारिक सम्पत्ति और उपभोक्ता ऋण उनके व्यय को बतलाते हैं और यह इस पर निर्भर करता है कि उनके परिवार बडे या छोटे हैं या वे सामाजिक परंपराओं को अधिक निभाते हैं और अक्सर ऋण लेते रहते हैं ।

अन्त में, वह आर्थिक सूचक जिसमें पीने के पानी के स्रोत पर विचार किया

गया है एक बहिर्जात (exogenous) कारक से सम्बन्धित है, न कि किसी विशेष जाति या वर्ग से। इस प्रकार जबकि जातियों/वर्गों के पिछडेपन की पहचान सही सूचकों पर आधारित नहीं है तो आरक्षण को बढाने के प्रयत्नों को स्वीकृति नहीं मिल सकती।

4. 'पिछडे' वर्ग की परिभाषा और पहचान करना अवैज्ञानिक है। जब कि मडल आयोग ने 3,742 वर्गों को 'पिछडा' माना, प्रथम पिछडे वर्ग कालेलकर समिति ने लगभग 2,000 वर्गों को पिछडा माना था। इससे प्रकट होता है कि या तो कालेलकर समिति ने सही पहचान नहीं की या लाभ उठाने के उद्देश्य से दूसरी जातियों की एक बडी सख्या ने बाद में अपने को पिछडी जातियों में वर्गीकृत कराने के लिये सघर्ष किया। या इसका दूसरा अनुमान यह लगाया जा सकता है कि कई जातिया कालेलकर समिति की रिपोर्ट के पेश होने के बाद 'पिछडी' हो गई। इसलिये पिछडे वर्गों की पहचान के लिये राज्य सरकारों से विचार-विमर्श करना आवश्यक था। उदाहरण के लिये जब केरल सरकार ने स्वय 79 जातियों को पिछडा माना तो भी मडल आयोग ने 208 के पिछडे होने की सिफारिश की। इसी प्रकार उडीसा ने एक भी जाति को पिछडा नहीं बतलाया, परन्तु मडल आयोग ने 224 को पिछडा माना। इस प्रकार मडल आयोग ने राज्य सरकारों से विचार विमर्श करना आवश्यक नहीं समझा।

5. जातियों के वर्गीकरण का जनसख्या प्रक्षेपण (projection) 1931 की जनगणना के आकडों के उपयोग पर आधारित था। उस समय भारत का सामाजिक, आर्थिक और जनांकिकी (demographic) नकशा बिलकुल भिन्न था। 'जाति' को उसके पारंपरिक व्यवसाय से पहचाना जाता था। 1931 के बाद जनगणना प्रक्रियाओं में से जातियों को सूचियों में लिखना बद कर दिया गया और 1931 और 1990 के बीच औद्योगीकरण, नगरीकरण, शैक्षिक विकास, प्रव्रजन (migration) और गतिशीलता (mobility) में तेज वृद्धि के कारण कई परिवर्तन आये हैं। इसलिये मंडल आयोग द्वारा 1980 में अपनाया गया पुरानी जनगणना का आधार अपनाये गये मानदण्डों का एक विकृत चित्र प्रस्तुत करता है। स्वतत्रता के पश्चात किये गये भूमि सुधारों ने विभिन्न जातियों को सामाजिक और शैक्षिक स्थिति में बहुत परिवर्तन कर दिया है और वे ग्रामीण अभिजन का एक महत्वपूर्ण अग बन गये। बिहार और उत्तरप्रदेश में यादव और कुर्मी इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। गूजर, कोयरी और लोध भी कुछ राज्यों में स्वामित्वधारी किसान हो गये हैं।

शहरी जनसख्या 1931 में 12.0 प्रतिशत से बढ कर 1981 में लगभग 24.0 प्रतिशत हो गई। शहरी क्षेत्रों में आमदनी और व्यवसाय का स्तर सामाजिक स्थिति को पारम्परिक जाति समाज में स्थिति की तुलना में अधिक प्रभावित करता है।

पूर्णतया कृषि-अर्थव्यवस्था से एक ऐसी व्यवस्था में परिवर्तन जिसमें उत्पादन और नौकरी उद्योगों को अधिकाधिक महत्व मिलने लगा, इसके परिणामस्वरूप भी कुछ ग्रामीण व्यवसायों में कमी आई। आयोग ने 1980 में अन्य पिछड़ी जातियों/वर्गों की पूर्ण जनसख्या का 52 प्रतिशत अनुमान लगाते समय इन सब परिवर्तनों को ध्यान में रखा हो, ऐसा प्रतीत नही होता। 1990 में जब सरकार ने मंडल आयोग की रिपोर्ट की स्वीकृति की घोषणा की, उस समय तक शहरीकरण 4 0 प्रतिशत और अधिक बढ़ गया था और जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण में और परिवर्तन आ गये थे जिससे कि 1931 की जनगणना पर आधारित आंकडे एवं स्थितियां और अधिक अवास्तविक हो गई थी।

शहरीकरण और व्यावसायिक परिवर्तनों के अतिरिक्त उच्च शिक्षा में भी भारी विकास हुआ है। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या 1951 में 1.03 लाख से बढ कर 1978-79 में 36 75 लाख और 1989-90 में 52.43 लाख हो गई। एस.सी./एस.टी. के विद्यार्थियों की सख्या में वृद्धि यह दर्शाती है कि उच्च शिक्षा का जनसख्या के पिछड़े वर्गों में विस्तार असाधारण हुआ है, यद्यपि निसंदेह इसमें छात्रवृत्तियों के अनुदान ने भी मदद की है। एस.सी./एस.टी. के उच्चशिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों की 1987 में कुल सख्या लगभग 3.36 लाख थी जब कि इसी तुलना में 1950-51 में वह मात्र 4,000 ही थी। 1931 और 1990 के बीच हुए इन परिवर्तनों को कैसे अनदेखा किया जा सकता है।

6. दूसरा गलत अनुमान जो मडल ने लगाया वह यह था कि गैर-हिन्दुओं में अन्य पिछड़ी जातियों/वर्गों का वही अनुपात था जो हिन्दुओं में था। गैर-हिन्दू अन्य पिछडी जाति/वर्गों का अनुपात कुल जनसंख्या का 8.40 प्रतिशत माना गया था या उनकी वास्तविक जनसंख्या का 52.0 प्रतिशत, परन्तु हिन्दू अन्य पिछड़ी जातियों/वर्गों की उद्भूत (derived) सख्या जो इस रिपोर्ट में दी गई है वह 43.70 प्रतिशत है न कि 52.0 आती है। 8.40 प्रतिशत और 52.0 प्रतिशत की दोनों संख्यायें मनमाने ढंग से (arbitrarily) ली गई थीं। यह इस रिपोर्ट की पद्धतिशास्त्रीय एक आधारभूत त्रुटि है।

   43.70 प्रतिशत का आंकड़ा कैसे प्राप्त किया गया? इस आंकड़े को कुल हिन्दुओं की जनसंख्या (83.84%) में से एस.सी./एस.टी. की जनसख्या (22.56%) और अग्रवर्ती (forward) हिन्दू जातियों की जनसंख्या (17.58%) को घटा कर प्राप्त किया गया। इस प्रणाली के अनुसरण से जो आंकड़ा प्राप्त होता है वह 43.70 प्रतिशत है। यह पद्धतिशास्त्रीय दोष (fallacy) है।

7. सामाजिक-शैक्षणिक क्षेत्र के सर्वेक्षण के लिये प्रतिचयन प्रणाली अत्यंत त्रुटिपूर्ण

थी। उसमें प्रत्येक जिले से दो गावों और एक शहरी ब्लाक का चयन करना था। ऐसा प्रतिदर्श (Sample) जो केवल 1 0 प्रतिशत जनसख्या को ही सम्मिलित करता हो, अत्यन्त सदेहास्पद (questionable) है।

8. पिछडेपन के मानदण्डों को निर्धारित करते समय, आर्थिक मानदण्डों को दिया गया महत्व बहुत अपर्याप्त था। जातियों/वर्गों के वर्गीकरण के लिये मडल आयोग द्वारा निर्धारित किये गये 22 अकों में से केवल चार अक आर्थिक मानदण्डों को दिये गये। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक वर्ग के 'पिछडेपन' को निर्धारित करते समय उसकी आर्थिक स्थिति को अधिक महत्व नही दिया गया।
9. भारतीय सविधान ने 'पिछडे वर्ग' की परिभाषा नही की है, परन्तु उसमें 'पिछडे वर्गों की स्थितियों के अन्वेषण के लिये एक आयोग की नियुक्ति का प्रावधान है। वह इसको अनिवार्य नही बनाता कि सरकार आयोग से पिछडे वर्गों की पहचान करने को कहे। मडल आयोग के अध्यक्ष ने, जो स्वय एक पिछडी जाति के सदस्य थे और जो अपने राजनीतिक जीवन में पक्षपातपूर्ण वक्तव्य देने के लिये प्रसिद्ध रहे, पिछडी जातियों/वर्गों को पहचानने के लिये जो सूचक काम में लिये और उन्हें अंक प्रदान किये उसमें उनकी भूमिका पक्षपातपूर्ण रही। चूकि गहन अन्वेषण (*investigation*) *और सर्वेक्षण नही किया गया और सही मानदण्डों का प्रयोग* नही किया गया इसलिये जातियों/वर्गों के चयन का मडल आयोग का आदेश नही माना जा सकता। स्वय आयोग ने स्वीकार किया था कि वर्गों को सामाजिक और शैक्षिक रूप में सूचीबद्ध 'कुछ मनमाने ढग से किया गया है और उसमें समर्थनीय दृष्टिकोण के गुण के अतिरिक्त कुछ भी नही है।'
10. जनसख्या विकास की स्थिर (constant) दर का अनुमान कैसे लगाया गया और प्रतिशतता कैसे अपनाई गई ? एक दम से 27 0 प्रतिशत कैसे निर्धारित की गई ? सरकार से आरक्षण की समग्रता पर विचार करने की आशा की जाती है जिसमें अनुसूचित जातिया, अनुसूचित जनजातिया, विकलाग व्यक्ति, भूतपूर्व सैनिक, विस्थापित व्यक्ति और दूसरी विशेष श्रेणिया सम्मिलित हैं। इन सबको जब मडल आयोग की सिफारिश किये हुए 27 0 प्रतिशत से जोड देते हैं तो आरक्षण 59 0 प्रतिशत से भी अधिक हो जाता है। बची हुई प्रतिशतता इतनी कम रह जाती है कि इस अनुभाग के कुछ दु साध्य विद्यार्थी और युवाओं को प्रतिक्रिया व्यक्त करने और आन्दोलन चलाने के अतिरिक्त कोई विकल्प दिखाई नही देता। अत आरक्षण लाभकर रोज़गार प्राप्त करने में रूकावट सिद्ध होता है।
11. मडल आयोग की रिपोर्ट को दस वर्षो तक कोई महत्व नही दिया गया। जब किसी रिपोर्ट पर इतने समय बाद विचार किया जाता है तो उसको अद्यतन (update) बनाना चाहिये और परिवर्तित आवश्यकताओं और उसमें कमियों के बारे में उसका

परीक्षण होना चाहिये । फिर यह भी आंकलन होना चाहिये कि उसे स्वीकृत करने के क्या परिणाम होंगे । यह एक निश्चित समय में किया जाता है । जिस वी.पी.सिंह सरकार ने मंडल आयोग की रिपोर्ट की स्वीकृति की घोषणा की,उस ने इस प्रक्रिया को पूरा करने की चिन्ता ही नहीं की जिसके फलस्वरूप उसमें कमियों के कारण हिंसा और आन्दोलन हुए ।

12. संविधान में यह व्यवस्था दी गई है कि एक वर्ग जो राज्य की सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व रखता है,को 'पिछड़ा' वर्गीकृत नहीं किया जा सकता । यह कार्य सरल नहीं है क्यों कि इस पहलू पर साख्यकीय आंकडे उपलब्ध नही है,केवल भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले आकडों का एक पूंज (सेट) है जिसका आकलन कुछ राज्यों के पिछड़े वर्गों की सूचियों के आधार पर किया गया है ।

13 मंडल आयोग की रिपोर्ट की क्रियान्विति का एक परिणाम यह होगा कि चूंकि मडल आयोग रिपोर्ट ने 27.0 प्रतिशत आरक्षण को प्रत्येक पिछडी जाति के कोटा के रूप में विभाजित नही किया है,इसमें 27.0 प्रतिशत के आरक्षण का अधिकाश भाग उन थोडी सी जातियों द्वारा हथिया लिया जायेगा जो पिछडी जातियों में प्रबल हैं । इन थोडी प्रबल जातियों में भी कुछ ही परिवार ऐसे होंगे जो कि अपने पिछडे भाईयों की कीमत पर समृद्ध बनेंगे । अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये आरक्षण नीतियों के पूर्व में हुए क्रियान्वयन से यह अनुभव हो चुका है । मंडल आयोग रिपोर्ट में इसकी कोई सीमा नहीं है कि एक परिवार के कितने सदस्य आरक्षण का लाभ उठा सकते हैं । और न ही उसमें कोई आर्थिक मापदण्ड हैं जो कि सम्बन्धित जाति के सबसे अधिक समृद्धशाली व्यक्ति को आरक्षण कोटा से लाभ उठाने से वचित करें ।

यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्या प्रर्याप्त प्रतिनिधित्व को वर्गीकृत पिछडे वर्गों में से प्रत्येक वर्ग के सदर्भ में देखना है ? यदि पिछड़े वर्गों की संपूर्णता (totality) को लिया जाता है और यह पाया जाता है कि केवल कुछ ही वर्गों ने पदों पर इतना एकाधिकार जमालिया है कि वह पर्याप्त प्रतिनिधित्व से भी आगे निकल जाता है (जैसा कि राजस्थान में मीना जनजाति का उदाहरण है या दक्षिण भारत में कुछ जातियों का है) तो क्या हम उसे सामाजिक न्याय कह सकेंगे ? यदि अलग अलग समूह लिये जाते हैं और जाति चयन का आधार माना जाता है तो क्या 3500 जातियों का रोस्टर रखना संभव होगा जो कि सेवाओं में प्रतिनिधित्व के विषय में निरन्तर घटता-बढ़ता रहेगा ? सामाजिक न्याय के विषय में बात करने से पहले इन तथ्यों के विषय में निर्णय लेना चाहिये ।

मडल कमीशन रिपोर्ट के विरुद्ध दिये जाने वाले कुछ अन्य तर्क हैं:

1. उसके कार्यान्वयन के तरीके में जल्दबाजी बरती गई । लोगों को उसके कार्यान्वयन के लिये तैयार करना चाहिये था क्यों कि उससे कुछ खण्डों में वंचन की भावना

जाग्रत होने की संभावना थी। उस समय जो जनता दल सरकार सत्ता में थी उसमें भी इस रिपोर्ट पर कोई चर्चा नही हुई थी। जनता दल ने नेशनल फ्रन्ट सरकार के दूसरे घटकों को भी इस विषय में अन्धकार में रखा। इस प्रकार इस रिपोर्ट की कार्यान्विति बिना किसी आम सहमति के हुई।

2. पिछड़ी जातियों का कोटा आरक्षित करते समय कोई आर्थिक काट-बिन्दु (cut off point) निश्चित नही किया गया। एक परिवार को जिसकी आय एक निश्चित सीमा से ऊपर है, आरक्षण का पात्र नही मानना था।
3. प्रशासनिक कार्यकुशलता पिछड़े वर्गों को रिआयतें देने के कारण खतरे में पड़ गई है यद्यपि संविधान यह मानता है कि आरक्षण प्रशासन की कार्यकुशलता को बनाये रखने में अनुकूल होगा न कि उसका विद्रोही।
4. आरक्षण केवल एक पीढ़ी के लिये वैध होना चाहिये।

इस प्रकार ऐसे अवैज्ञानिक अध्ययन को अत्यधिक सतर्कता से समझने की आश्यकता है जिसके आधार हैं, अनुमान, भ्रान्तियां (fallacies), सम्बद्ध आकड़ों की कमी, जानकारी से बचकर निकलने के रास्ते (loopholes), मनमानापन, व्यक्तिपरकता, असंगतियां (anomalies), उच्चश्रेणी का सामान्यीकरण, और जो विशेषज्ञ सामाजिक वैज्ञानिक की सलाह के विरुद्ध है।

वर्तमान स्थिति (Present Situation)

मंडल रिपोर्ट की अविवेकपूर्ण स्वीकृति के विरुद्ध राजनीतिक दलों, प्रेस, और लोगों की आलोचना से धक्का लगने पर उस समय की जनता दल सरकार ने संकट-स्थिति को विस्फोटक होने से रोकने के लिये कुछ प्रस्ताव रखे। यह घोषणा की गई (अक्टूबर 1990 में) कि आरक्षण शिक्षा, विज्ञान और सुरक्षा जैसे अत्यावश्यक क्षेत्रों और उच्चतम पदों पर लागू नही किया जायेगा। पदोन्नतियों में भी आरक्षण नही होंगे। रिपोर्ट उन राज्यों में भी लागू नही की जायेगी जिन्होंने मंडल रिपोर्ट को स्वीकृति प्रदान नही की (जैसे गुजरात, मध्यप्रदेश, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल)। जब कांग्रेस की राव सरकार सत्ता में आयी, तो 25 सितम्बर 1991 को यह प्रस्ताव रखा कि केन्द्र सरकार की 27 प्रतिशत असैनिक नौकरियां जो सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों के लिये आरक्षित है, उन में वरीयता ऐसे वर्गों के 'निर्धन वर्गों' को दी जायेगी। इसके अतिरिक्त इन नौकरियों में 10 प्रतिशत आरक्षण 'अन्य आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों' के व्यक्तियों के लिये भी होगा जो कि आज चल रही आरक्षण की परियोजनाओं से लाभान्वित नही होते।

उच्चतम न्यायालय ने मंडल आयोग पर अपना निर्णय 15 नवम्बर, 1992 को दिया। उसने पिछड़ी जातियों/वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की नीति को तो स्वीकार किया, परन्तु इस नीति में परिवर्तन के लिए कुछ निर्देश दिये। पहला निर्देश था कि सम्पन्न तबके को यानि कि पिछड़ी जातियों/वर्गों के अभिजन (elite) को आरक्षण में सम्मिलित नही किया जाना

चाहिए। दूसरा, विशेषज्ञ सेवाओं में अथवा सैनिक और कुछ सवेदनशील नागरिक पदों (जैसे विश्विद्यालय के प्रोफेसर, वैज्ञानिक, विमान-चालक) को आरक्षण से मुक्त रखा जाये। तीसरा, मंडल आयोग ने जब 3,743 पिछडी जातियों/वर्गों (OBCs) की पहचान की थी, उच्चतम न्यायालय ने पुरानी राज्य-सूचियों को ही स्वीकार करके मंडल सूची के आधे समूहों को ही मान्यता दी। उसने यह भी निर्देश दिये कि जिन जातियों का सरकार में पर्याप्त प्रतिनिधित्व है, उन्हें सूची से निकाल देना चाहिए। चौथा, मडल आयोग उन रिक्तियों को जिन्हें भरा नही जा सका है आगे ले जाना (carry forward) चाहता था, परन्तु उच्चतम न्यायालय ने इन रिक्तियों को और आगे आरक्षित न रखने का निर्देश दिया। न्यायालय इस प्रकार आरक्षित पदों के भरने में भी "न्यूनतम स्तर" (minimum standard) पर बल देने के पक्ष में था। पांचवाँ, मंडल आयोग जब पदोन्नति में भी आरक्षण चाहता था, उच्चतम न्यायालय पदोन्नति में आरक्षण के विरुद्ध था। वह केवल आरम्भिक नियुक्तियों में ही आरक्षण के पक्ष में था। छठा, नरसिंह राव सरकार ने उच्च जातियों में भी पिछड़े हुए खण्डों के लिए 10 प्रतिशत पदों के आरक्षण की घोषणा की थी, उच्चतम न्यायालय ने इसे असावैधानिक बताया। अन्तिम, उच्चतम न्यायालय का निर्देश था कि कुल आरक्षण कोटा 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए।

न्यायालय ने केन्द्रीय सरकार को यह भी निर्देश दिया कि हर राज्य में एक स्थायी मण्डल स्थापित करना चाहिए जो पिछडी जातियों/वर्गों से सम्बन्धित हर निर्णय ले सके तथा इस निकाय का सुझाव सरकार के लिए अवश्य पालनीय (binding) हो। उच्चतम न्यायालय के निर्णय में नौ न्यायाधीश थे जिनमें से कुछ दिये गये निर्णय के सभी निर्देशों के पक्ष में नही थे। अत: न्यायालय का फैसला बहुमत निर्णय पर आधारित था।

नरसिंह राव सरकार ने उच्चतम न्यायालय के निर्देशों को स्वीकार करते हुए 8 सितम्बर, 1993 को लगभग 1200 पिछड़ी जातियों/वर्गों (OBCs) के लिए केन्द्रीय सरकार में व सार्वजनिक उद्यमों में 27 प्रतिशत आरक्षित कोटा स्वीकार करने की घोषणा की। इस प्रकार पिछड़ी जातियों/वर्गों में 'सम्पन्न तबके' की परिभाषा में उच्च पदों पर लगे हुए व्यक्तियों-जैसे, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय व उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, प्रथम वर्ग (Class I) के पदों के अफसर, दूसरे वर्ग के कुछ अफसर, सार्वजनिक उद्यमों के पदाधिकारी, सेना में कर्नल पद से ऊपर के अफसर तथा उच्च श्रेणियों के डाक्टर, वकील, चार्टर्ड लेखाकार, आयकर सलाहकार, वास्तुविद् और कम्प्यूटर विशेषज्ञ की पहचान की गयी। मोटे रूप से जिन व्यक्तियों की वार्षिक आय एक लाख रुपये से अधिक है उनको 'सम्पन्न तबके' में माना गया है। परन्तु इस में राजनीतिज्ञों को, जैसे देश के प्रधानमन्त्री व मन्त्री, राज्य के मुख्यमन्त्री व मन्त्री तथा संसद व विधान सभाओं के सदस्यों को सम्मिलित नहीं किया गया। नरसिंह राव सरकार की घोषणा में 'सम्पन्न तबके' में कुछ और पदों को भी सम्मिलित किया गया है, जैसे, जन-सेवा आयोग के सदस्य, मुख्य चुनाव आयुक्त, भारत का लेखा-नियंत्रक और महालेखा परीक्षक तथा

संयुक्त राष्ट्र और विश्व-बैंक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों में काम करने वाले व्यक्तियों के बच्चे ।

घोषणा में समय की कोई सीमा (जैसे 10 वर्ष या 20 वर्ष, आदि) नही रखी गयी है जैसे अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए समय समय पर की जाती है । घोषणा के बाद केन्द्र व राज्यों में भी पिछड़ी जातियों/वर्गों के लिए आयोग स्थापित किये गये हैं । कुछ राज्यों-जैसे, जम्मू कश्मीर, उडीसा, मिज़ोरम, त्रिपुरा व मेघालय में तो सवोओं के लिए कोई भी आरक्षण नही पाया जाता । *अत इनमें आयोग भी स्थापित नही किये गये ।*

उच्चतम न्यायालय के निर्देशों के चार मुख्य विशेषताए थी (1) 'जाति' को ही आरक्षण लाभ का आधार माना गया (2) आरक्षण की अधिकतम सीमा केवल 50 प्रतिशत ही स्वीकार की गयी जबकि कुछ राज्यों, जैसे तमिलनाडु, कर्नाटक, आदि मे अभी भी 60-70 प्रतिशत तक पद आरक्षित हैं, (3) यद्यपि आर्थिक आधार को आरक्षण में अस्वीकार किया गया, किन्तु वास्तव में इसे इस आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया गया कि कुछ राज्यों में (जैसे बिहार, कर्नाटक) पायी जाने वाली सूची में आर्थिक आधार को कुछ महत्व दिया गया है (4) न्यायालय ने पिछडी जातियों/वर्गों के सम्पन्न खण्ड को आरक्षण के लाभ से दूर रखा । इसका अर्थ यह हुआ कि जब कोई पिछडी जाति/वर्ग एक सामाजिक समूह के रूप में प्रगति करेगा (जैसे बिहार और उत्तरप्रदेश में यादव व कुर्मी) वह आरक्षण के लाभ से वचित रहेगा ।

उच्चतम न्यायालय के फैसले और निर्देशों को स्वीकार करने पर केन्द्रीय और राज्य सरकारों को अब एक नयी समस्या का सामना करना पड रहा है । उच्चतम न्यायालय ने आरक्षण का सर्वाधिक प्रतिशत 50 ही निर्धारित किया है, जबकि कुछ राज्य सरकारों ने आरक्षण का प्रतिशत 60-70 तक रखा है । इस प्रतिशत को कम करने से राज्य में आक्रोष बढ सकता है । अक्टूबर/नवम्बर, 1993 में तमिलनाडु में यही समस्या उत्पन्न हो गयी थी । राज्य सरकार ने प्रान्त में बन्ध के उपरान्त विधान सभा में प्रस्ताव पास कर पुराने प्रतिशत (69%) को स्थापित रखने का निर्णय किया है और केन्द्रीय सरकार से सविधान में सशोधन करने का अनुरोध किया है *जिससे राज्य सरकार पुराने आरक्षण कोटा को निरन्तर रख सके । जुलाई 14, 1994 को* केन्द्र सरकार ने निश्चय किया कि तमिलनाडु और कर्नाटक में 50 प्रतिशत से अधिक आरक्षण न रखने सम्बन्धी उच्चतम न्यायालय के निर्देश के बावजूद दोनों राज्यों में 69 प्रतिशत आरक्षण जारी रखने की स्थिति को रहने दिया जाये और तमिलनाडु विधानसभा में पारित आरक्षण सम्बन्धी विशेष विधेयक भी राष्ट्रपति को सहमति के लिए भेजा जाये (हिन्दुस्तान टाइम्स, जुलाई 14, 1994) । अगर कुछ अन्य राज्य भी 50 प्रतिशत से अधिक पद आरक्षित रखेंगे तो देश में एक नयी समस्या खडी हो जायेगी तथा केन्द्र और राज्य सरकारों में सघर्ष भी बढेगा ।

केन्द्रीय सरकार द्वारा 22 अक्टूबर, 1993 को एक अधिसूचना जारी की गयी जिसमें यह स्पष्ट किया गया कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों को दी जाने वाली रियायतें/सुविधाएँ पिछडी जातियों/वर्गों के लिए स्वीकरणीय (admissible) नहीं होंगी । ये रियायतें हैं न्यूनतम स्तर में रियायत, अधिकतम आयु सीमा में छूट, किये जाने वाले प्रयासों की सख्या में ढील, तथा

निर्धारित अनुभव में छूट। ये रियायतें न देने के पीछे सरकारी नौकरियों में योग्यता की रक्षा करने की भावना है।

पिछड़ी जातियों/वर्गों के कोटा के अन्तर्गत नौकरी पाने वाले उम्मीदवार को एक राजपत्रित अधिकारी का प्रमाणपत्र भी देना होगा कि वह "सम्पन्न तबके" से बाहर है। इसके लिए प्रार्थी को एक प्रश्नावली भरनी होगी जिसमें सम्पन्न तबके के लिए विस्तृत मापदण्ड निर्धारित किया गया है। इस प्रमाणपत्र में उसे (प्रार्थी को) यह घोषणा भी करनी होगी कि वह उन 1238 पिछड़ी जातियों/वर्गों में से ही किसी एक का सदस्य है जो केन्द्रीय सरकार द्वारा सूची निर्धारित की गयी है। ये 1238 नाम मंडल रिपोर्ट और 14 राज्यों द्वारा अपनाई गयी सूचियों में समान हैं। परन्तु अक्टूबर,1993 की अधिसूचना में इस बात का प्रावधान रखा गया है कि उपयुक्त प्रार्थी न मिलने पर रिक्तियों को न भर सकने के कारण उन्हें (रिक्तियों को) "आगे ले जाया" जायेगा।

आरक्षण नीति (The Reservation Policy)

अधिकारहीन एवं शोषित वर्ग को विशेष रियायतें और विशेषाधिकार देने की मांग अधिकार के मामले हैं, न कि दान या परोपकार के। सभी आयोगों और समितियों ने जिन्होंने कि इस विषय पर विचार किया है; जैसे तत्कालीन मैसूर राज्य द्वारा नियुक्त मिलर समिति या भारत सरकार द्वारा 1955 में नियुक्त कालेलकर आयोग ने-क्षतिपूरक भेदभाव (compensatory discrimination) की माग को स्वीकार किया है। कुछ न्यायालयों ने भी जिनके सामने ये मामले आये हैं इन पर विचार किया है। एक माननीय न्यायाधीश ने यह संकेत दिया है कि आरक्षण की नीति ने आत्मनिंदा (self-denigration) की प्रवृत्ति को जन्म दिया है जहाँ एक जाति या समुदाय दूसरों से अधिक पिछड़ा होने की होड़ लगाता है। एक दूसरे मामले में सुप्रीम कोर्ट के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश (श्री चंन्द्रचूद) ने यह सिफारिश की है कि आरक्षण नीति का प्रत्येक पांच वर्ष में पुनरावलोकन किया जाना चाहिये जिससे कि सरकार इनमें आई हुई विकृतियों को ठीक कर सके और व्यक्ति (पिछड़े हुए और गैर पिछड़े हुए दोनों) सार्वजनिक वाद-विवादों में आरक्षण नीति के व्यावहारिक प्रभाव पर अपने विचार रख सकें। इसलिये प्रश्न जिस पर आज वाद-विवाद होना है वह है: क्या आरक्षण नीति या संरक्षात्मक भेदभाव (protective discrimination) आर्थिक रूप से शोषित और सामाजिक रूप से सताये गये समूहों को न्याय और समान अवसर दिलाने के लिये एक तर्क संगत और लाभदायक रणनीति है ?

पहला तर्क यह है कि शिक्षा संस्थाओं और सरकारी नौकरियों में आरक्षण से ही अपने आप में अधिक उपलब्धि नहीं हो सकती। दरअसल यदि इसको जनसंख्या के और बड़े खण्डों पर लागू कर दिया जाये, तो यह प्रति उत्पादक (counter productive) भी हो सकती है (एस सी दुबे सितम्बर, 1990)। अधिक से अधिक आरक्षण 'उपशामन' (palliatives) हैं और कोई निर्णायक परिवर्तन तब तक नहीं हो सकते, जब तक कि इस उपाय के साथ-साथ

उत्पादन सबंधों में संरचनात्मक परिवर्तन नही होते और निर्णायक रूप से जब तक भूमि सुधार एक वास्तविकता नही बन जाते और शैक्षिक सहायक पद्धतियों को ऐसा सहारा नहीं मिलता कि जिससे किन्हीं भी सामाजिक समूहों में से उच्च स्तरीय नौकरियों के लिये अभ्यर्थी उपलब्ध हो सकें।

दूसरा तर्क यह है कि हमारा देश पहले से ही विभिन्न गुटों में बटा हुआ है। आरक्षण जनसख्या को कृत्रिम रूप से और भी बाट देगा। पहले आरक्षण विशेष परिस्थितियों में केवल पन्द्रह वर्ष के लिये स्वीकृत किये गये थे परन्तु उन्हें हमेशा के लिये जारी रखने से निहित स्वार्थ और अलगाववाद उत्पन्न हो जायेंगे और इससे जाति युद्ध होंगे और देश के टुकडे टुकडे हो जायेंगे। कुछ समय पूर्व यह आदेश निकाला गया कि नौकरियों के लिये आवेदन पत्रों में जाति का उल्लेख नहीं किया जायेगा। परन्तु यदि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों/वर्गों के लिये आरक्षण नीति को जारी रखना है तो आवेदकों को जाति का उल्लेख करना पडेगा अन्यथा वे कैसे जाने जा सकेंगे? यह हिन्दू समाज को अन्तत: टुकडों में बाट देगा।

तीसरा तर्क है कि स्वतन्त्रता के बाद जब आरक्षण नीति का क्रियान्वयन हुआ तो उस समय प्रशासनिक व्यवस्था में कुछ ही अनुसूचित जाति और जनजाति के व्यक्ति थे। बाद में श्री जगजीवनराम जब रेल मत्री थे तब उन्होंने पदोन्नतियों में भी आरक्षण कर दिया जिससे कि वरिष्ठ व्यक्तियों के ऊपर उनके मातहत व्यक्तियों को जो एस सी और एसटी थे, लगा दिया गया। इससे सरकारी नौकरियों का न केवल राजनीतिकरण हो गया परन्तु, प्रशासन की कार्यकुशलता भी प्रभावित हुई। जिस प्रकार देश के विभाजन के समय प्रशासनिक सेवाओं में कार्यरत मुस्लिम सदस्य पाकिस्तान के पक्ष में काम कर रहे थे और गैर-मुस्लिम भारत के लिये, इसी प्रकार आरक्षण नीति के कारण कुछ अफसर अब जाति और धर्म के आधार पर काम कर सकते हैं। यदि यह 10-15 वर्ष भी और चला तो पूर्ण रूप से विघटन हो जायेगा। अब समय आ गया है कि लाभभोगी और समाज आरक्षणों को तलाक दे दें। समाज को तुरन्त उन स्थितियों के लाने के विषय में विचार करना है जहा सारी नौकरिया और प्रवेश खुली प्रतियोगिता में केवल योग्यता के आधार पर ही मिलें और जिसमें सभी उम्मीदवारों को निष्पक्ष अवसर का विश्वास हो।

चौथा तर्क है कि पिछले 47 वर्षों के अनुभव ने यह बतलाया है कि आरक्षण नीति ने वाछित परिणाम नहीं दिये हैं। लोक सभा और विधान सभाओं में अनुसूचित जाति और जनजातियों के प्रतिनिधियों का छोटा प्रतिशत अपने चुनाव-क्षेत्रों के व्यक्तियों की शिकायतों और मांगों को उपयुक्त रूप से स्पष्ट नही कर पाया है। नौकरियों और शिक्षा सस्थाओं में आरक्षण से कुछ ही जनजातियों (जैसे मीणा) और कुछ जातियों (जैसे बैरवा) को ही लाभ मिला है। आरक्षणों से झगडे और तनाव उत्पन्न हुए हैं। सत्तर और अस्सी के दशकों और नब्बे के दशक के पहले तीन वर्षों में सारे देश में हिंसक विरोध की लहरें व्याप्त थीं। बजट के आवटन

जो अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विकास के लिये अलग से किये गये थे, ऐसी गैर-आवश्यक परियोजनाओं में गंवा दिये गये जिनसे कि स्वतः उत्पादन विकास की प्रक्रिया को कोई सहायता नहीं मिली।

एक दूसरी विचारधारा है जो आरक्षण के पक्ष में है। इस विचारधारा के समर्थक निश्चय पूर्वक कहते हैं कि उस सामाजिक व्यवस्था जिसका गांधी जी के नेतृत्व वाले एक दल ने भारतवासियों से वादा किया था और जो व्यवस्था स्वतंत्रता के बाद बनी, के बीच एक चौड़ी खाई है। समाज के कमज़ोर वर्ग (जिसमें निम्न और पिछड़ी जातियां और जनजातियां सम्मिलित हैं) का शक्तिशाली (ऊंची जातियां) वर्ग द्वारा दमन समाप्त नहीं हुआ है। दरअसल, वह बढ़ गया है। सामाजिक न्याय और समानता के एक नये युग के सपने को अभी साकार करना है। विकास के लाभ जनसंख्या की चोटी के 20 प्रतिशत व्यक्तियों ने हथिया लिये हैं। शिक्षित मध्यम वर्ग के अंग्रेजी बोलने वाले व्यक्तियों ने राज्य की सत्ता के लीवरों (levers) को अपने नियन्त्रण में ले लिया है और वे ही उनको चलाते हैं। यह वर्ग देश के शासक वर्ग की तरह उभरा है। आरक्षण नीति को स्वीकार करके सरकार एक नई सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयास करेगी जो कि हमारे समाज के शोषित क्षेत्रों को सामाजिक सम्बन्धों में न्याय दिलायेगी और समाज में ऊपर उठने के लिये समान अवसर प्रदान करेगी।

लोकतंत्र और योजना की दो संस्थाएं एक नये भारत के निर्माण में उपकरणों का कार्य करेंगी, ऐसी इनसे आशा की गई थी। परन्तु वे अभीष्ट (intended) परिणाम देने में असफल रहीं। उनकी असफलता के लिये संस्थाओं पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता परन्तु जिस ढंग से वे चलीं या जिस ढंग से सत्ता में रहने वाले व्यक्तियों ने उनकी कार्य शैली को विकृत किया वे इसके लिये उत्तरदायी हैं।

मध्यम वर्ग-उच्चजाति जो कि हमारे देश का विशिष्ट सत्तारूढ़ दल है, के निहित स्वार्थों के कारण हमारे देश में विकास का द्वैत (dualistic) संरूप है जिसमें वे व्यक्ति जिनकी सत्तावान लोगों के पास पहुंच है फलते फूलते हैं और निम्नस्तर पर जो जनसंख्या है (सामाजिक और आर्थिक रूप से) वह विकास प्रक्रिया से होने वाले सभी वास्तविक लाभों से वंचित रह जाती है। जनता दल जो अगस्त 1990 में सत्ता में था और जिसमें ऐसे व्यक्ति सम्मिलित थे जो कि विशेषरूप से किसानों के और आमतौर पर ग्रामीणों के और पिछड़े लोगों के कल्याण के लिये वचनबद्ध थे, ने इन लोगों में असंतोष मिटाने का प्रयास किया। यह प्रयास न केवल मंडल आयोग की रिपोर्ट को स्वीकृति प्रदान करके था परन्तु कई कार्यक्रमों की घोषणा करके भी था जिसने हमारे देश के कृषक समुदाय को नई आशा बंधाई थी। नेशनल फ्रन्ट के नये राजनीतिक नेताओं (1990 लोकसभा के 329 सदस्य जो कि ग्रामीण क्षेत्रों से आये थे और बड़ी संख्या में पिछड़े हुए और शोषित वर्गों से थे) ने इस प्रकार निश्चयात्मक (demonstratively) रूप से अपने निर्वाचकों के पक्ष में अपनी वचनबद्धता को सिद्ध किया। सत्ता में आई इस नई राजनीतिक शक्ति के एक सदस्य ने आरक्षण विरोधी आन्दोलन का सामना करने के लिये

जनता दल सरकार द्वारा किये गये उपायों के लिये यह तक कहा कि "यह हमारे स्वतत्रता समाम का दूसरा चरण है जिसमें सत्ता का बटवारा एक प्रमुख विषय होगा।"

एक और विचारधारा है जो आरक्षण के पक्ष में है परन्तु वह जाति के स्थान पर आर्थिक आवश्यकता को आरक्षण का आधार बनाना चाहती है। जनता दल के अतिरिक्त लगभग सभी राजनीतिक दलों ने परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक आवश्यकता को आरक्षण का आधार मानने के इस विचार को समर्थन दिया है। उनकी मान्यता है कि यह सब वर्गों एव जातियों के सुपात्र निर्धनों को समाज में ऊपर उठने में सहायता प्रदान करेगा। प्रतिकूल परिस्थितियों में रह रहे समूहों को सुरक्षा की अवश्य आवश्यकता है, परन्तु वह सामूहिक रूप से और हमेशा के लिये प्रदान नही की जा सकती। निर्धनों को विशेष लाभ मिलना चाहिये परन्तु एक पहरेदारी करने वाली सस्था भी होनी चाहिये जो कि इनकी उन्नति पर नजर रखे। जैसे ही इसका पता लगता है कि उन्हें अब आरक्षण की बैसाखी की आवश्यकता नहीं है, ऐसी स्थिति में सब नौकरियों को सबके लिये खुली कर देना चाहिये।

आरक्षण नीति के विरोध में कोई भी सैद्धान्तिक तर्क हो, परन्तु व्यावहारिक रूप से इस नीति को सभी राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त होता रहेगा क्यों कि इस मामले से उन्हें चुनावी लाभ मिलता है।

आरक्षण बनाम धर्मनिर्पेक्षता (Reservation v/s Secularism)

मण्डल आयोग ने वर्गों को नही परन्तु जातियों को (कुल 3,743) ही पिछड़ा बताया। इसमें आयोग ने एक समरूप फार्मूला के आधार पर उन जातियों की पहचान भी नहीं की जो वास्तव में सामाजिक और शैक्षणिक आधार पर पिछडी हुई हैं। हमें यह नही भूलना चाहिए कि एक पिछड़ी जाति के लिए पद को आरक्षित करने का अर्थ है एक अमवर्ती (forward) नागरिक को नौकरी से वचित करना। अत समान अवसर के विचार को अस्वीकार करने से पूर्व हमें हर प्रकार की सावधानी अपनानी होगी। इसका हल यह ही दिखाई देता है कि जाति/ वर्ग को 'पिछड़ा' मानने के लिए राजनैतिक आधार पर निर्णय न ले कर आर्थिक आधार पर ही निर्णय लिया जाये। यह आधार उस जाति सरचना पर भी आक्रमण होगा जो धर्मनिर्पेक्षता स्थापित करने में बाधक है। परन्तु आर्थिक आधार क्या होना चाहिए ? दो वर्ष पूर्व (1992 में) सरकार 'पिछड़े वर्ग' को परिभाषित करने के लिए 11,000 रुपये प्रति वर्ष की आय को मान्यता देने का विचार कर रही थी, परन्तु सितम्बर, 1993 में राजनैतिक निर्णय के आधार पर एक लाख रुपये प्रति वर्ष से कम आय को ही इसका आधार स्वीकार किया गया। अगर एक हजार रुपये प्रति माह की आय को 'पिछडेपन' का आधार माना जायेगा तो शायद किसी को भी आपत्ति नही होगी।

परन्तु फिर प्रश्न पैदा होता है कि "किसकी आय" ? नौकरी के लिए प्रयास करने वाले व्यक्ति की या उसके पिता/ अभिभावक की ? मोटे रूप में तो पिता/ अभिभावक की आय को ही मान्यता मिलनी चाहिए परन्तु बहुत उच्च पद के लिए (जैसे निदेशक, आदि) व्यक्ति की स्वय

की आय ही आधार होनी चाहिए। जिस पिता की निश्चित मासिक आय नहीं है उसके भूमि स्वामित्व को महत्व देना होगा। परन्तु उच्चतम न्यायालय के निर्देश दिये जाने और उन्हें लागू करने के उपरान्त क्या सरकार इस मामले पर पुनः विचार करेगी ? जो सरकार अपने राजनैतिक लाभ को ध्यान में रख कर निर्णय लेती है, जो राजनीतिज्ञों को "सम्पन्न तबके" से बाहर रखती है उससे इस प्रकार के पुन. विचार की आशा रखना और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की स्थापना करना सम्भव दिखायी नहीं देता।

युवा और विद्यार्थी क्या करें ? एक विकल्प यह है कि अग्रवर्ती (forward) बनाम पिछड़ी जातियों के मामले को उठाने के बजाय उन्हें राजनीतिक दलों और नेताओं के निहित स्वार्थ बनाम समाज में युवाओं के तर्कसंगत स्वार्थों का मामला उठाना चाहिये। वे आरक्षण नीति में कुछ संशोधनों के प्रस्ताव भी रख सकते हैं जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि कुछ ही जनजातियों, जातियों और परिवारों को लाभ मिलने के बजाय पिछड़ी जातियों की बड़ी सख्या में सुपात्र व्यक्तियों को इसका लाभ प्राप्त हो। दूसरे, योग्यता और कार्यक्षमता पर समझौता नहीं होना चाहिये। तीसरे, उन्हें पिछडे वर्गों के विद्यार्थियों/ युवाओं को अपने साथ लेना पड़ेगा और उनमें अपने दृष्टिकोण के प्रति विश्वास उत्पन्न करना पड़ेगा।

युवाओं को समझना चाहिये कि आरक्षण नीति वह समस्या नहीं है जिसके विरुद्ध संघर्ष किया जाये। वास्तविक समस्या है भारत में सत्ताधारी-अभिजन, उनकी अभिवृत्तियों, और दक़ियानूसी विचार जिन्होंने हमारे समाज के चिन्तन को भ्रष्ट कर दिया है और देश को वर्तमान की इस संकट-स्थिति में पहुंचा दिया है। आरक्षण नीति के विरोध में संघर्ष करने के बजाय उन्हें पूरी राजनीतिक व्यवस्था के विरोध में लड़ना है। यदि वे अपने भविष्य को बचाना चाहते हैं, यदि वे राष्ट्र के भविष्य के अभिजन (elite) बनना चाहते हैं तो उन्हें वर्तमान के भ्रष्ट और मतलबी राजनीतिक अभिजनों के विरोध में आवाज़ उठानी चाहिये। अपना ध्यान अन्य पिछड़ी जातियों/वर्गों के आरक्षण की एक समस्या पर केन्द्रित करने के बजाय उन्हें अपने परिप्रेक्ष्य को बढ़ाना होगा जिसमें हमारे समाज की मूल समस्याएं आ जायें।

यदि भारत में कमज़ोर वर्ग यह मान कर कि हिंसा से ही उनकी आवाज सुनी जा सकती है, विद्रोह करदें तो इसके लिये देश को बहुत मंहगी कीमत चुकानी पड़ेगी। हमारी सरकार और हमारे लोगों को इन विनीत व्यक्तियों को आदर और आत्मसम्मान से रहने के लिये न्याय देना पड़ेगा। इसी प्रकार आरक्षण के पक्ष और विपक्ष में वाद-विवाद से कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। यह समस्या को और गंभीर बना देगा और इससे देश के टुकड़े हो जायेंगे। सत्ताधारी अभिजन, सरकार, राजनैतिक दल, और व्यक्तियों को उन कारणों का गहन अध्ययन करना चाहिये कि आरक्षण स्पष्टतः क्यों आवश्यक हो गया है और इस घातक प्रथा के उन्मूलन के लिये क्या करना आवश्यक है ?

युवा असन्तोष और आन्दोलन
Youth Unrest and Agitations

जातीय, धार्मिक और भाषाई रूढधारणाओं के साथ-साथ हमारे देश में कई और रूढिबद्ध छवियां (stereotyped images) भी विद्यमान हैं। एक ऐसी छवि हमारे युवाओं की भी है। उनकी रूढिबद्ध छवि यह है कि वे उग्रवादी, विद्रोही क्रान्तिकारी, विवेकहीन और अपरिपक्व होते हैं। यह सही है कि युवा बाहरी प्रभावों के प्रति अतिसंवेदनशील होते हैं और दूसरों की नकल करते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि युवा केवल विध्वंस, हत्या, आक्रमण और आतंकवाद में ही विश्वास करते हैं। जब समाज में सामाजिक संरचनाओं और संस्थाओं से, सामाजिक व्यवस्था में विरोधाभास से, राजनीति और राजनीतिज्ञों से, निर्णयों और निर्णय करने वालों से पूर्ण रूप से मोहभंग (disillusioned) हो चुका है और जब प्रत्येक व्यक्ति जीवन की सभी स्थितियों के पतन से, सामाजिक भेदभाव से, व्याप्त भ्रष्टाचार से और अवैध साधनों द्वारा आर्थिक लाभों की खोज के प्रति सचेत है तो युवाओं से ही क्यों आशा की जाती है कि वे ही पारंपरिक नैतिक मूल्यों और ऊंचे आदर्शों के अनुसार चलें ? वे किस प्रकार प्रेरणा के लिये तथाकथित आत्मघोषित (self-proclaimed) नेताओं की ओर देख सकते हैं ?

युवा जब देखते हैं कि उनके नेताओं की कथनी और करनी में एक चौडी खाई है, जब वे (नेता) बलिदान करने की बात करते हैं और स्वयं ऐशो आराम का जीवन व्यतीत करते हैं, जब वे (नेता) नैतिकता की बात करते हैं और स्वयं तस्करों, अपराधियों और समाज विरोधी तत्वों से संबंध रखते हैं, जब वे शान्ति और सामंजस्य की अपील करते हैं और स्वयं दलीय (factional) झगडों में आनन्द लेते हैं, जब वे निर्धनों के लिये झूठे आंसू बहाते हैं और सदैव अमीरों के साथ रहते और उनका समर्थन करते हैं, तो उनमें नाराजगी उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इससे निराश और भ्रमित होकर कुण्ठित युवा एक सामाजिक विरोध प्रस्तुत करने के लिये कोई आन्दोलन चलाते हैं। कुछ राजनीतिज्ञ इन आन्दोलनों में रुचि लेना आरम्भ कर देते हैं और कुछ मामलों में इन आन्दोलनों को जीवित रखने के लिये असामाजिक तत्वों की सहायता लेते हैं। जब ये असामाजिक तत्व लूट और आगजनी करते हैं तो इन विध्वंसक गतिविधियों (destructive activities) के लिये युवाओं को दोषी ठहरा दिया जाता है। कुण्ठित युवा इस प्रकार और अधिक कुण्ठित हो जाते हैं और उनमें असंतोष और भी अधिक बढ जाता है।

युवा असंतोष की अवधारणा (Concept of Youth Unrest)

असंतोष क्या है ? सामाजिक असंतोष क्या है ? युवा असंतोष क्या है ? असंतोष का अर्थ है

'अशान्त स्थिति' (disturbed condition) । यह मोहभंग और नाराजी की स्थिति है। सामाजिक असंतोष एक गुट,समुदाय या समाज के सामूहिक मोहभंग,नाराजी और कुण्ठा की अभिव्यक्ति है । यदि एक विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में असतोष है तो उसे 'विद्यार्थी असंतोष' की समस्या के रूप में नही लिया जायेगा । जब पूरे देश में विद्यार्थी प्रवेशों,पाठ्यक्रमों, परीक्षा प्रणाली और शैक्षिक समितियों में प्रतिनिधित्व जैसे सामूहिक मामलों पर कुण्ठित होते हैं तभी हम यह कह सकते हैं कि हमारे समाज में विद्यार्थी असतोष की समस्या है । इसी प्रकार से एक उद्योग के श्रमिकों में असतोष है तो उसे औद्योगिक असतोष नही कहा जायेगा,परन्तु यदि न्यूनतम वेतन,सुरक्षा उपायों,सेवा सुरक्षा और कुछ खास फैक्ट्री के अन्दर और बाहर सुविधाओं के मामलों को लेकर देश के विभिन्न उद्योगों में सभी श्रमिकों में सामूहिक असन्तोष है तो उसे 'औद्योगिक असतोष' की समस्या कहा जायेगा । यही किसान असतोष,जनजाति असतोष और महिला असतोष के लिये सच है । सामाजिक असतोष की अवधारणा में "समाज में समूहों के आम विषयों से जो सामूहिक कुण्ठा और मोहभग उत्पन्न होता है उन पर बल दिया जाता है ।"

इस आधार पर युवा असतोष को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि यह "समाज में युवाओं द्वारा सामूहिक कुण्ठा की अभिव्यक्ति है ।" यह उस समय अभिव्यक्त होती है जब कि समाज में विद्यमान मानदड युवाओं की दृष्टि में इतने अप्रभावी और हानिकारक हो जाते हैं कि वे उनपर आघात पहुचाने लगते हैं और उनमें इतना मोहभंग व्याप्त हो जाता है कि उन्हें इन मानंदडों को परिवर्तित करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है ।
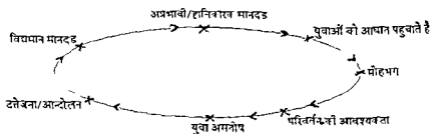
युवा असन्तोष के लक्षण (Characteristics of Youth Unrest)

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि युवा असतोष के ये लक्षण होते हैं: (i) सामूहिक असन्तोष,(ii) दुष्कार्यात्मक (dysfunctional) स्थितियां,(iii) सार्वजनिक चिन्ता (concern), और (iv) विद्यमान प्रतिमानों में परिवर्तन की आवश्यकता ।

युवा आन्दोलन के दूसरी ओर यह लक्षण होते हैं (1) अन्याय की भावना पर आधारित कार्य,(ii) युवाओं में सामान्यीकृत विश्वास का विकास और प्रसारण जो असन्तोष,कुण्ठा और

वंचन के स्रोत की पहचान करता है, (iii) नेतृत्व का उभरना और कार्य के लिये संगठन (mobilisation), और (iv) उत्तेजना के प्रति सामूहिक प्रतिक्रिया।

इस चरण पर विद्यार्थी अनुशासनहीनता की अवधारणा की व्याख्या करना असंगत नहीं होगा। 'अनुशासनहीनता सत्ता' की अवज्ञा (disobedience) है, या श्रेष्ठ व्यक्तियों का निरादर, या मानदंडों से विचलन, या नियन्त्रण को मानने से इंकार, या उद्देश्यों और/या साधनों का अस्वीकरण। 'विद्यार्थी अनुशासनहीनता' विद्यार्थियों द्वारा "अवांछनीय तरीकों का उपयोग" है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा 1960 में नियुक्त समिति ने विद्यार्थी अनुशासनहीनता में तीन प्रकार के व्यवहार सम्मिलित किये, (i) प्राध्यापकों के प्रति निरादर, (ii) लड़कियों के साथ दुर्व्यवहार, और (iii) सम्पत्ति को नष्ट करना। इसके अतिरिक्त, उसने इस परिभाषा में एक या कुछ विद्यार्थियों को नहीं बल्कि विद्यार्थियों के एक बड़े समूह को अनुशासनहीनता को सम्मिलित किया। कुछ विद्वानों ने इस परिभाषा को दोषपूर्ण माना है। उनका कहना है कि तीन स्थितियां विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता उत्पन्न करती हैं- (अ) विद्यार्थियों की (शैक्षणिक) संस्था के लक्ष्यों में रुचि समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में वे (उस संस्था के) सदस्य तो रहते हैं परन्तु उसके मानदंडों का अनुसरण नहीं करते, (ब) विद्यार्थी लक्ष्यों को मानते हैं परन्तु उन्हें इसका संशय रहता है कि संस्था उन लक्ष्यों को प्राप्त कर पायेगी। वे इसलिये संस्था को 'सुधारने' के लिये उसके मानदंडों से विचलन करते हैं, (स) संस्था के मानदंड लक्ष्यों के प्राप्त करने में असफल रहते हैं और इसलिये विद्यार्थी मानदंडों में परिवर्तन चाहते हैं।

युवा असंतोष तीन परिप्रेक्ष्यों में देखा जा सकता है (1) युवाओं में असंतोष, (2) युवाओं के कारण अशान्ति, (3) देश में सामाजिक अशान्ति और उसका युवाओं पर प्रभाव। हम इस अध्याय में पहले और तीसरे पहलुओं पर ही विस्तृत परिचर्चा करेंगे परन्तु संक्षेप में हम दूसरे पहलू का उल्लेख भी करेंगे।

युवा विरोध, उत्तेजना, और आन्दोलन (Youth Protests, Agitations and Movements)

सामाजिक विरोध/प्रतिवाद एक ऐसे विचार/व्यवहार/नीति की अस्वीकृति की अभिव्यंजना (expression of disapproval) है जिसे रोकने या टालने में एक व्यक्ति शक्तिहीन होता है। यह प्रत्यक्ष कार्यवाही न होकर असंतोष व्यक्त करने का एक तरीका है। यह अन्याय के विरुद्ध घृणा (outrage) की अभिव्यक्ति है। सामाजिक विरोध के महत्वपूर्ण तत्व हैं कार्यवाही किसी शिकायत को व्यक्त करती है, (ii) यह (विरोध) अन्याय के प्रति दृढ़ विश्वास को इंगित करता है, (iii) विरोधी (protestors) सीधे ही अपने प्रयत्नों से इस स्थिति को नहीं सुधार सकते हैं, (iv) कार्यवाही लक्षित समूह (target group) को सुधारक कदम उठाने के लिये उकसाती है, और (v) विरोधी लक्षित समूह को प्रेरित करने के लिये बल प्रयोग, समझाना-बुझाना (pursuasiveness), सहानुभूति और डर के सम्मिश्रण का प्रयोग करते हैं।

यदि विरोधी लूटने में लिप्त होते हैं तो वे धन-सम्पत्ति को प्राप्त करने के उद्देश्य से नही करते, यदि वे खिडकियां तोडते हैं, तो वे बदला लेने की भावना से नही करते; यदि वे किसी व्यक्ति के विरुद्ध नारे लगाते है तो वे उसे अपमानित करने के इरादे से नही करते। ये सब तरीके उनकी मागों की पूर्ति नही होने और उनकी शिकायतों के प्रति निष्ठुर रुख अपनाने से उत्पन्न हुए रोष को व्यक्त करने के लिये अपनाये जाते हैं।

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन (Youth Agitations)

सामाजिक विरोध के कारण आक्रमण, उत्तेजनापूर्ण क्षोभ (agitation) और आन्दोलन हो सकते हैं। आक्रमण अकारण (unprovoked) हमला है। यह वह व्यवहार है जिसका उद्देश्य किसी व्यक्ति को हानि/चोट पहुचाना है (डॉलर्ड, 1939)। डेविड मायर्स (1988·395) ने आक्रमण की यह परिभाषा की है "यह ऐसा शारीरिक या मौखिक आचरण है जो आघात पहुचाता है, हानि पहुचाता है, या नष्ट कर देता है।" इसमें आकस्मिक चोटें या अनजाने चोट लगना नही आता है, परन्तु इसमें निश्चित रूप से एक व्यक्ति के बारे में अप्रिय व चुभने वाली बात होती है जिससे उसे चोट पहुचती है। फेशबाक (1970) ने दो प्रकार के आक्रमण बतलाये हैं-शत्रुतापूर्ण (hostile) आक्रमण और सहायक (instrumental) आक्रमण। पहला तो रोष से उत्पन्न होता है और उसका उद्देश्य चोट पहुचाना होता है। यह (पहला) अपने आप में ही एक लक्ष्य होता है। दूसरे का उद्देश्य भी चोट पहुचाना होता है परन्तु वह किसी और लक्ष्य के लिये साधन मात्र होता है। शब्द 'आक्रमण' अधिकतर युद्धों के लिये प्रयोग में लाया जाता है, जब कि शब्द 'उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन' युवाओं के सामूहिक व्यवहार के लिये अधिक उपयुक्त है।

उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन (agitation) का उद्देश्य शिकायत और अन्याय को सत्तारूढ व्यक्तियों के ध्यान में लाना होता है। यह सत्ताधारियों को सचेत करने (to shake up), प्रभावित करने, उत्तेजित करने (to stir up), चिन्तित करने (to cause anxiety) और घबरा देने (to disturb) के लिये किया जाता है। सामाजिक आन्दोलन एक फैले हुए समूह की गतिविधि (activity) है जो सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने की ओर ले जाती है। टर्नर और किल्लन (1972·246) के अनुसार सामाजिक आन्दोलन एक सामूहिकीकरण है जो समाज या समूह जिसका वह एक भाग है में परिवर्तन को प्रोत्साहित करने अथवा रोकने के लिये निरन्तर प्रयास करता है। इसकी विशेषताएं हैं: (i) सामूहिक कार्य जो कि प्रारम्भ (intiate) किया जाता है, संगठित किया जाता है और जारी (sustained) रखा जाता है, (ii) विचारधारा, और (ii) सामाजिक परिवर्तन की ओर अभिमुख करना।

दबाव-समूह वह है जो विद्यमान प्रतिमानों की व्याख्या इस प्रकार करवाना चाहता है जिससे उसे लाभ मिले। उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन में दबाव-समूह के दावपेच हमेशा होते हैं, परन्तु सामाजिक आन्दोलन में वे हो भी सकते हैं और नही भी। उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन और सामाजिक आन्दोलन में अन्तर यह है कि सामाजिक आन्दोलन उपद्रव का रूप ग्रहण कर सकता है परन्तु प्रत्येक आन्दोलन में ऐसा नहीं होता। कई आन्दोलन शान्तिपूर्ण होते हैं; उदाहरणार्थ,

महिलाओं का मुक्ति आन्दोलन, मद्यनिषेध आन्दोलन या परमाणु-विरोध आन्दोलन। ये शान्तिपूर्ण आन्दोलन सास्कृतिक निष्क्रियता के परिणामस्वरूप हैं।

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन युवाओं का एक ऐसा व्यवहार है जिसका लक्ष्य न तो किसी व्यक्ति को चोट पहुँचाना है न जनता की धनसम्पत्ति को नष्ट करना है, परन्तु यह सामाजिक विरोध है। यह न तो अन्तर्जात विध्वसक प्रवृत्ति (innate destructive drive) है और न ही कुण्ठाओं के प्रति अन्तर्जात प्रतिक्रिया। इसे सीखना पडता है। युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन के कई रूप हैं प्रदर्शन, नारेबाजी, हडताल, भूख-हडताल, रास्ता रोको, घेराव और परीक्षाओं का बहिष्कार। युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन की पूर्व शर्तें है (i) सरचनात्मक तनाव, (ii) तनाव के स्रोत को पहचानना, (iii) प्रेरित करने वाला कारक, और (iv) एक नेता द्वारा कार्य को सगठित करना। युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के महत्वपूर्ण कार्य हैं (i) सामूहिक चेतना और समूह-एकता को उत्पन्न करना, (ii) युवाओं को नये कार्यक्रम और नई योजनाओं के लिये सगठित करना, और (iii) युवकों को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने और सामाजिक परिवर्तन के मार्ग पर कुछ प्रभाव डालने के लिये अवसर प्रदान करना।

उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन हिंसक और अहिंसक दोनों हो सकते हैं। 1988 में भारत में 5,838 विद्यार्थी उत्तेजक आदोलनों में से केवल 18 प्रतिशत हिंसक थे, इसकी तुलना में 1987 में 15 प्रतिशत उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन, 1986 में 43 प्रतिशत, और 1985 में 19 0 प्रतिशत हुए। इसके अतिरिक्त 1988 में विद्यार्थियों के उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में से 56 0 प्रतिशत गैर-शैक्षिक विषयों से सबधित थे (विश्वविद्यालय का नाम परिवर्तन करने जैसे), 19 0 प्रतिशत शैक्षिक विषयों से, और 25 0 प्रतिशत किन्हीं विशेष विषयों से (बस का किराया कम करने या साम्प्रदायिक तनाव जैसे) सबधित थे। उत्तरी भारत के कई विश्वविद्यालयों/ महाविद्यालयों मे अगस्त और सितम्बर, 1990 में आरक्षण के मामले पर विद्यार्थियों के उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों की समस्या खडी हुई और वे लगभग दो महिने बद रहे।

विद्यार्थियों के उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों का वर्गीकरण इस प्रकार भी किया जा सकता है (अ) छात्र हितोन्मुखी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन, और (ब) समाज हितोन्मुखी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन। प्रथम में महाविद्यालय/विश्वविद्यालय स्तर और राष्ट्रीय स्तर की समस्याए सम्मिलित हैं जब कि द्वितीय में राज्य/देश की राजनीति, नीतियों, और कार्यक्रमों में रुचि लेना होता है। छात्र-हितोन्मुखी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन सामान्यतया असतत (discontinuous) और समस्या-अभिमुख होते हैं, न कि मूल्य-अभिमुख। उदाहरणतया, विद्यार्थी किसी विश्वविद्यालय के कुलपति को हटाने के लिये आदोलन करेंगे परन्तु वे भारत में कुलपतियों की चयन प्रणाली में परिवर्तन के लिये कभी सघर्ष नही करेंगे। इसी प्रकार वे किसी विशेष वर्ष में परीक्षाओं को स्थगित करने के लिये लडेंगे, परन्तु वे परीक्षा प्रणाली की पुनसरचना के लिये कभी आन्दोलन नही करेंगे।

युवा असतोष के कारण उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन के विकास की प्रक्रिया (Process of Growth of Agitation Due to Youth Unrest)

उस जीवन-चक्र की व्याख्या की जा सकती है जिसे कई युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन अपनाते हैं। इसके विभिन्न चरण इस प्रकार हैं (1) असतोष (discontent) चरण-यह विद्यमान स्थितियों के कारण असतुष्टि और बढती हुई अस्तव्यस्तता (growing confusion) का चरण है, (2) प्रवर्तन (initiation) चरण-इसमें नेता प्रकट होता है, असतोष के कारणों की पहचान होती है, उत्तेजना बढती है और कार्य के प्रस्तावों पर चर्चा होती है, (3) औपचारिकरूप (formalisation) देने का चरण-इसमें कार्यक्रमो को बनाया जाता है, मैत्री सबधो को स्थापित किया जाता है, और कुछ धर्मयोद्धाओं (crusadors) की सहायता भी मागी जाती है, (4) जन-समर्थन चरण-इसमें युवा अशाति सार्वजनिक अशाति का रूप धारण कर लेती है। यह जनता में चेतना ही जाग्रत नही करती बल्कि जनता का सबधित मामले में समर्थन भी प्राप्त करना चाहती है। प्रारम्भ में कार्यवाही एक क्षेत्र में शुरु होती है परन्तु फिर वह दूसरे क्षेत्रों में भी फैल जाती है। युवाओं को जनसमर्थन उस समय प्राप्त नही होता जब कि (अ) मामला अस्पष्ट होता है, (ब) मामला ठीक से प्रकाश में नही लाया जाता, (स) मामला इतना महत्वपूर्ण नही होता जो कि जनता का ध्यान आकर्षित कर सके, (द) युवाओं द्वारा अपने दावों को प्रस्तुत करने में अप्रभावी रणनीतिया अपनाई जाती हैं, (ई) दूसरे गुटों द्वारा विरोध होता है, और (5) सरकारी कार्यवाही का चरण-इसमें सत्तारूढ शक्तियाँ मामले के महत्व को समझते है, असतोष को सरकारी तौर पर स्वीकार करते हैं और मामले को सुलझाने के लिये रणनीतियों के प्रयोग पर सहमत हो जाते हैं। कभी कभी सत्तारूढ दल द्वारा अपनाई गई रणनीतियो को युवा नेता अस्वीकार कर देते हैं और युवा सत्तारूढ व्यक्तियों की रणनीतियों का विरोध करने के लिये आन्दोलन शुरु करते है।

भारत मे महत्वपूर्ण उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन (Important Youth Agitations in India)

स्वतत्रता के पश्चात हमारे देश में तीन महत्वपूर्ण युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के उदाहरण दिये जा सकते है, जो कि अपने हिसाब से प्रकार्यात्मक होते हुए भी घातक परिणामों के लिये जिम्मेदार हुए। ये थे गुजरात में 1985 में हुआ आरक्षण विरोधी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन, असम में 1984 में हुआ अखिल असम विद्यार्थी सघ आन्दोलन, और उत्तरी भारत में 1990 में हुआ मंडल विरोधी आन्दोलन। ये आन्दोलन गुजरात में 1981 में आरक्षण विरोधी जातीय दगों में, पंजाब और कश्मीर में 1985 और 1990 के बीच आतकवाद में, और बिहार में झाडखंड आन्दोलन में रहो युवकों की भूमिका के अतिरिक्त हैं।

गुजरात का उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन (Gujarat Agitation)

गुजरात में 1985 में आरक्षण विरोधी युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन उस समय प्रारम्भ हुआ जब

कि राने आयोग (जिसे अप्रैल, 1981 में नियुक्त किया गया था और जिसने अक्टूबर, 1983 में अपनी सिफारिशें दे दी थीं) की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए गुजरात सरकार ने सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों (एसईबीसी) के विद्यार्थियों के लिये विधानसभा चुनावों से कुछ ही पहले मार्च 1985 में जल्दबाजी में आरक्षण कोटा में वृद्धि कर दी। कोटा 10 प्रतिशत से बढ़ा कर 28 प्रतिशत कर दिया गया जो कि राने आयोग की अनुमति के अनुसार अधिकतम थी। राने कमीशन ने जाति के स्थान पर आय और व्यवसाय को पिछड़ेपन का मानदण्ड मानने पर बल दिया था और 10,000 रुपये प्रतिवर्ष की आय को एक मानदण्ड माना था। गुजरात सरकार ने पहले से ही अनुसूचित जनजातियों के लिये 14 0 प्रतिशत स्थानों का, अनुसूचित जातियों के लिये 7 0 प्रतिशत का, विकलांगों के लिये 3 0 प्रतिशत का, भूतपूर्व सैनिकों के बच्चों के लिये 1 0 प्रतिशत का और सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिये 10 प्रतिशत का आरक्षण किया हुआ था। एसईबीसी के लिये 18 प्रतिशत और पदों में वृद्धि का अर्थ हुआ महाविद्यालयों में 53 प्रतिशत स्थानों का कुल आरक्षण। चूंकि राज्य की (3 4 करोड़ की) 70 0 प्रतिशत जनसख्या आरक्षण (53 0% स्थानों का) के दायरे में आती थी, इसलिये इसका अर्थ हुआ कि केवल 47 0 प्रतिशत स्थान ही राज्य की 30 0 प्रतिशत जनसख्या के लिये खाली थे। इसके अतिरिक्त, महाविद्यालयों में प्रत्येक 100 स्थानों में से 30 स्थान दूसरे राज्यों के लिये आरक्षित थे। इन 30 स्थानों को एसटी, एससी और एसईबीसी के 37 आरक्षित स्थानों में जोड़ दिया जाये (प्रत्येक 100 स्थानों में से) तो इसका अर्थ होता था कि शेष विद्यार्थियों के लिये केवल 33 स्थान ही उपलब्ध थे। निस्सन्देह विद्यार्थियों ने प्रतिक्रिया व्यक्त की और आरक्षण विरोधी उत्तेजनापूर्ण आंदोलन आरम्भ किया। दुर्भाग्यवश विद्यार्थियों के 18 मार्च 1985 को आयोजित शांतिपूर्ण गुजरात बन्द के बाद 19 मार्च, 1985 को हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए, जब मुसलमानों ने हरिजनों के विरुद्ध आरक्षण विरोधियों का साथ देने से इंकार कर दिया। जब छह विद्यार्थियों को राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम (एनएसए) के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया तो आंदोलनकर्ताओं ने अपने आन्दोलन को और तेज कर दिया। उनमें सरकारी डाक्टर भी सम्मिलित हो गये जिससे सरकार को बाध्य होकर हड़ताल पर गये तीन डाक्टरों को निलंबित करना पड़ा। डाक्टरों के निलंबन से आग और भड़क उठी और आन्दोलन और भड़क गया।

विद्यार्थियों के साथ अब उनके अभिभावक भी हो गये जिन्होंने अहमदाबाद में एक छोटी सस्था बनाई और आरक्षण नीति को समाप्त करने के अपने बच्चों के प्रयत्नों में उनके साथ काम करने का निर्णय लिया। साम्प्रदायिक दंगों को शान्त करने के लिये जो कि इसी समय शुरू हुए थे, पुलिस ने अहमदाबाद के निम्न मध्यम वर्ग के आवासीय क्षेत्रों में लोगों की अन्धाधुन्ध पिटाई कर दी। शीघ्र ही सरकार ने विद्यार्थी नेताओं, विपक्ष के नेताओं और अभिभावकों की सस्था के नेताओं से वार्ताएं आरम्भ कर दीं और आंदोलनकारियों की सब मांगों को स्वीकार कर लिया। उसने आरक्षण नीति पर पुनर्विचार करने पर भी अपनी सहमति दे दी। विद्यार्थी

नेताओं की रिहाई और निलंबित डाक्टरों की बहाली के लिए आदोलनकारियों का हिंसा का दूसरा दौर शुरु हो गया। आन्दोलन ने राज्य के दूसरे भागों में भी उग्र रूप धारण किया। कई व्यक्ति हिंसा में मारे गये और बहुत से जख्मी और गिरफ्तार हुये। जब कि आन्दोलन कर रहे विद्यार्थियों ने एक सिपाही की हत्या कर दी (22 अप्रैल,1985 को),तो सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया और काम करना बंद कर दिया। मारे गये सिपाही की शवयात्रा में सिपाहियों ने एक अप्रत्याशित कार्यवाही में उन पत्रकारों पर जो इस घटना का विवरण इक्ट्ठा कर रहे थे, आक्रमण कर दिया। उन्होंने एक गुजराती दैनिक के भवन को भी आग लगा दी। आन्दोलनकारियों ने कई दुकानों, मकानों, बैंकों, गाडियों और सरकारी दफ्तरों को जला दिया। अवसरवादी राजनीतिज्ञों ने जो सत्ता हथियाने की कोशिश में थे, न केवल आन्दोलनकारियों को भडकाया परन्तु मुख्यमंत्री के त्यागपत्र की भी माग की। इस प्रकार जो विद्यार्थियों द्वारा आरक्षण विरोधी आन्दोलन के रूप में शुरु हुआ था, वह हिन्दु-मुस्लिम झगडों, हरिजन और उच्चजाति के बीच दंगों, और राजनैतिक कलह में परिवर्तित हो गया। आन्दोलन दो महिने तक चला और जब सरकार ने अपना कदम वापस लिया और आरक्षण नीति पर पुनर्विचार का वायदा किया तभी शान्त हुआ।

इसी प्रकार हम मध्य प्रदेश में 1985 में युवाओं द्वारा किये गये आरक्षण-विरोधी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन के प्रकरण को ले सकते हैं। इस राज्य में 23.0 प्रतिशत स्थान अनुसूचित जनजातियों के लिये आरक्षित थे, 14.0 प्रतिशत अनुसूचित जातियों के लिये, 25 प्रतिशत पिछड़े वर्गों के लिये, 5 0 प्रतिशत सुरक्षा कर्मियों और भूतपूर्व सैनिकों के लिये, 5.0 प्रतिशत स्वतंत्रता सेनानियों के लिये, 4.0 प्रतिशत निर्धन अभ्यार्थियों के लिये, और 3.0 प्रतिशत उन अभ्यर्थियों के लिये जिनके पास कोई तकनीकी डिग्री थी। इस प्रकार चूंकि 77.0 प्रतिशत स्थान विभिन्न समूहों के लिये आरक्षित थे तो केवल 23 0 प्रतिशत स्थान दूसरे व्यक्तियों के लिये बचते थे। जब विद्यार्थियों ने आन्दोलन किया तो मुख्यमंत्री ने उनसे अपील की कि वे समाज के कमजोर वर्गों को बैसाखी देने की सरकार की आरक्षण नीति को 'समझें'। सरकार ने 'कुशल' उच्चजाति के विद्यार्थियों में सुलगते हुए विरोध को शान्त करने के लिये पर्याप्त सावधानी नहीं बरती। उसने विद्यार्थियों से इस प्रकरण पर चुनाव के एक दिन बाद 3 मार्च, 1985 को केवल चर्चा करने की सहमति दी। इसलिये कोई आश्चर्य नही कि राज्य काफी समय तक अपनी जनसख्या के विभिन्न समूहों के बीच हिंसक घटनाओं के संदर्भ से पीडित रहा।

असम युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन (Assam Youth Agitation)

असम के युवाओं ने पूर्व बंगाल के शरणार्थियों के मामले को लेकर 1983-84 में उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन आरम्भ किया और अन्त में राज्य की जनसख्या के अधिकाश व्यक्ति उसमें सम्मिलित हो गये। असमवासियों ने सदैव केन्द्र की ओर से भेदभाव का अनुभव किया और उस ओर से अपने को उपेक्षित माना। उनमें यह भावना थी कि राज्य के तीन बड़े उद्योग-चाय, तेल, और लकडी-असम की अर्थव्यवस्था के अभिन्न, शक्तिवर्धक और स्थाई अंग नहीं बन

पाये। अपने तर्कों में वे आन्तरिक उपनिवेशवाद और स्थानीय साधनों को अन्यत्र स्थानों पर ले जाकर उनके विकास में लगाने के उदाहरण देते थे। यह राजनैतिक पीडा का स्रोत बन गया। यही नहीं, वहा असमियों और गैर असमियों के बीच और आदिवासियों और गैर-आदिवासियों के बीच प्रतिस्पर्धाए भी थी। यदि केन्द्र द्रुतगामी आर्थिक विकास के लिये साधन उपलब्ध करा देता, तो भिन्न प्रजातिक सघर्ष की तीव्रता को नियन्त्रित और समरूपता की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया जा सकता था और इसे तेज किया जा सकता था। परन्तु असम उपेक्षित रहा। यह दावा किया गया कि असम में कुल राजस्व 7,000 करोड रुपये होता था जिसमें से असम को केवल 500 करोड रुपये (7 1%) उपलब्ध कराया जाता था। इस कारण वहा के लोग सदैव आर्थिक रूप से पिछडे रहे। केन्द्र सरकार द्वारा पडौसी राज्यों के शरणार्थियों को असम में प्रवेश देने की अनुमति दिये जाने से स्थिति उग्र हो गई और युवाओं ने विद्रोह कर दिया और इस प्रकार 'आसू' (A A S U) आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। आन्दोलन की समाप्ति विद्यार्थियों के 1985 में विधान सभा के चुनाव जीतने और सरकार बनाने से हुई। इस देश के इतिहास में पहली बार विद्यार्थी राजनैतिक शासक बने।

फिर भी राज्य सरकार को यह भावना कष्ट देती रही कि केन्द्र सरकार उसकी उपेक्षा करती है। युवा इतने उत्तेजित हो गये कि 'उल्फा' (U L F A) अस्तित्व में आई। 'उल्फा' के सक्रिय कार्यकर्ताओं ने न केवल राज्य की सत्ता को चुनौती दी, अपितु उन्होंने अलगाव के बीज बोये, बदूक की नोक पर विपक्ष का मुह बद कर दिया, पैसा ऐंठा और राज्य में एक समानान्तर सरकार स्थापित कर दी। चूकि राज्य सरकार उल्फा युवाओं के विद्रोह को कुचलने में असफल रही, केन्द्र ने राज्य सरकार को सत्ता से हटा दिया और राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। "आपरेशन बजरग" 28 नवबर, 1990 को उल्फा आन्दोलन को समाप्त करने और अलगाववादियों को पकडने के लिये चलाया गया।

जब किसी क्षेत्र के लोग पडौसी देश के लाखों शरणार्थियों के यकायक दबाव के कारण और केन्द्र सरकार की उपेक्षा की नीति के कारण आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक और राजनीतिक रूप से पीडित होते हैं, तो उन्हें सत्ता दल के राजनीतिक निर्णय नही लेने के विरुद्ध विरोध करने का अधिकार है। इस मामले में पूरे राष्ट्र का भयादोहन (backmail) सहन नहीं किया जा सकता। यह सर्वविदित है कि 'आसू' के असम में उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन और तेल कपनियों में हडताल के कारण राष्ट्र को करोडों रुपयों की हानि सहनी पडी थी। परन्तु प्रश्न यह है-क्या एक क्षेत्र जो विकसित होना चाहता है और अपने लक्ष्यों और आदर्शों को प्राप्त करना चाहता है, को विरोध के अधिकार से वचित किया जाना चाहिये?

प्रजातन्त्र में जहा चुनावों पर करोडों रुपये व्यय किये जाते हैं, वहा समाज को सामाजिक विरोधों के कारण भी कुछ हानि उठानी पडती है। एक राज्य के लोगों को केवल इसलिये राष्ट्र विरोधी नही कहा जा सकता कि वे किसी मामले को लेकर तीव्र विरोध करते हैं। नागालैंड आन्दोलन युवाओं ने शुरु नही किया था, परन्तु उन्होंने उसका सक्रिय रूप से समर्थन किया।

नागालैंड में युवाओं द्वारा सडकों पर कई नारे लगाये गये जो राष्ट्रीय एकता की घोषणा करते थे "भारत एक गुलदस्ता है, नागालैंड केवल एक चमकीला फूल"। फिर भी विद्रोह और अलगाववाद को निश्चितरूप से सहन नही किया जा सकता।

मडल विरोधी युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन (Anti-Mandal Yough Agitation)

युवाओं के 1990 के उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन और आत्मदाह के प्रकरणों को हाल के वर्षों में भुलाया नहीं जा सका है। जनता सरकार ने 7 अगस्त,1990 को अचानक मडल आयोग की अन्य पिछडे जातियों/वर्गों के लिये 27 प्रतिशत आरक्षण के सुझावों को स्वीकृति प्रदान करने की घोषणा कर दी। सरकार ने वास्तव में इस राजनीति से प्रेरित घोषणा द्वारा सचित सामाजिक असतोष और लोगों के विद्यमान राजनीतिक व्यवस्था के प्रति मोहभग के सोख्तादान (tinder box) को माचिस दिखाने का काम किया। उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन देहली में शुरु हुआ और शीघ्र ही उत्तर भारत के विभिन्न राज्यों में फैल गया। कई युवा विद्यार्थियों ने विरोध के रूप में आत्मदाह कर लिया और कईयों ने इसका प्रयास किया। मडल आयोग की जाति पर आधारित आरक्षण की योजना की विवेकहीन स्वीकृति के विरुद्ध उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन के पैमाने और तीव्रता से सरकार को बडा धक्का लगा और इस सकटावस्था की तीव्रता को शान्त करने के लिये उसने कुछ प्रस्ताव रखे। उसने घोषणा की कि आरक्षण केवल केन्द्र सरकार और सार्वजनिक क्षेत्र की ईकाईयों की नौकरियों तक सीमित रहेगा। यह महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयो के प्रवेशों पर लागू नही होगा। बिहार, और उत्तरप्रदेश जैसे राज्यों ने और दक्षिण भारत के लगभग सभी राज्यों ने इन आरक्षण नीतियों को स्वीकार कर लिया। नई जनता (एस) चन्द्रशेखर सरकार ने जो दिसंबर 1990 में सत्ता में आई आरम्भ में इस नीति की ओर सावधानी का रुख अपनाया था। परन्तु इस जनता (एस) दल ने जिसने उत्तरप्रदेश में बलिया में 30 जनवरी और पहली फरवरी 1991 को अपना राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया उसमें उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री को मडल आयोग की रिपोर्ट की कार्यान्विति के लिये बाध्य किया। युवाओं को, जो इस विषय पर पहले से ही उत्तेजित थे, इस प्रकार की वचन बद्धताओं के प्रति विरोधात्मक प्रतिक्रिया अपनानी ही थी। परन्तु उनकी कुण्ठा काग्रेस सरकार द्वारा सितबर-अक्टूबर,1991 और फिर 8 सितबर 1993 में घोषित की गई नई आरक्षण नीति से कुछ दब गई।

अन्य उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनो मे युवाओ की भूमिका (Role of Yough in Other Agitations)

पंजाब में खालिस्तान के लिये उग्रवादियों का उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन और जम्मू और कश्मीर में स्वतत्र कश्मीर के लिये और बिहार में झारखड राज्य के लिये जनजातियों की माग भी सबधित राज्यों में युवाओं की कुण्ठा के रूप में समझी जा सकती है।

पंजाब में रोज़गार निदेशालय द्वारा सकलित आकड़े दर्शाते हैं कि दिसबर,1984 तक अमृतसर के रोजगार कार्यालयों में 59,360 व्यक्ति और गुरदासपुर में 65,619 व्यक्ति

पंजीकृत थे। पजीकृत व्यक्तियों की सख्या में दूसरे शहरों के आंकड़ों को जोड़ने से युवाओं में व्याप्त बेरोजगारी का अनुमान लग सकता है। बड़े पैमाने पर बेरोजगारी अवश्य कट्टरवाद के विकास में सहायक हुई है। राजनैतिक नेताओं ने भी यह स्वीकार किया है कि पजाब में कट्टरवादिता की समस्या की जड़ें युवाओं के आर्थिक कष्टों (hardships) में है। इसी आधार पर पजाब के वर्तमान राज्यपाल और पूर्व के कम से कम दो राज्यपालों ने युवाओं की बेरोज़गारी की समस्या के समाधान पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और समस्या के राजनैतिक हल को भी उतना ही महत्व दिया।

कश्मीर में भी सही अर्थ में उग्रवादियों में सत्ता अब युवा पुरुषों के पास है। कई व्यक्ति जिन्हें पुलिस ने पाकिस्तान में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये गिरफ्तार किया है युवा व्यक्ति हैं जो 18-25 के आयु समूह में हैं। कश्मीर में स्वतत्रता की माग कर रहे व्यक्तियों में बडी सख्या में क्रुद्ध युवा पुरुष हैं जिन्होंने बदला लेने की शपथ खाई है। परन्तु उनका आक्रोष सुव्यवस्थित नहीं है।

विहार के छोटा नागपुर और सन्थाल परगना क्षेत्रों में एक अलग राज्य के लिये वहा की जनजातियों का आन्दोलन जो आमतौर पर झारखड आन्दोलन कहलाता है आधी सदी पुराना है। परन्तु हाल में इस आन्दोलन से एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई है जब अखिल झारखड विद्यार्थी सघ (ए.जे.एस.यू.) ने फरवरी, 1991 के प्रथम सप्ताह में 72 घटे की सफल आर्थिक नाकेबदी आयोजित की और दक्षिण बिहार से खनिज के आने को बद कर दिया। ऐसा लगता है कि केन्द्र गोरखालैंड के सरुप पर एक स्वायत्तशासी परिषद बनाने के लिये सहमत है परन्तु झारखडी अपनी सास्कृतिक विरासत और स्पष्ट पहचान को जीवित रखने के लिये एक अलग राज्य के अलावा इससे कुछ भी कम नही मानने की ज़िद पर अडे हैं। जनजाति के युवाओं की मान्यता है कि हिन्दुओं के प्रभाव (बाहर की आन्तरिक क्षेत्रों में बस्ती के कारण) और ईसाई धर्म के फैलने से उनकी सदियों पुरानी सामाजिक सम्बद्धता (cohesiveness) पर दुष्प्रभाव पड़ा है। उनके विचार में कई सस्कृतियों के मिश्रण से बना हुआ वातावरण (नगरीकरण और औद्योगीकरण के कारण जो प्रकट हो रहा है) कहीं उन्हें अपने आप में मिला न ले।

छोटा नागपुर की जनजातिया बाध, कारखानों और खनिज सम्पदा के दोहन की अन्यायपूर्ण व्यवस्था का विरोध कर रहीं हैं। राज्य पुनर्गठन आयोग (स्टेट रिऑरगनाइजेशन कमीशन) ने झारखड की माग अव्यवहारिक और निराधार मानकर रद्द कर दी थी। परन्तु आदिवासी महासभा जो झाडखंड दल की अग्रदूत थी ने पृथक राज्य के नारे का उपयोग किया और पहले चुनावों में क्षेत्र के जनजाति बहुसख्यक स्थानों पर कब्जा कर लिया। तभी से यह आन्दोलन जोर पकड रहा है यद्यपि सही नेतृत्व का अभाव और सयुक्त सगठन का नहीं होना इस आन्दोलन की प्रमुख कमी रही है। ए.जे.एस.यू. ने सयुक्त झाड़खड दल (यू.जे.पी.) को असम में ए.ए.एस.यू. के पैटर्न पर बनाया। इस प्रकार जनजाति युवा अब बिहार में अपनी शक्ति को दिखाने के लिये कृतसकल्प हैं। परन्तु यह सदेहास्पद है कि आन्दोलन मध्यप्रदेश, उड़ीसा और

पश्चिम बंगाल में जोर पकड़ पायेगा।

विभिन्न राज्यों में युवाओं के इन सब उत्तेजनापूर्ण आदोलनों और उनकी कुण्ठाओं को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि अधिकांश युवा इतने कुण्ठित और निराशावादी हो गये हैं कि उन्हें विश्वास हो गया है कि सरकार की आज की नीतियों और कार्यक्रमों से एक या कई दशकों के बाद भी देश के लोगों की स्थिति में सुधार होना संभव नहीं होगा। आपरेशन रिसर्च ग्रुप (ओ.आर.जी.) के द्वारा युवा अनुभूति (youth perception) पर देश के 38 नगरों में 2,100 युवाओं के एक प्रतिदर्श पर अप्रेल, 1988 में एक अखिल भारतीय सर्वेक्षण किया गया। इस सर्वेक्षण के अनुसार युवाओं ने नौकरी के अवसरों में कमी होने पर अपनी चिन्ता व्यक्त की है (दि हिन्दुस्तान टाईम्स, 15 मई, 1988)। 62 प्रतिशत से अधिक सूचनादाताओं ने कहा कि रोज़गार की स्थिति और अधिक बिगड़ गई है। लगभग 52.2 प्रतिशत को पक्का विश्वास था कि भारत उन्नति और विकास के लिये सही मार्ग पर नही चल रहा है। दूसरे 36.7 प्रतिशत महसूस करते थे कि भारतीयों की दशा में अगले दस वर्षों में भी कोई सुधार नही होगा। लगभग 26 0 प्रतिशत के विचार में स्थितियां वास्तव में और अधिक बिगड़ जायेंगी। सर्वेक्षण से सरकार की नई शिक्षा नीति के प्रति भी मिश्रित प्रतिक्रिया प्रकट हुई। 37.0 प्रतिशत से कुछ कम के अनुसार यह नीति देश के लिये अच्छी और आवश्यक थी। इसके विपरीत 27.0 प्रतिशत ने जोर देकर कहा कि इस नीति के कोई परिणाम नहीं निकलेंगे। इस प्रकार जब देश के युवाओं में अधिकांश न केवल अपने भविष्य और सुरक्षा के बारे में, अपितु देश के आर्थिक भविष्य और सामाजिक प्रगति के बारे में निराशावादी हैं तो क्या युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों को रोका जा सकता है ?

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के प्रकार (Types of Youth Agitations)

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन सदैव हिंसक या दमनकारी (coercive) नहीं होते। कई बार वे प्रत्ययकारी (persuasive) तकनीक का भी उपयोग करते हैं। हम युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों का निम्नांकित श्रेणियों में वर्गीकरण कर सकते हैं:

(1) प्रत्ययकारी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन (Persuasive Agitations)

इन उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में युवा सत्तारूढ़ व्यक्तियों के साथ बैठकर अपनी समस्याओं पर उनसे चर्चा कर उनकी प्रतिक्रियाओं को बदलने का प्रयास करते हैं और अपने दृष्टिकोण पर उनकी सहमति के लिये दबाव डालते हैं। इन उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों का दायरा कम महत्वपूर्ण विषयों (परीक्षाओं को आगे सरकाना, प्रवेश तिथि को आगे बढ़ाना) से लेकर महत्वपूर्ण विषयों (स्थानों (seats) की सख्या बढ़ाना) और गंभीर विषयों (शैक्षिक समितियों में प्रतिनिधित्व देना, विद्यार्थियों को निर्णयात्मक प्रक्रियाओं के साथ सम्बद्ध करना) दोनों तक होता है। विरोध प्रदर्शन, नारेबाजी करना, सत्तारूढ़ व्यक्तियों को विद्यार्थियों/युवाओं के प्रतिनिधियों से मिलने और उनके विचारों और मागों को समझने का प्रयत्न करने के लिये राज़ी करना उन तरीकों में

से कुछ हैं जो इस प्रकार के उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में उपयोग में लाये जाते हैं। इस तरीके से व्यक्त किया गया रोष और अन्याय न केवल निष्क्रिय (passive) विद्यार्थियों/युवाओं को उत्तेजित करता है और उनमें जनसमर्थन (popular support) जाग्रत करता है, अपितु, असतोष को 'अहानिकर' भावात्मक अभिव्यक्तियों (emotional outlets) में बहा देने में भी सहायक होता है।

(2) *विरोधात्मक उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन (Resistance Agitations)*

इस प्रकार के उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य सत्तारूढ व्यक्तियो को अपने दायरे में रखना होता है। अधिकारियों द्वारा आरम्भ किये जाने वाले कई परिवर्तन विद्यार्थियों/युवाओं को परेशान करने वाले (disturbing) लगते हैं और उन्हें लगता है कि या तो उनके बहुमूल्य वर्ष व्यर्थ में गवाए जा रहे हैं या उनके न्यायसगत (legitimate) अवसरों से उन्हें वचित किया जा रहा है या उनकी जीविकाओं पर खराब असर पडने वाला है। उदाहरणार्थ, विश्वविद्यालय को इस निर्णय का कि उत्तरपुस्तिका के पुनर्मूल्याकन पर घटा कर अक दिये जायें (यदि अभ्यर्थी के अक घटा दिये जाते हैं तो ये घटे हुए अक उसकी अकतालिका में भरे जायेंगे) तो विद्यार्थियों ने उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन करके इसका विरोध किया जिससे विश्वविद्यालय की शैक्षिक परिषद को यह निर्णय लेने के लिये बाध्य होना पडा कि पुनर्मूल्याकन पर अक कम नही किये जायेंगे। इसी प्रकार के निर्णय विश्वविद्यालय सेमेस्टर प्रणाली या आन्तरिक मूल्याकन प्रणाली या 75 प्रतिशत उपस्थिति की अनिवार्यता प्रणाली के सबध में लेने पडे हैं। विरोधात्मक उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन विद्यार्थियों की यह व्याकुलता व्यक्त करते है कि विश्वविद्यालय किस दिशा में चल रहा है।

(3) *क्रान्तिकारी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन (Revolutionary Agitations)*

इन उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों का उद्देश्य शैक्षणिक या सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन लाना होता है। उदाहरणतया, अधिकारियों को इसके लिये बाध्य करना कि किसी विद्यार्थी को अनुत्तीर्ण घोषित नही किया जायेगा परन्तु उसे आगे की कक्षा में चढा दिया जायेगा और उसे उसके अनुत्तीर्ण प्रश्नपत्र/विषय में तबतक बैठने का अवसर दिया जायेगा जब तक वह उसमें उत्तीर्ण नही हो जाता। क्रान्तिकारी नेताओं की दृष्टि में मूल परिवर्तन तभी सभव है जब कि चालू प्रणाली को समाप्त कर दिया जाये और एक नई प्रणाली को व्यापक रूप से लागू किया जाये। क्रान्तिकारी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन के उदाहरण 1987 में चीन में हुए युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन, 1984 में असम मे 'आसू' का उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन, और 1989-93 में असम में बोडो का उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन हैं। अन्तिम उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन की विशेषताए थी बढता हुआ असतोष और अव्यवस्था, नरमपथियों (moderates) की सरकार गिराना, कट्टरपंथियों (extremists) द्वारा निर्णय लेना, आतकवाद का साम्राज्य, और विदेशों से हथियार प्राप्त करने का प्रयास।

युवाओ में उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनो के प्रति ग्रहणशीलता (Youth Receptive to Agitations)

उत्तेजनापूर्ण गतिविधियों में निम्नलिखित पाँच प्रकार के युवा भाग लेते हैं

(1) सामाजिक रूप से पृथक (isolated)

युवा जो अलगाव का अनुभव करते हैं और समाज से अपने को कटा हुआ समझते हैं।

(2) व्यक्तिगत रूप से असमंजित (maladjusted)

युवा जो जीवन में संतोषजनक भूमिका प्राप्त करने में असफल रहते हैं, उदाहरणार्थ, वे जो अध्ययन में पर्याप्त रुचि उत्पन्न नही कर पाये हैं, बेरोजगार अथवा अल्प-रोज़गार वाले हैं या असफल हैं। वे उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में इसलिये सम्मिलित हो जाते हैं, क्यों कि उन्हें अपने जीवन में खालीपन को भरने की एक भावात्मक आवश्यकता प्रतीत होती है।

(3) परिवार से असम्बद्ध (unattached)

युवा जिनके अपने परिवारों से घनिष्ठ सम्बन्ध नही होते, उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में भाग लेने के लिये प्रेरित होते हैं। उन युवकों को जिनके अपने परिवार से घनिष्ठ और संतोषप्रद सम्बन्ध होते हैं, उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन में भाग लेने की कोई भावात्मक आवश्यकता नहीं होती।

(4) सीमान्त (marginals)

युवा जो अपनी जाति व धार्मिक/ भाषाई समूह द्वारा स्वीकार नही किये जाते या उनसे जुड़े हुए नही होते, चिन्तित, असुरक्षित और अप्रसन्न रहते हैं। ऐसे युवाओं को अपनी आत्मछवि और लोक-छवि की विसगति (discrepancy) के निराकरण करने में कठिनाई होती है, जिसके परिणामस्वरूप वे कुछ सम्मान प्राप्त करने के लिये उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में भाग लेते हैं।

(5) गतिशील/प्रवासी (mobile/migrant)

प्रवासी युवाओं को बडे समुदाय से जुडने के अवसर प्राप्त नहीं होते। उन्हें उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों से जुडने से आश्रय मिलता है।

बी वी शाह (1968.57-63) ने कुछ वर्षों पहले गुजरात में विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों का एक अध्ययन किया था। उन्होंने यह बतलाने के लिये कि किस प्रकार के विद्यार्थी अधिक अनुशासनहीन होते हैं या किसमें अधिक असतोष मिलता है, विद्यार्थियों का उनके सामाजिक प्रस्थिति और योग्यता के आधार पर चार समूहों में वर्गीकरण किया.

(1) उच्च प्रस्थिति, अधिक योग्यता (high status, high ability eligible)

ये वे विद्यार्थी हैं जो किसी भी पाठ्यक्रम में प्रवेश के पात्र (eligible) हैं, जिनमें पूर्ण आत्मविश्वास है, जो सभी परिस्थितियों में स्वय को अनुकूल बना सकते हैं और जो अध्ययन

में तीव्र रुचि लेते हैं। वे अपनी योग्यताओं के कारण अपने उद्देश्य की प्राप्ति के विषय में विश्वास रखते हैं, परिश्रम करते हैं, कोई समस्या उत्पन्न नही करते, और हडतालों और प्रदर्शनों से दूर रहते हैं।

(2) निम्न प्रस्थिति, अधिक योग्यता (low status, high ability)

ये वे विद्यार्थी हैं जिनमें बहुत योग्यता होती है, वे परिपक्व होते हैं, जो सही और गलत के भेद को पहचानने का प्रयत्न करते हैं, परिश्रम करते हैं, अच्छे अको और उच्च श्रेणियों का अपने सामने लक्ष्य रखते हैं, उन गतिविधियों से जो उन्हें नुकसान पहुचाए अपने आपको दूर रखते हैं क्योंकि नौकरिया और पदोन्नतियों के लिये उन्हें अपने ही ऊपर निर्भर रहना पडता है और हडतालों एव प्रदर्शनों में वे भाग नही लेते। फिर भी इस समूह में ऐसे युवा हैं जिन्हें कि अपनी योग्यताओं के होते हुए भी सम्मान प्राप्त नही होता क्यों कि वे निर्धन वर्ग के या अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के या पिछड़े वर्गों/जातियों के होते है। ये विद्यार्थी अपनी कुण्ठाओं के कारण उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में भाग लेते हैं।

(3) उच्च प्रस्थिति, निम्न योग्यता (high status, low ability)

ये वे विद्यार्थी हैं जिन्हें अपने प्रभाव के कारण वाछित पाठ्यक्रम में प्रवेश मिल सकता है। फिर भी वे अपनी निम्न योग्यता के कारण ऊचे शैक्षिक स्तरों के अच्छे विद्यार्थियों के साथ प्रतिस्पर्द्धा नही कर सकते और इसलिये नये अशैक्षिक मूल्य एव व्यवहार के सरूप अपना लेते हैं। उदाहरणतया, उन्हें परीक्षा में अनुचित साधनो के उपयोग में, कक्षा से अनुपस्थित रहने में, कक्षा में शोर मचाने में, महाविद्यालय में अधिक समय कैन्टीन में बिताने में, प्राध्यापकों पर दबाव के दावपेच उपयोग करने में, परीक्षकों को घूस/धमकिया देने में, और उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में भाग लेने एव दूसरों को ऐसी गतिविधियों में लिप्त होने के लिये भडकाने में कोई बुराई नही दिखती।

(4) निम्न प्रस्थिति, निम्न योग्यता (low status, low ability)

ये वे विद्यार्थी हैं जिनमें से कुछ उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में रुचि लेते है परन्तु कुछ ऐसी गतिविधियों से अपने को दूर रखते है। यह उनके मित्र-समूह और उनकी व्यक्तिगत आकाक्षाओं पर निर्भर करता है। इस प्रकार दूसरी और तीसरी श्रेणियों के विद्यार्थियों में अधिक असतोष पाया जाता है।

इसलिये यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विद्यार्थियों के असतोष और उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में तीन तथ्य महत्वपूर्ण हैं (i) विद्यार्थियों की पारिवारिक पृष्ठभूमि, (ii) विद्यार्थियों की योग्यताए, और (iii) शिक्षण व्यवस्था, यानी प्राध्यापकों की योग्यताए, अध्यापन तकनीकें, और पाठ्यक्रमों की विषयवस्तु (कि ये पाठ्यक्रम रोज़गार अभिमुख हैं या नहीं)। लिपसेट (Lipset) एक और भी कारक को महत्व प्रदान करते है, यानी उन वर्षों की सख्या जो कि

विद्यार्थी ने महाविद्यालय/विश्वविद्यालय में व्यतीत किये हैं। जितने अधिक वर्ष वह इसमें व्यतीत करता है, उतना ही अधिक वह उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन में भाग लेता है।

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनो की सीमाएं (Limitations of Youth Agitations)

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन कितना ही विवेकपूर्ण या विवेकहीन हो, कम से कम चार बातें उसे सीमाबद्ध करती हैं (1) भाग लेने वालों की सख्या, (2) आन्दोलन कर्त्ताओं की भावनाएं, (3) नेतृत्व, और (4) बाहरी नियन्त्रण।

यदि उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन में भाग लेने की सख्या कम है तो वह बहुत समय तक संभवतया नही चल सकता, परन्तु यदि सख्या अधिक है और सत्तारूढ़ व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करने के लिये काफी पर्याप्त है तो आन्दोलन में स्थिरता आ जायेगी और सदस्यों में जोश और समर्पण (dedication) की भावनाए भी जागृत हो जायेंगी।

दूसरे, आन्दोलनकर्ताओं की भावनाए/रोष और पूर्वाग्रह भी उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन को प्रेरणा प्रदान करते हैं। यदि आन्दोलनकर्ता अस्थिर प्रकृति के होते हैं तो वे अपना विरोध बगैर अधिक आत्मसयम के व्यक्त करेंगे, परन्तु यदि वे अधिक सहनशील हैं तो वे अपनी भावनाओं और आवेगों को व्यक्त नही करेंगे। युवा व्यक्ति उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में बिना किसी अपराध भावना (guilt feeling) के मुखर (vocal) हो सकते हैं। उसके साथ साथ उनकी अच्छे नेता/वक्ता के प्रति सहानुभूति और जोश भी कम हो सकता है। यदि आक्रामक समूह के सदस्यों की बडी संख्या समान भावनाए रखती हैं तो ये समूह आगे बढ़ सकता है, परन्तु यदि थोड़े से ही सदस्य समान भावनाए रखते हैं तो उस समूह के धीरे धीरे आगे बढ़ने की संभावना होती है।

आन्दोलकर्ताओं के लोकाचार (mores) भी उनके व्यवहार को बराबर से प्रभावित करते हैं। क्या विद्यार्थी प्राध्यापकों के खिलाफ नारे लगायेंगे ? क्या वे विश्वविद्यालय की सम्पति को नष्ट करेंगे ? क्या वे कुलपति को शारीरिक रूप से नुकसान पहुंचायेंगे ? क्या वे असामाजिक तत्वों से सहायता लेंगे ? क्या वे दमनकारी साधनों से जनता से चंदा लेंगे ? इन सबका निर्णय आन्दोलनकर्ताओं के लोकाचार और नैतिक मूल्य करते हैं।

आन्दोलनकारी समूह के नेता का कार्य आन्दोलकारियों के नैतिक विचारों को अशक्त करने के बजाय उनको निष्प्रभावित (neutralise) एवं विविक्त (isolate) करना होता है। युवा नेता उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन की तीव्रता और दिशा को भी प्रभावित करता है। यदि उसे कुण्ठित, असतुष्ट और क्रुद्ध युवा व्यक्तियों का सम्मिश्रण मिल जाये, तो एक कुशल नेता उनका मन परिवर्तित कर सकता है और उसके आक्रमण को उस 'शत्रु' की ओर मोड़ सकता है जिससे वे पहले से ही घृणा करते हैं। इसी प्रकार एक नेता उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन को रणनीतिक सुझाव या आदेश के द्वारा दूसरी दिशा में ले जा सकता है। चूंकि अधिकांश युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन संरचनाविहीन होते हैं और उनके कोई मनोनीत नेता नहीं होते, इसलिये नेतृत्व के लिये छीना-झपटी होती है। कोई भी केवल आधिकारिक ढंग से सुझाव देने में सक्रिय होकर

नेता बन सकता है।

अन्त में, उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन को बाहरी नियन्त्रणों के कारण कुछ सीमाओं का सामना करना पडता है। कुलपति प्रागण में पुलिस को बुला सकता है परन्तु हो सकता है कि कुछ ही पुलिस वाले भेजे जायें। ऐसी स्थिति में आन्दोलकर्ताओं पर अधिक नियन्त्रण नही हो पायेगा। परन्तु जब शहर में युवा आन्दोलनकर्ताओं को बडी सख्या में पुलिस या लाठी और बन्दूक अपने हाथ में लिये हुये पुलिसकर्मी घेर लेते हैं तो उन्हें हार माननी पड सकती है। इसी प्रकार, ठडा मौसम, बरसात, गर्मी और आन्दोलन के स्थान के निकट असहानुभूतिपूर्ण दर्शक भी आन्दोलनकर्ताओं को अपने प्रयत्न जारी रखने से रोक सकते हैं।

युवा असतोष और उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनो के कारण (Causes of Youth Unrest and Agitation)

1960 की विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समिति ने विद्यार्थियों के उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के निम्नाकित कारण बतलाये थे (1) आर्थिक कारण, जैसे शुल्क का कम करना, छात्रवृत्ति बढाना, (2) प्रवेश, परीक्षाओं और अध्यापन के चालू प्रतिमानों में परिवर्तनों की माग करना, (3) महाविद्यालयों/ विश्वविद्यालयों में ठीक से काम नही होना, जैसे प्रयोगशालाओं के लिये रसायनों और उपकरणों या पुस्तकालयों के लिये पुस्तकें और पत्रिकाओं की खरीद नही करना, (4) विद्यार्थियों और प्राध्यापकों के बीच टकराव के सम्बन्ध (प्राध्यापकों पर कक्षाए छोडने और अध्यापन के प्रति प्रतिबद्धता का न होने का आरोप), (5) प्रागण में अपर्याप्त सुविधाए, जैसे अपर्याप्त छात्रावासों, छात्रावासों में खराब भोजन, कैन्टीन का न होना, और पेयजल की सुविधाओं का अभाव, और (6) नेताओं का राजनीतिज्ञों द्वारा भडकाया जाना।

जोसफ डिबोना (Joseph Dibona) ने उत्तरप्रदेश में एक विश्वविद्यालय में उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों का अध्ययन किया और विद्यार्थियों के उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के तीन कारण बतलाये (1) आर्थिक कारण जिनमें भविष्य के बारे में असुरक्षा की भावना और देश की आर्थिक आवश्यकताओं और शैक्षणिक प्रणाली में दरार, यानि कि शिक्षा को रोजगार-उन्मुख नही पाया जाना सम्मिलित थे, (2) सामाजिक-मनोवैज्ञानिक कारण जिनमें दोषपूर्ण शैक्षणिक प्रणाली, आकाक्षा और उपलब्धि के बीच दरार (80.0% अक पाने के बाद भी अपने मनपसन्द विद्यालय में प्रवेश नही पा सकना) प्राध्यापक और विद्यार्थी के बीच सामाजिक दूरी, यथा-स्थिति की नीति, भ्रष्टाचार और अयोग्यता, और एक कक्षा में बहुत अधिक विद्यार्थी होना या एक विभाग/महाविद्यालय में सेक्शनों की अपर्याप्त सख्या, और (3) राजनीतिक कारण जिनमें राजनीतिक हस्तक्षेप और राजनीतिक नेताओं द्वारा उकसाहट सम्मिलित हैं। ये सब कारक यह बतलाते हैं कि विशेषरूप से छात्र असतोष और उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों और सामान्यरूप से युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों का प्रमुख कारण सामाजिक व्यवस्था में निहित है, न कि युवाओं के व्यक्तित्व में।

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनो के कारणो के सिद्धान्त (Theories of the Causes of Youth Agitations)

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों की व्याख्या करने के लिये दो प्रकार के सिद्धान्त सुझाये जा सकते हैं: मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय। पहला व्यक्ति के व्यक्तित्व पर और दूसरा समाज पर बल देता है। दो महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त हैं (अ) असंतोष सिद्धान्त, और (ब) व्यक्तिगत असमायोजन सिद्धान्त, जब कि दो महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धान्त हैं: (अ) सापेक्षिक वंचन सिद्धान्त, और (ब) ससाधन सग्रहण सिद्धान्त।

असन्तोष सिद्धान्त (Discontent Theory) के अनुसार उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों का मूल कारण असतोष है। वे युवा जिनकी ऊची आकांक्षाएं नही हैं या जो कुछ उनके पास है या जिसके मिलने की सभावना हैं उससे वे संतुष्ट और सुखी हैं, आन्दोलनों में कोई रुचि नही लेंगे। परन्तु वे क्रुद्ध युवा जो घोर अन्याय से उत्पीडित महसूस करते हैं या वे जो विद्यमान ढाचों और अवसरों से थोडा सा भी नाराज होते हैं, सामूहिक रूप से सत्तारूढ़ व्यक्तियों पर कुछ परिवर्तन लाने के लिये दबाव डालेंगे। (रेखाचित्र 1)

रेखाचित्र 1
युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में असतोष उपागम
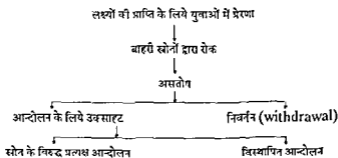
यह कदाचित सही है कि के असंतोष के बिना युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन नहीं होंगे। परन्तु असंतोष एक अपर्याप्त व्याख्या है। युवाओं की शिकायत और असंतोष के स्तर में और उनकी उत्तेजनापूर्ण गतिविधि के स्तर में निकट सबंध के बारे में कोई विश्वासोत्पादक (convincing) प्रमाण नही है। युवा व्यक्ति भारी असंतोष सहन कर सकते हैं और फिर भी वे उसका विरोध न करें। स्वतंत्रता के पश्चात भारत में युवाओं ने भ्रष्टाचार, असमानता, शोषण, राजनीतिक सांठ-गाठ, पुलिस की नृशसता, प्रशासनिक निर्दयता, धार्मिक कट्टरवाद बिना किसी सामाजिक विरोध के सहन किया है। वस्तुत: सारे आधुनिक समाजों में इतना अधिक असंतोष होता है जो उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के लिये ईधन का काम करता है (टर्नर और किलियन, 1972:271)। असंतोष युवा उत्तेजनापूर्ण आदोलनों के लिये एक आवश्यक शर्त हो सकती है,

परन्तु पर्याप्त शर्त नही है।

व्यक्तिगत असमायोजन सिद्धान्त (Personal Maladjustment Theory) के अनुसार उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन करना व्यक्तिगत असफलता का बहाना मात्र है। आन्दोलनकर्ताओं को ऐसे अप्रसन्न, कुण्ठित युवा व्यक्तियों का जिनके जीवन में अर्थ और पूर्ति (fulfilment) का अभाव है, समर्थन प्राप्त होता है। हॉकर (1951) ने भी कहा है कि ऐसे व्यक्ति उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों और सामाजिक आदोलनों के प्रति आकर्षित होते हैं जो ऊबे (bored) हुए हैं, असमायोजित व्यक्ति हैं, रचनात्मक होते हुए भी कोई रचना नही कर सकते, दोषी (guilty) हैं, पत्तोन्मुख (downwardly mobile) हैं और वे जो अपने जीवन से अत्यन्त असतुष्ट हैं। वे उत्तेजनात्मक गतिविधि (activity) से अपने खाली जीवन को अर्थ एव उद्देश्य (meaning and purpose) प्रदान करते हैं। हॉर्टन (1984 500) ने भी कहा है कि यह सत्याभासी व तर्कयुक्त लगता है कि ऐसे युवा व्यक्ति जो अपने आप को अपूर्ण एव कुसमजित होना अनुभव करते हैं, उत्तेजनापूर्ण गतिविधियों की ओर उनकी तुलना में अधिक आकर्षित होंगे जो सतुष्ट हैं और स्वय को समजित समझते हैं। ऐसे व्यक्ति जो अपने व्यक्तिगत जीवन को दिलचस्प एव पूर्ण समझते हैं ऐसी चीज की आवश्यकता कम होती है जो उन्हें अपने व्यक्तिगत मूल्य और उपलब्धि का ज्ञान करायें क्योंकि ये उनके पास पहले से होती हैं। उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन के समर्थक मुख्यत समाज के कुण्ठित एव असमायोजित व्यक्ति होते हैं।

यद्यपि असमायोजन सिद्धान्त तर्कयुक्त लगता है फिर भी वह ठीक से प्रमाणित नही है। किसी भी व्यक्ति की अपरिपूर्णता (non-fulfilment) को मापना आसान नही है। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के सब छात्र उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों को छात्र नेताओं और सक्रिय कार्यकर्ताओं की व्यक्तिगत असफलताओं के कारण होना नही कहा जा सकता। मडल आयोग की रिपोर्ट के अगस्त, 1990 में कार्यान्वयन के अवसर पर देश के विभिन्न भागों में हुए युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों का कारण युवा व्यक्तियो का व्यक्तिगत कुसमजन नहीं कहा जा सकता।

सापेक्षिक वचन सिद्धान्त (Relative Deprivation Theory) स्टाउफर (Stouffer) द्वारा 1949 में प्रस्तुत किया गया था। इस सिद्धान्त को असतोष वचन और सापेक्षिक वंचन में भेद बताकर सही प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। एक समूह 'वंचित' उस समय महसूस करता है जब वह ऐसे लक्ष्य/उद्देश्य को प्राप्त नही कर पाता जो उसे आकर्षक एवं वांछनीय लगता है, परन्तु वह 'असतुष्ट' उस समय महसूस करता है जब वह इस उद्देश्य की प्राप्ति से हुई खुशी का पूर्वानुमान लगाता रहता है और फिर उसकी आशा की पूर्ति नहीं हो पाती। सापेक्षिक वचन वह अनुभूति है जब कि व्यक्ति (एक समूह के सदस्य के रूप में) दूसरों से जिनसे उसने (समूह ने) अपनी तुलना की थी, अपने आपको कम सौभाग्यशाली महसूस करता है (डेविड मेयर्स, 1988.402 और 408)। वह इस प्रकार प्रत्याशाओं और प्राप्तियों के

बीच दरार होने की बात करता है। वह समूह जो कम (little) की अपेक्षा करता है और जिसके पास कम होता है, उस समूह की अपेक्षा कम वंचित महसूस करता है जिसके पास अधिक होता है और इसके उपरान्त भी और अधिक की प्रत्याशा करता है।

सापेक्षिक वंचन अल्पविकसित संसार के अधिकांश भागों में बढ़ रहा है। भारत में भी युवा महसूस करते हैं कि अवसरों का अभाव, बेरोजगारी, जाति पर आधारित आरक्षण, उच्च शिक्षा की सीमाएं, विशेषतौर पर तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा ऐसे मामले हैं जिन्हें हटाया जा सकता है। उनकी आकांक्षा बेहतर नौकरियों, आर्थिक सुरक्षा, पदोन्नति के अवसरों, सामाजिक गतिशीलता और उन सब चीजों के लिये जिनका कई और व्यक्ति उपभोग करते हैं, होती है। उनमें इन (बहुमूल्य) चीजों की लालसा होती हैं, परन्तु उनमें यह समझ बहुत कम होती है कि उन्हें प्राप्त करने के लिये क्या कुछ नहीं करना पड़ता है। जहां युवाओं को उन चीजों में से जिनकी उन्हें लिप्सा है कुछ मिलने भी लगी हैं वहां भी यह भावना है कि यह संतोष असहनीय मंद गति से प्राप्त होते हैं। इन अभिलाषाओं की अत्यधिक स्फीति का कारण पारस्परिक नियंत्रणों का कमजोर होना है। विद्यमान सामाजिक ढांचों और सत्ताधारी अभिजनों से यह आशा नहीं है कि वे युवाओं की प्रत्याशाओं की पूर्ति कर पायेंगे। इस प्रकार जब युवा व्यक्ति अत्यधिक दुखी हो जाते हैं तो उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के होने की अत्यधिक संभावना होती है। डेवीज (Davies 1962) और गेशवेन्डर (Geschwender, 1968) ने भी इसका समर्थन किया है कि उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन अधिकतर उस समय होते हैं जब कि सुधार की कालावधि में नीचे की ओर ले जाने वाला मोड़ अवरोध उत्पन्न कर देता है जिससे बढ़ती हुई प्रत्याशाओं और गिरती हुई उपलब्धियों के बीच एक असहनीय दरार पैदा हो जाती है।

सापेक्षिक वंचन सिद्धान्त तर्कयुक्त है, परन्तु प्रमाणित नहीं है। युवाओं में वंचन की भावनाओं का अनुमान लगाना सरल है परन्तु उन्हें मापना कठिन है और इससे भी अधिक कठिन उसका एक कालावधि में नक्शा बनाना है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के कई कारणों में युवाओं में सापेक्षिक वंचन सुस्पष्ट रूप से गंभीर होते हुये भी केवल एक कारक है।

संसाधन संग्रहण सिद्धान्त (Resource Mobilization Theory) उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के कारणों के बजाय तकनीकियों पर बल देना जरूरी है। यह उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के प्रोत्साहित करने के लिये संसाधनों के प्रभावी उपयोग को महत्व देता है, क्योंकि सफल उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन के लिये प्रभावी संगठन और विवेकपूर्ण रणनीति की आवश्यकता होती है। संसाधन संग्रहण के सिद्धान्तवादी (युवा) उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों की सफलता अथवा असफलता के लिये (युवा) नेतृत्व, संगठन और रणनीति को मुख्य निर्धारक मानते हैं (ऑबरशेल, 1973; विल्सन, 1973, गेल्सन, 1975; मेकार्थी, 1979; वेल्श, 1981)। ये विद्वान स्वीकार करते हैं कि शिकायतों और असंतोष के बिना उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन नहीं के बराबर होंगे और कहते हैं कि इस असंतोष को एक प्रभावी उत्तेजनापूर्ण

आन्दोलन का रूप देने के लिये सगठन की आवश्यकता होती है।

ससाधन जिन्हें जुटाने की आवश्यकता है उनमें सम्मिलित हैं जनता का समर्थन, नियम/कानून जो उसे उत्तोलक शक्ति (leverage) प्रदान कर सकें, सगठन और अधिकारीगण जो सहायक हो सकें, और लक्ष्य समूह जिन्हें ये लाभ आकर्षित कर सकें। इनकी तुलना आन्दोलनात्मक गतिविधि, विरोध जिसका पूर्वानुमान लगाया गया है, दूसरी कठिनाईयाँ जिन्हें दूर करना है, और सचालन की रणनीति जिसे विकसित करना है से करनी होती हैं।

उदाहरण के लिये, असम में 1984-85 में 'आसू' का उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन उस समय हुआ जब केन्द्र द्वारा राज्यों को और अधिक अधिकार देने के लिये आन्दोलन जोर पकड रहा था और जब देश के विभिन्न भागों में लोग केन्द्रीय राजनीतिक नेताओं के बगलादेश के मुसलमानों को शरण देने की बुद्धिमत्ता को चुनौती दे रहे थे। इसी प्रकार अगस्त 1990 में देहली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान और मध्यप्रदेश में आरक्षण विरोधी उत्तेजनापूर्ण अन्दोलन पिछडी जातियों और वर्गों को केन्द्र सरकार की नौकरियों में 27 प्रतिशत आरक्षण देने के कारण उस समय हुआ जब बडी सख्या में लोग और विभिन्न राजनैतिक दल इस कार्य के लिये सरकार की आलोचना कर रहे थे और इस प्रकार युवाओं को जनता की ओर से सहानुभूतिपूर्ण सहयोग मिला। असतोष चारों ओर व्याप्त था और ससाधनों का सग्रहण पर्याप्त था।

ससाधन सग्रहण सिद्धान्त सब प्रकार के युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों की व्याख्या नही करता। यदि हम उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों का प्रत्ययकारी (persuasive), क्रान्तिकारी, और विरोधात्मक उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में वर्गीकरण करते हैं, तो ससाधन सग्रहण सिद्धान्त विरोधात्मक उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों पर ठीक नही बैठता। ये उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन सगठन और रणनीति के बिना ही सफल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त ससाधन सग्रहण सिद्धान्त का प्रमाण अधिकाशतया भ्रामक होता है और इसका गोल्डस्टोन (1980) जैसे विद्वानों ने विरोध किया है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह सम्भव है कि असतोष, व्यक्तिगत असमायोजन, और ससाधन सग्रहण सभी युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में शामिल होते हैं परन्तु अनिर्धारित अनुपातों में। इस प्रकार प्रत्येक सिद्धान्त तर्कनिष्ट है परन्तु प्रत्येक में स्पष्ट सबूत और प्रमाण का अभाव है। युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन में इतने चर (variables) सम्मिलित हैं कि सभवतया कोई भी सिद्धान्त कभी भी निर्णायक रूप से स्थापित नही हो पायेगा।

युवा नेतृत्व (Youth Leadership)

नेतृत्व का उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों एव आन्दोलनों की तीव्रता और दिशा पर भारी असर पडता है। युवा नेता के महत्वपूर्ण कार्य हैं (1) अपने समूह के सदस्यों के साथ उत्तरदायी, विश्वसनीय और भद्र सम्बन्ध स्थापित करना। वह उनकी भावनाओं को महसूस करता है और उनकी भाषा बोलता है। (2) सदस्यों के साथ उनकी समस्याओं और शिकायतों का जोशीला तकाजा करके एक भावात्मक घनिष्टता बनाना। वह उन्हें एक उद्देश्य से दूसरे उद्देश्य की ओर अपनी गतिविधि

करने के लिये प्रेरित करता है, और (3) लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये कार्यवाही का सुझाव देना। यह प्रदर्शनों, रास्ता रोको, घेराव, हडताल और कक्षाओं के बहिष्कार का रूप धारण कर सकता है। ये कार्य केवल उन्ही नेताओं द्वारा सफलतापूर्वक सपादित किये जा सकते हैं जिनमें कुछ विशेष गुण होते हैं और जिनकी कुछ पृष्ठभूमि होती है। चचल सरकार (1960) को विभिन्न विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी सघों के पदाधिकारियों और नेता बनाने वाले छात्रों के अध्ययन ने यह उदघाटित किया है कि सघ के नेता प्रमुख रूप से वे हैं (1) जिनके पास पैसा है, (2) जिनकी ऊची अकादमिक आकाक्षाए नही हैं, (3) जिनको कुछ राजनैतिक समर्थन है, (4) जो अच्छे वक्ता है, और (5) जो जोड-तोड कर सकते हैं।

उस्मानिया विश्वविद्यालय के छात्र नेताओं का साठ के दशक के प्रथम वर्षों में रोबर्ट शॉ (Robert Shaw) का अध्ययन सकेत देता है (अलबेच 90-95) कि (1) उनकी औसत पारिवारिक आय भारतीय परिवार की औसत आय से अधिक है; (2) उनमें से दो-तिहाई उच्च मध्यम वर्ग के हैं और एक-तिहाई उच्च वर्ग के हैं; (3) बहुत बडी सख्या में वे उच्च जाति के और ऊची सामाजिक स्थिति के परिवारों के हैं, (4) एक तिहाई (34.0%) ने विश्वविद्यालय में तीन वर्ष से कम व्यतीत किये थे, एक-तिहाई (33.0%) ने तीन से छह वर्ष, दसवें भाग (11.0%) ने छह से नौ वर्ष और पाचवे भाग (22.0%) ने नौ वर्ष से अधिक (विश्वविद्यालय में) व्यतीत किये थे, (5) तीन बटे पाच भाग (57 0%) अध्ययन में औसत से नीचे थे, लगभग एक चौथाई (23 0%) औसत, और केवल एक बटे पाच भाग (20.0%) प्रतिभाशाली थे; (6) दो तिहाई की कोई राजनीतिक आकांक्षाए नही थी परन्तु एक तिहाई की राजनीति में प्रवेश करने की और विधान सभा के चुनाव लडने की कुछ आकांक्षाए थी; (7) आधे से कुछ अधिक भाग (56%) किसी राजनैतिक दल की विचारधारा में विश्वास रखते थे, लगभग दसवां भाग (11.0%) स्वतत्र विचारधारा के थे; और (8) एक बटे पांच भाग नेताओं (20.0%) के पारिवारिक सदस्य या सम्बन्धी राजनीति में सक्रिय थे परन्तु चार बटे पांच भाग नेताओं (80.0%) के परिवार के किसी सदस्य का राजनीति की ओर कोई रुझान नही था। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि छात्र या युवा नेता सामान्यत. वे होते हैं जो आर्थिक रूप से अक्षम (handicapped) नही होते, शैक्षिक रूप से औसत होते हैं, राजनीतिक दृष्टि से महत्वाकाक्षी होते हैं और सामाजिक दृष्टि से विकृत नहीं होते।

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन और पुलिस (Youth Agitations and Police)

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों में पुलिस की भूमिका उस समय शुरु होती है जब युवा हिंसा में लिप्त होते हैं, जनसम्पत्ति को नष्ट करते हैं, प्रशासनिक अधिकारियों का घेराव करते हैं, बंध का आह्वान करते हैं, और दुकानदारों को बाज़ार बन्द करने के लिये बाध्य करते हैं, भूख हड़ताल पर बैठते हैं या रास्ता रोकते हैं और यातायात को बद करते हैं।

पारम्परिक तरीके जो साधारणतया पुलिस द्वारा इन स्थितियों में अपनाये जाते हैं वे हैं: अशांति फैलाने वालों को गिरफ्तार करना, दर्शकों को चलते रहने का आदेश देना, अश्रु गैस का

उपयोग करना और लाठी-चार्ज करना, अधिक पुलिस लाकर डर उत्पन्न करना, दंगाग्रस्त क्षेत्र के चारों ओर पुलिस का घेरा डालकर उसे अलग करना, लोगों को वहां से चले जाने का निर्देश देकर भीड़ को कम करना, और उत्तेजित समूह के महत्वपूर्ण भाग को जनता के समर्थन से वंचित करना। सामान्यतः पुलिस इन तरीकों से युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों को नियन्त्रित करने में सफल हो जाती है। यदि वह असफल रहती है तो अपनी ही हिचकिचाहट और अनिश्चयता के कारण रहती है या वह परोक्षरूप से दंगाईयों के प्रति सहानुभूति रखती है या वह असली उपद्रवियों को राजनैतिक अथवा अधिकारी वर्ग के हस्तक्षेप के कारण गिरफ्तार नहीं कर पाती।

पुलिस की आवश्यकताएं होती हैं (1) आन्दोलनकर्ताओं के साथ प्रारंभिक तालमेल बैठाना। आन्दोलन के स्थान पर पहुंचने के बाद उन्हें आन्दोलनकर्ताओं को सीधे ही धमकी नहीं देनी चाहिये या उन्हें पीटना शुरु नहीं कर देना चाहिये। इसके विपरीत उन्हें यह महसूस कराना चाहिये कि वे कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिये आये हैं, न कि बदला लेने के लिये, (ii) आन्दोलनकर्ताओं के साथ उनके नेता या सक्रिय सदस्यों से बात करके सम्पर्क स्थापित करना, (iii) 'एक का सबके साथ' संबंध, यानी नेता और अनुयायियों के बीच के संबंध तोड़ना, और (iv) तर्क का उपयोग नहीं करके और आन्दोलन कर्ताओं की बुद्धि से अपील करने के बजाय उनकी भावनाओं से अपील करनी चाहिये।

यह सब सम्भव हो सकता है (अ) स्थिति के जोड़तोड़ से प्रभावित करके या (ब) व्यक्तियों (आन्दोलनकारियों) को जोड़तोड़ से प्रभावित करके। ये जोड़तोड़ जैसा कि निम्नांकित मानचित्र में दर्शाया गया है सकारात्मक या नकारात्मक हो सकते हैं

मानचित्र 2

पुलिस द्वारा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनात्मक स्थिति को नियन्त्रण (जोड़तोड़ द्वारा)

जोड़तोड़ का स्वरूप	*स्थिति को जोड़तोड़ से प्रभावित करना*	*आन्दोलनकर्ताओं के इरादों को जोड़तोड़ से प्रभावित करना*
सकारात्मक	प्रलोभन (inducement)	अनुनय-विनय (Persuasion)
नकारात्मक	बल प्रयोग (coercion)	वचनबद्धता का उद्भावन (Activation of Commitment)

पुलिस इस प्रकार के उपाय तभी अपना सकती है जब वह (अ) तटस्थता, (ब) वफादारी, (स) नैतिक कर्तव्य, और (द) जिम्मेदारी में विश्वास करती हो। निर्णय लेने की स्थिति (situation) में निर्णय लेने वालों (पुलिस) का निर्णय निर्भर करता है (i) समस्या के समाधान के लिये स्वयं की सम्बद्धता (involvement) की सीमा और (ii) स्थिति (आन्दोलन) से निपटने में अनिश्चितता का बोध (perception of uncertainty), पूर्वोदाहरणों (दूसरे अवसरों के द्वारा इससे पहले प्रयोग में लाये गये) का अनुसरण करके या नये उपागमों का उपयोग करके। स्वयं की निम्न स्तर की सम्बद्धता और अनिश्चितता के भारी बोध के परिणामस्वरूप निर्णय लेने वाला (पुलिस अफसर) खराब (poor) निर्णय लेता है, जब कि स्वयं की ऊंचे स्तर की

सम्बद्धता और अनिश्चितता के कम बोध के परिणामस्वरूप वह सही और उपयुक्त (adequate) निर्णय लेता है।

खराब निर्णय = स्वयं की निम्न स्तर की सम्बद्धता + अनिश्चितता का भारी बोध

उपयुक्त निर्णय = स्वय की ऊचे स्तर की सम्बद्धता + अनिश्चितता का कम बोध

उस पुलिस अधिकारी में जो अपने नैतिक आस्थाओं या मूल्यों के आधार पर निर्णय नही लेकर बाहरी दवाब में आकर निर्णय लेता है, जो अपने निर्णय के मूल्याकन के लिये दूसरों पर निर्भर रहता है, जो अपने निर्णय से तभी सतुष्ट होता है जब कि दूसरे व्यक्ति सतुष्ट होते हैं, जो उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन को चुनौती नही मानता अपितु आये दिन का काम समझता है, जो उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन को नियन्त्रित करने में या समस्या के समाधान में अपना बहुत कम महत्व मानता है और जो कुछ निर्णय लेने से उनके परिणामों के डर से कतराता है, समस्या के समाधान करने और उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन को नियन्त्रित करने में स्वय की सम्बद्धता कम होगी।

निर्णय लेने वाले (पुलिस अफसर) का निर्णय लेने की स्थिति में अनिश्चितता का बोध उसके पूर्वानुभव के अभाव के कारण भी हो सकता है, यानि कि उसने पूर्व में ऐसी स्थिति का सामना ही नही किया हो, या वह सही मात्रा में सूचना प्राप्त नहीं कर पाया हो, अर्थात् जिस स्थिति के बारे मे निर्णय लेना है उसके बारे में बहुत कम सूचना हो, या स्थिति के उद्देश्य, समय और दिशा अपर्याप्त रूप से प्रभावित की गई हो, या पुलिस अफसर में स्थिति के मूल्यांकन करने या निर्णय के विकल्पों में सही विकल्प चुनने की क्षमता नही हो।

दुर्भाग्यवश हमारी सत्ता में राजनैतिक अभिजन वर्ग ने पुलिस तंत्र को सुधारने की ओर ठीक से कभी ध्यान नही दिया। आज अधिक आवश्यकता है इस क्षेत्र में अधिक व्यावसायिकता (professionalism) की (पी.डी शर्मा: 1977) जिसकी विशेषताएं होंगी, विकेन्द्रीकरण (कानून-हिंसा के प्रशासन को व्यवस्था बनाये रखने के प्रशासन से अलग करना), स्वायत्तता (राजनैतिक नेताओं और अफसरशाही प्रशासकों के अवांछित हस्तक्षेप को रोकना), विशेषज्ञता (उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों, बाल-अपराध, साम्प्रदायिक दगों आदि से निपटने के लिये पृथक पुलिस), आधुनिकीकरण (पुलिस को आधुनिक प्रौद्योगिकी एवं विकसित हो रही आधुनिक विचार-धारा से सुसज्जित करना), आधुनिक विचारधारा जो सुधारात्मक और सरक्षात्मक है, न कि रौब जमाने वाली और जवाबदेही (accountability) (जनता, विचारधारा व कानून के प्रति न कि सत्ता में राजनीतिज्ञों के प्रति)।

युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों को नियत्रित करना (Controlling Youth Agitations)

हमने युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों के प्रमुख कारणों और उनके महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विचार किया है। यह सही है कि स्पष्टतया, अशान्ति और उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों को उत्पन्न करने वाली शक्तियों का पूर्ण उन्मूलन नही किया जा सकता। तो फिर युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों को कैसे कम किया जा सकता है? क्या सिद्धान्त और शोध इन्हें नियन्त्रित करने के उपायों के

सुझाव दे सकते हैं ?

1. एक सामान्य युवा पुरुष व्यक्तिवादी, कल्पनाशील और प्रतिस्पर्द्धी होता है। वह केवल मार्गदर्शन चाहता है जिससे उसका जोश और उत्साह नियन्त्रित हो सके। लड़कों को रोष अभिव्यक्त करना सिखाना चाहिये। यदि एक व्यक्ति रोष को दबाता है तो उसे एक निकास ढूंढना पड़ता है जिससे उसे मन का गुबार निकालने का अवसर मिल जाये। मनश्चिकित्सक पारिभाषिक शब्दावली में इसका अर्थ होता है कि किसी भी व्यक्ति की संचित आक्रामक शक्ति, चाहे वह कुण्ठाओं से हो या मूल प्रवृत्ति के मनोवेगों से बनी हो, मुक्ति चाहती है। माता-पिता को भी चाहिये कि वे अपने बच्चों के भावात्मक तनाव को विभिन्न प्रकार की गतिविधियों (activities) में निर्मुक्त (release) करने के लिये प्रोत्साहित करें।

तथापि, कुछ विद्वानों ने इस शुद्धिकरणीय परिकल्पना (catharsis hypothesis) को अस्वीकार किया है। गीन और क्वैन्टी (Geen & Quanty 1977) जैसे सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि आक्रमण और उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन के शुद्धिकरण मत की पुष्टि नहीं हुई है। रॉबर्ट आम्स और उसके सहयोगियों की रिपोर्ट के अनुसार फुटबाल, कुश्ती और हॉकी के कनाडा और अमरीका के दर्शक मैच देखने के पश्चात पहले की तुलना में अधिक विद्वेष का प्रदर्शन करते हैं (आम्स एट एस, 1979, गोल्डस्टीन और आम्स, 1971, रसल, 1981, 1983)। अधिक सीधे शुद्धिकरण परिकल्पना के प्रयोगशाला परीक्षण में जैक होकेन्सन और उसके सहयोगियों (1961, 1962, 1966) ने पाया कि जब फ्लोरिडा राज्य विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को उनपर जिन्होंने उन्हें उत्तेजित किया था, प्रत्याक्रमण (counter-attack) करने की अनुमति दे दी गई तो उनकी उत्तेजना (उनके रक्तचाप के नापे जाने के अनुसार) शीघ्र ही सामान्य हो गई। बदला लेने से शान्त होजाने का प्रभाव केवल बहुत विशिष्ट परिस्थितियों में ही होना प्रतीत होता है-जबकि लक्ष्य उसको ही यातना देने वाला होता है, उसका एवजी (substitute) नहीं, और जब बदला लेना न्यायसगत है और लक्ष्य भयभीत करने वाला नहीं है, जिससे वह बाद में दोषी और चिन्तित महसूस नहीं करे। दूसरी ओर, दूसरे प्रयोगों में आक्रमण का परिणाम और अधिक आक्रमण पाया गया है। इसलिये यह आवश्यक है कि युवाओं की अपने गुस्से और आक्रमणकारी भावनाओं को दबाने में सहायता की जानी चाहिये। अपनी शिकायतों को उत्तेजनापूर्ण आन्दोलनों द्वारा व्यक्त करने के बजाय यह अधिक आवश्यक है कि अपनी भावनाओं को गैर-उत्तेजक तरीके से व्यक्त किया जाये और दूसरों को (विशेषत निर्णय लेने वाले और सत्ता के ठेकेदारों को) यह सूचित किया जाये कि किस प्रकार उनका व्यवहार और उनके निर्णय का दूसरों पर दुष्प्रभाव पड़ता है। कदाचित् यह कहना ठीक है कि

"जब तुम ऐसे निर्णय लेते हो तो हमें झुंझलाहट होती है और गुस्सा आता है और उत्तेजक तरीकों का प्रयोग करने का मन करता है"। लड़कों की भावनाएं इस प्रकार बदल जायें जिसके फलस्वरूप सत्ता में आसीन अभिजन आक्रमण को और अधिक बढ़ाने के स्थान पर उसमें सुधार/क्षतिपूर्ति कर दें। मेयर्स (1988 437) ने भी कहा है कि व्यक्ति आक्रामक हुए बिना भी आग्रही (assertive) हो सकता है।

2. प्रौढ़ों को यह तथ्य स्वीकार करना पड़ेगा कि युवा समस्याओं का समाधान उन्हें साथ लिये बिना नहीं हो सकता। इसलिये माता-पिता, प्राध्यापकों, एवं प्रशासकों को छात्रों/युवाओं का सहयोग प्राप्त करना पड़ेगा। युवाओं/छात्रों, माता-पिता, प्राध्यापकों, शैक्षणिक प्रशासकों, राजनीतिज्ञों और राजनीतिक दलों को युवाओं की समस्याओं/शिकायतों को समझने और उन्हें तर्क सगत दिशा-निर्देश देने के लिये सहयोग करना चाहिये।
3. ऐसे प्रयत्न किये जाने चाहिये जिससे छात्रों/युवाओं और प्राध्यापकों और शैक्षणिक प्रशासकों के दिन प्रतिदिन के संपर्कों में जो छोटे छोटे उत्तेजक (irritants) उत्पन्न होते हैं, वे हट जायें। प्रत्येक शिक्षा संस्था में एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जो छात्रों की शिकायतों की पहचान करे और उनका समाधान करे। इस प्रकार की व्यवस्थाओं को केवल समस्याओं के भड़क जाने के बाद ही निपटाने की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं करनी चाहिये परन्तु निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिये कि ऐसी घटनाएं जिनमें उलझनें उत्पन्न होती हैं, रोकी जा सकें। ऐसी संस्थाओं (छात्रों/प्राध्यापकों आदि) की निरंतर बैठकें होनी चाहिये। शिकायतों के समाधान के लिये प्रभावी उपाय हो सकते हैं: (i) वरिष्ठ अधिकारियों तक पहुंच, (ii) शिकायत पर कार्यवाही जहां तक संभव हो कम से कम समय में अथवा एक निश्चित समय में हो, (iii) मानीटर प्रणाली की स्थापना और प्राध्यापकों एवं अधीनस्थ प्रशासनिक स्टाफ के नियमित रूप से रिपोर्ट लेना, और (iv) कुलपति या डीन या जो व्यक्ति सत्ता में है उस के द्वारा अकस्मात निरीक्षण।
4. सभी राजनीतिक दलों में छात्रों के राजनीति में भाग लेने के संबध में एक आम आचार संहिता पर सहमति होनी चाहिये। यह उन्हें राष्ट्रीय विकास के भविष्य में दायित्वों का निर्वाह करने के लिये तैयार करेगी। इसका कोई अर्थ नहीं है कि पहले तो छात्रों को राजनीति से दूर रहने के लिये प्रेरित किया जाये और फिर उनसे आशा की जाये कि वे समाज निर्माण की प्रक्रिया में जोश से भाग लें।
5. इस प्रश्न पर कि शैक्षणिक प्रशासन की प्रक्रिया में छात्रों के हिस्सेदारी की सीमा और उसका स्वरूप क्या हो, शीघ्रातिशीघ्र निर्णय होना चाहिये।
6. शैक्षणिक संस्थाओं में पुलिस हस्तक्षेप के संबध में सुस्पष्ट नियम बनाये जाने चाहिये। एक विश्वविद्यालय पुलिस बल को गठित करने के बारे में भी सोचा जा

सकता है। हम विशेष रूप से छात्रों से और सामान्य रूप से युवाओं से निपटने के लिये एक विशेष रूप से प्रशिक्षित पुलिसकर्मी भी रख सकते हैं।

अब समय आ गया है कि इस विशाल युवा शक्ति को जो अब तक उपेक्षित रही है, विकास के लिये एवं सामाजिक अन्याय को हटाने के लिये और राष्ट्रीय सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये लगाया जाये। दमन और टकराव के वातावरण के स्थान पर आशा, विश्वास और आस्था के वातावरण की आवश्यकता को समझना चाहिये और युवाओं को संगठित करने की पहल करनी चाहिये।

REFERENCES

1. Altbach, Philip, "Students And Politics" in Lipset, S M *Student Politics*, Basic Books, New York, 1967
2. Altback, Philip G, *Turmoil and Transition – Higher Education and Students' Politics in India*, Lalvani Publishing House, Bombay, 1968.
3. Berkowitz, (ed), *Advances in Experimental Social Psychology*, (Vol. 10), Academic Press, New York, 1979
4. Blumer, Herbert, "Collective Behaviour" in Alfred McClung Lee (ed), *Principles of Sociology*, Barnes & Noble, New York, 1969
5. Dibona, Joseph, "Indiscipline and Student Leadership in an Indian University" in Lipset, *Student Politics, op cit*
6. Dollard, Doob, Miller, Mowrer and Sears, *Frustration and Aggression*, Yale University Press, New Haven, 1939
7. Feshbach, S , "Aggression" in Myres, *Social Psychology*, McGraw Hill Book Co , New York, 1970
8. Geen, R.G and Quanty, M B , *The Catharsis of Aggression An Evaluation of a Hypothesis* in Berkowitz (ed), *op cit* , 1977
9. Gore, M.S., *Education and Modernisation in India*, Rawat Publications, Jaipur, 1982.
10. Huffer, Eric, *The True Believer*, Harper & Row, New York, 1951
11. Horton Paul B and Hunt, Chester L , *Sociology*, (6th edn), McGraw-Hill International Book Company, Singapore, 1984
12. Myres, David G., *Social Psychology* (6th edn), McGraw Hill, New York, 1988.
13. Report of UGC Committee on *The Problem of Student Indiscipline in India*, UGC, Delhi, 1960

14. Sarker, Chanchal, *The Unquiet Campus: Indian Universities Today*, A Statesman Survey, New Delhi, 1960.
15. Seminar, *Crisis on the Campus*, April, 1963
16. Shah, B.V. *Sociological Bulletin*, March, 1968.
17. Sharma, P.D. *Indian Police: A Development Approach*, Uppal Publishing House, Delhi, 1977.
18. Myres, David G, *Social Psychology* (6th edn.), McGraw-Hill, New York, 1988.
19. Shaw, Robert, C., "Student Politics and Student Leadership in an Indian university. The Case of Osmania", in Altback's *Turmoil and Transition*, 1968.
20. Shils, Edward, "Indian Students: Rather Sadhus than 'Philistines'" in *Encounter*, Vol 17, September, 1961.
21. Stouffer et al, *The American Soldier Adjustment During Army life* (Vol 1), Princeton University Press, Princeton, 1949.
22. Turner, Ralph H. and Killan, Lewis M, *Collective Behaviour*, Prentice Hall, Englewood Cliffs, New Jersey, 1972.
23. Walsh, Edward J "Resource Mobilisation and Citizen Protext in Communities," in *Social Problems*, October, 1981.

बाल-दुर्व्यवहार और बाल-श्रम
Child Abuse and Child Labour

पिछले साढे चार दशकों के निरन्तर योजना, कल्याणकारी कार्यक्रमों, विधि-निर्माण और प्रशासनिक कार्य के उपरान्त भी भारत में अधिकाश बच्चे दुख और कष्ट में रह रहे हैं। अधिकाश परिवारों में माता-पिता उनकी उपेक्षा करते हैं, देखभाल करने वाले उन्हें मारते पीटते हैं, और मालिक उनके साथ लैंगिक दुर्व्यवहार करते हैं। यद्यपि बच्चों की यह भावात्मक, शारिरिक, और लैंगिक दुर्व्यवहार की समस्या काफी समय से बढ रही थी, फिर भी अपने देश में इसने समाजशास्त्रियों और मनश्चिकित्सकों का ध्यान पिछले चार-पाच वर्षों से ही आकर्षित किया है। जनता और सरकार ने अभी भी इसको गभीर समस्या नही माना है। जन-आक्रोश एव व्यावसायिक चिन्ता की रचनात्मक एव वास्तविक कार्य में परिणति होना अभी बाकी है।

बाल जनसख्या एव कार्यरत बालक (Child Population and the Working Children)

भारत में 68 5 करोड की कुल जनसख्या (1981 की जनगणना) का 38 4 प्रतिशत या 26 3 करोड़ बच्चे 15 वर्ष की आयु से कम थे। 5-15 वर्ष के आयु समूह में कुल जनसख्या का 26.2 प्रतिशत या 18 0 करोड बच्चे थे (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 25 जून, 1986)। 1991 में जब देश की जनसख्या बढ कर 84 39 करोड हो गई, तब बाल जनसख्या (0-14 वर्ष) भी अब लगभग 31 0 करोड है। बालकों का विभिन्न आयु समूहों में वितरण और 1991 से 2001 तक के प्रक्षेपणों का अनुमान सारणी 8 1 (शारदा, 1988 101) में दिया गया है।

निर्धन परिवारों के लाखों बच्चों को आर्थिक कारणो से बाध्य होकर श्रम बल (labour force) में सम्मिलित होना पडता है। भारत को ससार के कार्यरत बच्चों की सबसे अधिक सख्या के होने की सन्दिग्ध प्रतिष्ठा प्राप्त है (ससार के बच्चों के श्रम बल का एक चौथाई)। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में कुल बाल जनसख्या का 4 66% कार्यरत जनसख्या थी। विभिन्न आर्थिक गतिविधियों में 14 वर्ष की आयु से कम कार्यरत बच्चों की सख्या 1971 में 1.08 करोड़ से बढकर 1981 में 1 45 करोड हो गयी (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 25 जून, 1986)। एक अनुमान (उमा जोशी) के अनुसार हमारे देश में कार्यरत बच्चों की सख्या 4 4 करोड है-कुल जनसख्या की 5 5 प्रतिशत (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 24 अप्रैल, 1989)। 1983 में किये गये एक अनुमान के अनुसार भारत में 1 74 करोड़ कार्यरत बच्चे, थे जब कि आपरेशन्स रिसर्च ग्रूप (ओ आरजी), बडोदा के 1985 में किये गये सर्वेक्षण ने इसकी चौंकाने वाली 4 45

करोड़ की संख्या आंकी थी। योजना आयोग का हाल का मूल्यांकन है कि 1991 में कार्यरत बच्चों की संख्या 1.7 करोड़ है (हिन्दुस्तान टाइम्स, अगस्त 17, 1993)। फिर भी ओ.आर.जी. के जांच परिणामों ने विश्वसनीयता प्राप्त कर ली है क्यों कि वे देशव्यापी सर्वेक्षण पर आधारित हैं। श्रम मंत्रालय, भारत सरकार के तत्वावधान में एक अनुसंधान समूह द्वारा किये गये सर्वेक्षण ने यह बतलाया है (जोशी, 1986) कि देश के 10.23 करोड़ अनुमानित परिवारों में से 34.7 प्रतिशत परिवारों में कार्यरत बालक थे। 79 प्रतिशत कार्यरत बालक ग्रामीण क्षेत्रों में हैं। कार्यरत बालकों में से दो-तिहाई 12-15 वर्षों के आयु समूह में हैं और शेष 12 वर्ष से कम आयु वाले हैं।

सारणी 8.1

बालकों का विभिन्न आयु-समूहों में वितरण

(करोड़ों में)

वर्ष	आयु समूह 0-4		5-9		10-14		कुल बाल जनसंख्या
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	
1981	8.3	31.6	9.4	35.7	8.6	32.7	26.3
1991	11.0	35.7	10.3	34.3	9.5	30.0	30.8
2001	11 4	34.2	11.1	33.3	10.8	32.5	33.3

बालकों के नियोजन और उनके काम के घन्टों को नियंत्रित करने के लिये पहला अधिनियम जो बना वह था 1881 का फैक्ट्री एक्ट। बाल-नियोजन की न्यूनतम आयु को निर्धारित करने के लिये 1929 में एक आयोग नियुक्त किया गया। उसकी सिफारिश पर चाइल्ड लेबर एक्ट, 1933 पारित किया गया जिसने 14 वर्ष की आयु से कम बच्चों की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया। फैक्ट्री एक्ट, 1948 ने बाल श्रमिकों के लिये कुछ सुरक्षाएं प्रदान की। 1986 में लोकसभा ने चाइल्ड लेबर एक्ट (रेगुलेशन एन्ड प्रोहिबिशन) बनाया, जिसके द्वारा कुछ विशेष नौकरियों में बाल नियुक्ति की योजना बनाई गई और जोखिमी रोज़गारों में काम की शर्तों को नियन्त्रित किया गया। जुविनाइल जस्टिस एक्ट, 1986, जिसने विभिन्न राज्यों एवं केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों में विद्यमान 25 बालकों के अधिनियमों (चिल्ड्रन्स एक्ट्स) का स्थान लिया और जो 2 अक्टूबर, 1987 से प्रभाव में आया, में बाल-दुर्व्यवहार को रोकने के लिये, बालकों की सुरक्षा एवं देख-भाल के लिये, ससाधनों के संग्रहण के लिये, शिक्षा की सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिये, और उपेक्षित बालकों के प्रशिक्षण और पुनर्निवास के लिये, सलाहकार बोर्डों के गठन और स्टेट चिल्ड्रन फन्ड्स को स्थापित करने का प्रावधान है। परन्तु इन सब उपायों के बावजूद बच्चों की नियुक्ति, उत्पीड़न, और उनके प्रति दुर्व्यवहार जारी हैं।

बाल दुर्व्यवहार की अवधारणा और प्रकार (Concept and Types of Child Abuse)

कुछ अध्ययनों ने 'बाल दुर्व्यवहार' को यह कह कर कि "वे बच्चे जिन्हें गंभीर शारीरिक चोट दुर्घटना के कारण न लगकर जानबूझ कर लगाई गई है" (गार्डन और प्रे,1982 15) सीमित कर दिया है। सामाजिक वैज्ञानिकों ने इस परिभाषा को स्वीकार नही किया है क्यों कि 'गम्भीर' शब्द में अस्पष्टताएं हैं और शारीरिक चोट में विविधतायें हैं। कैम्प और उसके सहयोगियों ने (1978) बाल दुर्व्यवहार की परिभाषा इस प्रकार की है 'यह स्थिति उनसे सम्बंधित है जिन्हें जानबूझ कर शारीरिक आक्रमण के द्वारा जख्मी किया गया है'। इस परिभाषा का क्षेत्र सीमित है क्यों कि यह दुर्व्यवहार को केवल उन शारीरिक हिंसा के कार्यों तक सीमित करती है जिससे नैदानिक (diagnostic) चोट लगती है। इस प्रकार बच्चों की उपेक्षा और दुर्व्यवहार के कार्य जो चोट नही पहुचाते, परन्तु इसके बराबर ही हानिकर होते हैं इस परिभाषा में सम्मिलित नही किये जा सकते। बाल दुर्व्यवहार की किसी परिभाषा को मान्य नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसमें बच्चे की मानसिक चोट, उपेक्षा और उसके साथ किया गया दुर्व्यवहार सम्मिलित नही हो। बर्गास (1979: 143) ने बाल दुर्व्यवहार की और अधिक व्यापक परिभाषा दी है। उसके अनुसार बाल दुर्व्यवहार ऐसे किसी भी बच्चे की ओर सकेत करता है "जिसे माता-पिता, अभिभावकों और मालिकों के कार्यों और अनाचरण की त्रुटियों के कारण बगैर दुर्घटना के शारीरिक और मनोवैज्ञानिक चोट लगती है . "। मौखिक दुर्व्यवहार, शारीरिक हिंसा की धमकिया और अत्यधिक शारीरिक दड, जिन्हें डाक्टरी उपचार की आवश्यकता नही होती, को भी बाल दुर्व्यवहार की इस परिभाषा में सम्मिलित किया गया है।

बाल दुर्व्यवहार को सामान्यतया तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जाता है शारीरिक, लैंगिक और भावात्मक। प्रत्येक में अभिज्ञेय (recognizable) विशेषताएं हैं। इरविग स्लोन (1983:2-3) द्वारा बतलाये गये स्कूल जाने वाले आयु के बच्चे में शारीरिक दुर्व्यवहार के सूचक (indicators) हैं चोटें, जलाये जाने के कारण छाले, हड्डी का टूट जाना, जख्म और खरोंच, उदर (पेट) की चोट, और आदमी के काटे के निशान। शारीरिक दुर्व्यवहार के व्यवहारवादी सूचक हैं, दुर्व्यवहार से ग्रसित बच्चा प्रौढों के सम्पर्क से चौकस रहता है, वह जब दूसरे बच्चे रोते हैं आशंकित हो जाता है, वह व्यवहार में आक्रामकता दिखाता है, वह माता-पिता/देखभाल करने वालों से भयभीत लगता है, और वह घर जाने से डरता है या घर जाने के समय पर रोता है।

बाल लैंगिक (sexual) दुर्व्यवहार की परिभाषा इस प्रकार की गई है "यह आश्रित और अपरिपक्व बच्चों का उन यौन सम्बधी गतिविधियों में लिप्त होना है जिन्हें वे पूरी तरह नही समझते और जिसके लिये वे जानकार सहमति नही दे सकते" (हेनरी केम्प, 1978 127)। जुविनाइल जस्टिस एक्ट, 1986 बाल लैंगिक दुर्व्यवहार को ऐसे परिभाषित करता है "यह एक बालक (लड़कियों के लिये 18 वर्ष से कम और लड़कों के लिये 16 वर्ष से कम) और एक प्रौढ

[जो कि अपने शिकार (victim) से आयु में काफी बड़ा है और बालक पर शक्ति जमाने और उस पर काबू पाने की स्थिति में है, या वह एक जानकार या अनजान व्यक्ति भी हो सकता है] के बीच पारस्परिक क्रिया है जिसमें बालक का इस्तेमाल अपराधकर्ता या अन्य व्यक्ति के लैंगिक उत्तेजन के लिये किया जा रहा है"। लैंगिक दुर्व्यवहार अक्सर शारीरिक सूचकों से ही पहचाना नहीं जाता। प्राय बालक किसी विश्वसनीय व्यक्ति (मां, मित्र, पड़ौसी, सबंधी या बहिन) को बतलाता है कि वह यौन-आक्रमण का शिकार हुई/हुआ है। फिर भी लैंगिक दुर्व्यवहार के कुछ शारीरिक चिन्ह ये हैं (स्लोन इरविंग,1983 6)· चलने या बैठने में कठिनाई, फटे हुए, दाग लगे हुए या रक्तरंजित अन्दर के कपडे, दर्द या खुजली की शिकायतें, चोटें या रक्तस्राव, और गर्भ (किशोरावस्था में)। लैंगिक दुर्व्यवहार के कुछ व्यवहारिक सूचक भी होते हैं। लैंगिक दुर्व्यवहार से पीड़ित बच्चा गैर मिलनसार या मद बुद्धि वाला दिखाई दे सकता है, उसके अपने समकक्ष बच्चों के साथ कम सबध हो सकते हैं, वह गतिविधियों में भाग लेने के लिये अनिच्छुक हो सकता है, उसका अपराधी व्यवहार हो सकता है, वह घर से भाग सकता है, या वह यौन सबधी बेतुका या असाधारण ज्ञान प्रदर्शित कर सकता है।

भावात्मक दुर्व्यवहार से तात्पर्य बच्चे की उपेक्षा और उसके साथ खराब सलूक है। 'उपेक्षा' की सही परिभाषा करना कठिन है क्योंकि उसमें बच्चों की शारीरिक, भावात्मक, नैतिक और सामाजिक आवश्यकताओं की अवहेलना हो सकती है। शारीरिक उपेक्षा की परिभाषा है: "सामान्य जीवन की परमावश्यक वस्तुओं, जैसे, खाना, कपडा, मकान, ध्यान और देखरेख को मुहैया कराने में और आक्रमण से बचाव करने में असफलता"। भावात्मक उपेक्षा में प्रेम और अनुराग की अभिव्यक्ति का अभाव और जानबूझ कर सम्पर्क और प्रशंसा नहीं करना दोनों आते हैं। नैतिक उपेक्षा से अभिप्राय ऐसी स्थितियों में जोखिम में डालना (exposure) है (मद्यव्यसन, अश्लीलता, अवैध यौन सबन्ध) जो नैतिक आचरण का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करती हैं जो समाज के प्रतिमानों से भिन्न हैं। सामाजिक उपेक्षा में बच्चे को प्रशिक्षित और अनुशासित नहीं करना सम्मिलित है (क्रेटकोसी,1979: 120)। इसी प्रकार भावात्मक उपेक्षा या दुर्व्यवहार का वर्णन ऐसे किया जा सकता है "बच्चे के साथ जिसकी आयु एक समाज विशेष द्वारा बच्चों की निर्धारित आयु से कम है (भारत में लड़कियों के लिये 18 और लड़कों के लिये 16), उस व्यक्ति द्वारा उपेक्षित व्यवहार करना जो ऐसी परिस्थितियों में उस बच्चे के लालन-पालन, देखरेख और कल्याण के लिये उत्तरदायी है जिनमें बच्चे के स्वास्थ्य और कल्याण को हानि पहुच सकती है या उसे खतरा हो सकता है"। यह परिभाषा 'अकारण की चूक' (omission) को दुर्व्यवहार मानती है, न कि 'कार्य की चूक' (commission) को। बच्चे की भावात्मक बदसलूकी में दोषारोपण करना, अनादर करना, अस्वीकार करना, सहोदर भाईयों और बहनों के साथ निरतर असमानता का व्यवहार करना और बच्चे के कल्याण में माता-पिता/अभिभावक की दिलचस्पी का निरतर अभाव सम्मिलित है। भावात्मक बदसलूकी विरले ही शारीरिक चिन्हों में प्रकट होती है। भावात्मक बदसलूकी के कुछ शारीरिक सूचक हैं: बोली (speech)

में विकृति, शारीरिक विकास में पिछड़ापन, और उन्नति करने में असफलता का सलक्षण (इरविंग स्लोन, 1983.87)। भावात्मक बदसलूकी की व्यवहार सबन्धी विशेषतायें हैं (मैक्सविल्ड डेनवर, 1961-6-7) आदतों में विकार (काट खाना, अगूठा चूमना), आचरण में विकार (ध्वंसात्मक प्रकृति, निर्दयता, चोरी करना), नाड़ी सम्बधी लक्षण (*neurotic traits*) (नींद के विकार, खेलने के प्रति अतर्बाधा), मनो नाड़ी सबधित (psycho-neurotic) प्रतिक्रिया [हिस्टीरिया, भय, मनोग्रस्ति (obsession), व्यवहार में उग्रता, अत्यधिक शिकायत करने वाला, अत्यधिक सहनशील या आक्रामक, बहुत अपेक्षा रखने वाला, अथवा बिल्कुल ही अपेक्षा नहीं रखनेवाला], भावात्मक और बौद्धिक विकास में पिछड़ापन, और आत्मदाह का प्रयास।

बाल दुर्व्यवहार का प्रभाव क्षेत्र (Incidence of Child Abuse)

जनता और सरकार की बाल दुर्व्यवहार की समस्या में दिलचस्पी नहीं होने के कारण, भारत में दुर्व्यवहार के प्रभाव को बतलाने के लिये कोई आकड़े एकत्रित नहीं किये गये हैं। अमरीका में गिल (1970) ने अनुमान लगाया है कि प्रतिवर्ष 25 और 41 लाख के बीच बाल दुर्व्यवहार की घटनाएं होती हैं। स्काट ने 1971 में यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि प्रति 1000 बच्चों में से एक और 12 के बीच बच्चे अपने माता पिता अथवा अभिभावकों के दुर्व्यवहार के शिकार होते हैं। भारत में निर्धनता, निरक्षरता और परिवारों के बड़े आकार को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रति 1000 बच्चों में से पाच और 15 के बीच बच्चों के साथ हमारे देश में माता पिता और मालिकों (employers) के द्वारा दुर्व्यवहार किया जाता है।

बाल-दुर्व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्याए (Theoretical Explanations of Child Abuse)

विद्वानों ने बाल-दुर्व्यवहार के उत्प्रेरक कारकों को समझाने के लिये कई व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। इनमें से महत्वपूर्ण हैं (i) मनोविकृति-सम्बन्धी व्याख्या, (ii) सामाजिक सास्कृतिक व्याख्या जिसमें सम्मिलित है (a) सामाजिक-परिस्थितिक व्याख्या, (b) सामाजिक निवासस्थानिक व्याख्या और (c) सामाजिक नियन्त्रण व्याख्या, (iii) ससाधन व्याख्या, (iv) सामाजिक-पारस्परिक प्रभाव व्याख्या, और (v) सामाजिक ज्ञान (learning) व्याख्या।

मनोविकृति-सम्बन्धी (Psychiatric) व्याख्या केम्प (1972), स्टील और पोलाक (1968), गेल्स (1973) और पार्क और कोल्मर (1975) जैसे विद्वानों ने प्रस्तुत की है। यह बाल दुर्व्यवहार को मानसिक रोग और व्यक्तित्व के दोषों या अन्त व्यक्ति असामान्यताओं (intra-individual abnormalities) से जोड़ती है। यह गाली गलौज करने वाले पिताओं के साथ अपने बचपन में हुए अनुभवों को व्यक्तियों के कमजोर व्यक्तित्व विकास और कम आत्मसयम से भी जोड़ती है (वुल्फ, 1987.45)। इस धारणा को कि व्यक्तित्व के विकार (*personality disorder*) बाल दुर्व्यवहार के लिये उत्तरदायी हैं, ऐसे विवरणों से

और समर्थन मिला है कि दुर्व्यवहार करने वालों में अक्सर आवेगी एवं/या असामाजिक कार्यों के करने की प्रवृति होती है जो कि रोकथाम की भूमिका से भी आगे बढ़ जाते हैं । इस व्याख्या के अनुसार एक पिता या माता अपने बच्चे के साथ दुर्व्यवहार करता/करती है क्यों कि उसकी भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति नही हुई है (जो कि असतोष, रोष या झुंझलाहट से प्रदर्शित होती है); वे बच्चे की आवश्यकताओं और क्षमताओं को स्वय (माता/पिता की) की आकाक्षाओं से सतुलित करने में असमर्थ होते हैं, या उनके गाली-गलौज (abusive) की या वंचित पारिवारिक पृष्ठभूमि का उनकी अपने बच्चों की देख-रेख करने की क्षमता पर दुष्प्रभाव पड़ता है (वुल्फ, 1987:45) ।

प्रारम्भ में इस व्याख्या को कई क्षेत्रों से समर्थन प्राप्त हुआ जिनमें विधायक (law-makers) और जनहित समूह सम्मिलित थे, क्यों कि इसमें दुर्व्यवहार का पूरा दायित्व सम्बद्ध व्यक्ति के सर मढ़ दिया था और समाज को शिक्षा, पर्याप्त आवास, परिवार सहायता कार्यक्रमों, रोज़गार के अवसरों आदि के अभाव (जो बाल दुर्व्यवहार के खतरे में योगदान देते हैं), के लिये अपनी जिम्मेदारी से दोषमुक्त कर दिया था । तथापि हाल में हुए अनुसन्धानों ने बाल दुर्व्यवहार में मनोरोग विज्ञान की भूमिका के होने का खण्डन किया है ।

सामाजिक-सास्कृतिक व्याख्या ने जो सत्तर के दशक में दी गई थी दृढ़तापूर्वक कहा है कि बाल दुर्व्यवहार बाहरी शक्तियों या सामाजिक-जनसांख्यिकीय चरों (variables) के कारण होता है । इस व्याख्या में तीन उप-व्याख्याए सम्मिलित हैं: सामाजिक-परिस्थितिक, सामाजिक निवासस्थानिक (habitability) और सामाजिक नियन्त्रण ।

सामाजिक-परिस्थितिक व्याख्या (Social Situational Explanation) के अनुसार दुर्व्यवहार और हिंसा दो कारणों से जन्म लेती हैं: संरचनात्मक तनाव और सांस्कृतिक प्रतिमान । जैसे जैसे सामाजिक संरचना जिसमें माता-पिता रहते है अधिक तनावपूर्ण होती जाती है (या अधिक तनावपूर्ण प्रतीत होती है) उतनी ही इसकी संभावना अधिक होती जाती है कि उत्तेजित करने वाली और तनावपूर्ण घटनाओं पर नियन्त्रण पाने के लिये पारिवारिक हिंसा उभरेगी । यदि झगड़े को निबटाने के लिये हिंसा को उपयुक्त तकनीक मानने को सांस्कृतिक समर्थन प्राप्त हो जाता है तो बच्चे के पालने में शारीरिक दड के उपयोग को आधार मिल जाता है । यदि पिता/माता को बचपन में कठोर शारीरिक दंड दिया जाता रहा है तो उसमें ऐसे व्यवहार को सामान्य मानने की अधिक प्रवृत्ति होगी और शारीरिक बल के विरुद्ध निरोध में कमी आ जायेगी (बांदुरा, 1973) । स्टीन मेट्ज और स्ट्रोस (1974) ने कहा है कि कम आय, बेरोज़गारी, एकाकीपन, अनचाहा गर्भ और पति/पत्नि/सास, ससुर से झगड़े ऐसे संरचनात्मक तनाव उत्पन्न करते हैं, जो झगड़े के निबटाने के लिये हिंसा को सांस्कृतिक समर्थन मिलने के साथ जुड़कर, घर पर बच्चों पर शक्ति का प्रयोग और हिंसा करने का कारण बनते हैं । ऐसे सामाजिक कारक की जो सामाजिक तनाव उत्पन्न करते हैं बात करते हुये गिल (1970) ने सामाजिक वर्ग और परिवार के आकार का उल्लेख किया है । लाइट (1973:556-598) ने बेरोज़गारी और गैरबेरिनो

(1977: 725-735) ने सामाजिक अलगाव का उल्लेख किया है।

फील्डमेन (1982) के अनुसार इस व्याख्या में प्रमुख समस्या यह है कि यह इस जाच-परिणाम का स्पष्टीकरण नही देती कि एक से ही वचन और प्रतिकूल परिस्थितियों में कई माता-पिता अपने बच्चों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं और अन्य नही करते।

सामाजिक निवासस्थानिक व्याख्या (Social habitability explanation) जेम्स गेरवेरिनो ने 1977 में प्रस्तुत की। इसके अनुसार बच्चे के साथ दुर्व्यवहार का स्वरूप उस पर्यावरण, जिसमें व्यक्ति और परिवार रहता है, की विशेषता पर निर्भर होता है या पर्यावरण में परिवार की सहायता के स्तर पर होता है। पारिवारिक सहायता जितनी कम होगी, उतना ही बच्चों के दुर्व्यवहार का खतरा अधिक होगा।

सामाजिक नियन्त्रण व्याख्या (Social control explanation) गेल्स द्वारा 1973 में प्रस्तुत की गई। इसके अनुसार माता-पिता अपने बच्चो पर हिंसा का प्रयोग इसलिये करते हैं क्योंकि उन्हें अपने ऊपर प्रहार का कोई डर नही होता, न ही गिरफ्तार होने का (जब तक कि कोई पड़ौसी इसकी पुलिस में शिकायत न करदे)। इस प्रकार हिंसा का प्रयोग उस समय किया जाता है जब (i) हिंसात्मक होने की कीमत प्रतिफल (reward) से कम होती है, (ii) पारिवारिक सबंधों पर प्रभावी सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में कीमत कम हो जाती है (एक सदस्य के दूसरे के प्रति हिंसक होने की), और (iii) परिवार के ढाचे पारिवारिक सबधों पर सामाजिक नियन्त्रण को कम कर देते हैं और इसलिये हिंसक होने की कीमत कम हो जाती है और प्रतिफल बढ जाते हैं (गेल्स और कोरनेल, 1985:121)। लेसलेट (1978:480) ने भी कहा है कि (अ) घर में असमानता सामाजिक नियत्रण और हिंसक होने की कीमतों को कम कर देती हैं, और (ब) परिवार में गोपनीयता पारिवारिक सबधों पर निष्पादित किया जानेवाले सामाजिक नियन्त्रण की मात्रा को कम कर देती है।

गेल्स (1973) ने कहा है कि कुछ प्रकार के बच्चों को—जैसे अपग, बदसूरत, अधिक अपेक्षा रखने वाले, असामयिक व्यसक—अपने माता-पिता द्वारा बदसलूकी का अधिक खतरा होता है। यह इसलिये होता है कि या तो वे अपने माता-पिता से अधिक अपेक्षाए (आर्थिक, सामाजिक या मनोवैज्ञानिक रूप से) रखते हैं या माता पिता को ऐसा महसूस होता है कि उनके समय और शक्ति की लागत के बदले वे (बच्चे) पर्याप्त तुष्टि (sufficent gratification) प्रदान नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार जब पिता को यह लगता है कि पितृत्व की कीमत प्रतिफल से अधिक है, तो वह अपने बच्चों के प्रति हिंसा का प्रयोग करता है। इवन नाई (Ivan Nye:1979) ने भी इसके पहले गेल्स की भांति पीटर ब्लाऊ के सिद्धान्त को बाल दुर्व्यवहार को समझाने के लिये मान लिया था। उसने कहा है कि बच्चों को पीटना ऐसे परिवारों में कम सामान्य है जिनके सबधी और/या मित्र पास में रहते हैं। नाई के प्रस्ताव को नया रूप देते हुये गेल्स और कार्नेल (1985) ने यह कहा है कि बच्चों को पीटना उस स्थिति में अधिक सामान्य है, जहां सबधी, मित्र और पड़ौसी (याने कि जो परिवार के सदस्य नही हैं) प्रतिदिन की

पारिवारिक आपसी बातचीत की प्रथा के अग बनने के लिये या तो उपलब्ध नही हैं या असमर्थ हैं या अनिच्छुक हैं और इस प्रकार वे सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक अथवा अनौपचारिक अभिकर्त्ता के रूप में कार्य नही कर पाते । गेल्स की यह भी मान्यता है कि पारिवारिक सबंधों में (यानि कि माता-पिता के रूप में कार्य करते हुए) जितनी लागत उनके अनुसार लगती है और उस लागत पर उनके अनुसार जितना लाभ मिलता है, इन दोनों में जितना अन्तर होगा, उतनी ही यह सभावना अधिक होगी कि वहा हिंसा होगी । यह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि पांच से सात वर्ष की आयु के बच्चे, 14 से 16 वर्ष की आयु के बच्चों की तुलना में क्यों अधिक शिकार हो सकते हैं । छोटे बच्चों के माता-पिता को बडे बच्चो के माता-पिता की अपेक्षा यह अधिक महसूस होता है कि वे अपने बच्चो पर अधिक व्यय कर रहे हैं और उसके अनुपात में उन्हें सही अर्थ में कम (प्रतिफल) प्राप्त हो रहा है ।

इस व्याख्या की इन कारणों से आलोचना की गई है (1) यह मानना असगत है कि माता-पिता के बच्चों से सबध लेनदेन पर आधारित है और बच्चों से माता-पिता का व्यवहार लाभ और लागत के आकलन से निर्धारित होता है । (2) यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो यह क्यों होता है कि सभी माता-पिता तो ऐसा आकलन नही करते, केवल कुछ ही करते हैं और सभी माता-पिता तो अपने बच्चों को नही पीटते, कुछ ही ऐसा करते हैं । क्या यह व्याख्या हिंसा के प्रयोग मे व्यक्तित्व के कारक को अनदेखा नही कर देती ? जो बच्चे काम करते हैं उन्हें (काम नही करने वाले बच्चों की तरह) उनके माता-पिता द्वारा क्यों पीटा जाता है, जब कि वहां पर तो माता-पिता के रूप में कार्य करने की एवज में उन्हें कुछ प्रतिफल की प्राप्ति होती है ?

ससाधन व्याख्या (Resource explanation) विलियम गुडे (William Goode) ने 1971 में दी । इसके अनुसार एक व्यक्ति का बल-प्रयोग इस पर आधारित है कि वह ससाधनों-सामाजिक, व्यक्तिगत और आर्थिक-पर कितना नियन्त्रण या अधिकार रखता है । जितने अधिक ससाधन एक व्यक्ति के पास होंगे, उतना ही कम बल प्रयोग को वह खुले रूप से करेगा । इस प्रकार यदि एक पिता अपने परिवार में प्रभुत्वशाली व्यक्ति बनना चाहता है परन्तु वह अधिक शिक्षित नही है, छोटी नौकरी करता है, उसकी आय कम है और उसमें अन्तर-वैयक्तिक निपुणताओं का अभाव है, तो वह अपनी प्रभुत्वशाली स्थिति को बनाये रखने के लिये अपने बच्चों के साथ हिंसा का प्रयोग कर सकता है ।

सामाजिक पारस्परिक क्रिया व्याख्या (Social interactional explanation) बर्गेस (Burgess) ने 1979 में प्रतिपादित की । यह बाल-दुर्व्यवहार के कारणों का अध्ययन भूतपूर्व घटनाओं (उदाहरणतया, बचपन में दुर्व्यवहार की अवस्थिति) और वर्तमान की घटनाओं (उदाहरणतया बहुत अपेक्षा रखने वाला बच्चा) दोनों में व्यक्ति के परिवार और सामाजिक कारकों के पारस्परिक प्रभाव की भूमिका से करती है । माता-पिता की शिक्षा प्राप्ति का इतिहास, अलग-वैयक्तिक अनुभव और अन्तर्भूत क्षमताओं को पहले से ही प्रवृत्त (pre-disposing) विशेषताएं माना जाता है जो कि अपमानजनक सरूप में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं । इस

व्याख्या में दुर्व्यवहार के होने में बच्चे की अन्तर्निहित भूमिका को भी स्वीकार किया जाता है। जिन परिस्थितियों में बच्चे का पालन पोषण होता है और जिन तरीकों का माता पिता द्वारा प्रयोग किया जाता है, विशेषकर उनके दड देने के तरीकों का, यह बतलाने में सहायक हो सकते हैं कि कुछ विशेष निर्धारित परिस्थितियों में कुछ प्रौढ व्यक्ति अपमानजनक व्यवहार करने के लिये पहले से ही क्यों प्रवृत्त होते हैं।

यद्यपि यह व्याख्या परिवार या समाज के सदर्भ में दुर्व्यवहार करने वाले पिता के वर्तमान के व्यवहार से विशेषरूप से सबधित है, फिर भी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाए (mechanisms), जैसे घटनाओं का बोध और व्याख्यायें (perceptions and interpretations of events), भी पिता-बच्चे की पारस्परिक क्रियाओं को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण कारक माने जाते हैं (वुल्फ, 1987 49)। पारस्परिक क्रियाओं वाली व्याख्या इस प्रकार आवश्यकरूप से केवल दृष्टिगोचर व्यवहार (observable behaviour) तक ही सीमित नही है (जैसे माता-पिता की आलोचनाए या गुस्से के प्रदर्शन) परन्तु इसमें सज्ञानात्मक (*cognitive*) एव प्रभावशाली प्रक्रियाए (जैसे बुद्धि, मनोवृत्तिया) भी सम्मिलित हैं, जो कि व्यवहार में परिवर्तनों के लिये माध्यम के रूप में कार्य (mediate) कर सकती हैं।

सामाजिक ज्ञान (social learning) सिद्धान्त माता पिता के रूप में कार्य करने के पाण्डित्य स्वरूप (learned nature of parenting) पर और इस तथ्य पर कि कई पिताओं में बच्चे के पालन के अत्यधिक जटिल कार्य को करने के लिये समुचित ज्ञान और प्रवीणता का अभाव होता है, बल देता है। उनमें (बच्चों के पालन के लिये) मूलभूत प्रवीणताओं का ही केवल अभाव नहीं होता अपितु तनाव से निपटने के लिये आवश्यक रणनीतियों का भी अभाव हो सकता है जिसके कारण तनाव उत्तरोत्तर बढता चला जाता है और उसका सामना करने की क्षमता नहीं होती है।

दुर्व्यवहार के शिकार (The Victims of Abuse)

राजस्थान में 1990 में जी एस केवलरमानी द्वारा बाल दुर्व्यवहार पर दुर्व्यवहार के स्वरूप, विस्तार, सरूपों और कारणों का निर्धारण करने, दुर्व्यवहार करने वालों और उनके शिकारों की विशेषताओं का चित्रण करने और बच्चे की भूमिका पालन और विकास पर दुर्व्यवहार के प्रभाव का विश्लेषण करने के लिये एक आनुभाविक अध्ययन किया गया। उध्ययन 10-16 आयु समूह के 167 बच्चों पर केन्द्रित था। 167 मामलों में से जिनका अध्ययन किया गया 124 शारीरिक दुर्व्यवहार के मामले थे, 23 लैंगिक दुर्व्यवहार के, और 103 भावात्मक दुर्व्यवहार के थे। इसके अतिरिक्त कुल मामले जिनका अध्ययन किया गया, उनमें 61 7 प्रतिशत लडके और 38 3 प्रतिशत लडकिया थी। लडकों मे से 42.7 कार्यरत थे और 57 3 कार्यरत नही थे, लडकियों में 46 9 प्रतिशत कार्यरत थी और 53 1 प्रतिशत कार्यरत नही थी। साक्षात्कार किये गये बच्चों के आयु समूह थे 10-11 वर्षो वाले - 20 4 प्रतिशत, 12-13 वर्षो वाले - 25 7 प्रतिशत, 14-15 वर्षों वाले-24 6 प्रतिशत, और 16 वर्ष वाले 29 3 प्रतिशत।

तीन प्रकार के बाल-दुर्व्यवहार (अर्थात् शारीरिक, लैंगिक और भावात्मक) पर किये गये इस अध्ययन के महत्वपूर्ण निष्कर्ष निम्नांकित थे:

शारीरिक दुर्व्यवहार (Physical Abuse)

(1) लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की अधिक पिटाई होती है (अनुपात है, 1.3:1)। (2) स्कूल जाने वाले बच्चों को स्कूल नहीं जाने वालों की अपेक्षा शारीरिक दुर्व्यवहार का अधिक खतरा होता है। (3) अधिक आयु (14-16 वर्ष) के बच्चों के साथ कम आयु के बच्चों की अपेक्षाकृत अधिक शारीरिक दुर्व्यवहार होता है। (4) बच्चे जो कार्यरत नहीं हैं उन्हें कार्यरत बच्चों की तुलना में अधिक पीटा जाता है। (5) बच्चे जिनके साथ कभी-कभी (occasional) दुर्व्यवहार होता है (एक महीने में दो या तीन बार) और उन बच्चों का जिनके साथ बार-बार (frequently) दुर्व्यवहार होता है (हफ्ते में एक या दो बार) या इससे भी अधिक (very frequently) दुर्व्यवहार होता है (हफ्ते में तीन या चार बार) का अनुपात 1:5.5 है। (6) अधिकांश दुर्व्यवहार के शिकार बच्चे निर्धन परिवारों के होते हैं (लगभग 60.0%) जिनकी मासिक आय 500 रुपये से कम होती है। केवल छोटी सी संख्या (लगभग 2.0%) सपन्न परिवारों की होती है यानि कि जिनकी आय 1500 रुपये या अधिक प्रति माह होती है। यह इस बात को दर्शाती है कि निर्धनता और शारीरिक दुर्व्यवहार का महत्वपूर्ण सबंध है। (7) बड़ी संख्या में इन मामलों में शारीरिक दुर्व्यवहार करने वाले परिवार के सदस्य (पिता, माता, सहोदर भाई और बहन) होते हैं। (8) लैंगिक दुर्व्यवहार करने वाले दूसरे लिंग के बच्चों की अपेक्षा अपने ही लिंग के बच्चों के साथ अधिक सख्या में दुर्व्यवहार करते हैं। (9) पिताओं की अपेक्षा (40.0%) माताएं बच्चों से अधिक दुर्व्यवहार (60.0%) करती हैं। फिर भी पुरुषों का बच्चों के साथ दुर्व्यवहार महिलाओं की तुलना में अधिक कठोर होता है। (10) दुर्व्यवहार करने वाले माता-पिता आयु में अपने तीस या चालीस के दशकों में होते हैं जब कि सहोदर भाई बहन अपने बीस के दशक में। (11) बच्चों के पीटने के प्रमुख तरीके होते हैं, थप्पड़ और घूंसे मारना (40.0%), भिन्न-भिन्न चीजों से मारना (35.0%), लात मारना (19.0%), गला दबाना और/या घोंटना (10.0%), रस्सी से बांधना (3.0%), और बाल नौंचना (2.0%)। (12) अधिकांश मामलों में (85.0%) पीटने से बच्चे के चोट नहीं लगती। (13) बच्चे के साथ शारीरिक हिंसा विभिन्न किस्मों की होती है। रोजाना (routine) पीटना गैर-रोज़ाना (non-routine) पीटने से भिन्न होता है। पहले में तो माता-पिता यह सोचते हैं कि बच्चा इसी के 'लायक' (deserve) है और बच्चे भी सोचते हैं कि उन्होंने ही "निमन्त्रण दिया था"। दूसरे प्रकार का पीटना वह होता है जो बच्चे के द्वारा भड़काया जाता है। द्वैतीयक (secondary) हिंसा वह है जिसे माता और पिता में से एक न्यायपूर्ण और वैध समझता है परन्तु दूसरा (parent) अन्यायपूर्ण मानता है।

गैर-रोज़ाना हिंसा का इस प्रकार उपवर्गीकरण किया गया है: ज्वालामुखी (volcanic) हिंसा, मदिरा से संबंधित हिंसा, लिंग से संबंधित या ईर्ष्या-अभिमुख (jealousy oriented) हिंसा, अभिव्यंजक (expressive) हिंसा, सत्ता-अभिमुख या साधक (instrumental)

हिंसा, और पीड़ीत व्यक्ति द्वारा भडकाई (victim oriented) हिंसा । ज्वालामुखी-हिंसा वह है जिसका प्रयोग न तो वांछित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया जाता है और न कार्य को वैध करने के लिये । यह उस समय होती है जब दण्डित करने वाला (पिता, मालिक) बाहरी कारणवश उत्पन्न तनाव, जैसे नौकरी छूटना, या किसी के द्वारा अपमानित होना या नुकसान हो जाना, के कारण धैर्य खो बैठता है । मदिरा से संबंधित हिंसा वह है जहा हिंसा मदिरापान के कारण होती है । मदिरा आक्रामकता (aggresion) को भडकाती है, व्यक्ति को विवेकहीन (irrational) बनाती है और अन्तर्बाधा को समाप्त करने की अभिकर्ता (disinhibitory agent) बन जाति है जो कि हिंसा के मनोवेगों को उभारती है । इस प्रकार की हिंसा केवल पुरुष हिंसा होती है । ईर्ष्या-अभिमुख या लिंग संबंधी हिंसा वह है जहा एक लिंग का/की पिता/माता दूसरे लिंग के बच्चे को ईर्ष्या से प्रेरित होकर मारता/मारती है । सौतेले बाप का अपनी लडकी को मारना, या सौतेली मां का अपने लड़के को मारना इस प्रकार की हिंसा के उदाहरण हैं ।

अभिव्यंजक (expressive) हिंसा वह है जिसमें शारीरिक बल का प्रयोग ही अपने आप में उद्देश्य है । साधक (instrumental) या सत्ता-अभिमुख (power-oriented) हिंसा वह है जिसका उद्देश्य बच्चे को अपने व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिये ही प्रेरित करना तथा उन पर सत्ता जमाना भी है । पीड़ीत बालक द्वारा भडकाई हिंसा वह है जिसमें हिंसा का शिकार अपने उत्पीडन के लिये स्वय योगदान देता है, या तो अपने कार्यों से जो कि आक्रामक पिता द्वारा विचलित (deviant) समझे जाते हैं या उन (माता-पिता) का विरोध भडका कर ।

लैंगिक दुर्व्यवहार (Sexual Abuse)

(1) लड़किया लडकों की अपेक्षा लैंगिक दुर्व्यवहार की अधिक शिकार होती हैं (अनुपात 2.3 1) । (2) बडे अनुपात में लैंगिक दुर्व्यवहार के शिकार उस समय होते हैं जब वे 14 या 14 वर्ष से अधिक आयु के होते हैं । चौदह वर्ष से कम आयु के शिकार और 14 वर्ष से अधिक आयु के शिकार का अनुपात लगभग 1 5 है । (3) लिंग और दुर्व्यवहार करने वालों (abusers) की सख्या का घनिष्ट सबध है । लडकों के साथ लैंगिक दुर्व्यवहार प्राय एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है, जब कि साधारणतया लडकियों के साथ दुर्व्यवहार एक से अधिक व्यक्ति द्वारा किया जाता है । (4) बल प्रयोग अथवा शारीरिक क्षति बिरले ही होती है । पीडितों (victims) को दुर्व्यवहार करने वाले (abusers) मनोवैज्ञानिक ढग से अपने प्रति वफादारी या प्रेम उत्पन्न करके या अपने ऊपर निर्भरता जता कर फुसला लेते हैं । (5) लैंगिक दुर्व्यवहार के पीड़ित (sexually abused) साधारणतया निम्न सामाजिक आर्थिक परिवारों के होते हैं । (6) बच्चों के साथ लैंगिक दुर्व्यवहार का धर्म या जाति की सदस्यता से कोई सबध नही होता है । इसके कुछ प्रमाण हैं कि निम्न जाति की स्त्रिया उच्च जाति की स्त्रियों की अपेक्षा लैंगिक आक्रमण की अधिक शिकार होती हैं, परन्तु यह बचपन के लैंगिक दुर्व्यवहार की अपेक्षा बलात्कार से अधिक संबंधित हैं । (7) जहा पीड़ितों के आयु वितरण में अधिक एकरूपता (homogeneity) है, आक्रमणकारियों के आयु वितरण में अधिक विषमता (heterogeneity) है, जैसे, बहुत कम

आयु का, युवा, प्रारम्भिक मध्यवय, दीर्घ मध्यवय। (8) लगभग दो-तिहाई मामलों में (66.7%) दुर्व्यवहार करने वालों के पीड़ितों से द्वैतीयक संबंध होते हैं (मालिक, साथ काम करने वाले, अध्यापक, किरायेदार और परिचित व्यक्ति)। रक्त-संबंधी दुर्व्यवहार करने वालों की एक छोटी श्रेणी होती है। दूसरे शब्दों में अधिकतर बच्चे के साथ लैंगिक दुर्व्यवहार (93.0%) परिवार के बाहर होता है। (9) लडके साधारणतया 'रोजगार संबधित दुर्व्यवहार' के पीडित होते हैं जब कि लड़किया साधारणतया 'परिचय सबधित दुर्व्यवहार' की पीड़ित होती है। (10) रोजगार सबधित लैंगिक दुर्व्यवहार दो-तिहाई साथ में काम करने वालों द्वारा किया जाता है और एक तिहाई मालिकों द्वारा।

भावात्मक दुर्व्यवहार (Emotional Abuse)

(1) लडकियों की अपेक्षा लडकों के साथ अधिक भावात्मक दुर्व्यवहार होता है, अनुपात है 1 3 1। (2) कार्यरत बच्चों की उतनी ही उपेक्षा होती है जितनी कि अकार्यरत बच्चों की। स्कूल जाने वाले बच्चों के साथ स्कूल नही जाने वाले बच्चों की तुलना में अधिक दुर्व्यवहार होता है। भावात्मक दुर्व्यवहार के विभिन्न ढगों में से देख-रेख का निरन्तर अभाव 62.0 प्रतिशत है, अनादर किया जाना 50 0 प्रतिशत में पाया जाता है, झूठा दोषारोपण 33 0 प्रतिशत में, अध्ययन और कल्याण की चिन्ता का अभाव 28.0 प्रतिशत में, बहिष्करण 18.0 प्रतिशत में, और सहोदर भाई-बहिनों में असमान व्यवहार 17.0 प्रतिशत मामलों में। माता पिता का अनुपात जो बच्चों में 'बिल्कुल दिलचस्पी नही लेते', 'कम दिलचस्पी लेते हैं', और 'साधारण दिलचस्पी लेते हैं' क्रमश लगभग 5.3:1 है। (6) इन मामलों में बड़ी संख्या में (76%) जो माता-पिता बच्चे की उपेक्षा करते हैं, वे लोग होते हैं जिनकी आय कम होती है और दायित्व कई होते हैं, जो अधेड अवस्था के, निरक्षर या कम शिक्षित होते हैं; और जो कम प्रतिष्ठा के रोजगार करते हैं। (7) माता-पिता की बडी सख्या जो अपने बच्चों से दुर्व्यवहार करते हैं, उन लोगों की होती है जिनके व्यवहार की विशेषताएं आक्रामक, चिड़चिड़े और तानाशाही होने की होती है; और जिनमें निम्न-सम्मान और विरसता (alienation) की भावनाएं होती हैं और सामाजिक विशेषताओं से समानुभूति (empathy) करने की क्षमता का अभाव होता है।

बाल दुर्व्यवहार के कारण (Causes of Child Abuse)

बाल दुर्व्यवहार का प्रमुख कारण अधिकांशतया प्रौढ़ दुर्व्यवहार करने वालों (माता-पिता, मालिक ...) की अपने वातावरण (दोनों परिवार व कार्य स्थल) में अनुकूलन में असफलता या असमायोजन है, परन्तु कुछ सीमा तक इसके लिये वे प्रौढ़ भी होते हैं जो पारिवारिक सामाजिकरण के लिये उत्तरदायी हैं (केवलरमानी, 1990:199)। इस विषय पर चर्चा करने से पहले हम बाल-दुर्व्यवहार की तीन विभिन्न श्रेणियों के कारणों का अलग अलग से विश्लेषण करेंगे।

शारीरिक दुर्व्यवहार के कारण (Causes of Physical Abuse)

भिन्न भिन्न विद्वानों ने शारीरिक दुर्व्यवहार के भिन्न भिन्न कारण बतलाये हैं। कुछ विद्वान व्यक्तिगत अपराधकर्ताओं के मनोरोग-विज्ञान *(psycho-pathology)* को मुख्य कारक मानते हैं, दूसरे पारिवारिक अन्तक्रिया के मनो-सामाजिक रोग-विज्ञान को प्रमुख कारण समझते हैं और कुछ घोर तनाव की स्थितियों पर विशेष बल देते हैं। तथापि, केवलरमानी द्वारा राजस्थान में किया गया आनुभविक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि 'पारिवारिक तनाव सम्बन्धी कारक' बाल-दुर्व्यवहार की यथेष्ट कारण व्याख्या करते हैं। परिस्थिति के तनावों ने बच्चे के शारीरिक दुर्व्यवहार के प्रमुख कारणों के चार रुप इंगित किये हैं (अ) पति पत्नी के बीच संबध, (ब) माता-पिता और बच्चों के बीच संबध, (स) सरंचनात्मक तनाव, और (द) बच्चे द्वारा उत्पन्न किया गया तनाव।

बच्चों को पीटने के जो चार प्रमुख कारण पाये गये वे हैं बच्चों का निरन्तर माता पिता की आज्ञा नही मानना (35 0%), माता-पिता के बीच झगडे और बच्चे को बलि का बकरा बना कर पीटना (19 0%), बच्चे का अध्ययन में रुचि नही लेना (9 0%), बच्चे का अधिक समय घर से बाहर बिताना (8.0%), बच्चे को रोजी-रोटी कमाने से मना करना (7 0%), बच्चे का प्राय अपने भाई बहनों से लडना (5 0%), बच्चे का प्राय स्कूल से अनुपस्थित रहना (5 0%), बच्चे का अपने माता-पिता/अभिभावकों को अपनी संपूर्ण कमाई को देने से इंकार करना (5 0%), बाहर के व्यक्तियों से दुर्व्यवहार की शिकायतें सुनना (4 0%), और बच्चे का विचलित *(deviant)* व्यवहार अपनाना जैसे चोरी करना, सिगरेट आदि पीना (3 0%)। ये सब कारक (माता-पिता की अवज्ञा करना, माता-पिता के बीच झगडे, घर से बाहर अधिकांश समय बिताना, बच्चे का अध्ययन का कार्य मे रुचि नही लेना) अपराधकर्ताओं *(perpetrators)* के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के दोषों को इतना नही बतलाते जितना कि उन प्रमुख कारको को बतलाते है जिनके परिणामस्वरूप बाल दुर्व्यवहार होता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि अपराधकर्ताओं के व्यक्तित्व की विशेषताओं को यद्यपि नकारा नही जा सकता है, फिर भी पारिवारिक वातावरण और तनावग्रस्त परिवार की स्थितिया बच्चे को पीटने में अधिक निर्णायक कारक होते हैं।

लैंगिक दुर्व्यवहार के कारण (Causes of Sexual Abuse)

लैंगिक दुर्व्यवहार के चार कारण जो अधिकाशतया दिये जाते हैं वे हैं अपराधकर्ताओं की समंजन *(adjustment)* की समस्या, परिवार का विघटन, पीडित के विशेष गुण, और दुर्व्यवहार करने वालों की मनोवैज्ञानिक विकृतिया। तथापि, बाल दुर्व्यवहार पर केवलरमानी द्वारा किया गया अध्ययन लैंगिक दुर्व्यवहार की समस्या को एक 'प्रणाली मॉडल' (System Model) के द्वारा समझाना चाहता है और इसको ऐसा व्यवहार मानता है जो विभिन्न स्तरों पर कई कारकों से प्रभावित होता है, यानी, यह ऐसा व्यवहार है जो कि कारकों के एक पूंज (सेट) के

संचित (cumulative) प्रभाव का परिणाम है। वास्तव में इस अध्ययन ने प्रणाली माडल का उपयोग न केवल लैंगिक दुर्व्यवहार के अपितु शारीरिक और भावात्मक दुर्व्यवहार के अध्ययन के लिये भी किया। लैंगिक दुर्व्यवहार से संबधित चार चर (variables) थे: पारिवारिक पर्यावरण, पारिवारिक संरचना, व्यक्तिगत प्रवृत्तियां, और स्थितियों से संबंधित कारक।

पारिवारिक पर्यावरण के विश्लेषण ने दर्शाया कि परिवार में भीड़-भाड लैंगिक दुर्व्यवहार से संबंधित नहीं है, परन्तु माता पिता के झगडे और अन्तर्बाधाओं (inhibitions) की कमजोरी जिससे बच्चों की उपेक्षा होती है, परिवार में माता-पिता और बच्चे में स्नेहपूर्ण संबधों का अभाव जिससे बच्चे को बल और संरक्षण प्राप्त नही होता, जीविका उपार्जित करने वाले पुरुष सदस्य का मद्यपान, उसमें उत्तरदायित्वता का अभाव, बच्चों पर पर्याप्त नियन्त्रण का अभाव, मां के किसी आदमी के साथ अवैध संबंध और उपपति का अपनी रखैल पर अधिकार, सौतेले पिता का आधिपत्य, और परिवार का सामाजिक अलगाव (यानी, परिवार का सामाजिक तंत्रों या समाज की गतिविधियों में भाग नही लेना) वे कारक थे जो लैंगिक दुर्व्यवहार में अधिक महत्वपूर्ण थे।

कार्य-स्थल का वातावरण भी लैंगिक उत्पीडन में योग देता है। केवलरमानी के अध्ययन में ऐसे कई मामले सामने आये जब छोटी आयु के पीडितों पर मालिकों ने आक्रमण किया और साथ काम करने वालों ने उनको उत्पीड़ित किया जब वे घर/कार्य-स्थल/स्कूल में बिल्कुल अकेले थे। कम आयु वाली लडकियों का अकेला होना अपराधकर्ताओं को अपराध करने के लिये उकसाता है।

भावात्मक दुर्व्यवहार के कारण (Causes of Emotional Abuse)

भावात्मक दुर्व्यवहार के चार महत्वपूर्ण कारणों की पहचान की जा सकती है: निर्धनता, माता-पिता का अपूर्ण नियंत्रण, और परिवार में स्नेहपूर्ण संबंधों का अभाव, माता-पिता द्वारा अपने बचपन में दुर्व्यवहार का सामना करना या बाल-दुर्व्यवहार का अन्तर-पीढ़ी हस्तान्तरण और माता-पिता का मद्यपान । केवलरमानी ने भी भावात्मक दुर्व्यवहार में इन कारकों को महत्वपूर्ण पाया। दुर्व्यवहार करने वाले माता-पिता में आधे से अधिक की आय कम थी (1000 रुपये प्रति माह से कम) और उन्हें 5 से 12 सदस्यों का भरण-पोषण करना पड़ता था। स्ट्रौस (1979) और डिरनर (1984) ने भी बाल-दुर्व्यवहार पर निर्धनता के प्रभाव को बतलाया है। फिर भी अब लोग यह विश्वास करने लगे हैं कि बाल-दुर्व्यवहार केवल एक निम्न एस.ई.एस. (सामाजिक-आर्थिक स्थिति) परिस्थिति नहीं है यद्यपि वह सर्वाधिक निम्न एस.ई.एस. समस्या है। माता-पिता का 'अपूर्ण' (deficient) नियन्त्रण केवलरमानी द्वारा 52.0 प्रतिशत मामलों में पाया गया और दुर्व्यवहार का अन्तरपीढ़ी हस्तान्तरण 79.0 प्रतिशत मामलों में। पेजलो (Pagelow: 1984) ने भी बाल दुर्व्यवहार में अन्तर-पीढ़ी हस्तान्तरण की भूमिका का उल्लेख किया है। तथापि, बर्गेस और यंगब्लेड (1985) ने इस विश्वास पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। अन्त में, केवलरमानी ने मदिरा को बाल दुर्व्यवहार में महत्वपूर्ण कारक नहीं पाया। उसने केवल

26.0 प्रतिशत पिताओं को मदिरा के कारण दुर्व्यवहार करना बताया, जिनमें से 44.0 प्रतिशत प्रतिदिन मदिरापान करते थे यानी उसके आदी थे। तथापि मेटलिन्स (1981) ने बाल दुर्व्यवहार में शराबी पिता की महत्वपूर्ण भूमिका बतलाई है।

बाल दुर्व्यवहार के कारणों का समाकलित मॉडल (Integrated Model of Causes of Child Abuse)

इस मॉडल का प्रमुख आधार वाक्य (premise) पिता, बच्चे और स्थिति में पारस्परिक निर्भरता है। यह मॉडल बाल दुर्व्यवहार में चार कारणों पर अधिक बल देता है (i) पारिवारिक वातावरण, (ii) संरचनात्मक तनाव, (iii) माता-पिता के व्यक्तिगत विशेष गुण, और (iv) उप-सांस्कृतिक सीख। मॉडल में पांच विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी होनी चाहिये (i) बाल विकास, (ii) सामाजीकरण की प्रक्रियाएं, (iii) परिवार में अन्तक्रिया, (iv) सीखने के सिद्धान्त, और (v) रोष, आक्रमण, घृणा आदि के स्रोत।

ये क्षेत्र बतलाते हैं कि

(अ) बाल दुर्व्यवहार को इससे समझा जा सकता है कि माता-पिता किस सीमा तक अपने बच्चों के साथ नकारात्मक अथवा अनुपयुक्त नियन्त्रण की रणनीतियां अपनाते हैं। सामान्य तरीकों का उपयोग (बच्चे की सब आवश्यकताओं की पूर्ति, पर्याप्त नियन्त्रण, निश्चित रूप से अनुशासित करना, और सुस्पष्ट संवाद (communication)) बच्चे के (सामाजिक, भावात्मक और बौद्धिक) विकास में सहायक होते हैं जब कि 'असामान्य' तरीकों (बच्चे की आवश्कताओं की उपेक्षा करना, अपर्याप्त नियंत्रण, नकारात्मक रूप से अनुशासित करना, अस्पष्ट संवाद और बल प्रयोग पर अत्यधिक विश्वास) से बच्चे का लालन-पालन करने से बच्चे के विकास में अन्तर्बाधा (inhibition) उत्पन्न होती है और यह बाल दुर्व्यवहार का कारण बनता है।

आधिकारिक पितृत्वता (authoritative parenting) (आदेश देने वाले माता-पिता), सत्तावादी पितृत्वता (जो कि अपनी सत्ता का पूर्ण आज्ञापालन चाहते हैं), कृपालु पितृत्वता (सभी इच्छाओं/रुचियों का तुष्टीकरण) और लापरवाही की पितृत्वता (उदासीन और अनुत्तरदायी होना और उचित ध्यान नहीं देना) बच्चे के लक्षणों और व्यवहार को प्रभावित करते हैं। सत्तावादी पितृत्व का रुप अत्यधिक हानिकारक होता है और बाल दुर्व्यवहार के लिये प्रेरक होता है।

(ब) तनाव असमायोजनपूर्ण प्रतिक्रियाओं को भी जन्म देते हैं क्यों कि दुर्व्यवहार करने वाले माता-पिता स्पष्ट रूप से सभी परिस्थितियों में हिंसात्मक नहीं होते। बेरोज़गारी और नौकरी से असन्तोष जैसे कारक भी एक व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं और यह बाल दुर्व्यवहार का कारण बनता है।

(स) माता-पिता के वैयक्तिक लक्षण जैसे अन्तर्निष्ठ विशेषताएं (चिड़चिड़ा स्वभाव, आत्मकेन्द्रित होना, कठोरता .), बच्चे को पालने की प्रवीणता का अभाव, और ससाधनों का अभाव (कम प्रतिष्ठा, कम शिक्षा और कम आय) भी बाल दुर्व्यवहार के कारण होते हैं।

(द) उप-सास्कृतिक सीख, यानी हिंसक घर में सामाजीकरण, या बचपन में हिंसा को झेलना भी बाल दुर्व्यवहार का एक और कारण है।

ये सब कारण आपस में मिलकर इसकी व्याख्या करते हैं कि किस प्रकार वे अपराधकर्त्ताओं के व्यवहार को प्रभावित करते हैं जो कि अन्तत· बाल-दुर्व्यवहार का कारण बनता है।

दुर्व्यवहार का बच्चों पर प्रभाव (Effects of Abuse on Children)

बच्चों पर दुर्व्यवहार (शारीरिक, लैंगिक और भावात्मक) के क्या प्रभाव पड़ते हैं? बोल्टन और बोल्टन (Bolton and Bolton·1987, 93-113) ने बच्चों पर दुर्व्यवहार के आठ सभावित प्रभावों की पहचान की है, अथार्त्, आत्मावमूल्यन, निर्भरता, अविश्वास (mistrust), पुनर्उत्पीडन, लोगों से गैर मिलनसारी (withdrawal), भावात्मक आघात (trauma), विचलित व्यवहार, अन्तर-वैयक्तिक समस्याएं। केवलरमानी का बाल दुर्व्यवहार पर अध्ययन बच्चों पर किये गये दुर्व्यवहार के पांच महत्वपूर्ण क्षेत्रों में प्रभाव को सामने रखता है।

पहला प्रभाव है स्वाभिमान का लोप होना। वे बच्चे जिनके साथ दुर्व्यवहार हुआ है अपने लिये एक नकारात्मक रुख अपना लेते हैं। एल्मर (1987) ने इसे 'आत्मावमूल्यन' (self-devaluation), कहा है जब कि एगलैन्ड, स्रूप और एरिक्सन (Egeland, Sroufe and Erickson, 1983: 460) ने इसे 'अल्प स्वाभिमान' (low selfesteem) कहा है। किनाई (1980· 686-696) ने इसको 'अल्प आत्मधारणा' कह कर चर्चा की है और जोर्थ और ओस्ट्रो (1982:71-72) ने इसे 'खराब आत्मछवि' (poor self-image) के नाम से पुकारा है। बच्चों के पास अपराधकर्ताओं (perpetrators) के दुर्व्यवहार को सहने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नही है। वह पिता जो उनके साथ दुर्व्यवहार करता है, उनका ही पिता है इसलिये वे घर से भाग नही सकते। इसी प्रकार उन्हें अपने अभिभावकों और मालिकों का विद्वेष सहना पडता है क्यों कि वे निर्धन और उन पर आश्रित होते हैं।

केवलरमानी ने अपनी उप-कल्पना कि बच्चे के साथ दुर्व्यवहार करने से उसका स्वाभिमान घट जाता है, के परीक्षण के लिये तीन सूचकों का उपयोग किया। ये सूचक थे: बच्चे का स्कूल में अपने कार्य का स्वयं मूल्याकन (स्कूल जाने वाले बच्चों का), कार्य करने वाले का अपने कार्य का मूल्यांकन (कार्यरत बच्चों के प्रकरण में), और घर पर मददगार के रूप में मूल्यांकन। उसने इन सूचकों मे संबंधित पाच प्रश्न बनाये और पाया कि: (i) उन बच्चों में से, जिनके साथ शारीरिक/भावात्मक दुर्व्यवहार हुआ, बड़ा प्रतिशत (75.0%) यह मानता था कि वे पढ़ाई में कमजोर हैं और/या परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये उन्हें एक से अधिक प्रयास करना

पडेगा । (ii) एक बडा प्रतिशत (84 0%) अपने को कार्य के प्रति उदासीन मानते थे और/या जिस कार्य में लगे हुए थे उससे असन्तुष्ट थे । (iii) एक बडा प्रतिशत (86%) अपने को रोजमर्रा के घरेलू कार्यों में अपने माता पिता/रखवालों के मददगार होने के स्थान पर अपने को कामचोर समझते थे । इन सबसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दुर्व्यवहार सदैव एक बच्चे के आत्माभिमान को घटाता है ।

दूसरा प्रभाव निर्भरता पर पडता है । यह पाया गया कि बच्चे की अपनी आवश्यकताओं के तुष्टीकरण (gratification) के लिये उसको निर्भरता माता-पिता/रखवालों से हटकर अध्यापकों के पास चली जाती है । निर्भरता को क्रियाशील बनाने के लिये तीन सूचक थे शारीरिक आवश्यकताओं (खाना, कपडा और स्वास्थ्य की देख रेख) का तुष्टीकरण, भावात्मक और सामाजिक सहारा और पैसा कमाने के लिये कही काम करने की आवश्यकता । यह पाया गया कि बाल पीडितों की एक बडी सख्या (50 0%) यह महसूस करती थी कि उनकी शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति सतोषजनक रूप से नही हो रही थी, (ii) पीड़ितों का एक बडा प्रतिशत (55 0%) अपने को अपने भावात्मक और सामाजिक सहारे के लिये दूसरों पर आश्रित मानता था, (iii) उत्पीडित बच्चों के एक बडे प्रतिशत (63 0%) को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नौकरी करने को बाध्य होना पडता था । फिर भी यह उल्लेखनीय है कि दुर्व्यवहार के उपरान्त भी उत्पीडित बच्चों की एक बडी सख्या दूसरों के स्थान पर अपने माता-पिता/रखवालों पर ही निर्भर थी ।

तीसरा प्रभाव विचलित व्यवहार पर है । यह पाया गया है कि दुर्व्यवहार का बडा प्रभाव बच्चे की सामाजिक-सास्कृतिक अपेक्षाओं के अनुपालन पर पडता है और उत्पीडित बच्चों की एक बडी सख्या को ऐसे काम करने के लिये विवश किया जाता है जो कि सामाजिक प्रतिमानों का उल्लघन करते है या जिन्हे 'विचलन' कहा जाता है । पाच सूचक जो केवलरमानी ने बाल दुर्व्यवहार के विचलन पर प्रभाव के अध्ययन के लिये उपयोग में लिये वे थे स्कूल से अनुपस्थिति, काम पर से अनुपस्थिति, मादक पदार्थों की लत, पैसा चुराना, और अपराधकर्ताओं के प्रति विद्वेषपूर्ण प्रतिकियाएं । अध्ययन ने बतलाया कि (i) भावात्मक और लैंगिक रूप से उत्पीडितों का एक बडा प्रतिशत (58 0% से 80 0%) प्राय स्कूल से अनुपस्थित रहता था, (ii) उत्पीडितों में से लगभग तीन चौथाई (74 0% से 77 0%) प्राय अपने काम से अनुपस्थित रहते थे, (iii) उत्पीडितों का लगभग दसवा भाग (8 0% से 10 0%) या तो मादक पदार्थों के आदी हो गये थे या उन्होंने सिगरेट पीना, तबाकू खाना, या मदिरापान प्रारम्भ कर दिया था, (iv) लगभग पाचवे भाग (18 0%) ने पैसा चुराना आरम्भ कर दिया था, (v) उत्पीडितों की एक बडी सख्या (48 0% से 78 0%) में अपराधकर्ताओं के प्रति विद्वेषपूर्ण और आक्रामक भावनाए थी । इन सब से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बाल दुर्व्यवहार उत्पीडितों में विचलन उत्पन्न करता है जो कि अपने आकार और प्रकार में तरह तरह का होता है ।

चौथा प्रभाव सामाजिक और अन्तर-वैयक्तिक समस्याओं पर होता है। केवलरमानी के अध्ययन ने बतलाया कि बाल दुर्व्यवहार से बच्चे में बातचीत करने और किसी चीज का सामना करने की योग्यता कम हो जाती है, घनिष्ठता और सामाजिक संबंधों को विकसित करने का अभाव होता है, अविश्वास, अलगाव और पारस्परिक क्रियाओं के परिवेश से अपने को अलग करने की भावनाएं उत्पन्न होती हैं। इन प्रभावों की जांच के लिये जो प्रश्न पीड़ितों से पूछे गये वे थे. उनकी खाली समय में गतिविधियां, माता-पिता और बहन-भाईयों से संबंध, लज्जित स्थितियां क्या होती हैं। तनाव के समय में अपने मित्रों को विश्वास में लेना, और उनकी अपने परिवारों को त्याग देने की अभिलाषा। यह पाया गया कि: (i) अधिकांश पीड़ित ऐसे स्थितियों से बचते हैं जिनमें आपस में बातचीत की संभावना होती है, यानी, वे अकेले रहना अधिक पसंद करते है और खाली समय अकेले ही व्यतीत करते हैं; (ii) पीड़ितों में से एक छोटा प्रतिशत ही अपने परिवार से संबंध विच्छेद करना या उसका परित्याग करना चाहता था; (iii) पीड़ितों के एक बड़े प्रतिशत (76.0%) के अपने माता-पिता/रखवालों और/या भाई-बहनों से उदासीन या द्वेषपूर्ण संबंध थे; (iv) पीड़ितों की एक छोटी संख्या (24.0%) के ही कोई मित्र/संबंधी थे जिन पर वे विश्वास कर सकते थे और जिनसे वे अपने दुख बांट सकते थे; (v) दुर्व्यवहार लज्जा उत्पन्न करता था परन्तु उसका दायरा दुर्व्यवहार के प्रकार के अनुसार भिन्न भिन्न होता था। ये सब विचार यह इंगित करते हैं कि बाल दुर्व्यवहार के पीड़ित सदैव कुछ विशेष प्रकार की सामाजिक एवं अन्तर-वैयक्तिक समस्याएं उत्पन्न कर लेते हैं।

अन्तिम प्रभाव (बाल दुर्व्यवहार का) पुनरुत्पीड़न पर है, यानी, जिस बच्चे के साथ दुर्व्यवहार हुआ है उसके साथ आवश्यक रूप से बार-बार दुर्व्यवहार होगा। अपने अध्ययन में केवलरमानी ने इस संदर्भ में जिन तीन सूचकों का उपयोग किया है वे हैं: दुर्व्यवहार की आवृत्ति, दुर्व्यवहार करने वाले अपराधकर्ताओं की संख्या, और बाल-दुर्व्यवहार के तरीकों और रूपों की संख्या। इन तीन सूचकों से संबंधित तीन प्रश्न थे: पीड़ित के साथ कितनी बार दुर्व्यवहार किया गया, क्या उसके साथ एक बार या एक से अधिक व्यक्तियों ने दुर्व्यवहार किया, और क्या उसके साथ एक ही प्रकार से दुर्व्यवहार हुआ या एक से अधिक प्रकारों से।

अध्ययन ने बतलाया कि: बच्चों के ऊंचे प्रतिशत (65.0% से 84.0%) के साथ नियमित रूप से या बार-बार दुर्व्यवहार किया गया। शारीरिक और भावात्मक दुर्व्यवहार (परन्तु लैंगिक नहीं) के पीड़ितों के एक बड़े प्रतिशत (53.0% से 58.0%) के साथ एक व्यक्ति से अधिक ने दुर्व्यवहार किया, और (iii) शारीरिक और भावात्मक दुर्व्यवहार के पीड़ितों के एक बड़े प्रतिशत (66.0% से 80.0%) के साथ एक से अधिक तरीकों से दुर्व्यवहार किया गया। इन सबसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस बच्चे के साथ जो एक बार दुर्व्यवहार से पीड़ित हुआ है न केवल बार बार और एक व्यक्ति से अधिक द्वारा दुर्व्यवहार होता है परन्तु उसको यह खतरा भी रहता है कि उसके साथ शारीरिक, भावात्मक और लैंगिक रूप से अधिक तरीकों से दुर्व्यवहार होगा।

बाल-श्रम की समस्या (The Problem of Child Labour)

बाल श्रमिकों का शोषण होता है, वे रोज़गार की खतरनाक परिस्थितियों के जोखिम उठाते हैं, और कई घंटे काम करने के बदले उन्हें अल्प वेतन दिया जाता है। शिक्षा को छोड़ने के लिये बाध्य होकर, अपनी आयु से कहीं अधिक दायित्वों का निर्वाह करते हैं, उस आयु में दुनियादार बनकर जब कि उनकी आयु के अन्य बालकों को अभी अपने माता-पिता की सुरक्षा के कवच को छोड़ना बाकी है, ये बच्चे कभी नहीं जान पाते कि बचपन क्या होता है। संविधान में यह प्रतिष्ठापित है कि

- चौदह वर्ष के कम आयु के किसी बालक को किसी फैक्ट्री में काम करने के लिये या किसी जोखम वाले रोजगार में नियुक्त नहीं किया जायेगा (धारा 24)।
- बाल्यावस्था और किशोरावस्था को शोषण और नैतिक एवं भौतिक परित्यक्ता से बचाया जायेगा (धारा 39(एफ))।
- संविधान के प्रारम्भ होने से 10 वर्षों की अवधि में सब बालकों को, जब तक वे 14 वर्ष की आयु को समाप्त नहीं कर लेते, राज्य निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करने का प्रयत्न करेगा (धारा 45)।

बाल-कार्य की प्रकृति (Nature of Child Work)

अधिकांश कार्यरत बच्चे ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्रित हैं। उनमें से लगभग 60.0 प्रतिशत दस वर्ष की आयु से कम हैं। व्यापार एवं व्यवसाय में 23 प्रतिशत समा जाते हैं, जब कि 36 प्रतिशत घरेलु कार्यों में। शहरी क्षेत्रों में उन बच्चों की संख्या जो केन्टीन और रेस्तरां में काम करते हैं या जो चिथड़े उठाने और माल की फेरी लगाने में लगे हुए हैं विशाल है, परन्तु अनभिलिखित (unrecorded) हैं। अधिक बदकिस्मतों में वे हैं जो कि जोखिम वाले उद्यमों में कार्यरत हैं। उदाहरण के लिये, तमिलनाडु में रामनाथपुरम जिले के शिवकासी में पटाखों और माचिस की इकाईयों में 45,000 बच्चे कार्यरत हैं। उत्तरप्रदेश में फिरोजाबाद के गिलास के कारखानों में 45,000 बच्चे और गलीचे के कारखानों में एक लाख बच्चे काम करते हैं। बच्चों की एक बड़ी संख्या जयपुर में बहुमूल्य पत्थरों की घिसाई की इकाईयों में, मुरादाबाद के पीतल के बरतनों के उद्यम में, अलीगढ़ में ताले बनाने की इकाईयों में, मर्कापुरा (आन्ध्रप्रदेश) और मंदसोर (मध्यप्रदेश) में स्लेट के उद्यम में, और जम्मू और कश्मीर, राजस्थान और कई अन्य प्रान्तों में 60 गलीचे बनाने के कारखानों में कार्यरत हैं। (भारत से हर वर्ष लगभग एक हजार करोड़ रुपयों के गलीचे निर्यात होते हैं)। उत्तरप्रदेश में मिर्जापुर जिले में गलीचे के उद्योग में काम करने वाले एक लाख बच्चों के युनीसेफ (UNICEF) द्वारा किये गये एक अध्ययन में पाया गया कि 71 प्रतिशत बच्चे भागने की कोशिश में पीटे जाते हैं या उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। इनमें से अधिकांश 5-12 आयु-समूह के बच्चे हैं। अध्ययन में हजारों बच्चे ऐसे पाये गये जिन्हें तीन तीन वर्षों तक वेतन नहीं दिया गया था। जिन्हें वेतन दिया भी जाता है उन्हें 15 घंटों के काम

के लिए (अथवा 3000 से 6000 गाठें बाधने के लिये) तीन रुपये से पाच रुपये तक दिये जाते हैं। काफी बच्चे टी बी., खून की कमी और आखों की बीमारी से पीडित भी पाये गये (हिन्दुस्तान टाइम्स, अक्टूबर 6, 1992)।

मिजोरम में पत्थर की खानों में काम करने वाले 7,000 बच्चे पाये जाते हैं। 1981 के आकडों के अनुसार इनकी सख्या केवल 3,000 थी जो 1991 में 7,000 हो गयी। पत्थरों की धूल से इनमें घातक बीमारियाँ पैदा होती हैं (हिन्दुस्तान टाइम्स, दिसम्बर 3, 1992)। पश्चिमी उत्तरप्रदेश में ग्रामीण महिलाओं पर विकास के प्रभाव के अध्ययन में पाया गया कि 245 लडकियों में से 83 लडकिया 6-11 आयु-समूह की (लगभग 33 5%) किसी आर्थिक गतिविधि में लगी हुई थी। 11-18 आयु-समूह की 52 0 प्रतिशत से अधिक लडकिया इसी प्रकार काम कर रही थी। यह अनुमान लगाया गया कि उत्तरप्रदेश में भदोई के आसपास दरी बुनने वाले 50,000 श्रमिकों में से 25 प्रतिशत बच्चे थे, जब कि मिर्जापुर में 20,000 श्रमिकों में 8,000 बच्चे थे। कश्मीर में गलीचे बुनने वाला उद्यम कमर तोडने वाले काम में छोटी लड़कियों को नियुक्ति देता है। इस क्षेत्र की उन्नति करती हुई कारीगरी (उत्कृष्ट हाथ की कशीदाकारी) में बच्चों को कई घटों तक एक ही मुद्रा में रहना पडता है और पेचीदे नमूनों पर आख गडाये रखना पडता है। इसके परिणामस्वरूप प्राय शारीरिक विकृतिया एवं आंखें क्षतिग्रस्त हो जाती हैं। सूरत (गुजरात) में और आसपास कई बच्चे जो किशोर-अवस्था में हैं, बडी सख्या में हीरे काटने के काम में लगे हुए हैं जिसका आखों पर बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ सकता है।

महानगरों के सर्वेक्षण सदमा पहुंचाने वाले रहस्योदघाटन करते हैं। बम्बई में सर्वाधिक बाल श्रमिक हैं। सहारनपुर में 10,000 बाल श्रमिक लकड़ी की नक्काशी के उद्यम में लगे हुए हैं और उन्हें 14 घटे प्रति दिन काम करने के उपरान्त केवल एक रुपया प्रतिदिन मिलता है। वाराणसी में 5,000 बच्चे रेशम बुनने के उद्यम में कार्यरत हैं। देहली में भी 60,000 बच्चे दो या तीन रुपये की प्रतिदिन की मजदूरी पर ढाबों, चाय के स्टालों और रेस्टेरां में काम करते हैं। खानों के क्षेत्र में श्रमिकों में 56 प्रतिशत 15 वर्ष से कम आयु के बच्चे हैं। अधिकाशतया बच्चों को अधिक पसद किया जाता है क्यों कि वे आज्ञापरायण होते हैं और इसलिये उनका शोषण किया जा सकता है।

बाल-श्रम विकट रूप से बधुआ श्रम से जुडा हुआ है। आन्ध्र प्रदेश में 21 प्रतिशत बधुआ मजदूरों में 16 वर्ष से कम आयु के बच्चे हैं। कर्नाटक में 10.3 प्रतिशत और तमिलनाडू में 8.7 प्रतिशत इस आयु समूह के हैं। एक अध्ययन ने दिखलाया है कि बंधुआ बनते समय कई मजदूर केवल पाच वर्ष के होते हैं। उड़ीसा में ऋण चुकाने का एक आम तरीका आठ से दस वर्ष की पुत्रियों को ऋणदाताओं को नौकरानी के रूप में बेचना है। देश के कई भागों में बधुआ पिता जो 40 वर्ष से अधिक आयु के हैं, अपने पुत्रों को बधुआ बना कर स्वय को मुक्त करते हैं।

असम के चाय के बागानों में जहा 12 वर्ष से कम बच्चों की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध है,

लडकियों को जो अपनी कार्यरत मा के लिये खाना लाती है प्रोत्साहित किया जाता है कि वे रुक जायें और काम में सहायता करें। खानों के कार्यों में बच्चे, अधिकाशतया लडके, महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आदमी खानों में खुदाई करते है और बच्चे कोयले को जमीन की ऊपरी सतह तक पहुचाते है। बारह वर्ष से कम की आयु के बच्चे ज्यादा पसन्द किये जाते है क्यों कि उनके कद के कारण वे सुरगों में बिना झुके चल सकते हैं। असगठित क्षेत्रों में बाल श्रमिकों को अधिक पसन्द किया जाना ज्यादा आम है क्यों कि इनको नौकर रखने से तुलनात्मक रूप से कानूनों से कपट से बचना अधिक सरल होता है। कारखानों के निरीक्षकों द्वारा निरीक्षण किये जाने के दौरान बच्चों को छुपा दिया जाता है, उनकी आयु उन्हें नौकरी के पात्र करने के लिये मनमाने ढग से बढा दी जाती है, या उन व्यक्तियों की, जो बालिग व्यक्ति की मजदूरी के पात्र हैं, मालिक कार्यों में चालाकी से कम उम्र दिखला देते हैं और इस प्रकार उन्हें अपने वैध हिस्से (मज़दूरी) से वंचित कर देते है।

बाल श्रम के कारण (Causes of Child Labour)

भारत जैसे देश में जहा जनसख्या के 40 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति घोर दरिद्रता की स्थितियों मे रह रहे हैं, वहा बाल श्रम एक बहुत ही पेचीदा विषय है। बच्चे दरिद्रता के कारण नौकरी करते हैं और उनकी कमाई के बिना (चाहे वह कितनी ही कम हो) उनके परिवारों का जीवन स्तर और भी गिर सकता है। उनमे से कईयों के तो परिवार ही नही होते या सहारे के लिये उनसे आशा नही कर सकते। ऐसी परिस्थितियों में काम का विकल्प बेरोज़गारी, गरीबी या इससे भी अधिक खराब विकल्प अपराध है।

मालिक अपने दोष की भावनाओं को दबाने के लिये बच्चों को नौकर रखने की बडी दिलचस्प सफाईया पेश करते हैं। वे कहते हैं कि नौकरी उन्हें भूखा मरने से रोकती है। यह उन्हें अपराध करने से रोकती है जो कि नौकरी नही होने की दशा में वे करते। अधिकारीगणों का यह कहना है कि बाल श्रम का सपूर्ण उन्मूलन दुष्कर है क्यों कि सरकार उन्हें पर्याप्त वैकल्पिक नौकरिया उपलब्ध नही करा सकती। सामाजिक वैज्ञानिक यह कहते हैं कि बाल श्रम का प्रमुख कारण निर्धनता है। बच्चे या तो अपने माता पिता की आय को बढाते हैं या परिवार में वे अकेले ही वेतनभोगी होते है। दूसरा कारण यह है कि बाल श्रम सस्ते मजदूर पाने के लिये निहित स्वार्थों द्वारा जानबूझ कर उत्पन्न किया जाता है। बाल श्रम के होने के लिये तीसरा कारण यह दिया जाता है कि इससे उद्यमों को लाभ होता है। उदाहरणार्थ, उत्तरप्रदेश का गलीचे का उद्यम, जिसमे एक लाख बच्चे नौकर हैं, 150 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा प्रतिवर्ष कमाता है। 1992 में निर्यात आय 300 करोड रुपये आकी गई।

बाल श्रमिको की काम करने की स्थितिया (Working Conditions of Child Labourers)

बच्चे हानिकर प्रदूषित कारखानों में काम करते हैं जिनकी ईट की दीवारों पर कालिख जमी रहती

है और जिनकी हवा में विषादजनक बू होती है। वे ऐसी भट्टियों के पास काम करते हैं जो 1400° सेल्सियस के तापमान पर जलती हैं। वे आर्सनिक और पोटाशियम जैसे खतरनाक रसायनों को काम में लेते हैं। वे कांच-धमन (glass blowing) की इकाईयों में कार्य करते हैं जहां इस काम से उनके फेफड़ों पर जोर पड़ता है जिससे तपेदिक जैसी बीमारियां होती हैं।

कार्यरत बच्चों में कई अपने परिवार में प्रमुख अथवा प्रधान वेतनभोगी होते हैं जो अपने आश्रितों के भरण पोषण के लिये सदैव चिन्तित रहते हैं। प्रवासी बाल श्रमिक जिनके माता पिता दूर किसी शहर अथवा गांव में रहते हैं, साधारणतया निराश रहते हैं। जब कारखाने पूरी तरह चालू रहते हैं तो उन्हें 500 रुपये प्रतिमाह तक मिल जाते हैं और कमाई हुई सम्पूर्ण राशि वे अपने अभिभावकों को दे देते हैं और वे अभिभावक उन्हें रात की पारी के लिये एक रुपया भी चाय के लिये नहीं देते। ऐसा भी कई बार होता है कि जब उनके बदन में दर्द होता है, दिमाग परेशान होता है, उनके दिल रोते हैं और आत्मा दुखी होती है, उस समय भी मालिकों के आदेशों पर उन्हें 15 घन्टे लगातार काम करना पड़ता है।

देहली, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश और महाराष्ट्र के कारखानों में जाने से यह पता लगता है कि बडी संख्या में बाल श्रमिकों की छातियां बैठी हुई हैं और हड्डियों के जाल पतले हैं जिस कारण वे दुर्बल दिखाई पडते है। वे चिथडों की गुड़िया की भांति लगते हैं जो बिना नहाये और दुर्बल हैं। वे मोटे और खराब सिले हुए कपड़े पहनते हैं। उनमें से कई के हाथों, बाहों और टांगों पर खाज होती है। कुछ के सिर मुडे होते हैं क्यों कि कदाचित उनकी सर की त्वचा पर कोई बड़ी छूत की बीमारी हो गई है।

बाल श्रमिकों की एक बड़ी सख्या छोटे कमरों में अमानुषिक स्थितियों और अस्वास्थ्यकर वातावरण में रहती है। इनमें से अधिकांश बच्चे बहुत ही निर्धन परिवारों के होते हैं। या तो वे स्कूल छोड़े हुए होते हैं या कभी भी स्कूल गये हुए नहीं होते। उन्हें बहुत कम मजदूरी मिलती है और वे अत्यन्त खतरनाक स्थितियों में काम करते हैं। जोखम भरी स्थितियां उन्हें नुकसान पहुंचाती हैं। बच्चों को फेंफडों की बीमारियां, तपेदिक, आंख की बीमारियां, अस्थमा, ब्रौन्काइटिस, और कमर के दर्द होते हैं। कुछ आग की दुर्घटनाओं में जख्मी हो जाते हैं। कई बीस वर्ष की आयु में ही नौकरी करने योग्य नहीं रहते। यदि वे जख्मी अथवा अपंग हो जाते हैं तो उन्हें मालिकों द्वारा निर्दयतापूर्वक निकाल दिया जाता है।

सरकारी उपाय और सुधार की राष्ट्रीय नीति (Government Measures and National Policy of Amelioration)

सरकार का मानना है कि बाल श्रम को बिल्कुल समाप्त करना सरल नहीं है। इसलिये उसने उनकी काम करने की स्थितियों को सुधारने का प्रयास किया है अर्थात् काम के घंटों को कम करना, न्यूनतम मजदूरी और स्वास्थ्य एवं शिक्षा को सुनिश्चित करना। यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय नीति के तीन प्रमुख उपादान हैं, यथा कानूनी कार्यवाही जो सार्वजनिक कल्याण पर केन्द्रित है, बाल श्रमिकों और उनके परिवारों के लिये विकास कार्यक्रम, और परियोजना पर

आधारित एक कार्य योजना। प्रारम्भ में दस परियोजनाए प्रस्तावित थी जो कि उन क्षेत्रों में लागू होनी थी जहां बाल श्रम व्यापक है। उनमें सूरत, जयपुर, फिरोजाबाद के कारखाने और मुरादाबाद का पीतल के बरतन बनाने का उद्यम सम्मिलित थे। इस नीति में यह भी सोचा गया था कि बाल श्रमिकों और उनके परिवारों के लिये जारी योजनाओं में उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, नौकरी की संभावनाओं का पता लगाने का भी प्रावधान है और सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का जो इन बच्चों को इतनी कम आयु में काम करने के लिये बाध्य करतीं हैं अध्ययन भी किया जाये। असंगठित क्षेत्रों में बच्चों के सरक्षण का अभाव है और असगठित क्षेत्र में ही (जैसे घरेलु नौकर, फेरी लगाने वाले, चिथडे उठाने वाले, कागज बेचने वाले, कृषि श्रमिक और ताले बनाने वाले उद्योग जैसे औद्योगिक कारबार भी) बच्चों का अधिक शोषण होता है।

मूल्यांकन (An Evaluation)

बाल श्रम (निषेध और नियमन) कानून, 1986 [चाइल्ड लेबर (प्रोहिबिशन एन्ड रेगुलेशन) एक्ट, 1986] के बनने से यह आशा जाग्रत हुई थी कि बाल श्रमिकों के भाग्य सुधरेंगे परन्तु इसने राज्य सरकारों या केन्द्र को सीमित रूप से भी किसी प्रकार का उद्देश्योन्मुखी कार्य करने के लिये प्रेरित नही किया। इस उदासीनता को श्रम मत्रालय द्वारा अगस्त, 1987 में घोषित कार्य योजना का दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम सिद्ध करता है, जब कि इस कार्य योजना को श्रम मत्रालय ने बाल श्रम को राष्ट्रीय नीति का एक अत्यावश्यक अग माना था। इस कानून को लागू करने के लिये बनाई गई योजना के अन्तर्गत दस परियोजनाए बनाई गई थी जिनमें फिरोजाबाद का काच उद्यम, मिर्जापुर में गलीचे बुनने का उद्यम, सूरत में हीरों की पॉलिश करने का उद्यम और शिवकासी में माचिस बनाने का उद्यम जैसे अतिसवेदनशील क्षेत्रों में कल्याण के निवेशों को उपलब्ध कराना था। उनमें से केवल एक प्रायोगिक आधार पर आरम्भ किया गया है। यह मानते हुए कि माचिस उद्योग में ही यह अकेली परियोजना जारी है जिसे कार्य योजना से जोड दिया गया है, यह कहना उपयुक्त होगा कि इस नीति की घोषणा ने राज्यों और केन्द्र के उत्तरदायित्व को प्रस्तुत करने से अधिक कोई उपलब्धि प्राप्त नहीं की है। यदि इस पायलट परियोजना का, जो लगभग पौने दो करोड़ के बाल श्रम के केवल 30,000 को लाभान्वित करने के लिये बनाई गई थी, यह भाग्य है तो इस कानून के अन्तर्गत शेष आने वालों का भाग्य असगठित क्षेत्र में अल्पवेतन पर परिश्रम कर रहे सख्या में इनसे कही अधिक श्रमिकों के भाग्य से कोई अधिक अच्छा नही होगा। ऊपरी तौर से कार्य योजना के बनाने के पीछे यह विचार था कि ऐसे क्षेत्रों में जहा बाल श्रम प्रचालित है, नये कानून और दूसरे कानूनों के सम्बधित प्रावधानों को जो बच्चों को प्रभावित करते हैं कार्यान्वित करके एक शुरुआत की जाये। अब इन परियोजनाओं की असफलता से ऐसा लगता है कि निर्धनता-विरोधी कार्यक्रमों को समाज के उन खण्डों तक ले जाने को, जहा से अधिकाश बाल श्रमिक आते हैं, योजना भी सफल नही हो पायेगी।

इस सीमा तक कानून का बनना अप्रभावी सिद्ध हो सकता है कि वह उन बच्चों को सुरक्षा प्रदान नही कर पाया जो बढती हुई ग्रामीण दरिद्रता और शहरी क्षेत्रों में जीवन सघर्ष के कारण

कमाई करने के लिये बाध्य होते हैं। कानून को इस युक्तियुक्त आधार वाक्य पर बनाया गया था कि क्योंकि निर्धनता के मूल कारण को रातोंरात मिटाया नहीं जा सकता तो उसका व्यावहारिक उपागम यह है कि बाल श्रम के व्यवसाय को नियंत्रित कर दिया जाये। इसके अनुसार 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों को सगठित खण्ड के चुनिन्दा क्षेत्रों में नौकर रखने की अनुमति प्रदान कर दी गई और उसके साथ-साथ सुरक्षा उपाय भी रखे गये, जिससे उनका शोषण नहीं हो सके और इसके साथ साथ उनकी शिक्षा एव मनोरंजन की सुविधाओं का भी प्रावधान किया गया। परन्तु इस कानून में एक बड़ी कमी प्रवर्तन मशीनरी से सबधित थी जिसकी ढिलाई के कारण मालिकों ने कानून के प्रावधानों की निडर होकर अवहेलना की। यद्यपि नये कानून के उल्लघन के लिये सजा को और अधिक सख्त कर दिया गया है, फिर भी बच्चों द्वारा मुहैया कराया गया सस्ता, नमनशील एव अपरिवादी (non-complaining) श्रमिक वर्ग इस प्रथा को जारी रखने में निहित स्वार्थ को उत्पन्न करता है। जब तक एक कार्यकुशल और सख्त निरीक्षण मशीनरी नहीं होगी, तब तक मालिकों को कानूनी प्रावधानों का उल्लघन करने से कोई नहीं रोक सकेगा क्यों कि उन्हें इसकी पूरी जानकारी है कि बाल श्रमिक स्वय उसको छिपाने में सहर्ष सहापराधी (accomplices) बन जायेंगे। कानून में दूसरी कमी यह है कि उसने इसकी परिभाषा नहीं की है कि कैसी नौकरियों को जोखिमभरी (hazardous) नौकरिया कहा जा सकता है और जिस समिति को अनुज्ञेय (permissible) नौकरियों की पहचान के लिये गठित किया गया है उसने अधिक प्रगति नहीं की है।

कानून की अनुपालना (compliance) सुनिश्चित करने का एक ही तरीका है कि इसके उल्लघन की सजा को और अधिक कठोर बनाया जाये, इसमें आकस्मिक परीक्षण का प्रावधान सम्मिलित किया जाये और एक अलग से निगरानी प्रकोष्ट का गठन किया जाये। मजदूरों के हितों के सबंध में सभी मालिकों के लिये यह अधिदेशात्मक (mandatory) कर दिया जाये कि वे एक बाल श्रमिक, चाहे वह कारखाने में काम करता हो या घरेलू नौकर हो, या दुकान पर काम करता हो के बौद्धिक, व्यावसायिक और शैक्षिक कल्याण के लिये कदम उठायेंगे।

इस संदर्भ में उन नीतियों का, जो भले ही विशेषरूप से बच्चों के लिये नहीं हों परन्तु जो निर्धनता और असमानता का उपशमन (alleviate) करती हैं, उल्लेखनीय और निर्णायक प्रभाव पड सकता है। इन नीतियों में कृषि सबंधी सुधार, रोजगार उत्पन्न करने वाली परियोजनाए, निर्धनों में उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रसार, अनौपचारिक क्षेत्र का उन्नयन (promotion), सहकारी समितियों का गठन और सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रम सम्मिलित हो सकते हैं। कानून और नियमों की अनुपालना में प्रभावी प्रवर्तन (enforcement) मशीनरी को सहायता करनी चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि श्रम-निरीक्षण और इससे सबंधित सेवाओं को सुदृढ बनाया जाये। आयु सत्यापन (verification) को सुविधाजनक बनाने के लिये राजकीय अधिकारी वर्ग को जन्म पजीकरण की एक प्रभावी प्रणाली को जारी करना चाहिये। सब मालिकों के लिये यह अधिदेशात्मक कर देना चाहिये कि वे ऐसे रजिस्टर और

कागजात तैयार करें जिनमें सभी नौकर बच्चों के नाम और आयु हो।

बच्चों को मजदूरी करनी पड़े यह दुख की बात है, परन्तु यह पूर्णतया अस्वीकार्य है कि उन्हें ऐसी स्थितियों में काम करना पड़े जो उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिये खतरनाक हैं। बाल श्रम की समस्या के समाधान को तब तक के लिये भी नहीं टाला जा सकता जब तक आर्थिक स्थितियों और सामाजिक सरचनाओं में मूलभूत सुधार हो जाये।

अल्पवेतन के लिये घटों काम करते हुए ये छोटे बच्चे शोषण को जीवन का रूप (way of life) मान लेते हैं। वे केवल अपने दु:खो को जानते हैं। उनके चेहरों पर मौन अनुमोदन स्पष्ट झलकता है। प्रतिदिन उनकी सख्या बढती जा रही है। यद्यपि यह सही है कि मजदूरी बच्चों को जिन्दा रखने में मदद करती है, परन्तु क्या बच्चों को सरकार की वैकल्पिक रोजगार दिलाने मे असमर्थता और दरिद्रता को कम करने में असमर्थता का दण्ड भोगने के लिये बाध्य करना चाहिये? क्यों उन्हें वयस्कों की दुनिया में रहने के लिये, वयस्कों के उत्तरदायित्वों को झेलने के लिये और अगाध शोषण भोगने के लिये बाध्य किया जाना चाहिये?

REFERENCES

1 Bandura, A , *Aggression A Social Learning Analysis*, Prentice Hall, New Jersey, 1973
2 Bolton, F G and Bolton, S R , *Working with Violent Families*, Sage Publications, New York, 1987
3 Burgess, R L , "Child Abuse A Social Interactional Analysis" in *Advances in Clinical Child Psychology*, Vol 2, Plenum Press, New York, 1979
4 Egeland, B , et al , "The Developmental Consequence of Different Patterns of Maltreatment" in *Child Abuse and Neglect*, 7 (4), 1983
5 Elmer, E, *Children in Jeopardy A Study of Abused Minors and their Families*, University of Pittsburgh Press, Pittsburgh, 1967
6 Fieldman, M P (ed), *Development in the Study of Criminal Behaviour*, Vol II, John Wiley & Sons, New York, 1982
7 Garbarino, J , "The Human Ecology of Child Maltreatment", *Journal of Marriage and the Family*, 39(4), 1977
8 Gardner and Gray in Feldman's *Criminal Behaviour*, Vol II, John Wiley & Sons, New York, 1982
9. Gelles and Cornell, *Intimate Violence in Families*, Sage Publications, Beverly Hills, 1985

10. Gelles, R.J , "Child Abuse as Psychopathology: A Sociological Critique and Reformulation", *American Journal of Ortho. Psychiatry*, 43, July, 1973.
11. Gil, D., *Violence against Children: Physical Child Abuse in the United States*, Harvard University Press, Cambridge, 1970.
12. Goode William, "Force and Violence in the Family," *Journal of Marriage and Family*, 33, November, 1971.
13. Hjorth, C.W. et al., "The Self-image of Physically Abused Adolescents," in *Journal of Youth & Adolescence*, 11 (2), 1982.
14. Joshi, Uma, "Child Abuse. A Disgrace in Our Society", *The Hindustan Times*, June 25, 1986.
15. Kempe, R.S. and Kempe C.H. *Child Abuse*, Fontana, London, 1978.
16. Kewalramani, G.S., *Child Abuse*, Rawat Publications, Jaipur, 1992.
17. Khatu, K.K., *Working Children in India*, Baroda, 1983.
18. Kinard, E.M., "Emotional Development in Physically Abused Children", *American Journal of Orth. Psychiatry*, 50, 1980.
19. Kratcoski, P.C. and Kratcoski, L.C., *Juvenile Delinquency*, Prentice Hall, New Jersey, 1979.
20. Maxwild Denver, "Protective Services and Emotional Neglect," quoted by Irving Sloan, *op.cit*., 1961.
21. Pagelow, M.D. *Family Violence*, Praeger Scientific, New York, 1984.
22. Park & Collmer, *Child Abuse: An Interdisciplinary Analysis*, University of Chicago Press, Chicago, 1975.
23. Shard Neel K., *The Legal, Economic, and Social Status of the Indian Child*, National Book Organisation, New Delhi, 1988.
24. Sloan, Irving, *Child Abuse: Governing Law and Legislation*, Oceana Publications, New York, 1983.
25. Steinmetz, S.K. and Straus M., *Violence in the Family*, Harper and Row, New York, 1974.
26. Strauss, M.A., "Family Patterns and Child Abuse", in *Child Abuse and Neglect*, 3, 1979.
27. Wolfe, D.A., *Child Abuse*, Sage Publications, Beverly Hills, 1987.

अध्याय 9

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा
Violence against Women

आजकल शायद ही कोई विषय सामाजिक विज्ञानों में शोधकर्ताओं, केन्द्रीय और राज्य सरकारों, योजना दलों और सुधारकों का ध्यान इतना आकृष्ट करता हो जितना कि महिलाओं की समस्याएँ। महिलाओं की समस्याओं के अध्ययन के उपागम वृद्ध-विज्ञान (वृद्ध होने की प्रक्रियाओं का अध्ययन) के अध्ययन से लेकर मनोरोग विज्ञान और अपराध विज्ञान तक होते हैं। परन्तु महिलाओं से संबंधित एक महत्वपूर्ण समस्या जिस पर अधिक ध्यान नही दिया गया है और जिससे बचा गया है, वह है महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या।

महिलाओ का उत्पीड़न (Women's Harassment)

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या कोई नई नही है। भारतीय समाज में महिलाएँ इतने लम्बे काल से अवमानना (humiliation), यातना और शोषण का शिकार रही हैं जितने काल के हमारे पास सामाजिक संगठन और पारिवारिक जीवन के लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं। आज शनै.शनै. महिलाओं को पुरुषों के जीवन में महत्वपूर्ण, प्रभावशाली और अर्थपूर्ण सहयोगी माना जाने लगा है, परन्तु कुछ दशक पहले तक उनकी स्थिति दयनीय थी। विचारधाराओं, संस्थागत रिवाजों, और समाज में प्रचलित प्रतिमानों ने उनके उत्पीडन में काफी योगदान दिया है। इनमें से कुछ व्यावहारिक रिवाज आज भी पनप रहे हैं। स्वाधीनता के पश्चात हमारे समाज में महिलाओं के समर्थन में बनाये गये कानूनों, महिलाओं में शिक्षा के फैलाव और महिलाओं की धीरे धीरे बढती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता के बावजूद असख्य महिलाएँ अब भी हिंसा की शिकार हैं। उनको पीटा जाता है, उनका अपहरण किया जाता है, उनके साथ बलात्कार किया जाता है, उनको जला दिया जाता है या उनकी हत्या कर दी जाती है। वे कौनसी महिलाएँ हैं जिन्हें उत्पीड़ित किया जाता है ? उनको उत्पीडित करने वाले और हिंसा के अपराधकर्ता कौन लोग है ? महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के मूल कारण क्या हैं ? कुछ विद्वानों ने जिन्होंने पाश्चात्य समाज में इन पहलुओं का अध्ययन किया है, इस समस्या की व्याख्या के लिये 'व्यक्तित्व' उपागम और 'परिस्थिति' उपागम का उपयोग किया है। परन्तु इन दोनों उपागमों के कई बिन्दुओं को लेकर उनकी आलोचना हुई है।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, विस्तार और विशेषताएं (Nature, Extent and Characteristics of Violence against Women)

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है:

(i) अपराधिक हिंसा, जैसे बलात्कार, अपहरण, हत्या .

(ii) घरेलू हिंसा, जैसे दहेज संबंधी मृत्यु, पत्नि को पीटना, लैंगिक दुर्व्यवहार, विधवाओं और/या वृद्ध महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार..

(iii) सामाजिक हिंसा, जैसे पत्नि/पुत्रवधु को मादा भ्रूण (female foeticide) की हत्या के लिये बाध्य करना, महिलाओं से छेड़-छाड, सम्पत्ति में महिलाओं को हिस्सा देने से इंकार करना, विधवा को सती होने लिये बाध्य करना, पुत्र-वधु को और अधिक दहेज लाने के लिये सताना ..

यहां पर विश्लेषण को पहले दो प्रकार की हिंसा पर केन्द्रीभूत किया गया है और इसमें मैंने अपने "महिलाओं के विरुद्ध अपराध" पर राजस्थान में 1982-84 में किये गये आनुभविक अध्ययन (आहूजा, 1987) के आंकडों का उपयोग किया है। महिलाओं के विरुद्ध अपराधिक हिंसा के मामले गृह मंत्रालय, पुलिस अन्वेषण ब्यूरो और सामाजिक प्रतिरक्षा का राष्ट्रीय संस्थान (National Institute of Social Defence) द्वारा संकलित अभिलेखों से प्राप्त किये जा सकते हैं। भारत सरकार के आंकड़ों के अनुसार (जनवरी 29, 1993) 1987-91 के बीच महिलाओं के विरुद्ध अपराधों में 37.6 प्रतिशत वृद्धि मिलती है। दहेज से संबंधित हत्याओं में इस अवधि में 169.7 प्रतिशत की वृद्धि मिलती है। मोटे रुप में हर 33 मिनट में महिला के विरुद्ध एक अत्याचार का केस मिलता है। कुल महिलाओं के विरुद्ध अपराधों में से दो-तिहाई अपराध (62.6%) केवल पांच राज्यों में (मध्य प्रदेश: 17.6%, उत्तर प्रदेश: 15.7%, महाराष्ट्र: 13.9%, आन्ध्र प्रदेश 7.9%, और राजस्थान: 7.5%) मिलता है तथा शेष 37.4 प्रतिशत अपराध 20 राज्यों और केन्द्रशासित क्षेत्रों में मिलता है। परन्तु यह सुविज्ञ है कि सब मामलों की विभिन्न कारणों से शिकायत नहीं होती है और उन्हें दर्ज नहीं किया जाता है। घरेलू हिंसा के मामलों, जैसे पत्नि को पीटना और परिवार की स्त्रियों के साथ किया गया कौटुम्बिक व्यभिचार (forced incest), की कभी शिकायत नहीं की जाती। परन्तु संकलित मामलों को देखने से हमें महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति और विस्तार के बारे में कुछ अनुमान हो सकता है। हम छ. मामलों के विस्तार और लक्षणों का नीचे विश्लेषण करेंगे।

बलात्कार (Rape)

यद्यपि बलात्कार की समस्या सभी देशों में गंभीर मानी जाती है फिर भी साख्यिकी रूप में भारत में यह पाश्चात्य समाज की तुलना में इतनी गंभीर नहीं है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में बलात्कार के अपराधों की प्रति लाख प्रतिवर्ष दर लगभग 26 है, कनाडा में यह लगभग 8 है और इंगलैण्ड में यह प्रति एक लाख जनसंख्या पर लगभग 5.5 है। इसकी तुलना में भारत में इसकी दर 0.5

प्रति एक लाख जनसख्या है । हमारे देश में 1983 और 1988 के बीच हुए बलात्कार के मामलों की सख्या को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक चार घटों में तीन बलात्कार होते थे, या प्रतिवर्ष 7,500 मामले होते थे (क्राइम इन इडिया, 1988 12-13) । केन्द्रीय सरकार द्वारा जनवरी 27, 1993 को *"महिलाओं के विरुद्ध अपराध"* पर प्रस्तुत की गयी एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रत्येक 54 मिनट में एक महिला का बलात्कार होता है (हिन्दुस्तान टाइम्स, जनवरी 29, 1993) । इसका अर्थ हुआ कि एक महीने में 800 तथा एक वर्ष में 9,600 बलात्कार होते हैं ।

आयु के हिसाब से बलात्कार के शिकार की प्रतिशतता 16 से 30 वर्ष के आयु-समूह में सर्वाधिक है (64 1%), जब कि 10 वर्ष से कम आयु के शिकार लगभग 2 6 प्रतिशत हैं, 10 और 16 वर्ष के बीच आयु के शिकार लगभग 20 5 प्रतिशत हैं, और तीस वर्ष से ऊपर के शिकार 12.8 प्रतिशत हैं (क्राइम इन इंडिया, 1988·178-79) । गरीब लडकिया ही अकेली बलात्कार का शिकार नही होती, अपितु मध्यम वर्ग की कर्मचारियों के साथ भी मालिकों द्वारा *लैंगिक अपमान* किया जाता है । जेल में कैद महिलाओं के साथ अधीक्षकों द्वारा बलात्कार किया जाता है, अपराध सदिग्ध महिलाओं के साथ पुलिस अधिकारियों द्वारा, महिला मरीजों के साथ अस्पताल के कर्मचारियों द्वारा, और रोजाना वेतनभोगी महिलाओं के साथ ठेकेदारों और बिचौलियों द्वारा । यहा तक कि बहरी और गूगी, पागल और अधी और भिखारिनों को भी नही छोडा जाता । निम्न मध्यम श्रेणी से आई हुई महिलाएँ जो कि अपने परिवारों का प्रमुखरूप से भरण पोषण करती हैं लैंगिक दुर्व्यवहार को खामोशी से और बिना विरोध किये सहन करती रहती हैं । यदि वे विरोध करती हैं तो उन्हें सामाजिक कलक और अपमान का सामना करना पड़ता है इसके अतिरिक्त उन्हें पाप की पीडा और व्यक्तित्व के रोग भयकर रूप से सताते हैं ।

बलात्कार की शिकार 42 महिलाओं के मेरे आनुभविक अध्ययन ने महिलाओं के विरुद्ध किये गये अपराधों की निम्नाकित महत्वपूर्ण विशेषताओं को उद्‌घाटित किया है । (1) बलात्कार सदैव पूर्णतया अपरिचित व्यक्तियों में नही होते, (2) प्रत्येक दस में से नौ बलात्कार परिस्थिति से सबधित होते हैं, (3) लगभग तीन-पचम बलात्कार (58 0%) एकल बलात्कार होते हैं (जिनमें एक ही अपराधी होता है), एक-पचम (21 0%) द्वय बलात्कार होते हैं (यानी, महिला के साथ दो आदमी बलात्कार करते हैं), और एक-पचम (21 0%) सामूहिक बलात्कार होते हैं, (4) प्रत्येक 10 बलात्कारों में नौ में किसी प्रकार की शारीरिक हिंसा या क्रूरता नहीं होती, यानी अनेक मामलों में महिला को वश में करने के लिये प्रलोभन एव/या मौखिक दबाव काम में लिये जाते हैं, (5) तीन-चौथाई से कुछ कम बलात्कार (70 0%) उत्पीडितों या उत्पीडित करने वालों के घरों में होते हैं और लगभग एक-चौथाई (25 0%) गैर-रिहाइशी भवनों में होते हैं, और (6) उत्पीडितों की सबसे ऊची दर 15-20 वर्षों के आयु-समूह में होती है, जब कि अधिकाशतया अपराधी 23-30 के आयु समूह के होते हैं । इस प्रकार शिकार चुनने में युवावस्था को विशेष महत्व दिया जाता है ।

भगा ले जाना और अपहरण करना (Abduction and Kidnapping)

एक नाबालिग (18 वर्ष से कम लड़की और 16 वर्ष के कम आयु का लड़का) को उसके कानूनी अभिभावक की सहमति के बिना लेजाने या फुसलाने को 'अपहरण' कहते हैं। 'भगा ले जाने' का अर्थ है एक महिला को इस उद्देश्य से ज़बरदस्ती, कपटपूर्वक या धोखेबाजी से ले जाना कि उसे बहका कर उसके साथ अवैध मैथुन किया जाये या उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे किसी व्यक्ति के साथ विवाह करने को बाध्य किया जाये। अपहरण में उत्पीड़क की सहमति महत्वहीन होती है, परन्तु भगा ले जाने में उत्पीड़क की स्वैच्छिक सहमति अपराध को माफ करवा देती है।

छ. वर्ष (1985 से 1990) का औसत लेकर यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में एक दिन में लगभग 42 लड़कियों/स्त्रियों का अपहरण किया जाता है या उन्हें भगाकर ले जाया जाता है या लगभग 15,000 महिलाओं को एक वर्ष में भगाया जाता है। भारत में भगा कर लेजाने की मात्रा प्रत्येक एक लाख जनसख्या पर 2.0 है (क्राइम इन इंडिया: 1990, 13)। भारत सरकार की ताजी रिपोर्ट (जनवरी 27, 1993) के अनुसार प्रत्येक 43 मिनट में एक महिला का अपहरण होता है अथवा एक दिन में 33.4, व एक वर्ष में 12,000 केस होते हैं। प्रति वर्ष भगाये जाने वालों/अपहरण किये जाने वालों की कुल संख्या की 86.5 प्रतिशत महिलाएँ और 13.5 प्रतिशत पुरुष होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष अपहरण करने/भगा कर ले जाने वाले कुल व्यक्तियों की संख्या (लगभग 21,000) में से 96.0 प्रतिशत पुरुष और 4.0 प्रतिशत महिलाएँ होती हैं; 54.8 प्रतिशत 18 और 30 वर्ष के बीच की आयु के होते हैं, 35.3 प्रतिशत 30 और 50 वर्ष के बीच, 4.5 प्रतिशत 18 वर्ष से कम और 5.4 प्रतिशत 50 साल से ऊपर होते हैं (क्राइम इन इंडिया, 1990:114-115)।

अपहरण/भगा ले जाने की महत्वपूर्ण विशेषताएं जो मेरे 41 प्रकरणों के अध्ययन ने उद्घाटित की, वे हैं: (1) अविवाहित लड़कियों के भगा ले जाने के शिकार बनने की संभावना विवाहित स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होती है; (2) भगा ले जाने वाले व उनके शिकार अधिकांश प्रकरणों में एक दूसरे से परिचित होते हैं; (3) भगा ले जाने वाले और उनके शिकार का प्राय: प्रारंभिक संपर्क सार्वजनिक स्थानों के बजाय उनके घरों अथवा पड़ौस में होता है; (4) अधिकांशतया, भगा ले जाने में एक ही व्यक्ति लिप्त होता है। इस प्रकार अपराधी की ओर से धमकी या उत्पीड़क की ओर से विरोध भगा ले जाने के प्रकरणों में अधिक आम नहीं है; (5) भगा ले जाने के दो सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य मैथुन (सेक्स) और विवाह होते हैं। आर्थिक उद्देश्य से भगा ले जाने वालों की संख्या कुल भगा ले जाने वालों की संख्या को मुश्किल से एक-दशम होती है। (6) 80 प्रतिशत से अधिक प्रकरणों में भगा ले जाने के पश्चात लैंगिक आक्रमण होता है; और (7) माता-पिता का नियन्त्रण औरपरिवार में स्नेहपूर्ण संबंधों का अभाव भगा ले जाने वाले और पीड़ित के संपर्कों तथा लड़की के (पीड़ित के) किसी परिचित व्यक्ति (जिसे बाद में दबाव में आकर भगा ले जाने वाला कहा जाता है) के साथ घर से भाग जाने के

निर्णायक कारण होते हैं।

हत्या (Murder)

मानव हत्या विशेषरूप से नर-अपराध है। यद्यपि लिंग के आधार पर हत्याओं और उनके शिकारों/पीडितों से सबधित अखिल भारतीय आकडे उपलब्ध नही हैं, फिर भी यह सर्वविदित है कि मानव हत्या के मादा शिकार नर शिकारों की तुलना में कम हैं। जहा अमेरिका में मादा शिकार मानव हत्या के कुल शिकारों के 20 प्रतिशत और 25 प्रतिशत के बीच हैं (प्रतिवर्ष 25,000 से 30,000), भारत में लगभग 27,000 हत्याओं में से जो हर वर्ष होती हैं, महिलाओं की हत्याएं कुल सख्या की लगभग 10 प्रतिशत हैं। हत्या करने के अपराध में कुल गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों (लगभग 67,500) में से 96 7 प्रतिशत पुरुष होते हैं और 3 3 प्रतिशत स्त्रिया होती हैं (क्राइम इन इडिया, 1990. 112-113)।

हत्यारों (स्त्रियों के) और उनके शिकारों की महत्वपूर्ण विशेषताए जो मेरे 33 हत्या के प्रकरणों के आनुभविक अध्ययन में मिली वे हैं (1) अधिकाश प्रकरणों (94 0%) में हत्यारे और उनके शिकार एक ही परिवार के होते हैं, (2) लगभग चार-पचम प्रकरणों में (80 0%) हत्यारे 25-40 वर्षों के आयु समूह के होते हैं, (3) लगभग आधी शिकार औरतें होती हैं जिनके पुरुष हत्यारे से पुराने सबध (पाच वर्ष से अधिक) होते हैं। पीडितों की अपने पतियों/सास-ससुर के साथ बिताई गई औसत कालावधि 7 5 वर्ष पाई गई, (4) हत्या की गई महिलाओं में से लगभग आधी बच्चों वाली थी। बच्चों (पीडितों के) की औसत सख्या आनुभविक अध्ययन में 3 2 थी और बच्चों की औसत आयु 14.8 थी, (5) हत्यारे अधिकाशतया निम्न प्रस्थिति व्यवसाय और निम्न आय समूहों में थे, (6) दो-तिहाई हत्याए (66 0%) अनियोजित थी और क्रोध या उत्तेजित भावावेश में की गई थी, (7) चार-पचम हत्यायें (80 0%) बिना किसी की सहायता के की गई थी, नियोजित हत्याओं में भी प्राय सहापराधी परिवार के सदस्य होते हैं, और (8) महिलाओं की हत्या के प्रमुख कारण छोटे मोटे घरेलू झगडे, अवैध सबध और स्त्रियों की लम्बी बीमारी होते हैं।

दहेज से सबधित हत्याए (Dowry Deaths)

यद्यपि दहेज निषेधाज्ञा कानून, 1961 (डाउरी प्रोहिबिशन एक्ट, 1961) ने दहेज प्रथा पर रोक लगा दी है, परन्तु वास्तव में कानून केवल यही स्वीकार करता है कि समस्या विद्यमान है। वास्तविक रूप से यह कभी सुनने में नही आता कि किसी पति या उसके परिवार पर दहेज लेने के आग्रह को लेकर कोई मुकदमा चलाया गया हो। यदि कुछ हुआ है तो यह कि गत वर्षों में दहेज की माग और उसके साथ साथ दहेज को लेकर हत्याए बढी हैं। यदि एक सन्तुलित अनुमान लगाया जाये तो भारत में दहेज न देने अथवा पूरा नही देने के कारण प्रतिवर्ष हत्याओं की सख्या लगभग 5,000 मानी जा सकती हैं। भारत सरकार की 1993 की रिपोर्ट के अनुसार (जनवरी 29, 1993) भारत में वर्तमान में हर 102 मिनट में एक दहेज से सबधित हत्या होती

है,तथा एक दिन में 33 व एक वर्ष में लगभग 5000। अधिकाश दहेज-हत्याए पति के घर के एकान्त में और परिवार के सदस्यों की मिलिभगत से होती हैं। इसलिये अदालतें प्रमाण के अभाव में दंडित न कर पाने को स्वीकार करती हैं। कभी कभी पुलिस छानबीन करने में इतनी कठोर हो जाती है कि न्यायालय भी पुलिस अधिकारियों की कार्य-कुशलता और सत्यनिष्ठा पर संदेह प्रकट करते हैं।

दहेज-हत्याओं की महत्वपूर्ण विशेषताए जिनका मेरे आनुभविक अध्ययन से पता चला ये हैं:(1) मध्यम वर्ग की स्त्रियों के उत्पीडन की दर निम्नवर्ग या उच्चवर्ग की स्त्रियों से अधिक होती हैं; (2) लगभग 70 0 प्रतिशत पीडित 21-24 वर्ष आयु-समूह की होती हैं, अर्थात् वे केवल शारीरिक रूप से ही नहीं, अपितु सामाजिक एवं भावात्मक रूप से भी परिपक्व होती हैं; (3) यह समस्या निम्न जाति की अपेक्षा उच्चजाति की अधिक हैं;(4) वास्तविक हत्या से पहले युवा वधु को कई प्रकार से सताया/ अपमानित किया जाता है जो कि पीड़ित के परिवार के सदस्यों के सामाजिक व्यवहार के अव्यवस्थित संरूप को दर्शाता है;(5) दहेज-हत्या के कारणों में सबसे महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय कारक अपराधी पर वातावरण का दवाव या सामाजिक तनाव हैं जो उसके परिवार के आन्तरिक और वाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं; अन्य महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारक हत्यारे का सत्तावादी व्यक्तित्व, प्रबल प्रकृति, और उसके व्यक्तित्व का असमायोजन है,(6) लडकी के शिक्षा के स्तर और दहेज के लिये की गई उसकी हत्या में कोई पारस्परिक संबध नहीं होता, और (7) परिवार की रचना नव वधु के जलाने में निर्णायक भूमिका अदा करती है।

पत्नि को पीटना (Wife Battering)

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा विवाह के संदर्भ में अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है जबकि पति,जिसके लिये यह समझा जाता है कि वह अपनी पत्नि से प्रेम करेगा और उसे सुरक्षा प्रदान करेगा, उसे पीटता है। एक स्त्री के लिये उस आदमी द्वारा पीटा जाना जिस पर वह सर्वाधिक विश्वास करती थी, एक छिन्न-भिन्न करने वाला अनुभव होता है। हिंसा चांटे और लात मारने से लेकर हड्डी तोड़ना, यातना देना, मार डालने की कोशिश और हत्या तक हो सकती है। हिंसा कभी कभी नशे के कारण भी हो सकती है परन्तु हमेशा नहीं। भारतीय संस्कृति में हम विरले ही पत्नि द्वारा पुलिस से पीटने के मामले की शिकायत करने की बात सुनते हैं। वह मौन रहकर अपमान सहती है और उसे अपना भाग्य मानती है। यदि वह विरोध करना भी चाहती है तो नहीं कर सकती क्यों कि उसे डर होता है कि उसके अपने माता-पिता भी विवाह के बाद उसे अपने घर में स्थाई रूप से रखने को मना कर देंगे।

पत्नि के पीटने की महत्वपूर्ण विशेषताए जो मेरे 60 स्वतः पहचाने हुए प्रकरणों के आनुभविक अध्ययन ने इंगित की वे हैं:(1) पत्नियां जो 25 वर्ष की आयु से कम होती हैं,उनके उत्पीडन का अनुपात अधिक होता है;(2) उन पत्नियों को, जो अपने पति से पांच वर्ष से अधिक छोटी होती हैं, अपने पति द्वारा पीटे जाने का खतरा अधिक रहता है,(3) कम आय वाले परिवारों

की महिलाओं का अधिक उत्पीडन होता है, यद्यपि परिवार की आय से उत्पीडन को जोडना अधिक कठिन है;(4) परिवार के आकार और उसकी रचना का पत्नि के पीटने से कोई परस्पर सबध नहीं होता, (5) साधारणतया पतियों के पीटने के कारण पत्नियों को कोई गहरी चोट नहीं लगती, (6) पत्नि को पीटने के महत्वपूर्ण कारण हैं यौन-सबधी असमायोजन, भावात्मक गडबड, पति का गर्वित अहम् या हीनभावना, पति का पियक्कड होना, ईर्ष्या और पत्नि की निष्क्रिय कायरता, (7) पीटने वाले पति के बचपन में हिंसा की विपदग्रस्तता पत्नि के पीटने में एक महत्वपूर्ण कारक होता है, (8) यद्यपि अनपढ पत्नियों की शिक्षित पत्नियों की अपेक्षा पति द्वारा पीटे जाने की सभावना अधिक होती है, फिर भी पीटने और पीडितों के शैक्षिक स्तर में कोई महत्वपूर्ण सबध नही है, और (9) यद्यपि उन पत्नियों का जिनके पति शराबी होते हैं उत्पीड़न का अनुपात अधिक है परन्तु यह देखा गया है कि अधिकाश पति अपनी पत्नियों को नशे की हालत में न पीट कर उस समय पीटते हैं जब वे होश-हवास में होते हैं ।

विधवाओ के विरुद्ध हिंसा (Violence Against Widows)

सब विधवाएँ एक ही प्रकार की समस्याओं का सामना नही करती । एक विधवा ऐसी हो सकती है जिसके कोई बच्चा न हो और जो अपने विबाह के एक या दो वर्षों में ही विधवा हो गई हो, या वह ऐसी हो सकती है जो पाच से 10 वर्ष के पश्चात विधवा होती है और उसके एक या दो बच्चे पालने के लिये हों, या ऐसी हो जो 50 वर्ष की आयु से अधिक हो । यद्यपि इन तीनों श्रेणी की विधवाओं को सामाजिक, आर्थिक और भावात्मक समजन की समस्याओं का समाना करना पडता है, पहली और तीसरी श्रेणियों की विधवाओं की कोई जिम्मेदारी नही होती, जब कि दूसरी श्रेणी की विधवाओं को अपने बच्चों के लिये पिता की भूमिका भी अदा करनी पडती हैं । पहली दो श्रेणियों की विधवाओं को जैविक समजन की समस्या का भी सामना करना पडता है । इन दो किस्मों की विधवाओं का अपने पति के परिवार में इतना आदर-सत्कार नही होता जितना कि तीसरी किस्म का । वास्तव में जहा एक ओर परिवार के सदस्य विधवाओं की पहली दो श्रेणियों से मुक्ति पाना चाहते हैं, वहा दूसरी और तीसरी श्रेणी की विधवा अपने पुत्र के परिवार में मूल व्यक्ति हो जाती है क्यों कि उसको अपने पुत्र के बच्चों की देख रेख का और काम पर जाने वाली पुत्रवधु की अनुपस्थिति में खाना पकाने का दायित्व सौंप दिया जाता है । विधवाओं की तीनों श्रेणियों की आत्मछवि और स्वाभिमान भी भिन्न होते हैं । एक विधवा की आर्थिक निर्भरता उसके स्वाभिमान और उसकी पहचान की भावना के लिये एक बडा खतरा पैदा कर देती है । परिवार की भूमिकाओं में उनके सास-ससुर और परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा निम्न दर्जा प्रदान किये जाने से उनका स्वाभिमान कम होता है । विधवा होने का कलक ही अपने आप में एक स्त्री को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है और उसका सम्मान अपनी ही दृष्टि में कम हो जाता है ।

यदि हम सब प्रकार की विधवाओं को लें तो हम कह सकते हैं कि विधवाओं के विरुद्ध हिंसा में, पीटना, भावात्मक उपेक्षा/यातना, गाली गलौज करना, लैंगिक दुर्व्यवहार, सपति में वैध

हिस्से से वंचन, और उनके बच्चों के साथ दुर्व्यवहार सम्मिलित हैं। विधवाओं के विरुद्ध हिंसा की महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं. (1) युवा विधवाओं को अधेड़ विधवाओं की अपेक्षा अधिक अपमानित और तंग किया जाता है और उनका शोषण और उत्पीड़न भी अधिक होता है; (2) साधारणतया, विधवाओं को अपने पति के व्यापार, हिसाब-किताब, सर्टिफिकेटों, बीमे की पॉलिसियों और प्रतिभूतियों के बारे में नगण्य के बराबर जानकारी होती है और वे अपने परिवार (प्रजनन के) के बेईमान सदस्यों की धोखेबाजी के षडयंत्रों की आसानी से शिकार हो जाती हैं और वे (सदस्य) इस प्रकार उनकी विरासत में मिली सम्पत्ति और जीवनबीमा के फायदों को हड़पने का प्रयास करते हैं; (3) हिंसा के अपराधकर्ता अधिकाशतया पति के परिवार के सदस्य होते हैं; (4) उत्पीडन के तीन सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्यों में—शक्ति, संपत्ति और कामवासना—संपत्ति मध्यमवर्ग की विधवाओं के उत्पीडन का निर्णायक कारक होती है, कामवासना निम्नवर्ग की विधवाओं के, और शक्ति मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग दोनों की विधवाओं के उत्पीडन का निर्णायक कारक होती है, (5) यद्यपि सास का सत्तावादी व्यक्तित्व और पति के भाई-बहनों का असमजन विधवा के उत्पीडन में महत्वपूर्ण कारक होते हैं, फिर भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक विधवा की निष्क्रिय कायरता (passive timidity) होता है; और (6) आयु, शिक्षा और वर्ग का विधवाओं के शोषण से महत्वपूर्ण पारस्परिक संबंध दिखाई देता है, परन्तु परिवार की रचना और उसके आकार से उसके कोई परस्पर संबंध नहीं होते।

हिंसा के शिकार (Victims of Violence)

यदि हम महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के सभी प्रकरणों को एक साथ लें तो हम पायेंगे कि हिंसा के साधारणतया शिकार वे महिलाएँ होती हैं:

- जो असहाय और अवसादग्रस्त (depressed) होती हैं, जिनकी आत्मछवि खराब होती है, जो आत्मअवमूल्यन से ग्रसित होतीं हैं या वे जो अपराधकर्ताओं द्वारा की गई हिंसा के फलस्वरूप भावात्मक रूप से समाप्त हो चुकी हैं, या वे जो परार्थवादी विवशता (altruistic powerlessness) से ग्रस्त हैं;
- जो दबावपूर्ण पारिवारिक स्थितियों में रहतीं हैं या ऐसे परिवारों में रहतीं हैं जिन्हें समाज शास्त्रीय शब्दावली में 'सामान्य' परिवार नहीं कहा जा सकता। सामान्य परिवार वे हैं जो संरचनात्मक रूप से पूर्ण होते हैं (दोनों माता-पिता जीवित हैं और साथ साथ रह रहे हैं), आर्थिक रूप से निश्चिन्त हैं (सदस्यों की मूल और पूरक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं), प्रकार्यात्मक रूप से उपयुक्त (adequate) हैं (वे बिरले ही लड़ते हैं) और नैतिक रूप से नैष्ठिक (conformist) हैं;
- जिनमें सामाजिक परिपक्वता की या सामाजिक अन्तर-वैयक्तिक प्रवीणताओं की कमी है जिसके कारण उन्हें व्यवहार संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ता है;
- जिनके पति/ससुराल वालों के विकृत (pathological) व्यक्तित्व हैं; और
- जिनके पति बहुधा मदिरापान करते हैं।

हिंसा के अपराधकर्ता (Perpetrators of Violence)

महिलाओं के निम्न सात प्रकार के उत्पीडन हो सकते है·

- जो अवसादग्रस्त (depressed) होते हैं, जिनमें हीन-भावना होती है और आत्मसम्मान कम होता है,
- जिन्हें व्यक्तित्व के दोष होते हैं और जो मनोरोगी (psychopaths) होते हैं,
- जिनके पास ससाधनों, प्रवीणताओं (skills) और प्रतिभाओं (talents) का अभाव होता है और जिनका व्यक्तित्व समाजवैज्ञानिक रूप से विकृत (sociopathic) होता है,
- जिनकी प्रकृति में मालिकानापन (possessive), शक्कीपन, और प्रबलता (dominance) है;
- जो पारिवारिक जीवन में तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करते हैं,
- जो बचपन में हिसा के शिकार हुए थे, और
- जो बहुधा मदिरापान करते हैं ।

हिंसा के प्रकार (Types of Violence)

यदि हम महिलाओं के विरुद्ध हिसा का वर्गीकरण करें तो हम हिंसा के छह प्रकार बता सकते हैं

- हिंसा जो धन-अभिमुख होती है,
- हिंसा जो कमजोर पर सत्ता प्राप्त करना चाहती है,
- हिंसा जिसका उद्देश्य भोग-विलास है,
- हिंसा जो अपराधकर्ता की विकृति के कारण होती है,
- हिंसा जो तनावपूर्ण पारिवारिक परिस्थितियों के कारण होती है, और
- हिंसा जो पीड़ित प्रेरित होती है ।

हिंसा के कारण (Motivations in Violence)

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की तीन कारकों के आधार पर व्याख्या की जा सकती है: (i) स्थितिया जिनके कारण हिंसापूर्ण व्यवहार होता है, (ii) पीडितों की विशेषताए, और (iii) उत्पीड़ित करने वाले की विशेषताएं । महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के चार कारण पहचाने जा सकते हैं (अ) पीडित द्वारा भडकाना, (ब) नशा, (स) महिलाओं के प्रति शत्रुता की भावना, और (द) परिस्थिति सबधी लालसा ।

पीड़ित द्वारा भड़काना (The Victim's Provocation)

कभी-कभी हिंसा की शिकार महिला अपने व्यवहार से, जो कई बार भड़काने में होता है, अपने स्वय के उत्पीडन की स्थिति उत्पन्न कर देती है । पीडित महिला अपराधी के हिंसापूर्ण व्यवहार को उत्पन्न करती है या प्रेरित करती है । उस (महिला) के कार्य शिकारी को हमलावर/ आक्रामक

में परिवर्तन कर देते हैं और वह अपने अपराधिक इरादों को उसको लक्ष्य बनाने के लिये बाध्य हो जाता है। मेरे अपने सर्वेक्षण में जिसमें बलात्कार, पत्नि को पीटना, भगा ले जाना, विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार, और हत्याओं का अध्ययन किया गया था यद्यपि अध्ययन केन्द्र पीड़ित महिलाएँ थी, फिर भी कुछ अपराधियों/ हमलावरों/ आक्रामकों का साक्षात्कार किया गया था। आश्चर्य की बात यह थी कि केवल कुछ ही हमलावर शर्म या चिन्ता की भावनाओं से ग्रसित दिखाई देते थे। अधिकांश में किसी प्रकार की भावात्मक घबराहट नहीं थी और न ही वह भावना थी जिसे मनोवैज्ञानिक 'अशान्त पुरुषत्व' (troubled masculinity) की समस्या कहते हैं। इसके बजाय पत्नि को पीटने के प्रकरण में हमलावरों ने अपनी पत्नियों पर यह कह कर दोषारोपण किया कि वे पीछे से बुराई करती हैं, उन व्यक्तियों से बात करती हैं जिन्हें वे पसन्द नहीं करते, उनकी बहनों या माता-पिता या भाईयों के साथ दुर्व्यवहार करती हैं, घर की ओर ध्याय नहीं देती हैं, सबधियों से अभद्र तरीके से बोलती हैं, किसी व्यक्ति के साथ अवैध संबंध रखती हैं, अपने सास-ससुर का कहना नहीं मानती हैं, उन्हें अपने झगड़ालूपन या दोषारोपण से गुस्सा दिलाती हैं या उनके मामलों में अत्यधिक हस्तक्षेप करती हैं। इसी प्रकार बलात्कार के प्रकरणों में ऐसे हमलावर थे, जिन्होंने पीड़ित के व्यवहार को लैंगिक संबंधों के लिये खुला निमंत्रण बतलाया था। ऐसा संकेत बतलाया कि यदि वह (व्यक्ति) आग्रह करता रहेगा तो वह (महिला) प्राप्त हो जायेगी। यह मालूम करना महत्वपूर्ण है कि पीड़ित का अभिप्राय वास्तव में इस प्रकार के व्यवहार को आमन्त्रित करना था या नहीं या यह केवल उत्पीड़ित करने वाले का अपना ही अर्थ/ अनुभूति थी, जिसके कारण उसने उसका (स्त्री का) शोषण किया। इसको यदि 'आचरण का कार्य' (act of commission) नहीं कहा जाये तो 'अनाचरण का कार्य' (act of omission) तो कहा ही जा सकता है (क्यों कि पीड़ित ने तीव्र प्रक्रिया नहीं दिखाई)।

इस प्रकार 'निष्क्रिय' पीड़ित महिला उसी सीमा तक हिंसापूर्ण कार्य के होने में योगदान देती है जितनी कि 'सक्रिय' पीड़ित महिला। हत्या के प्रकरणों में ऐसे कुछ प्रकरण सामने आये जहां हमलावरों के अनुसार हत्या की स्थिति उस समय उत्पन्न हुई जब बहस और कहा-सुनी में पीड़ितों ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी जिन्होंने उन्हें उन पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। भगाये जाने के प्रकरण में भी कुछ भगा ले जाने वालों ने बताया कि उनके 'पीड़ितों' ने उनके साथ भाग जाने और विवाह करने की इच्छापूर्वक सहमति दी थी, परन्तु जब माता-पिता की शिकायत पर वे गिरफ्तार कर लिये गये तो 'पीडित' महिला ने अपने माता-पिता द्वारा बाध्य किये जाने पर उन पर भगा ले जाने का आरोप लगा दिया। औसतन, 39.0 प्रतिशत प्रकरण स्वेच्छा से भगाये गये थे, 24.0 प्रतिशत जबरदस्ती भगाये जाने वालों के थे, 17.0 प्रतिशत सहायक भगाये जाने वाले थे (जिसमें 'पीड़ितों' ने न तो 'अभियुक्त' के साथ जाने की सहमति दी और न ही उसका विरोध किया, परन्तु अभियुक्त के उनके ऊपर प्रभाव से वशीभूत हो गई), और 20.0 प्रतिशत तनाव के कारण भगाये जाने वाले प्रकरण थे (जिनमें पीड़ित ने अपनी इच्छा से घर छोड़ना मान लिया था परन्तु उसके पश्चात जब 'अपराधी' ने उसके साथ बलात्कार किया

या उसके आभूषण बेच दिये या उसे होटल में छोड दिया तब उसे पश्चाताप हुआ)।

इस विश्लेषण से हम पीडितों का 'सक्रिय', 'निष्क्रिय' और 'आकस्मिक' के आधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं। कम से कम दो प्रकार के पीडित ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं जहाँ 'अपराधी', स्थिति एवं/या विवशता का 'पीडित' बन जाता है और 'पीडित' (स्त्री) के साथ इस प्रकार से व्यवहार करता है कि वह 'हमलावर' अथवा 'उत्पीडा देने वाला' कहलाये जाने लगे।

नशा (Intoxication)

हिंसा के कुछ प्रकरण उस समय होते हैं जब कि आक्रामक नशे में और अत्युत्तेजक (wildly excited) एव लड़ाई करने की मनोदशा में होते हैं और उनको यह समझ में नही आता कि उनके कार्यों के क्या परिणाम होंगे। उदाहरण के लिये, कुछ बलात्कार के प्रकरणों में अपराधियों ने पीडितों के साथ बलात्कार उस समय किया जब उन्होंने इतनी शराब पी ली थी कि वे नशे और भावात्मक उतेजना की हालत में थे। वे अपना आत्मसयम खो चुके थे और उनके आक्रामक स्वप्नचित्र कामवासना से प्रगाढरूप से आपस में मिल गये थे जिन्होंने बाद में अनुत्तरदायी कार्यों का रूप धारण किया। मदिरा से सबधित यौन अपराध समय, स्थान और परिस्थितियों की अविवेचित उपेक्षा का उदाहरण देते है।

पत्नि को पीटने और हत्या के कुछ प्रकरणों में शराबीपन और हिंसा में ऐसा ही सबध प्रदर्शित हुआ। मैंने अपने अध्ययन में पाया है कि केवल 31 7 प्रतिशत प्रकरणों में (आहूजा, 1987 130) पत्नि का पीटना और मदिरापान साथ साथ चलते हैं, हिल्वरमेन और मनसन (1978.460-771) ने इसे 93 0 प्रतिशत प्रकरणों में पाया, वुल्फगाँग (1978) ने 67 0 प्रतिशत प्रकरणों में, और हिन्किलबर्ग (1973) ने 71 0 प्रतिशत प्रकरणों में।

हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि जब हम हिंसा और शराबीपन में परस्पर सबध बताते हैं तो हम रक्त में शराब के स्तरों के माप के स्थान पर केवल शराब के उपयोग की सूचना पर ही निर्भर रहते हैं। वास्तव में रक्त और शराब का गाढापन (Blood Alcohol Concentration or BAC) पीटने को शराब के प्रभाव से सम्बद्ध करने का आधार होना चाहिये। यदि बी.ए.सी. अधिक होगा तो व्यक्ति की दूसरों को शारीरिक चोट पहुचाने की क्षमता कम हो जायेगी। फिर भी हम मानते हैं कि बी ए सी का स्तर इतना होना चाहिये कि अपराधी इस सीमा तक ही अपने पर नियन्त्रण खोये कि वह अपने कार्यों के परिणामों के बारे में न सोच पाये। वह केवल इसी मनोदशा में हिंसात्मक होता है।

यह स्पष्ट नही है कि क्या शराब हिंसापूर्ण व्यवहार को प्रत्यक्ष रीति से भडकाती है या वह मुख्यरूप से पूर्व से ही विद्यमान आक्रमणशील प्रवृत्तियों की अन्तर्बाधा को समाप्त करने का काम करती है। दूसरी परिकल्पना कदाचित इस विचार (ब्लूमर, 1973 73-87) को समर्थन देती है कि कुछ हिंसा के अपराधकर्ता व्यक्तियों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने से पहले साहस जुटाने के लिये शराब पीते हैं। परन्तु मेरे अध्ययन में एक भी केस ऐसा नहीं आया जिसमें हमलावर 'पीडित महिला' पर हमला करने के विशेष उद्देश्य से मदहोश हो गया हो। फिर भी

हम ऐसा कोई प्रमाण नहीं दे सकते कि केवल मदिरापान से ही हिंसापूर्ण व्यवहार भडकता है। ऐसे कई व्यक्ति हैं जो मदिरापान करते हैं परन्तु हिंसात्मक नहीं होते। इसलिये महिलाओं के विरुद्ध हिंसा में शराब के प्रयोग को 'प्रमुख' कारक न मानकर केवल 'सहयोगी' कारक ही माना जा सकता है।

महिलाओं के प्रति विद्वेष (Hostility Towards Women)

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रतिवेदित (reported) मामलों में कुछ ऐसे होते हैं जिनमें आक्रमणकारी किसी भी तर्क से प्रभावित नही होते और वे उनके विरुद्ध बड़ी क्रूरता से विद्वेषपूर्ण कार्य करने के अलावा और कुछ नही करते। उनमें से कुछ में महिलाओं के प्रति घृणा और द्वेष की भावनाएं इतनी गहराई से गडी हुई होती हैं कि उनके हिंसापूर्ण कार्य का मूल उद्देश्य पीड़ित महिला को अपमानित करने के अतिरिक्त कुछ और नही कहा जा सकता। यदि परिस्थिति ही केवल प्रेरणा का कारक होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि जब अधिकांश 'अपराधी' 'सामान्य' व्यक्ति समझे जाते हैं तो वे हिंसक कार्य करने को क्यों बाध्य हो जाते हैं? कदाचित ऐसे प्रकरणों में पीडित को अपमानित करने से जो खुशी की अनुभूति होती है उसे प्राप्त करने की इच्छा उनमें अधिक प्रबल होती है।

परिस्थिति-वश प्रेरणा (Situational Urge)

इस श्रेणी में उन प्रकरणों को सम्मिलित किया जा सकता है जहां अपराध न तो पीड़ित के व्यवहार के कारण किया जाता है और न ही अपराधी के मनोरोगात्मक व्यक्तित्व के कारण, अपितु आकस्मिक कारकों के कारण जो ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर देते हैं जिनके परिणामस्वरूप हिंसा होती है। उदाहरणार्थ, एक पत्नि के पीटने के प्रकरण में हो सकता है कि पैसे के मामलों में झगड़ा या पति के माता-पिता के साथ दुर्व्यवहार के कारण झगडा पति को पत्नि पर आक्रमण करने के लिये भडका दे, या बलात्कार के प्रकरण में एक आदमी अकस्मात उसके पड़ौस के गांव की एक परिचित स्त्री से खेत में मिलता है और बातचीत आरम्भ कर देता है और अन्ततः उससे अपनी बात मनवाना चाहता है; या एक पुरुष मालिक एक स्त्री कर्मचारी को अपने दफ्तर/कारखाने में शाम ढले अकेला पाकर उसका फायदा उठाता है; या एक युवा लड़की अपने पिता के घर से भाग जाती है और एक ट्रक में चढ़ जाना स्वीकार कर लेती है और ट्रक का ड्राइवर स्थिति का फायदा उठा कर उसके साथ बलात्कार कर लेता है। इन सब प्रकरणों में अपराधियों ने हिंसापूर्ण कार्यों की योजना नहीं बनाई थी परन्तु जब उन्हें परिस्थिति सहायक या उकसाने वाली लगी तो उन्होंने हिंसा का प्रयोग किया। इन हिंसात्मक कार्यों के अतिरिक्त ये अपराधी विचलित व्यवहार का जीवन व्यतीत नहीं कर रहे थे।

व्यक्तित्व की विशेषताए (Personality Traits)

हिंसा-प्रवृत्त व्यक्तित्व की पहचान करने वाली विशेषताएँ ये हैं: अत्यधिक शक्की, वासनामय,

प्रभावी, विवेकहीन, व्यभिचारी, आसानी से भावात्मक रूप से अशांत, ईर्ष्यालु, स्वत्वात्मक (possessive) और बेइसाफ। जो विशेषाएं प्रारंभिक जीवन में विकसित हो जाती हैं, वे वयस्कता में एक व्यक्ति के आक्रमणशील व्यवहार को प्रभावित करती हैं। आक्रामक का बच्चे के रूप में दुर्व्यवहार और/या बचपन में हिंसा के प्रभाव में आने को उसके हिंसात्मक व्यवहार का अध्ययन करते समय परीक्षण अवश्य करना चाहिये। उदाहरणार्थ, कुछ पत्नि को पीटने वालों के प्रकरण में उनके बचपन, किशोरावस्था और वयस्कता के प्रारंभिक वर्षों के अनुभव यह बतलाते हैं कि उन्होंने सभी भावात्मक रूप से दुखद संकेतों के जवाब रोषपूर्ण एवं हिंसात्मक व्यवहार से देना सीखा। दुखी पारिवारिक जीवन, जिसमें शारीरिक निर्दयता या भयकर भावात्मक निराकरण (rejection) रहा हो, अधिकांश आक्रमकों के प्रकरण में यह नियम बन जाता है। कुछ वयस्क आक्रामकों ने अपने बचपन/किशोरावस्था में अपने परिवार में ऐसी परिस्थितियों का सामना किया होता है जिनमें उन्होंने सदैव माता-पिता को एक दूसरे पर चिल्लाते हुये सुना और छोटे से छोटे बहाने पर उनके पिता द्वारा उनकी (बच्चों की) पिटाई हुई। अक्सर उनके पिता शराब के नशे में धुत घर लौटते और सारे घर में चिल्लाते हुए और चीजों को तोड़ते हुये घूमते रहते। एक हिंसापूर्ण घर में पलने के परिणामस्वरूप व्यक्तियों का अनिवार्यरूप से व्यवहार हिंसापूर्ण हो जाता है और ये व्यक्ति वयस्क जीवन में आक्रामक हो जाते हैं। एलफेरो (1978), पौट्स, हर्जबर्गर और हालैन्ड (1979) और फेगन, स्टुवर्ट और हेन्सन (1981) ने भी हिंसात्मक पुरुषों और उनके बच्चों पर किये अपने आनुभविक अध्ययनों में भी इस प्रकार का पारस्परिक संबध बतलाया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आक्रामकों की बड़ी संख्या बाल दुर्व्यवहार और पारिवारिक हिंसा की शिकार होती है और बच्चे के रूप में यदि कोई हिंसा से प्रभावित होता है तो साधारणतया उसकी व्यस्कावस्था में हिंसात्मक हो जाने की संभावना बढ जाती है।

हिंसापूर्ण व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्या (Theoretical Explanation of Violent Behaviour)

मैंने विचलित/हिंसात्मक व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्या विभिन्न विचारधाराओं का परीक्षण करके और अपने वैचारिक ढाचे को प्रतिपादित करके पिछले एक अध्याय (अध्याय 8, 'बाल दुर्व्यवहार' पर) में प्रस्तुत की है। हिंसा पर जो सैद्धान्तिक बातें सामने आती हैं वे हैं क्या हिंसा भड़काने की एक सामान्य प्रतिक्रिया है, या वह किसी मानसिक विकृति को निकालने का एक तरीका है, या वह किसी उद्देश्य या पुरस्कार की प्राप्ति के लिये एक उपकरण है, या वह एक ऐसी प्रतिक्रिया है जो कि उन प्रतिमानों के अनुरूप हैं जो इसके प्रयोग का समर्थन करते हैं? इन सबकी व्याख्या कर दी गई है। मेरा अपना वैचारिक ढाचा (conceptual framework) एक समष्टिवादी (*holistic*) उपागम पर आधारित है और उसे "सामाजिक बन्धन" सिद्धान्त (Social Bond Theory) के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो हिंसापूर्ण व्यवहार को काफी हद तक समझाता है।

मनश्चिकित्सीय (psychiatric) विचारधारा आक्रामक के व्यक्तित्व की विशेषताओं को अपराधिक हिंसात्मक व्यवहार का प्रमुख निर्णायक मानकर अपना अध्ययन-केन्द्र बनाती है। सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विचारधारा मानती है कि अपराधिक हिंसा को उन बाहरी वातावरण के कारकों,जो एक आक्रामक पर प्रभाव डालते हैं के विश्लेषण करने से सबसे अच्छे तरीके से समझा जा सकता है। यह मॉडल प्रतिदिन की पारस्परिक क्रियाओं के रुपों (जैसे तनावपूर्ण परिस्थितियां या परिवार के पारस्परिक क्रियाओं के सरुप..) का भी परीक्षण करता है जो हिंसा के पुरोगामी (precursors) होते हैं। बहुत से सिद्धान्त,जैसे नैराश्य-आक्रमण सिद्धान्त,विकृति सिद्धान्त,आत्म-अभिवृत्ति का सिद्धान्त,और अभिप्राय आरोपण सिद्धान्त भी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक स्तर के विश्लेषण के क्षेत्र में आते हैं। समाजशास्त्रीय विचारधारा अपराधिक हिंसा का बृहत् स्तर पर विश्लेषण करती है। इनके अतिरिक्त हिंसा की उप-संस्कृति का सिद्धान्त,सीखने का सिद्धान्त,मानकशुन्या (एनोमी) का सिद्धान्त,और ससाधन सिद्धान्त भी सामाजिक-सांस्कृतिक विश्लेषण के क्षेत्र में आते हैं।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा (अपराध) पर मेरे आनुभविक अध्ययन में एक नये सैद्धान्तिक उपागम को विकसित करने के लिये मेरे सामने दो विकल्प थे: एक तो 'हिंसा जो परिवार के अन्दर होती है' (intra-family violence) और 'हिंसा जो परिवार के बाहर होती है' (violence exogenous to family) को अलग-अलग से लेना और दूसरा, सब प्रकार की हिंसा को सम्मिलित करना और 'महिलाओं के विरुद्ध हिंसा' पर एक सिद्धान्त बनाना। मैंने दूसरे उपागम का उपयोग किया और इसमें मैंनें हिरशी, शुल्टन, आदि समाजशास्त्रियों और अपराधशास्त्रियों की कुछ अवधारणाओं का प्रयोग किया।

एक व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा आवश्यक रूप से 'किसी के द्वारा हिंसा' और 'किसी के विरुद्ध हिंसा' है। इस तरह महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को 'एक व्यक्ति द्वारा एक व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा' समझा जाना चाहिये। इसके विपरीत में 'एक समूह के विरुद्ध हिंसा' होती है। एक व्यक्ति द्वारा हिंसा में उस (हिंसा) की उत्पत्ति व स्वरूप को स्वयं व्यक्ति में और उसकी परिस्थिति में ही निर्धारित किया जाना चाहिये। इस उपागम में एक व्यक्ति के न केवल अन्तर्जात व्यवहार का परन्तु उपार्जित व्यवहार का भी अध्ययन करना चाहिये। हमारा 'सामाजिक बन्धन उपागम' दोनों प्रकार के व्यवहार और सामाजिक संरचनात्मक परिस्थितियों पर भी विचार करता है। इस पर पिछले अध्याय में चर्चा हो चुकी है। यह महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रकार और संरूपों की व्यक्तियों (अपराधियों) में उनके सामाजिक समजनों, कुण्ठाओं और सापेक्षिक वंचनों (relative deprivations), और सामाजिक संरचनात्मक परिस्थितियों में विभिन्नताओं और पीड़ितों की 'प्रतिरोध शक्ति' को ध्यान में रखते हुये व्याख्या करता है।

निर्व्यक्तीकरण का मानसिक आघात और मानववादी उपागम (Depersonalisation Trauma and Humanistic Approach)

अपने समाज में महिलाओं के प्रति दुर्व्यवहार को रोकने के लिये और उनके विरुद्ध हिंसा को

कम करने के लिये हमें क्या उपाय करने चाहिये ? यह सुझाव वैध और तर्कसंगत हो सकता है कि स्त्रियों की सामान्य प्रतिष्ठा यदि शिक्षा,प्रभावी वैधानिक उपायों और परीक्षण और रोजगार के अवसर देकर सुधारी जा सकती है तो यह महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को कम करेगी, परन्तु यह अत्यन्त व्यापक सुझाव है। इसी प्रकार यह सुझाया जाता है कि जनसंचार माध्यमों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रकरणों को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिये। यद्यपि जनसंचार माध्यमों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को सेन्सर करने के नैतिक और मानवतावादी कारण हैं, परन्तु हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि ऐसी कार्यवाई से आवश्यकरूप से हिंसा में कमी आ जायेगी। यही अपराधकर्ताओं को निवारक दण्ड देने और उसके सबंधियों द्वारा उस का सामाजिक बहिष्कार करने के बारे में भी सही है। ये उपाय उनके सामाजिक प्रभावों के लिये वाछनीय हो सकते हैं परन्तु हमें विश्वास नहीं हो सकता कि वे किसी सीमा तक महिलाओं के शोषण को कम कर देंगे। यह मालूम करने के कोई प्रमाण नहीं है कि कौनसी नीतियों को प्राथमिकता दी जाये। फिर भी कई ऐसे उपाय हैं जिनके किये जाने से महिलाओं का उत्पीडन कम हो सकता है।

पहले हम उस प्रकरण को लेते हैं जो पहले से कई महिला सगठनों और राजकीय एव निजी/सार्वजनिक सस्थाओं का ध्यान आकर्षित कर रहा है। यह है पीड़ितों की सुरक्षा, मदद, और सलाह की आवश्यकताओं की पूर्ति करना। कुछ महिलाओं को, यदि सब के लिये नहीं, जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता है वह है आश्रय। महिलाएं जो तानाशाह सास-ससुर और शराबी पतियों के साथ रह रही हैं, अस्थाई अथवा स्थाई रूप से अपना घर छोड देंगी यदि उनके पास कोई आश्रय उपलब्ध हो। स्वयंसेवी सगठनों को, जो स्त्रियों को ऐसे आवास मुहैया कराते हैं, अपनी परियोजनाओं का प्रचार करना चाहिये। यह ध्यान में रखना चाहिये कि वर्तमान में जो महिलाओं के लिये घर (अकेले और/या विवाहित के लिये) हैं, वे आवश्यकतानुसार माग को पूरा नहीं कर पाते हैं। उनमें अक्सर भीड भाड होती है, वित्तीय सहायता का अभाव होता है और वे सुरक्षा नियमों का पालन नहीं करते। महिला सगठन कई स्त्रियों के दुखों के उपशमन में योगदान देंगी यदि वे उन्हें अल्पकालिक आवास की सुविधा प्रदान करती हैं और अन्तत स्थाई मकान दिलवाने में मदद करती हैं, विशेषरूप से उन विवाहित स्त्रियों को जो कष्ट में हैं या बलात्कार, भगाये जाना, मार डालने की कोशिश जैसी हिंसा की शिकार हैं। विभिन्न प्रकार के अल्पकालिक आवास जो पीड़ित स्त्रियों और विधवाओं को दिये जा सकते हैं, उनका मूल्याकन और तुलना करना अत्यावश्यक है।

दूसरा, पीड़ित महिलाओं को इसकी भी आवश्यकता है कि उनकी रोज़गार ढूढने, बच्चे की देखभाल की सुविधाओं को उपलब्ध कराने, और अस्थाई रूप से वित्तीय सहायता दिलवाने में सहायता की जाये। इस उद्देश्य के लिये परामर्श केन्द्र किसी केन्द्रीय स्थान पर खोले जा सकते हैं, परन्तु वे नारी-गृहों से दूर होने चाहिये जिससे कि उनका अच्छा प्रचार हो सके और गृहों में रहने वालों की सुरक्षा को भी खतरा न हो।

तीसरा, महिलाएँ, जो शोषण की शिकार हैं, की सहायता के लिये सस्ती और कम औपचारिक अदालतों की स्थापना भी एक उपाय हो सकता है। इस सुझाव का यह आशय नही है कि ये अदालतें केवल महिलाओं के मामले ही निपटायेंगी। इनका कार्य-क्षेत्र और बड़ा होना चाहिये। वर्तमान में हमारे देश में पारिवारिक अदालतों की प्रणाली कुछ राज्यों में है। परन्तु इन अदालतों का प्रमुखरूप से उद्देश्य शादियों को टूटने से रोकना है। इन अदालतों का कार्य-क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है और उसमें महिलाओं की सब प्रकार की घरेलू और गैर-घरेलू समस्याओं को सम्मिलित किया जा सकता है। यदि ऐसी अदालतें स्थापित की जायें जिनमें जज, मजिस्ट्रेट और वकील स्त्रियों के मामलों की जानकारी और उनमें रूचि रखते हों, तो यह और भी अच्छा होगा। इससे कानून के व्यवसाय में स्त्रियों की सख्या बढ जायेगी। कई महिलाओं को अदालतें और कानून कम डरावने और अधिक सुगम्य (approachable) लगेंगे यदि उन पर आदमी कम छाये हुए होंगे। महिला जज और वकील अपने पुरुष प्रतिरूपों से अपनी मनोवृत्तियों, विश्वासों और कानून की व्याख्या में बहुत अधिक भिन्न नही होंगी, फिर भी पीडित महिलायें दूसरी महिलाओं के समक्ष उपस्थित होने में यह आशा करके अधिक प्रसन्न हो सकती हैं कि उनमें स्त्रियों की समस्याओं की अधिक समझ होगी।

चौथा, स्वयंसेवी संगठनों को, जो महिलाओं की निजी समस्याओं के बारे में उनके ससुराल वालों से या पुलिस या अदालतों से या सबधित व्यक्ति से बात कर सकें, सशक्त बनाना और उनकी सख्या बढ़ाना भी इतना ही आवश्यक है। यह इसलिये कि एक अकेली स्त्री की बात को कोई महत्व नहीं दिया जाता। वास्तव में, यदि वह अपने अधिकार मांगती है या मौलिक विचार रखती है या अपने विचारों को व्यक्त करती है और अपनी उत्कंठाओं को उजागर करती है, तो उस पर स्पष्टवादी होने का आरोप लगाया जाता है। परन्तु यदि महिलाओं का एक समूह एकत्र होता है और स्त्री के दुख के विरुद्ध आवाज़ उठाता है तो वे अपने विचारों को दृढ़तापूर्वक व्यक्त कर सकती हैं और प्रभावी सिद्ध हो सकती हैं।

पाचवा, ऐसे संगठनों का प्रचार होना चाहिये जो महिलाओं को नि शुल्क कानूनी सहायता देते हैं जिससे कि निर्धन स्त्रियां उनके पास जाकर सहायता मांग सके।

अन्तिम, महिलाओं के मामलों में माता-पिता के विचारों में परिवर्तन की भी आवश्यकता है। माता-पिता अपनी पुत्रियों-विवाहित या विधवा-जिन्हें उनके पति पीटते हैं या जिनके साथ उनकी ससुराल पक्ष वाले दुर्व्यवहार करते हैं, को अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने पति के घर में रहने के लिये क्यों बाध्य करते हैं ? जब माता-पिता को अपनी पुत्री के उत्पीड़न के बारे में मालुम होता है तो वे उसे थोड़े समय के लिये जब तक कि वह अपना प्रबन्ध न करले अपने साथ रखने की अनुमति क्यों नहीं देना चाहते ? उन्हें सामाजिक कलक के लिये इतना चिंतित क्यों होना चाहिये और अपने परिवार के लिये अपनी पुत्री का बलिदान क्यों करना चाहिये।

महिलाओं को भी अत्याचार के आगे क्यों झुकना चाहिये ? वे क्यों नहीं समझतीं कि उनमें अपनी और अपने बच्चों की देख-रेख करने की क्षमता है ? उनके यह समझ में क्यों नहीं

आता कि उन्हें दी जा रही यातना से उनके बच्चों को भी भावात्मक आघात पहुंचता है ? महिलाओं को अपने अधिकार पर दृढ रहना और अपने लिये नई भूमिकाए स्वीकार करना सीखना है । उन्हें जीवन की ओर एक आशावादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिये ।

REFERENCES

1 Ahuja, Ram, *Crime against Women*, Rawat Publications, Jaipur, 1987
2 Blumer, D , *Neuro-psychiatric Aspects of Violent Behaviour*, University of Toronto, Canada, 1973.
3. Borland, Marie (ed), *Violence in the Family*, Manchester University Press, manchester, 1976
4. Chapman, J.K. and Gates, Margaret (eds.), *The Victimisation of Women*, Sage Publications, Beverly Hills, California, 1976.
5. Curtis, Lynn A , *Criminal Violence*, Luxington Books, Kentucky, 1974.
6. Finkelhor David, Gelles Richard, Hotaling Gerald, Straus Murraya, *The Dark Side of Families*, Sage Publications, Beverly Hills, California, 1983.
7. Gelles, Richard, J , *The Violent Home· A Study of Physical Aggression Between Husbands and Wives*, Sage Publications, Beverly Hills, California, 1974.
8. Hilberman E. and Munson, M , "Sixty Battered Women" in *Victimology. An International Journal*, 1978-79.
9 Leonard, E B., *Women, Crime and Society*, Longman, New York, 1982.
10. Maria, (ed), *Battered Women· A Psycho-Sociological Study of Domestic Violence*, Van Nostrand Reinhold, New York, 1977
11 Steinmetz, S K and Straus, M A , (ed), *Violence in the Family*, Harper and Row, New York, 1974
12. Tinkleberg, J.R., "Alcohol and Violence" in Bourne and Fox (eds), *Alcoholism. Progress in Research and Treatment*, Academic Press, New York, 1973.
13 Wilson Elizabeth, *What is to be Done about Violence Against Women*, Penguin, Harmondsworth, 1983
14 Wolfgang, M E , "Violence in the Family", in Kutash et al, *Perspectives in Murder and Aggression*, John Wiley, New York, 1978

अध्याय 10

निरक्षरता
Illiteracy

स्वतंत्रता के बहुत पहले से भारत में निरक्षरता को विकास में बाधा माना गया है। सामान्यतया यह विश्वास रहा है कि निरक्षरता को काफी हद तक हटाये बिना भारत एक संगठित राष्ट्र नहीं बन सकता और अपने नागरिकों को उस कोटि का जीवन प्रदान नहीं कर सकता जिसकी उन्हें वर्षों से लालसा रही है। इसलिये कोई आश्चर्य नही कि शिक्षा को साधारणरूप से और साक्षरता को विशेपरूप से देश की विकास प्रक्रिया में उच्च प्राथमिकता दी गई है।

साक्षरता की क्या परिभापा है ? साक्षर कौन है ? वह व्यक्ति 'साक्षर' है जो किसी भापा को पढ और लिख सकता है। भारत में जनगणना आयोग ने 1991 में ऐसे व्यक्ति को 'साक्षर' माना है जो किसी भारतीय भापा को 'समझ के साथ' (with understanding) पढ़ और लिख सकता है न कि केवल पढ़ और लिख सकता है। वे,जो पढ़ सकते हैं परन्तु लिख नहीं सकते,साक्षर नहीं है। एक व्यक्ति को साक्षर मानने के लिये स्कूल में औपचारिक शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक नही है।

शिक्षा पर राष्ट्रीय नीति के एक प्रस्ताव में जो 1968 में पारित किया गया, शिक्षा में आमूलचूल पुनर्निर्माण प्रस्तावित किया गया। इसमें ये मानक सम्मिलित थे:(i) प्रणाली में इस प्रकार का परिवर्तन जिससे कि उसका व्यक्तियों के जीवन से अधिक निकट का संबंध हो,(ii) शिक्षा के अवसरों को बढ़ाने के लिये निरंतर प्रयास,(iii) सब चरणों पर शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाने के लिये सतत प्रयास,(iv) विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास पर बल,और (v) नैतिक और सामाजिक मूल्यों का संवर्धन (cultivation)। शिक्षा की नीति पर 1986 में बल दिया गया और सब वर्गों के लिये शिक्षा के समान अवसरों के प्रावधान पर ज़ोर दिया गया था।

शिक्षा के क्षेत्र में पचास के दशक से कुछ उन्नति हुई है। मान्यताप्राप्त शिक्षण संस्थाओं की संख्या तीन गुनी से अधिक हो गई है,यानी 1951 में 2.31 लाख से 1991 में 7.55 लाख। इसके अलावा 2.70 लाख अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र हैं। शिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थियों का पंजीयन साढ़े पांच गुने से अधिक बढ गया है,यानी उसी अवधि में 2.4 करोड़ से 13.6 करोड़। साक्षरों की संख्या में भी तीन गुने से कुछ अधिक की बढ़ोतरी हुई है, यानी 1951 में 16.7 प्रतिशत से 1991 में 52.11 प्रतिशत (दि हिन्दुस्तान टाइम्स,मार्च 26, 1991)। विभिन्न वर्षों में साक्षरता की दरों में परिवर्तन निम्नांकित तालिका में दर्शाया गया है (1991 में साक्षरता दरें सात वर्ष और उससे ऊपर की आयु के व्यक्तियों की जनसंख्या से संबंधित हैं और 1981 तक

देश की पूरी जनसंख्या से)।

वर्ष	जनसख्या (करोड़)	निरक्षर (करोड़)	साक्षर (करोड़)	साक्षरता दर (प्रतिशत)		
				पुरुष	महिला	योग
1901	23.83	22 25	1 58	9 8	0.6	5.3
1911	25.20	23.35	1.85	10 6	1.1	5.9
1921	25 13	22.90	2 23	12 2	1.8	7.2
1931	27.89	24 74	3 15	15 6	2.9	9.5
1941	31 86	26.18	5.68	24.9	7.3	16.1
1951	36.10	29 42	6.68	27.16	8 86	18.33
1961	43.92	32 55	11 37	40 40	15.34	28.31
1971	54.81	37 62	17.19	45 95	21 97	34.45
1981	68 33	42.43	25.90	56.37	29 75	43.56
1991	84 43	48 19	36 24	63 86	39 42	52 11

स्रोत फ्रन्टलाइन, अप्रैल 27-मई 10, 1991, पृष्ठ 55 और इन्डिया, 1992, पृ 13

यदि साक्षरता की पुरानी परिभाषा को माना जाये और सपूर्ण जनसख्या को ध्यान में रखा जाये,तो 1991 में साक्षरण्ता दर 42 94 प्रतिशत थी,जिसकी तुलना में 1981 में 36.23 प्रतिशत और 1971 में 29 48 प्रतिशत थी।

शिक्षा की सुविधाओं में परिमाणात्मक प्रसारण के साथ-साथ अब उसे गुणात्मक बनाने पर अधिक बल दिया जाता है। 1976 से पहले शिक्षा का एकमात्र दायित्व राज्यों का था। केन्द्र सरकार केवल तकनीकी और उच्च शिक्षा का समन्वय और मानदण्डों का निर्धारण ही किया करती थी। 1976 में एक सवैधानिक सशोधन के जरिये शिक्षा का दायित्व केन्द्र और राज्यों दोनों का हो गया और सपूर्ण प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति और 1985 तक 15-35 के आयु समूह में निरक्षरता के उन्मूलन पर ज़ोर दिया गया। एक ओर समाज की सहभागिता की योजना बनाई गई और दूसरी ओर 'आपरेशन ब्लेक बोर्ड' का कार्यक्रम प्राथमिक स्कूलों में मूल सुविधाए उपलब्ध कराने के लिये क्रियान्वित किया गया। अब अनौपचारिक शिक्षा और खुली शिक्षा प्रणालियों को सभी स्तरों पर प्रोत्साहित किया जा रहा है। फिर भी देश में निरक्षरता को हटाने के क्षेत्र में उसकी विशाल जनसख्या के कारण अधिक प्रगति नही हो सकी है। यह देश में अभी तक पाये जाने वाले निरक्षर व्यक्तियों के विशाल आकार से स्पष्ट है।

निरक्षरता का विस्तार (Magnitude of Illiteracy)

1991 की जनगणना के अनुसार भारत की पूरी जनसख्या के 47 89 प्रतिशत व्यक्ति अथवा लगभग 40 4 करोड व्यक्ति निरक्षर हैं (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 26, 1991)। आज, स्वाधीनता के 47 वर्षों बाद 10 भारतीयों में से पाच, पाच स्त्रियों में से तीन, और जन-जातियों और अनुसूचित जातियों के दस व्यक्तियों में से आठ अभी तक पढ लिख नही सकते हैं। पूरे

निरक्षर व्यक्तियों में से लगभग 10 करोड़ निरक्षर 15-35 आयु समूह में हैं जो कि सबसे अधिक उत्पादनकारी आयु समूह है और यह राष्ट्रीय पुनर्निमाण के कार्य में निर्णायक महत्त्व रखता है। यह संख्या निरन्तर बढ़ रही है और इस शताब्दी के अन्त तक ससार में सर्वाधिक निरक्षरों की संख्या अपने देश में होगी।

1991 के आकड़े बताते हैं कि केरल साक्षरता में चोटी पर होने का स्थान बनाये हुए है, बिहार सबसे नीचे है और राजस्थान उसके निकट है। 1991 की जनगणना के अनुसार विभिन्न राज्यों में सारक्षरता की दरें इस प्रकार हैं. आन्ध्रप्रदेश 45.11, असम 53 42, बिहार 38 54, गुजरात:60.91, हरियाणा. 55.33, हिमाचल प्रदेश. 63.54, कर्नाटक 55 98, केरल 90.59, मध्यप्रदेश: 43.45, महाराष्ट्र 63 05, मणीपुर 60.96, मेघालय. 48.26, मिज़ोरम: 81.23, नागालैन्ड: 61.30, उड़ीसा· 48.55, पजाब 57.14, राजस्थान 38.81, सिक्किम. 56 53, तमिलनाडु· 63.72, त्रिपुरा: 60 39, उत्तरप्रदेश 41 71, और पश्चिम बगाल 57.72 (फ्रन्टलाइन, अप्रैल 13-26, 1991 और इन्डिया 1992, पृष्ठ 16)।

साक्षरता दर में अखिल भारतीय कोटिक्रम में, केरल का प्रथम स्थान है और इसके बाद मिज़ोरम, तमिलनाडु, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, नागालैण्ड, मणीपुर, गुजरात, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल, पंजाब, सिक्किम, कर्नाटक, हरियाणा, असम, उडीसा, और मेघालय आते हैं। दूसरी ओर से (यानी निम्नतम साक्षरता दर से) बिहार प्रथम स्थान पर है और इसके बाद राजस्थान, अरुणाचल प्रदेश, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और आन्ध्रप्रदेश आते हैं (फ्रन्ट लाइन, अप्रैल 13-26, 1991)।

यद्यपि भारत में साक्षरता दर 1981 में 43.56 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में 52.11 प्रतिशत हो गई है (साक्षरता की नयी परिभाषा के अनुसार अथवा 7 वर्ष और उसके ऊपर) फिर भी अचर पदों (absolute terms) में निरक्षरों की संख्या 1951 में 29.42 करोड़ से बढ़कर 1991 में 48.19 करोड़ हो गई। यदि भारत में निरक्षरों की इतनी ऊंची प्रतिशतता का दूसरे देशों के निरक्षरों की संख्या से तुलना की जाये तो हमारा देश बहुत ही अधिक पिछड़ा हुआ लगता है। 1986 में रूस में निरक्षरों की संख्या लगभग शून्य थी, अमेरिका में वह 1.0 प्रतिशत, इटली में 3.0 प्रतिशत, चीन में 31.0 प्रतिशत, मिश्र में 47.0 प्रतिशत, नाइजीरिया में 57.0 प्रतिशत, लीबिया में 34 0 प्रतिशत, ब्राजील में 21 0 प्रतिशत, श्रीलंका में 13.0 प्रतिशत, सिंगापुर में 14 0 प्रतिशत, युगोस्लोवाकिया में 8 0 प्रतिशत और भारत में कुल जनसंख्या की 57.0 प्रतिशत थी (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, जनवरी 15-21, 1989)।

संपूर्ण प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य की सन 2000 तक प्राप्ति लगभग असंभव लगती है क्यों कि हम (1981 में) अपने कुल वार्षिक बजट का 1.2 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय कर रहे हैं (जबकि 1991 में यह बढ़ कर 3.7% हो गया) उसकी तुलना में अमेरिका, 19.9 प्रतिशत, जापान, 19.6 प्रतिशत, रूस, 11.2 प्रतिशत, और फ्रास, 17.8 प्रतिशत व्यय कर रहे हैं। इसके और विस्तृत विवरण तालिका 10.2 में दिये गये हैं।

तालिका 10.2
शिक्षा पर व्यय हुए बजट की प्रतिशतता (1981)

	देश	शिक्षा पर व्यय हुआ वार्षिक बजट	साक्षरता
1	रूस	11 2	98 5
2.	अमेरिका	19 9	99 5
3.	जापान	19 6	99 0
4.	इगलैंड	13 9	99 0
5.	फ्रास	17 8	97 0
6.	आस्ट्रेलिया	14 8	98 5
7.	कनाडा	17 3	99 0
8	जर्मनी	10.1	99 0
9	भारत	1 2	41 4
10	पाकिस्तान	2 1	20 7
11.	बागलादेश	2.1	25 8
12.	श्रीलका	3.5	86 5
13.	बर्मा	1.6	65 9
14.	नैपाल	3 0	23 3
15	भूटान	1 9	18 0
16	सिंगापुर	उपलब्ध नहीं	84.2
17.	मिश्र (इजिप्ट)	5 5	68 6

स्रोत मायरन वेनर (1991), 'दि चाइल्ड एन्ड दि स्टेट इन इडिया' प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 159, और फ्रन्ट लाइन, अप्रैल 27-मई 10, 1991, पृष्ठ 55।

हमारे देश में महिलाओं में निरक्षरता की समस्या और भी भयकर है। 1991 में भारत में 24 76 करोड़ महिलाएँ निरक्षर थी। निरक्षरता प्रतिशतता पुरुषों की 36 14 की तुलना में आज महिलाओं की 60 58 है। शहरी क्षेत्रों में महिला निरक्षरता 52.0 प्रतिशत है जहा पुरुषों में 34 0 प्रतिशत है। ग्रामीण क्षेत्रों में पुरुषों की 59 0 प्रतिशत की तुलना में महिलाओं की निरक्षरता दर 82.0 प्रतिशत है। राजस्थान में महिला साक्षरता दर पूरे देश में सबसे कम है। 1991 की जनगणना के अनुसार, राजस्थान में महिला साक्षरता का आकडा 20.84 प्रतिशत है, इसके बाद बिहार, 23.10 प्रतशत, उत्तरप्रदेश 26 02 प्रतिशत, और मध्यप्रदेश 28 39 प्रतिशत है। जबकि 1981 में राजस्थान में महिला साक्षरता दर केवल 13.99 प्रतिशत थी, 1981-91 के मध्य उसमें 6 85 प्रतिशत की वृद्धि हुई। बिहार में 1981 की महिला साक्षरता प्रतिशतता 16 51 थी, उसमें 6.59 प्रतिशत की वृद्धि हुई, उत्तरप्रदेश के 1981 के 17 18 प्रतिशत में 8 84 प्रतिशत वृद्धि, मध्यप्रदेश के 1981 के 18 99 प्रतिशत में 9.40 प्रतिशत की वृद्धि हुई (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 29, 1991)। निम्नाकित तालिका 10.3 विभिन्न राज्यों में पुरुषों और महिलाओं की

साक्षरता दरों की तुलना देती है (1991 में साक्षरता की नई परिभाषा के अनुसार, यानी जनसंख्या जिसकी आयु सात वर्ष और उससे अधिक है)।

तालिका 10.3

भारत में विभिन्न राज्यों में साक्षरता की दरें (1991)

(प्रतिशतता में)

	राज्य (जिनकी जनसंख्या एक करोड़ से अधिक है)	साक्षरता की दर (1991)		
		योग	पुरुष	महिलाएं
1.	संपूर्ण भारत	52.11	63 86	39.42
2.	आन्ध्र प्रदेश	45.11	56 24	33.71
3.	असम	53.42	62 34	43.70
4.	बिहार	38 54	52.63	23.10
5.	गुजरात	60.91	72.54	48.50
6	हरियाणा	55 33	67.85	40.94
7.	कर्नाटक	55.98	67.25	44.34
8.	केरल	90.59	94.45	86.93
9.	मध्य प्रदेश	43.45	57.43	28.39
10.	महाराष्ट्र	63.05	74.84	50.51
11.	उड़ीसा	48.55	62.37	34.40
12.	पंजाब	57.14	63.68	49.72
13.	राजस्थान	38.81	55.07	20 84
14.	तमिलनाडु	63.72	74.88	52.29
15.	उत्तर प्रदेश	41.71	55.35	26.02
16.	पश्चिम बंगाल	57.72	67.24	47.15

स्रोत: सेन्सस ऑफ इंडिया, 1991, पेपर I स्टेटमेन्ट 16, पृष्ठ 67.

बच्चों में भी निरक्षरता की स्थिति इतनी ही बुरी है। 6-14 वर्ष के आयु-समूह में भारत में 15.3 करोड बच्चे हैं। इनमें से लगभग 80 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में दाखिल हैं। फिर भी 2.8 करोड़ बच्चे ऐसे हैं जो स्कूल नहीं जाते। फिर जो स्कूल में दाखिल हैं उनमें से लगभग 50 प्रतिशत पहली कक्षा के बाद पांचवीं कक्षा तक पहुंचते बीच में ही स्कूल छोड़ देते हैं। प्राथमिक स्कूल तक टिके रहने की दर (यानी, वह प्रतिशत जो पाचवी कक्षा पूरी करते हैं) भारत में 38.0 प्रतिशत है। इसकी तुलना में चीन में 70.0 प्रतिशत, मिश्र में 64.3 प्रतिशत, मलेशिया में 97.2 प्रतिशत, श्रीलंका में 90.8 प्रतिशत और सिगापुर में 90.0 प्रतिशत है (वेनर, 1991:159)।

हिन्दी क्षेत्र में निरक्षरता (Illiteracy in Hindi Area)

अन्य प्रान्तों की तुलना में हिन्दी क्षेत्र में निरक्षरता अधिक है। देश के निरक्षर व्यक्तियों का

पाचवाँ हिस्सा इस हिन्दी क्षेत्र में मिलता है। इस क्षेत्र के चार राज्यों-बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तरप्रदेश को प्रोफेसर अशिश बोस ने 'बिमारु क्षेत्र' का नाम दिया है। उपलब्ध आकडे इस क्षेत्र का साक्षरता सबधी पिछडापन स्पष्ट करते हैं। 1961 में जब 'बिमारु क्षेत्र' में साक्षरता दर 20 65 प्रतिशत थी, राष्ट्रीय स्तर पर यह 28.30 प्रतिशत थी। 1961 का यह 12.58 प्रतिशत का अन्तर बढ़ कर 1971 में 15 82 प्रतिशत, 1981 में 17 80 प्रतिशत, और 1991 में 18 48 प्रतिशत हो गया (फ्रन्टलाइन, जुलाई 30, 1993)। इस क्षेत्र में लिंग अभिनति भी महत्वपूर्ण है। जब पूरे देश में महिला साक्षरता दर 1991 में 40 प्रतिशत थी, तब 'बिमारु क्षेत्र' में यह 21 प्रतिशत और 29 प्रतिशत के मध्य थी (बिहार 21 89 %, मध्य प्रदेश 29 0 %, राजस्थान 21 0 %, और उत्तर प्रदेश 26 0 %)। जब पहली से पाचवी कक्षाओं में लडकियों के दाखिले की दर 1991-92 में पूरे देश में 88 09 प्रतिशत थी, तब 'बिमारु क्षेत्र' में यह 50 0 प्रतिशत और 66 प्रतिशत के बीच थी (बिहार 55 55 %, राजस्थान 50 05%, उत्तर प्रदेश 66 88%)।

तालिका 10.4

बिमारु क्षेत्र में 1991 निरक्षरता का विस्तार

राज्य	क्षेत्र	जनसख्या (करोड)			निरक्षर (करोड)		
		योग	पुरुष	महिला	योग	पुरुष	महिला
	योग	6 8	3 6	3 2	4 2	1 7	2 5
बिहार	ग्रामीण	5 9	3 1	2 8	3 9	1 6	2.3
	नगरीय	0 9	0.5	0 4	0.3	0 1	0.2
	योग	5 3	2 8	2.5	2 9	1 1	1 8
मध्य प्रदेश	ग्रामीण	4 1	2 1	2.0	2 5	1 0	1 5
	नगरीय	1 2	0 7	0.5	0 4	0 1	0.3
	योग	3.5	1 8	1 7	2 1	0 8	1 3
राजस्थान	ग्रामीण	2.7	1 4	1 3	1 8	0 7	1 1
	नगरीय	0 8	0 4	0 4	0.3	0 1	0 2
	योग	11 0	5 9	5 1	6 4	2 6	3 8
उत्तर प्रदेश	ग्रामीण	8 8	4 7	4 1	5 6	2 3	3 3
	नगरीय	2 2	1 2	1 0	0 8	0.3	0.5

स्रोत फ्रन्टलाइन जुलाई 30, 1993

फिर इस 'बिमारु क्षेत्र' में निर्धनता और निरक्षरता का भी आपसी सम्बन्ध मिलता है। 1989-90 के मूल्य पर जब इस क्षेत्र की प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष आय 2,122 रुपये और 3,072 रुपये के बीच थी (बिहार 2,122 रुपये, मध्य प्रदेश 2,878 रुपये, उत्तर प्रदेश 3,072 रुपये, और राजस्थान 2,923 रुपये), राष्ट्रीय स्तर पर यह आय 4,284 रुपये थी। जब राष्ट्रीय स्तर पर 1990-91 में शिक्षा पर प्रति व्यक्ति व्यय 20 रुपये था, उत्तर प्रदेश में 13 17 रुपये, बिहार में 15 77 रुपये, मध्य प्रदेश में 16.30 रुपये और राजस्थान में 18.50 रुपये था।

'बिमारु क्षेत्र' के गावों में साक्षरता की स्थिति और खराब है । जब देश की पूरी ग्रामीण जनसंख्या का 38 प्रतिशत बिहार, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में मिलता है, यहां के गांवों में महिला साक्षरता दर 10 प्रतिशत से भी कम है ।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन ने जो साक्षरता अभियान का लक्ष्य जनसख्या (target population) बनाया है उसका केवल 13.81 प्रतिशत इस 'बिमारु क्षेत्र' में है । क्योंकि साक्षरता का आर्थिक विकास पर सकारात्मक प्रभाव मिलता है अत 'बिमारु क्षेत्र' में साक्षरता प्रोग्राम को अधिक महत्व देना अति आवश्यक है ।

निरक्षरता और जनसख्या वृद्धि (Illiteracy and Population Growth)

साधारणतया यह माना जाता है कि महिला साक्षरता का जनसख्या वृद्धि दर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । परन्तु चार राज्यों (राजस्थान, प बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात) से संबंधित 1971, 1981 और 1991 के आकड़े यह सिद्ध नही करते । राजस्थान में जब 1981 से 1991 तक महिला साक्षरता (म.सा) में 9.42 प्रतिशत वृद्धि हुई थी, ज व द (जनसख्या वृद्धि दर) में केवल 0.35 प्रतिशत कमी थी, प बगाल में जब म सा में 16 90 प्रतिशत वृद्धि थी, ज.व.द. में केवल 0.12 प्रतिशत कमी थी; गुजरात में जब म सा में 16.20 प्रतिशत वृद्धि थी, ज.व.द में केवल 0.53 प्रतिशत कमी थी; महाराष्ट्र में जब म सा. में 15 72 प्रतिशत वृद्धि थी, ज व द. में केवल 0.10 प्रतिशत कमी थी । छोटे राज्यों—मणीपुर, मेघालय, नागालैण्ड, सिक्किम व त्रिपुरा—में भी ऐसा ही सम्बन्ध मिलता है (हिन्दुस्तान टाइम्स, जुलाई 1, 1993) ।

अगर कुल साक्षरता और ज व द. में सम्बन्ध देखा जाये तो इन में भी कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही मिलता । जब साक्षरता में वृद्धि के साथ ग्यारह राज्यों (बिहार, गुजरात, हरियाणा, मध्यप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल, पजाब, राजस्थान, सिक्किम और मणीपुर) में ज.व.द में कमी मिली, सात राज्यों (आन्ध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बंगाल, नागालैण्ड, मेघालय और त्रिपुरा) में वृद्धि मिली और दो राज्यों (उत्तरप्रदेश और उडीसा) में कोई सम्बन्ध नहीं मिला । इस आधार पर यह सोचना कि साक्षरता वद्धि से जनसख्या वृद्धि स्वत नियंत्रित हो जायेगी ग़लत होगा । परन्तु केवल उपरोक्त आंकड़ों के आधार पर साक्षरता वृद्धि के परिणामों की उपेक्षा करना भी सही नहीं होगा । साक्षरता वृद्धि का शिशु मृत्युदर तथा बुढ़ापे की देखरेख आदि पर निश्चय ही प्रभाव है । निरक्षरता अवश्य ही एक अभिशाप है और इसका उन्मूलन अति आवश्यक है ।

शिक्षा की राष्ट्रीय नीति (National Policy on Education)

लोक सभा ने 1986 में शिक्षा की राष्ट्रीय नीति को स्वीकृति प्रदान की । उसने एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली बनाने का प्रयत्न किया जिसमें निर्धारित किया गया कि: (i) पाठ्यक्रम का एक ऐसा ढांचा जो कि सारे देश में शिक्षा के विभिन्न चरणों के अन्त में योग्यता में समानता स्थापित करे, (ii) समाज और संस्कृति के समाकलनात्मक पहलु को सुदृढ़ करे, और (iii) एक मूल्य व्यवस्था को स्थापित करे जो समतावादी, प्रजातान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष समाज के लिये आवश्यक है ।

नई नीति में विशेष कार्यवाहियों को इतने विस्तृत वर्णन के साथ सूचीबद्ध किया गया है कि उसको घोषणापत्र से कम की सज्ञा नही दी गई है, न केवल शिक्षा की प्राप्ति में समानता के लिये परन्तु समाज के प्रतिकूल परिस्थितियों में रहने वालों की प्रतिष्ठा के समकरण (equalisation) के लिये भी। उसमें कहा गया है कि शैक्षणिक परिवर्तन, असमताओं को घटाना, प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमिकरण, प्रौढ शिक्षा, और वैज्ञानिक और शिल्पवैज्ञानिक अनुसधान राष्ट्रीय उत्तरदायित्व माने जायेंगे जिनके लिये पर्याप्त ससाधन उपलब्ध कराये जायेंगे।

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की अवधारणा यह अपेक्षा करती है कि एक निश्चित स्तर तक सभी विद्यार्थियों को जाति, लिग और स्थान को बिना ध्यान में लाये हुये एक तुलनीय कोटि की शिक्षा प्राप्त हो। वह देश के सब भागों के लिये 10 + 2 + 3 के समान ढाचे की परिकल्पना करती है। पहले दश वर्ष के अन्तराल में प्राथमिक शिक्षा के पाच वर्ष, उच्च प्राथमिक के तीन वर्ष और हाई स्कूल के दो वर्ष हैं। प्राथमिक शिक्षा के सबध में राष्ट्रीय नीति ने प्रस्तावित किया कि वह सुनिश्चित करेगी कि सब बच्चों को जिन्होंने 1990 तक 11 वर्ष की आयु प्राप्त करली होगी, पाच वर्ष की शिक्षा अनौपचारिक धारा के द्वारा मिल जायेगी। इसी प्रकार उसमें प्रावधान है कि 1995 तक सभी बच्चों को 14 वर्ष की आयु तक नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जायेगी।

निरक्षरता के उन्मूलन के लिये राष्ट्रीय शैक्षणिक नीति ने यह प्रस्ताव रखा कि 15-35 आयु समूह में प्रौढ और सतत शिक्षा का विशाल कार्यक्रम विभिन्न माध्यमों के द्वारा कार्यान्वित किया जायेगा। विभिन्न माध्यम हैं (अ) सतत शिक्षा के लिये ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्रों की स्थापना, (ब) मालिकों और सरकार की सम्बधित एजेन्सियों द्वारा श्रमिकों की शिक्षा, (स) रेडियो, दूरदर्शन और सिनेमा फिल्मो को व्यापक और सामूहिक शिक्षा का माध्यम बनाना, (द) शिक्षा प्राप्त करने वाले समूहों और सगठनों का गठन करना, (इ) दूरवर्ती शिक्षा के कार्यक्रमों, और (एफ) स्व-शिक्षा में सहयोग का आयोजन। कार्य योजना ने यह निश्चित किया कि प्रौढ शिक्षा का राष्ट्रीय कार्यक्रम (National Programme of Adult Education) 1990 तक चार करोड़ व्यक्तियों को लाभान्वित करेगा और 1995 तक अन्य छ करोड व्यक्तियों को।

दिसम्बर 1993 में सर्वाधिक जनसख्या वाले नौ देशों (बगलादेश, ब्राजील, चीन, भारत, इडोनेशिया, मिश्र, मैक्सिको, पाकिस्तान और नाइजीरिया) का एक एक-दिवसीय शिक्षा शिखर सम्मेलन भारत में हुआ था। इसमें इस शताब्दी के अत तक "सबको शिक्षा" (Education for All) का लक्ष्य हासिल करने पर ज़ोर दिया गया। इन नौ देशों में ससार के वयस्क निरक्षरों का 70 प्रतिशत मिलता है। सभी नौ राष्ट्र सहमत थे कि राष्ट्रीय स्तर पर विकास, जीवन स्तर सुधार, अयोग्यता और जनसख्या नियत्रण, तथा अतरराष्ट्रीय स्तर पर सहिष्णुता, सद्भाव और शान्ति के लिए सबको शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करना जरूरी है। विचार-विमर्श में कहा गया कि *सर्वाधिक महत्व प्राथमिक शिक्षा को दिया जाये।*

निरक्षरता के उन्मूलन के लिये किये गये उपाय (Measures Adopted for Eradicating Illiteracy)

मोटे तौर पर, अपने देश में निरक्षरता के उन्मूलन के लिये तीन उपाय किये गये हैं (i) राष्ट्रीय प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम, (ii) ग्रामीण प्रकार्यवादी साक्षरता कार्यक्रम, और (iii) राष्ट्रीय साक्षरता मिशन।

राष्ट्रीय प्रौढ शिक्षा (एन.ए.ई.) कार्यक्रम (National Adult Education Programme)

एन.ए.ई. कार्यक्रम 2 अक्टूबर, 1978 को आरंभ किया गया था और इसका उद्देश्य निरक्षर व्यक्तियों को विशेषरूप से 15-35 वर्षों के आयु समूह में, शिक्षा देना और साक्षरता के लिये प्रोत्साहित करना था। यह कार्यक्रम केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों, केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के प्रशासनों, स्वयसेवी संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और युवा केन्द्रों का संयुक्त और सहकारिक प्रयास है। एन.ए.ई. कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षा एक पैकेज है जो निम्न विचार करती है (i) लक्षित निरक्षर जनसंख्या को साक्षरता की प्रवीणताएं सिखलाना, (ii) उनका प्रकार्यवादी विकास, और (iii) पुनः वितरणात्मक न्याय की रणनीति की सफल कार्यान्विति के लिये सरकार के कानूनों और नीतियों के बारे में उनमें जागरूकता उत्पन्न करना। स्त्रियों, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों और समाज के अन्य कमजोर वर्गों, जो भारत की निरक्षर जनसंख्या का अधिकांश भाग है, की शिक्षा पर विशेष बल दिया जा रहा है।

यूनेस्को ने वर्ष 1990 को अन्तर्राष्ट्रीय साक्षरता वर्ष (आई.एल.वाई.) घोषित किया था। इसका उद्देश्य जनता में साक्षरता की प्रासंगिकता की आवश्यकता के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना था। राष्ट्रीय स्तर पर आई.एल.वाई. को नई देहली में 22 जनवरी, 1990 को आरंभ किया गया था। विद्यार्थी और गैर विद्यार्थी स्वयं सेवकों से कहा गया कि साक्षरता के संदेश को फैलाने और वास्तविक रूप से साक्षरता प्रदान करने के महान लक्ष्य के लिये वे अपनी सामूहिक शक्ति जुटायें।

ग्रामीण प्रकार्यवादी साक्षरता (आर.एफ.एल.) कार्यक्रम (Rural Functional Literacy Programme)

आर.एफ.एल. प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम का एक उप-कार्यक्रम है जिसका संपूर्ण व्यय केन्द्र सरकार वहन करती है और यह राज्य सरकारों द्वारा कार्यान्वित किया जाता है। इस कार्यक्रम के सामान्य उद्देश्य हैं: (i) सीखने वालों में पढने और लिखने की क्षमता विकसित करना, और (ii) सीखने वालों में इसकी जागरूकता उत्पन्न करना कि उनके क्या अधिकार और कर्त्तव्य हैं और सरकार द्वारा कार्यान्वित की जा रही सामाजिक-आर्थिक विकास की विभिन्न परियोजनाओं से वे क्या लाभ हासिल कर सकते हैं।

आर.एफ.एल. कार्यक्रम मई, 1986 में आरंभ किया गया था और इसमें एन.एस.एस. और

महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के अन्य छात्रों को "प्रत्येक एक पढाओं" (ईच वन टीच वन) के सिद्धान्त पर सम्मिलित किया गया था। दो लाख स्वयसेवकों के साधारण पैमाने से शुरु होकर यह 1990 में 4 50 लाख तक पहुच गया और इसमें 4 20 लाख पढने वाले हो गये। 1987 के दौरान एक महत्वाकाक्षी कार्यक्रम आरभ किया गया जिसमें स्कूलों और कालेजों के छात्रों एव अध्यापकों को शामिल किया गया और इसमें कार्यक्रम की सफलता पर शोध अध्ययनों के लिये भी निवेश थे। इस कार्यक्रम की योजना सीखने वालों की आवश्यकताओं और भाषाओं को ध्यान में रख कर बनाई गई है। सरकार ने प्रौढ शिक्षा की गुणवत्ता को सुधारने के लिये 40 जिलों का चयन किया है। इसके प्रभाव का मूल्याकन करने के बाद ही इस कार्यक्रम को कम से कम समय में साक्षरता फैलाने के लिये एक बडे पैमाने पर शुरु किया जायेगा।

प्रकार्यवादी साक्षरता के व्यापक कार्यक्रम (Mass Programme of Functional Literacy) की प्रक्रिया में कई चरण हैं। ये चरण हैं मास्टर प्रशिक्षकों जिन्हें विद्यार्थी स्वयसेवकों को प्रशिक्षण देना है, का चयन, ऐसे विद्यार्थी स्वयसेवकों का, जो सच्चे और वास्तविक रूप से साक्षरता कार्य के प्रति प्रतिबद्ध है चयन करना और उन्हें प्रेरित और सगठित करना, 15-35 आयु समूह के साक्षर व्यक्तियों की पहचान करना जो किसी शिक्षा सस्था के पास रह रहे हैं, विद्यार्थी स्वयसेवकों और निरक्षर व्यक्तियों के बीच सबध स्थापित करना और प्रत्येक स्वयसेवक का कार्यक्षेत्र नियत करना, स्कूलों के वरिष्ठ अध्यापकों/प्रधानाध्यापकों द्वारा विद्यार्थी स्वयसेवकों के कार्यक्रम को मानीटर करवाना, विभिन्न विकास विभागों/एजेन्सियों से इस प्रकार समन्वय स्थापित करना कि उनके अधिकारी उस स्थान पर जायें जहा स्वयसेवक साक्षरता प्रदान कर रहा है, सीखने वालों को साक्षरता के लाभ बताए, चार्ट, पोस्टर और अन्य सामग्री उनको उपलब्ध कराएं और उनकी वास्तविक कठिनाईयों की पहचान करें, और असाक्षरो (non-literates) को पुस्तकालयों और वाचनालयों के माध्यम से उत्तर-साक्षरता गतिविधिया प्रदान करें। जनसचार माध्यमों द्वारा कार्यक्रम की सूचना और समर्थन दिया जाना और उस के व्यापक प्रभाव का विश्वविद्यालय के प्रौढ और सतत शिक्षा विभागों द्वारा मूल्याकन करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्देशों और कार्य योजना में सोची गई कार्यान्विति की रणनीतियों के अनुसार सरकार ने प्रौढ शिक्षा के क्षेत्र में एक व्यापक कार्यक्रम बनाया जो राष्ट्रीय साक्षरता मिशन (एन एल एम) के नाम से जाना जाता है। एन एल एम को मई 1988 में आरभ किया गया। इसका लक्ष्य था कि प्रकार्यवादी साक्षरता 15-35 आयु समूह के आठ करोड निरक्षरों को प्रदान की जाये-तीन करोड को 1990 तक और पाच करोड अन्य को 1995 तक। इस प्रकार मिशन का लक्ष्य 1981 में 36 प्रतिशत की अपेक्षा 1995 में 80 0 प्रतिशत साक्षरता प्राप्त करना था। एन एल एम का लक्ष्य युवाओं और स्वयसेवी एजेन्सियों को इस कार्यक्रम में लगाने का था। 1990 में 513 परियोजनाए विभिन्न राज्यों और केन्द्र प्रदेशों में जारी थी। इसके

अतिरिक्त श्रमिक विद्यापीठ और 16 राज्य संसाधन केन्द्र विभिन्न राज्यों में श्रमिकों को शिक्षा देने और कार्यक्रम को तकनीकी ससाधन सहायता प्रदान करने के लिये कार्यरत हैं।

सम्पन्न उपायों का मूल्यांकन (Evaluation of Measures Undertaken)

सरकार द्वारा निरक्षरता उन्मूलन के प्रयास 1965 तक सफल नहीं हुये क्यों कि संभवतया राष्ट्र उस समय खाने, रोजगार और स्वावलंबन की समस्याओं से जूझ रहा था। इसके अतिरिक्त जनसंख्या में वृद्धि के कारण भी देश में निरक्षरों की सख्या में 1951 में 30 करोड़ से 1981 में 44 करोड की उत्तरोत्तर बढत हुई। फिर भी 1991 में यह सख्या घटकर 40 41 करोड हो गई। प्रकार्यवादी साक्षरता कार्यक्रम से यह आशा थी कि वह शिशु मृत्यु-दर को कम करेगा, स्कूल छोडने वालों की सख्या को घटायेगा, स्वास्थ्य में सुधार लायेगा, पर्यावरण की स्थितियों को और अच्छा बनायेगा, अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करेगा, नव-साक्षरों को हुनर सीखने में सहायता करेगा जिससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार आये, उनको छोटे परिवार के प्रतिमानों को अंगीकार करने के लिये प्रेरित करेगा और स्त्रियों की प्रतिष्ठा को बढ़ायेगा। परन्तु क्या हम सम्पूर्ण स्थिति में कोई भी परिवर्तन ला पाये हैं ?

इसकी प्रमुख आलोचना यह है कि प्रौढ शिक्षा अभियान को आम आदमियों का समर्थन प्राप्त नही है। योजना राज्यस्तर पर अधिक है और अभी तक जिले, गांव और क्षेत्र के स्तर पर कोई विस्तृत कार्यक्रम नही बनाया गया है। कमज़ोर क्षेत्रों और कठिन समस्याओं की न तो पहचान हुई है और न ही उनके लिये कोई व्यवस्था हुई है और न संसाधनों के बारे में कोई पक्का आश्वासन दिया गया है। अधिक समय अध्यापन कला (pedagogy) पर व्यतीत हुआ है और स्थानीय और क्षेत्रीय प्रार्थनायें एवं स्तुतियों (invocations) और विकल्प की आजादी को प्रभावी रूप से निरुत्साहित किया गया है (तिरलोक सिंह: मार्च, 1991)। सभी उपलब्ध विकल्पों, जिनमें तथाकथित 'केन्द्र' का उपागम, 'प्रत्येक पढ़ाओ एक' (each one teach one) या 'प्रत्येक कई पढ़ाओ' (each one teach many) भी सम्मिलित हैं, का स्वागत करने के बजाय संबधित एजेंसी उन स्वयंसेवी और स्थानीय एजेंसियों के मार्ग में अधिक से अधिक बाधायें डालती है जो 'केन्द्रों' पर सीखने वालों को एकत्रित करती हैं और उन्हें साक्षरता प्रदान करती हैं और दूसरे हुनर सिखाती हैं और सामाजिक दृष्टिकोण से लाभदायक ज्ञान देती हैं। हमारे देश में सुसंगत और अच्छी प्रकार से ब्योरेवार तैयार की हुई कार्य योजना नहीं है जो कि केन्द्र और राज्यों, स्थानीय संस्थाओं और स्वयसेवी संगठनों और रचनात्मक कार्यकर्ताओं को संचयी (cumulative), सर्व-सम्मिलित (all embracing) राष्ट्रीय प्रयास में जुटा ले।

उपरोक्त कारणों के अलावा दो अन्य कारण भी असफलता के लिए महत्वपूर्ण हैं। एक तो निर्धारित की गयी छ. महीने की अवधि अधिक है। क्योंकि इतनी लम्बी अवधि में शिक्षा प्राप्त करने वाले काफी लोग बीच में ही प्रोग्राम को छोड़ देते हैं, इस लिए इस अवधि को केवल दो महीने रखना सही होगा। दूसरा, निर्धारित किये गये साक्षरता प्रतिमान भी बहुत ऊंचे हैं। अंकगणित (arithmetic) को लिखने और पढ़ने से पृथक करना चाहिए। यहां यह नहीं कहा

जा रहा कि अकगणित सीखने का कोई मूल्य नहीं है । सुझाव केवल यह है कि अंकगणित को मूल साक्षरता से अलग करदो महीने के बाद सिखानी चाहिए । मूल साक्षरता के उपरान्त व्यक्ति स्वय अकगणित सीखने की माग रखेगा । दोनों को अलग करने से मूल साक्षरता में बीच में छोड देने वालों (drop outs) की सख्या कम हो जायेगी । फिर राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में स्वेच्छाचरित (voluntarism) को समाप्त करजब तक बाध्यता (compulsion) नही लायी जायेगी, तब तक हम निर्धारित लक्ष्य कभी प्राप्त नही कर पायेंगे ।

जैसे कि पिछली असफलतायें पर्याप्त चेतावनी नही हैं, राममूर्ति कमेटी ने भी हमें पीछे की ओर ढकेल दिया । अपने शिक्षा पर सदर्श पत्र (Perspective Paper on Education) में जो उसने सितबर, 1990 में प्रस्तुत किया, इस कमेटी ने कहा "प्रौढों के मामलों में पढ-लिख नहीं सकने का अर्थ आवश्यकरूप से शिक्षा का अभाव नहीं होता" । इसका आशय कदाचित निरक्षरता को रोमाचकारी बनाना नही था, परन्तु प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम की अर्थपूर्ण ढग से पुन रूपरेखा तैयार करने की आवश्यकता को रेखाकित करना था । परन्तु इस कमेटी ने अपनी पूरी रिपोर्ट, जिसका शीर्षक है 'एक प्रबुद्ध और मानवीय समाज की ओर' और जो दिसबर 1990 में पेश की गई, में कोई अर्थपूर्ण कार्य परियोजना प्रस्तुत नही की है । उसने केवल यह अनुशसा की है कि आठवी पचवर्षीय योजना के पश्चात एक स्वतत्र अध्ययन दल इस सतत कार्यक्रम का मूल्याकन करे और प्रौढ निरक्षरता को शीघ्रातिशीघ्र हटाने के लिये उपयुक्त रणनीतियों के प्रस्ताव रखे । इस कमेटी ने इसके आगे यह भी अनुशसा की है कि 'मूल्याकन विभिन्न वैकल्पिक मॉडलों का भी अध्ययन करे और देश के विभिन्न भागों में सामाजिक-सास्कृतिक और राजनैतिक स्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए उनकी प्रासगिकता का भी अध्ययन करे । इस अध्ययन का कम से कम उद्देश्य वस्तुनिष्ठ आधार पर यह मालूम करना होना चाहिये कि कौन से उपागमों से फल की प्राप्ति नहीं होती है जिससे कि कम से कम उन मॉडलों को तो प्रोत्साहित नहीं किया जाये' । क्या यह इस बात को व्यक्त नही करती कि राममूर्ति कमेटी की रिपोर्ट से सरासर व्याकुलता की भावना जागृत होती है ?

राममूर्ति रिपोर्ट ने इसके आगे सुझाव दिया है कि प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम तभी सफल हो सकते हैं जब कि इनके साथ अन्य मूल आवश्यकताओं को भी जोडा जाये । ये आवश्यकतायें हैं स्वास्थ्य, पोषण, आवास, और रोजगार । वास्तव में, रिपोर्ट ने इस सुझाव पर बल दिया है कि साक्षरता कार्यक्रमों को आरभ करने के स्थान पर हमें अन्य मूल आवश्यकताओं पर ध्यान देना चाहिये । दूसरा सुझाव था कि जिन प्रौढ साक्षरता मॉडलों ने पाच वर्ष में वाछित प्रभाव नही दिखाया उन्हें बंद कर देना चाहिये । रोजगार और पोषण के महत्व को भली प्रकार जानते हुए भी क्या यह कहा जा सकता है कि प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रमों को उस समय तक के लिये स्थगित कर दिया जाये जब तक हम रोजगार, पोषण आदि के लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर लें ? और अब एक नया विवाद और है । विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के निवर्तमान अध्यक्ष, प्रोफेसर यशपाल ने एक सुझाव दिया था कि विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों को एक वर्ष के लिये

बंद कर दिया जाये और अध्यापकों और विद्यार्थियों को साक्षरता अभियान में लगा दिया जाये। इस सुझाव पर एक बैठक,जो मार्च,1991 को देहली में हुई थी और जिसको भारतीय विश्वविद्यालय संघ (Association of Indian Universities) ने योजना आयोग के सहयोग से आयोजित किया था,में विभिन्न विश्वविद्यालयों के कुलपतियों ने चर्चा की थी। उनका सुझाव था कि साक्षरता को महाविद्यालय और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम का एक अंग बना देना चाहिये और विद्यार्थियों को ग्रीष्मावकाश में साक्षरता कार्यक्रमों में लगाना चाहिये। इस सुझाव पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिये।

विद्यार्थी अपनी परीक्षाओं के बाद तीन से चार महिनों तक अर्थात् मध्य अप्रैल से मध्य जुलाई तक खाली रहते हैं। अक्टूबर में दशहरा अवकाश में और दिसम्बर में शीत अवकाश में स्कूल और महाविद्यालय/विश्वविद्यालय में अधिक काम नहीं रहता है और ग्रामीण प्रौढ़ों के पास भी अपेक्षाकृत खाली समय रहता है। स्कूलों और कालेजों में एक वर्ष में 80 छुट्टियां होती हैं। यदि 60 से 75 दिन के लंबे अवकाश को इसमें जोड़ दिया जाये तो वर्ष में संपूर्ण अवधि जिसमें विद्यार्थी खाली रहते हैं,लगभग 150 दिवस या पांच महिने होती है। यदि अवकाश को लचीला बना कर ग्रामीणों के लिये सुविधाजनक कर दिया जाये, और इन पांच महिनों में यदि दो महिने विद्यार्थी निरक्षरों को साक्षर बनाने में अर्पित करते हैं और यदि विद्यार्थियों को साक्षरता कार्यक्रमों में भाग लेने के लिये प्रशस्ति-पत्र दिये जाते हैं तो निरक्षरता को पांच साल में हटाना कठिन नहीं होगा। निःसंदेह,पढ़ाई को राष्ट्रीय पुनरुद्धार के लिये एक वर्ष के लिये बंद करना एक अवास्तविक और निरर्थक सुझाव है। जब कि कई विश्वविद्यालयों में शैक्षिक सत्र किसी न किसी आंदोलन के कारण नियत समय से पहले ही पीछे चल रहे हैं तो एक वर्ष का शैक्षिक जीवन साक्षरता कार्यक्रम में भाग लेने के लिये त्याग देना विद्यार्थियों और उनके माता-पिता को स्वीकार्य नहीं होगा। ग्रीष्मावकाश जैसी अल्प अवधि का ढांचा इसके लिये अधिक उपयुक्त होगा।

साक्षरता कार्यक्रमों को उपरोक्त आलोचनात्मक मूल्यांकन के अतिरिक्त हम प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम की सफल क्रियान्विति में निम्नांकित बाधाओं की भी पहचान कर सकते हैं (सूद, 1988:4):

(1) यद्यपि साक्षरता कार्यक्रम के तीन आयाम थे. साक्षरता, जागरूकता और प्रकार्यात्मकता,परन्तु व्यवहार में यह कार्यक्रम प्रमुख रूप से एक साक्षरता कार्यक्रम ही बन गया है,क्यों कि अधिकांश शिक्षा केन्द्रों के पास ए.ई.सी. के दो अन्य मूल भागों के लिये कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं। प्रौढ़ों के इन केन्द्रों पर जाने में कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता क्यों कि वे अपने वातावरण से संबंधित आवश्यकताओं के संदर्भ में इन कार्यक्रमों को लाभदायक नहीं मानते।

(2) महत्वपूर्ण कारक जो प्रौढ़ निरक्षरों को केन्द्रों पर जाने से रोकते हैं वे हैं: समय का दबाव, आर्थिक दबाव, भाग्यवादी रुख जिसे शताब्दियों की गुलामी और शोषण ने

पनपाया है, अवकाश का अभाव, पारिवारिक विरोध, भौगोलिक दूरी, भौतिक प्रोत्साहनों का अभाव, स्त्रियों का साक्षरता के प्रति नकारात्मक रुख और कार्यक्रम के बारे में अनभिज्ञता।

(3) मूल अधिकारियों और कर्मचारियों में, जिन्हें इस कार्यक्रम के कार्यान्वयन का कार्य सौंपा गया है, प्रतिबद्धता, रुचि, और मिशनरी उत्साह का अभाव एईपी के सफल कार्यान्वयन के लिये एक प्रमुख चुनौती प्रस्तुत करता है।

(4) निहित स्वार्थों द्वारा प्रस्तुत की गई धमकी ने भी नकारात्मक रूप से कार्यक्रम को प्रभावित किया है, क्यों कि उन्हें आशका है कि यह कही उन्हें सस्ती मजदूरी या सभावित वोट बैंक से वचित न कर दे। इसलिये समाज के एक बहुत बडे भाग का कार्यक्रम की ओर अप्रत्यक्ष विरोध और अस्पष्ट उदासीनता कार्यक्रम के लोकप्रिय होने के मार्ग में बाधा खडी करते हैं।

(5) कार्यक्रम की प्रभावकता कुछ व्यावहारिक कठिनाईयों के कारण भी कम हो जाती है, जैसे नियमों पर अत्यधिक बल, स्वयसेवी एजेंसियों को राज्य सरकार का सहयोग नही मिलना, विभिन्न एजेंसियों में समन्वय का अभाव, जनसचार माध्यमों की प्रभावी सहायता का अभाव, कर्मचारियों के प्रशिक्षण में गुणवत्ता की कमी, सही मूल्याकन का अभाव और पचायती राज सस्थाओं की अविच्छिन्न रूप से सहायता का अभाव।

विद्यार्थी शक्ति को काम मे लेना (Tapping the Student Power)

साक्षरता अभियान में छात्रों का इस्तेमाल करना देश को उसकी निष्क्रियता से बाहर निकालने के लिये छात्र शक्ति को काम में लेना है। निरक्षरों का सबसे बडा भाग हिन्दी क्षेत्र में है (उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश) जहा ऑपरेशन रिसर्च ग्रूप (ओ आर जी) की नवीनतम रिपोर्ट के अनुसार 80 प्रतिशत से अधिक प्रौढ (15 वर्ष से अधिक) निरक्षर हैं (वर्तमान के 48% के राष्ट्रीय औसत के विपरीत)। यदि प्रयोगात्मक आधार पर इन राज्यों में लबे अवकाशों के दौरान छात्र सेवाए ली जाती हैं और उसके बदले में विद्यार्थियों को इजीनियरिंग, मेडिकल और तकनीकी सस्थाओं में प्रवेश में रियायत दी जाती है, तो यह प्रयोग विश्वविद्यालयों के लिये एक मॉडल का काम करेगा जिसके आधार पर वे 'पडौस उपागम' को अपना कर साक्षरता अभियानों को चला सकते हैं। यह कार्य भयभीत करने वाला है और इसके लिये अत्यधिक कुशल प्रयासों और समर्पण की आवश्यकता है परन्तु यह मानव योग्यता से किया जा सकता है। कार्यक्रम समयबद्ध होना चाहिये और इस पर खर्चा भी कम होना चाहिये। छात्रों को दो महीने 2-3 घटे प्रतिदिन निरक्षरों को पढाने में लगाने होंगे। प्रत्येक सीखने वाले पर पूरी पढाई के लिये *(जिसमें पढाने और पढने की सामग्री सम्मिलित है)* खर्चा 15 रुपये से अधिक नही होना चाहिये जो कि हमारे जैसा एक गरीब देश आसानी से वहन कर सकता है। विद्यार्थी प्रशिक्षकों को प्रेरित करने के लिये उन्हें परीक्षा पास करने में और उनकी पसन्द की

शिक्षा सस्थाओं में प्रवेश में रियायत मिलनी चाहिये। उच्च माध्यमिक विद्यालयों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की विशाल सख्या को देखते हुए, लाखों विद्यार्थी सीखने वाले प्रति 10 विद्यार्थी के हिसाब से पढाने के लिये इस्तेमाल किये जा सकते हैं और इस प्रकार लाखों निरक्षर प्रौढों के पास साक्षरता की मशाल ले जाई जा सकती है। युवा विद्यार्थी, जिनमें प्रेरणा और वचनबद्धता है, कठोर से कठोर काम कर सकते हैं यदि उन्हें जिम्मेवारी और विश्वास एवं भरोसे की भावना प्रदान की जाती है।

स्वयसेवी सगठनो द्वारा प्रयास (Efforts by Voluntary Organisations)

सरकार अकेले ही देश की निरक्षरता की विशाल समस्या को नहीं सुलझा सकती। निरक्षरता का पूर्ण रूप से उन्मूलन का लक्ष्य केवल सरकार के प्रयासों से प्राप्त किया जाना सभव नहीं है। सरकार निःसदेह स्थिति पर ध्यान दे सकती है, एजेंसियों, सस्थाओं और व्यक्तियों की पहचान कर सकती है, मानव, माल और वित्तीय ससाधन जुटाने में एक उत्प्रेरक कारक के रूप में कार्य कर सकती है, परन्तु सरकार स्वय ही साक्षरता को बढ़ावा नहीं दे सकती। इसलिये सरकार के प्रयत्नों (केन्द्र और राज्य दोनों के) को ऐसी सस्थाओं और व्यक्तियों को, जिनमें प्रत्यक्ष ज्ञान और वचनबद्धता है, पूरक करना पड़ेगा ओर सशक्त बनाना होगा।

वर्ल्ड लिट्रेसी ऑफ कनाडा (डब्लू एल सी) एक ऐसी स्वयसेवी संस्था है जो स्थानीय समाज पर आधारित सस्थाओं की सहायता से विकासशील ससार में प्रौढ़ शिक्षा को बढ़ावा देने में लगी हुई है। आज की तारीख तक डब्लू एल सी. ने भारत में 26 साक्षरता परियोजनाओं, जिनमें लखनऊ का प्रसिद्ध साक्षरता गृह सम्मिलित है, को सहायता दी है। साउथ ऐशियन पार्टनरशिप (एस ए पी) ने डब्लू एल.सी. के साथ बिहार, उत्तरप्रदेश, और मध्यप्रदेश जैसे पिछड़े राज्यों में महिला प्रौढ शिक्षा के लिये परियोजनायें प्रस्तावित की हैं। एस ए पी. 36 एन.जी.ओ. के सहयोग से कायम रहने वाले विकास में लगी हुई है और उसे आशा है कि 2000 ई. तक एक मिलियन स्त्रियां साक्षर हो जायेंगी।

यदि प्रौढ़ साक्षरता आवश्यक है तो बाल शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्राथमिकता है। हमारे सविधान की धारा 45 इसका उल्लेख करती है कि "1960 तक नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा सभी बच्चों को, जब तक वे 14 वर्ष के नहीं हो जाते, देने का प्रयास किया जायेगा"। यद्यपि कई राज्य सरकारें अनिवार्य शिक्षा के कानून बनाने का दावा करती हैं, परन्तु किसी राज्य ने व्यवहार में इस प्रकार के कानून का कार्यान्वयन नहीं किया है, यानी स्थानीय अधिकारियों को स्कूल में बच्चों की उपस्थिति के लिये बाध्य नहीं किया है। वास्तव में निर्णय लेने वाले 'अनिवार्य' शिक्षा के बारे में बात करने के स्थान पर अब 'सर्वव्यापक' शिक्षा की बात करते हैं। 1986 की नई शिक्षा नीति भी अनिवार्य शिक्षा के लक्ष्य से हटने की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करती है। प्राथमिक शिक्षा अब 'अनिवार्य' न होकर 'सर्वव्यापी' हो गई है। शैक्षणिक पुनरसंरचना और 'नई' नीति अब स्कूल में मुफ्त खाना, मुफ्त वर्दियों, मुफ्त किताबों और हुनर-अभिमुख शिक्षण पर ध्यान केन्द्रित करती है। 6-14 आयु समूह के अनुमानित साढे पन्द्रह करोड बच्चों

में से लगभग 80 प्रतिशत स्कूल जाते हैं। पहली ग्रेड में भरती होने वाले प्रत्येक 10 बच्चों में से केवल चार बच्चे चार वर्षों की पढाई पूरी करते हैं। हमारा समाज और हमारी सरकार बच्चों को पढाने के कर्तव्य से विमुख होकर वास्तव में लाखों बच्चों को बचपन के अनुभव, यानी खेलना, प्रयोग, और आत्म खोज से वंचित कर रहे हैं। औपचारिक वचनबद्धता से अनिवार्य पूर्ण-कालिक शिक्षा की ओर पलायन सुस्पष्ट रूप से आर्थिक विकास और देश में बाल श्रम की समस्या को कम करने में एक प्रतिगामी कदम रहा है।

अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 48 1 करोड व्यक्तियों को (या 0-6 वर्ष के बच्चों को छोड कर 32 8 करोड को) साक्षर बनाना, 6-14 आयु समूह के लगभग तीन करोड बच्चों के माता-पिता को मनाना कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें, और उन 74 प्रतिशत बच्चों के माता पिता को प्रोत्साहन देना जिन्होंने प्राथमिक स्कूल में प्रवेश लिया है कि वे पाचवी ग्रेड तक की शिक्षा को पूरा कर लें (स्कूल छोडने से पहले भारत में केवल 26% बच्चे ही प्राथमिक शिक्षा पूरी करते हैं) अति कठिन कार्य हैं। इनको करने के लिये सीखने वालों और प्रशिक्षकों दोनों को निपुण प्रयास करने पडेंगे। उनमें भारी मात्रा में प्रेरणा का होना आवश्यक है। निरक्षरता जैसी भयकर समस्या के लिये सशक्त उपायों की आवश्यकता है। उत्साहहीन उपागमों से, जिनका हमने इतने वर्षों तक अनुसरण किया है, स्पष्ट परिणाम नहीं मिलने वाले हैं। व्यापक निरक्षरता और बाल शिक्षा से युद्ध स्तर पर निपटा जाना चाहिये क्योंकि ये बहुत ही बडी समस्याऐं हैं।

अध्याय 11

नगरीकरण
Urbanization

पिछले कुछ दशकों में जनसख्या में वृद्धि के साथ साथ,जनसख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों में स्थानान्तरण भी हुआ है। बढते हुए नगरीकरण से अपराध और बाल-अपराध, मदिरापान और मादक वस्तुओं का सेवन, आवास की कमी, भीड़-भाड और गदी बस्तियां, बेरोज़गारी और निर्धनता, प्रदूषण और शोर, सचार और यातायात नियन्त्रण जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। परन्तु अगर नगर तनाव और दबाव के स्थान हैं,तो वे सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र भी हैं। वे सक्रिय,नवाचारयुक्त और सजीव हैं। वे एक व्यक्ति को अपनी आकांक्षाओं को प्राप्त करने के अवसर प्रदान करते हैं। यदि हमारे देश का भविष्य ग्रामीण क्षेत्रों के विकास से जुड़ा है तो इतना ही वह नगरों और महानगरों के क्षेत्रों के विकास से भी जुड़ा है। परन्तु इन समस्याओं का विश्लेषण करने से पहले हमें मूलभूत अवधारणाओं को समझाना चाहिये।

नगरीय, नगरीकरण और नगरीयता की अवधारणाएँ (Concepts of Urban, Urbanization and Urbanism)

नगरीय (Urban)

'नगरीय क्षेत्र' या 'नगर' क्या है ? इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—जनाकिकीय रूप में (demographically) और समजाशास्त्रीय रूप में। पहले अर्थ में जनसंख्या के आकार, जनसख्या के घनत्व (density), और वयस्क पुरुषों में से अधिकाश के रोजगार के स्वरूप पर बल दिया जाता है, जबकि दूसरे अर्थ में विषमता (heterogeneity), अवैयक्तिकता (impersonality), अन्योन्याश्रयता (inter-dependence), और जीवन की गुणवत्ता पर ध्यान केन्द्रित रहता है। जर्मन समाजशास्त्री टोनीज (1957) ने ग्रामीण और नगरीय समुदायों में भिन्नता सामाजिक सबधों और मूल्यों के द्वारा बताई है। ग्रामीण गेमिनशेफ्ट (Gemeinschaft) समुदाय वह है जिसमें सामाजिक बन्धन कुटुम्ब और मित्रता के निकट के व्यक्तिगत बधनों पर आधारित होते हैं और परम्परा, सामजस्य और अनौपचारिकता पर बल दिया जाता है जब कि नगरीय गैसिलशेफ्ट (Gesellschaft) समाज में अवैयक्तिक और द्वितीयक संबंध प्रधान होते हैं और व्यक्तियों में विचारों का आदान प्रदान औपचारिक, अनुबन्धित और विशेष कार्य या नौकरी जो वे करते हैं उन पर आधारित होते हैं। गैसिलशेफ्ट समाज में उपयोगितावादी लक्ष्यों और सामाजिक सबधों के प्रतियोगी प्रवृत्ति पर बल दिया

जाता है।

मैक्स वेबर (1961 381) और जार्ज सिमल (1950) जैसे अन्य समाजशास्त्रियों ने नगरीय वातावरण में सघन आवासीय परिस्थितियों, परिवर्तन में तेजी, और अवैयक्तिक अन्तक्रिया पर बल दिया है। लुई वर्थ (Louis Wirth, 1938 8) ने कहा है कि समाजशास्त्रीय उद्देश्यों के लिये, एक नगर की यह कह कर परिभाषा की जा सकती है कि वह सामाजिक रूप से विषमरूप व्यक्तियों की अपेक्षाकृत बडी, सघन और अस्थाई बस्ती है। रूथ ग्लास (1956) जैसे विद्वानों ने नगर को जिन कारकों द्वारा परिभाषित किया है वे हैं जनसख्या का आकार, जनसख्या की सघनता, प्रमुख आर्थिक व्यवस्था, प्रशासन की सामान्य रचना, और कुछ सामाजिक विशेषतायें।

भारत में 'कस्बे' (town) की जनगणना की परिभाषा 1950-51 तक लगभग एक ही रही, परन्तु 1961 में एक नई परिभाषा अपनाई गई। 1951 तक, 'कस्बे' में सम्मिलित थे (1) मकानों का सग्रह जिनमें कम से कम 5000 व्यक्ति स्थाई रूप से निवास करते हैं, (2) प्रत्येक म्युनिसिपेलिटी/कार्पोरेशन/ किसी भी आकार का अधिसूचित क्षेत्र, और (3) सब सिविल लाइनें जो म्यूनिसिपल इकाईयों में सम्मिलित नहीं हैं। इस प्रकार कस्बे की परिभाषा में प्रमुख फोकस जनसख्या के आकार पर न होकर प्रशासनिक व्यवस्था पर अधिक था। 1961 में किसी स्थान को कस्बा कहने के लिये कुछ मापदण्ड बनाये गये। ये थे (अ) कम से कम 5000 की जनसख्या, (ब) 1000 व्यक्ति प्रति वर्ग मील से कम की सघनता नहीं, (स) उसकी कार्यरत जनसख्या का तीन चौथाई गैर-कृषिक गतिविधियों में होना चाहिये, और (द) उस स्थान की कुछ अपनी विशेषतायें होनी चाहिये और यातायात और सचार, बैंकों, स्कूलों, बाजारों, मनोरजन केन्द्रों, अस्पतालों, बिजली, और अखबारों आदि की नागरिक सुख सुविधाएं होनी चाहिये। परिभाषा में इस परिवर्तन के फलस्वरूप 812 क्षेत्र (44 लाख व्यक्तियों के) जो 1951 की जनगणना में कस्बे घोषित किये गये थे, उन्हें 1961 की जनगणना में कस्बा नहीं माना गया।

1961 का आधार 1971, 1981, 1991 की जनगणनाओं में भी कस्बे की परिभाषा करते समय अपनाया गया। अब जनसांख्यिकीय रूप में उन क्षेत्रों को जिनकी जनसख्या 5000 और 20,000 के बीच है छोटा कस्बा (small town) माना जाता है, जिनकी 20,000 और 50,000 के बीच है उन्हें बडा कस्बा (large town) माना जाता है, जिनकी जनसख्या 50,000 और एक लाख के बीच है, उन्हें शहर (city) कहा जाता है, जिनकी एक लाख और 10 लाख के बीच है उन्हें बडा शहर (large city) कहा जाता है, जिन क्षेत्रों में 10 और 50 लाख के बीच व्यक्ति होते हैं उन्हें विशाल नगर (metropolitan cities) कहा जाता है और जिनमें 50 लाख से अधिक व्यक्ति हैं उन्हें महानगर (mega city) कहा जाता है।

समाजशास्त्री "नगर" की परिभाषा में जनसख्या के आकार को अधिक महत्व नहीं देते क्यों कि न्यूनतम जनसख्या के मानदण्ड काफी बदलते रहते हैं, उदाहरणार्थ, नीदरलैन्ड्स में एक स्थान को नगरीय कहलाने के लिये 20,000 की न्यूनतम जनसख्या की आवश्यकता है, ग्रास,

आस्ट्रिया और पश्चिम जर्मनी में वह 2,000 है, जापान में 3,000 है, अमरीका मे 3,500 है, इत्यादि। इस प्रकार से वे जनसख्या के आकार के स्थान पर विशेषताओं को अधिक महत्व देते हैं। थिओडॅर्सन (1969· 451) ने 'शहरी समुदाय' की परिभाषा इस प्रकार की है· "यह वह समुदाय है जिसकी जनसंख्या का घनत्व बहुत है, जहाँ गैर-कृषिक व्यवसायों की सर्वाधिकता है, एक ऊंचे स्तर की विशेषज्ञता है जिसके फलस्वरूप श्रम-विभाजन जटिल होता है, और स्थानीय शासन की औपचारिक ढग से व्यवस्था होती है। उसकी विशेषताओं में अवैयक्तिक द्वितीयक सबंध प्रचलित होते हैं और औपचारिक सामाजिक नियन्त्रणों पर निर्भरता रहती है"। राबर्ट रेडफील्ड (ए जे एस., जनवरी, 1942) के अनुसार शहरी समाज की विशेषतायें ये होती हैं. "वह एक बड़ी विषमरूप जनसख्या होती है, उसका दूसरे समाजों से निकट का सबंध होता है (व्यापार, संचार, आदि के जरिये), उसमें एक जटिल श्रम-विभाजन होता है, सासारिक मामलों को पवित्र मामलों की अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया जाता है, और निश्चित लक्ष्यों के प्रति विवेकपूर्ण तरीके से व्यवहार को सुव्यवस्थित करने की अभिलाषा होती है। वे पारम्परिक मानदण्डों का अनुसरण नही करते।

नगरीकरण (Urbanization)

जनसंख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों में जाना 'नगरीकरण' कहलाता है। इसके परिणामस्वरूप जनसख्या का बढता हुआ भाग ग्रामीण स्थानों में रहने के बजाय शहरी स्थानों में रहता है। थौमसन वारन (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है. "यह ऐसे समुदायों के व्यक्तियों का, जो प्रमुखरूप से या पूर्णरूप से कृषि से जुडे हुए हैं, उन समुदायों में जाना है जो साधारणतया (आकार में) उनसे बड़े हैं और जिनकी गतिविधियां मुख्यरूप से सरकार, व्यापार, उत्पादन या इनसे सम्बद्ध कारोबारों पर केन्द्रित हैं"। एन्डर्सन (1953: 11) के अनुसार नगरीकरण एकतरफा प्रक्रिया न होकर दुतरफा प्रक्रिया है। इसमें केवल गांवों से शहरों में जाना नहीं होता, परन्तु इसमें प्रवासी के दृष्टिकोणों, विश्वासों, मूल्यों और व्यवहार के सरूपों में भी परिवर्तन होता है। उसने नगरीकरण की पांच विशेषतायें बताई हैं मुद्रा अर्थव्यवस्था, सरकारी प्रशासन, सांस्कृतिक परिवर्तन, लिखित अभिलेख (records), और अभिनव परिवर्तन (innovations)।

नगरीयता (Urbanism)

नगरीयता एक जीवन पद्धति (way of life) है। यह समाज का ऐसा संगठन है जिसमें श्रम का जटिल विभाजन, प्रौद्योगिकी के ऊंचे स्तर, उच्च गतिशीलता (high mobility), आर्थिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिये उसके सदस्यों की पारम्परिक आश्रितता और सामाजिक संबन्धों में अवैयक्तिकता (impersonality) का समावेश होता है (थिओडॅर्सन, 1969: 453)।

नगरीयता या नगरीय व्यवस्था की विशेषताए (Characteristics of Urbanism or Urban System)

लुई वर्थ (Louis Wirth 1938 49) ने नगरीयता की चार विशेषताए बतलाई हैं

- *स्थायित्व (transiency)* एक नगर निवासी अपने परिचितो को भूलता रहता है और नये व्यक्तियों से सबन्ध बनाता रहता है। उसके अपने पडौसियों से एव क्लब आदि जैसे समूहों के सदस्यों से अधिक मैत्रीपूर्ण सबन्ध नही होते। इसलिये उनके चले जाने से उसे कोई चिन्ता नही होती।
- *सतहीपन (superficiality)* एक नागरिक कुछ ही व्यक्तियों से बातचीत करता है और उनसे भी उसके सबन्ध अवैयक्तिक और अनौपचारिक होते हैं। व्यक्ति एक दूसरे से अत्यन्त अलग-अलग भूमिकाओं में मिलते हैं। वे अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिक व्यक्तियों पर निर्भर होते है।
- *गुमनामिता (anonymity)* नगरवासियों के एक दूसरे से घनिष्ठ सबन्ध नही होते। वैयक्तिक पारस्परिक परिचितता, जो अडोस पड़ोस के व्यक्तियो में निहित होती है, नगर में नही होती।
- *व्यक्तिवाद (individualism)* व्यक्ति अपने निहित स्वार्थों को अधिक महत्व देते है।

रूथग्लास (Ruth Glass, 1956 32) ने नगरीयता की निम्नलिखित विशेषताए बतलाई हैं गतिशीलता, गुमनामीपन, व्यक्तिवाद, अवैयक्तिक सबन्ध, सामाजिक विभेदीकरण (differentiation), अस्थायित्व, और यात्रिक एकता। एन्डर्सन (Anderson, 1953 2) ने नगरीयता की तीन विशेषताओं को सूचीबद्ध किया है समजननीयता (adjustability), गतिशीलता, और प्रसार (diffusion)। मार्शल क्लिनर्ड (Marshall Clinard 1957) ने द्रुतगामी सामाजिक परिवर्तन, प्रतिमानों और मूल्यो के बीच सघर्ष, जनसख्या की बढती हुई गतिशीलता, भौतिक वस्तुओं पर बल, और अभिन्न अन्तर वैयक्तिक सम्प्रेषण में अवनति को नगरीयता की महत्वपूर्ण विशेषताऐं बतलाया है। के डेविस (1953) ने नगरीय सामाजिक व्यवस्था की आठ विशेषताओं का उल्लेख किया है सामाजिक विषमता (नगरीय क्षेत्रो मे विभिन्न धर्मों, भाषाओं, जातियो, और वर्गों के व्यक्ति रहते है और वहा पर व्यवसाय में भी विशेषज्ञता होती है), द्वैतीयक सबध, सामाजिक गतिशीलता, व्यक्तिवाद, स्थान गतभी पृथक्करण, सामाजिक सहनशीलता, द्वैतीयक नियन्त्रण, और स्वयसेवी सस्थाए।

लुइ वर्थ (1938 1-24) ने नगरीयता की चार विशेषताए बतलाई हैं जनसख्या की विषमता, कार्य की विशेषज्ञता, गुमनामीपन, तथा अवैयक्तिकता, और जीवन और व्यवहार का मानकीकरण। यद्यपि ये विशेषताए नगरीय व्यक्ति और उसके जीवन का अतिरजित चित्र दर्शाती हैं फिर भी उनका विश्लेषण यहा आवश्यक है।

(अ) *जनसख्या की विषमता (Heterogeneity of Population)* विभिन्न क्षेत्रो से व्यक्तियों का प्रवास नगरों की बडी सख्या के लिये बहुत उत्तरदायी है। इसके कारण विभिन्न

पृष्ठभूमियों और विश्वासों के व्यक्तियों का साथ-साथ रहना हैं । व्यक्तियों का यह मिश्रण अनौपचारिक नियन्त्रणों (लोकाचार और प्रथायें) के सचालन को प्रभावित करता है और व्यक्तियों और समूहों के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिये औपचारिक रूप से बनाये हुए रचना-तत्रों (mechanisms) पर निर्भरता बढ जाती है । व्यक्ति सामूहिक भावनाओं में अब आस्था नहीं रखते । अन्य सस्कृतियों के नवीन विचारों से प्रवासियों के सम्पर्क द्वारा प्रभावित होकर वे पुराने विश्वासों और प्रयासों में अविश्वास प्रकट करते हैं और इस प्रकार के नये रूखों और जीवन शैलियों को अपना लेते हैं जो उनकी आर्थिक प्रतिष्ठा को चढाने में और समजन की समस्याओं से निबटने में उनकी सहायता करते हैं । परिवार और पड़ोस का प्रभाव कम हो जाता है और व्यक्तियों में इस प्रश्न पर, कि व्यवहार करने का 'सही' तरीका क्या है, झगडा होता है ।

(व) *कार्य और व्यवहार का विशेषीकरण (Specialisation of function and behaviour)*: नगर की जनसख्या की भिन्नता और उसका बडा आकार विशेषीकरण के विकास को प्रोत्साहित करता है । चूकि नगर में जीवन के कई पहलू होते हैं और एक व्यक्ति उनमें से कुछ में ही भाग ले सकता है, अत वह केवल कुछ ही क्षेत्रों में रुचि लेता है । कार्य में विशेषज्ञता भिन्न-भिन्न जीवन के सरूपों को प्रोत्साहित करती है । उदाहरणार्थ, डाक्टरों, इजीनियरों, व्यापारियों, वकीलों, प्रशासकों, कारखानों के श्रमिकों, अध्यापकों, बाबूओं, और पुलिस कर्मियों के भिन्न जीवन सरूप, भिन्न अभिरुचिया, और भिन्न जीवन दर्शन होते हैं । प्रत्येक विशेषज्ञ समूह समाज को अपना योगदान देता है और इस प्रकार श्रम का विभाजन हो जाता है । जैसे कपडे का व्यापारी केवल कपडा बेचता है परन्तु कपड़े के बनाने, प्रोसेस करने, और वितरण करने के लिये वह दूसरे कई विशेषज्ञों पर निर्भर रहता है जिससे कि कपडा उसकी दुकान पर पहुंच जाये । इस प्रकार का श्रम का विभाजन एक व्यक्ति को अपने ज्ञान और क्षमताओं की तुलना में अधिक व्यापक सेवाओं से लाभान्वित करता है । नगर में प्रत्येक व्यक्ति विशेषज्ञों जैसे चिकित्सकों, मिस्त्रियों, दुकानदारों, दर्जियों, धोबियों आदि पर निर्भर हो जाता है । उसे हर व्यवसाय की तकनीक को सीखने की आवश्यकता नहीं होती ।

विशेषज्ञता व्यक्ति को कार्य करने, अपने को अभिव्यक्त करने और अपनी अन्त शक्तियों को विकसित करने के विविध अवसर प्रदान करती है । तथापि सपर्क अप्रधान और औपचारिक हो जाते हैं और सामूहिक जीवन व्यतीत करने और सामूहिक संबंधों की भावना समाप्त हो जाती है । दो व्यक्तियों के सबध थोडे समय के लिये, जब तक वे एक दूसरे के काम आते हैं, रहते हैं ।

एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में, जहा जनसख्या में भिन्नता है और व्यवहार के संरूपों मे विविधता है, निश्चित परिस्थितियो में उचित व्यवहार के कई विकल्पों के होने से संभ्रान्ति उत्पन्न होने की अधिक सभावना होती है । उदाहरण के लिये, एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी को अनुचित साधनों का प्रयोग करके प्रथम श्रेणी प्राप्त करता हुआ देखता है तो वह सोचता है कि

क्या उसे भी वही कार्य करना चाहिये ? एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को 10,000 रुपये देकर पुलिस उप-निरीक्षक की नौकरी मिलते हुए देखता है । उसे यह स भ्रान्ति हो जाती है कि क्या उसे इस मामले की रपट करनी चाहिये और रिश्वत लेने वाले को गिरफ्तार करवा देना चाहिये या उसे उदासीनता का रुख अपनाना चाहिये ? नगर के जीवन में ये नैतिक, सामाजिक और कानूनी दुविधाए अत्यधिक होती हैं ।

(स) *गुमनामिता और अवैयक्तिकता (Anonymity and impersonality):* नगर में जनसख्या का भारी घनत्व वैयक्तिक पहचान को नष्ट करता है जिसके परिणामस्वरूप अकेलापन अनुभव होता है और व्यक्ति की किसी स्थान विशेष से सबध होने की भावना समाप्त हो जाती है । सैकडों व्यक्ति सिनेमा घर में सिनेमा देखते हैं, साथ साथ आनद लेते हैं और हंसते हैं, परन्तु जब सिनेमा खतम होता है तो सामूहिक मनोवेग गुमनामिता और अवैयक्तिकता में परिणित (disintegrate) हो जाते हैं। दूसरी ओर यह गुमनामी ही व्यक्तिगत स्वतत्रता का मर्म (crux) है । दूसरों में रुचि का अभाव एक व्यक्ति को अनुरूपता (conformity) के भारी दबावों से मुक्त करता है । कई प्रकरणों में उसका दूसरों के प्रति दायित्व पैसा भुगतान करने से समाप्त हो जाता है । वह जब एक क्लब जैसे स्वैच्छिक समूह का भी सदस्य बनता है तो उस समय भी उसका सहयोग न्यूनतम हो सकता है । उसे दूसरे सदस्यों की स्वीकृति प्राप्त करने की आवश्यकता नही होती और ना ही अपने को उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप ढाल कर समायोजित करने की प्रक्रिया में लगाने की । वह दूसरों को भले ही देखता रहे (observe) परन्तु यह आवश्यक नही कि वह उनकी प्रेरणाओं (stimuli) से प्रभावित हो ।

गुमनामिता का एक लाभ यह है कि व्यक्तियों की परख उनके माता पिता के निम्नवर्ग के पद के अनुसार नही होती परन्तु उनका आकलन (evaluation) आकस्मिक सपर्कों में उनके दिखाव-बनाव और व्यवहार से होता है । नगर के जीवन की गुमनामिता और अवैयक्तिकता एक व्यक्ति को, जो और ऊचा पद प्राप्त करने की आकाक्षा रखता है, ऊची प्रतिष्ठा के प्रतीकों (symbols) से लाभ उठाने के अधिक अवसर प्रदान करती हैं । ऊची प्रतिष्ठा के प्रतीकों, जैसे आकर्षक वस्त्र पहनना, अपने बोल चाल और आचरण में सुधार करना, के द्वारा वह ऊचे स्थानों पर आरूढ व्यक्तियों की स्वीकृति प्राप्त कर सकता है और उन्हें प्रभावित कर सकता है, उनसे सपर्क स्थापित कर सकता है और अन्तत इन सपर्कों के द्वारा अपने वाछित लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है ।

(द) *व्यवहार का मानकीकरण (Standardisation of behaviour)* शहरी जीवन व्यक्ति से उसके व्यवहार के मानकीकरण करने की अपेक्षा करता है, जो अन्तत उसे और दूसरों को (जिनके सपर्क में वह आता है) एक दूसरे को समझने में मदद करता है और पारस्परिक सबधों को अधिक सरल बनाता है । उदाहरणार्थ, एक दुकानदार से प्रत्येक ग्राहक एक ही प्रकार के प्रश्न पूछता है । ग्राहक इस प्रकार विभिन्न प्रकार के बन जाते हैं—व्यक्ति जो भाव का मोल-तोल

करता है, व्यक्ति जो गुणवत्ता चाहता है, व्यक्ति जो चीज देखता है परन्तु उसे खरीदने का उसका कोई इरादा नहीं होता, आदि आदि। अनुभवी दुकानदार शीघ्र ही यह समझ जाता है कि वह किस किस्म के ग्राहक से निबट रहा है और वह बेचने की ऐसी रणनीति का उपयोग करता है जिसे वह उस विशेष किस्म के ग्राहक के लिये सर्वाधिक प्रभावी समझता है। यह दुकानदार और ग्राहक दोनों को बिक्री की कार्रवाई सरल और शीघ्र ढग से करने में सहायक होता है। इस प्रकार की मानकित (standardized) अपेक्षाएं और व्यवहार शहरीजीवन के अग हैं। बाजार, क्लब, रेस्तरों, बसें, अखबार, टी वी, और स्कूल/कालेज अधिकांश मानकित चित्र प्रदर्शित करते हैं। यदि एक व्यक्ति इस प्रकार के जीवन में नहीं ढल पाता है, तो वह अपने को अलग महसूस करता है और उसके सम्मुख समजन की समस्या रहती है। नगर की जनसख्या का बडा आकार व्यवहार के मानकीकरण पर विशेष बल देता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि व्यक्तिगत अभिमुखीकरणों में भिन्नता (divergence in individual orientations) संभव नहीं है।

सारोकिन और ज़िमरमेन (1962:56-57) ने शहरी सामाजिक व्यवस्था की निम्नाकित विशेषताओं की पहचान की है:

(अ) *गैर कृषिक व्यवसाय (Non-agricultural occupation):* ग्रामीण अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि है, जब कि व्यापार और उद्योग शहरी अर्थव्यवस्था का आधार है। व्यवसाय की भिन्नता यह सुनिश्चित करती है कि ग्रामीण प्राकृतिक वातावरण में कार्य करते हैं जिसमें गर्मी, सर्दी और आर्द्रता (humidity) को अभिनव परिवर्तन वाली प्रवीणताओं (innovative skills) से नियन्त्रित किया जाता है। जेम्स विलियम्स (1958) के अनुसार कृत्रिम वातावरण में काम करने से व्यक्तियों के विचार और व्यवहारों के संरूप प्रभावित होते हैं। इस प्रकार व्यावसायिक भिन्नताओं के कारण शहरी क्षेत्रों में हमें उदार एवं रूढ़िवादी, आधुनिक एवं परपरावादी, और असामाजिक एवं सामाजिक व्यक्ति मिलते हैं।

(ब) *जनसंख्या का आकार (Size of population)* : शहरी समुदाय ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा बहुत अधिक बड़े होते हैं। एक ओर नौकरी के अवसरों की उपलब्धता और दूसरी ओर भौतिक एवं शैक्षणिक, चिकित्सा और मनोरंजन की सुविधाएं व्यक्तियों को शहरों की ओर आकर्षित करती हैं।

(स) *जनसख्या का घनत्व (Density of population)*: गांवों में व्यक्तियों को अपने कृषि की देखरेख करने के लिये अपने खेतों के पास रहना पड़ता है, परन्तु शहरी क्षेत्रों में व्यक्तियों का आवास उनके दफ्तरों, बाज़ार, बच्चों के स्कूल/कालेज आदि के स्थान पर निर्भर होता है। इस कारण उन क्षेत्रों में जहां इन सुविधाओं का बाहुल्य है, जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। भारत में जनसंख्या का औसत घनत्व प्रति वर्गमील महानगरों में 3,000 और 5,000 व्यक्तियों के बीच होता है। इस अधिक घनत्व के अपने फायदे और नुकसान हैं। लाभ तो ये हैं कि सामाजिक संपर्क बढ़ते हैं, सभी आवश्यक सुविधाएं सरलता से प्राप्त हो जाती हैं और

मित्रों का चयन करना अधिक सरल होता है । अलाभ ये हैं कि वहा पर रहने वालों के एक दूसरे से सबध औपचारिक और अवैयक्तिक होते हैं और उनके मानसिक तनाव बढ जाते हैं ।

(द) *पर्यावरण (Environment)* बर्नार्ड (1971) ने चार प्रकार के पर्यावरण का उल्लेख किया है पहला, भौतिक (जलवायु), दूसरा, जैविक (जानवर और पेड-पौधे), तीसरा, सामाजिक-शारीरिक-सामाजिक (मशीनें, कलपूर्जे, उपकरण) और मनोवैज्ञानिक-सामाजिक (रीति-रिवाज, परपरायें, सस्थायें, आदि) और चौथा, मिश्रित (आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक प्रणालिया) । शहरी वातावरण अधिक प्रदूषित होता है । इसके अतिरिक्त चूकि वह शैक्षणिक सस्थाओं से घिरा होता है अत अधिक शिक्षामय होता है । इस कारण शहर मे रहने वाला व्यक्ति अधिक विवेकी, धर्मनिरपेक्ष और प्रतियोगी प्रकृति का होता है ।

(इ) *सामाजिक विभेदीकरण (Social differentiation)* शहरी क्षेत्रों में व्यक्तियों में व्यवसायों, धर्म, वर्ग, जीवन स्तरों और सामाजिक विश्वासों के आधार पर भेद किया जाता है । फिर भी वे एक दूसरे पर निर्भर होते हैं और कार्यरत सपूर्ण इकाई (functioning whole) के रूप में कार्य करते हैं ।

(फ) *सामाजिक गतिशीलता (Social mobility)* शहरी क्षेत्र सामाजिक प्रतिष्ठा में परिवर्तन लाने के अवसर प्रदान करते है जिसके कारण गावों की तुलना में शहरों में अधिक ऊर्ध्वगामी (upward) गतिशीलता होती है । गतिशीलता क्षैतिज (horizontal) या उदग्र (vertical) हो सकती हो । सामाजिक गतिशीलता के अतिरिक्त हमें शहरी क्षेत्रों में भौगोलिक गतिशीलता भी मिलती है ।

(ग) *सामाजिक अतःक्रिया (Social interaction)* शहरी निवासियों में सबध द्वितीयक (secondary) और अवैयक्तिक होते हैं। व्यक्ति अपने विश्वासों और विचारधाराओं की अपेक्षा अन्य व्यक्तियों की प्रतिष्ठा और प्रवीणताओं के प्रति अधिक चिन्तित रहते हैं । नियन्त्रण इतना औपचारिक होता है कि कई बार वह विचलित व्यवहार को उत्पन्न कर देता है ।

(ह) *सामाजिक एकात्मता (Social Solidarity)* ग्रामीण क्षेत्रों में यात्रिक (mechanical) सामाजिक एकात्मता की तुलना में शहरी क्षेत्रों में सावयविक (organic) सामाजिक एकात्मता होती है । ऐसी एकात्मता में यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिकता और व्यक्तित्व होते है, फिर भी वह दूसरों पर उनकी विशिष्ट भूमिकाओं के कारण अधिक निर्भर रहता है ।

नगरीयता की विशेषताओं के उपरोक्त विवरण से ऐसा आभास होता है कि जैसे शहरों में व्यक्तिगत सबध, प्राथमिक समूह और सामाजिक घनिष्ठता होती ही नही हैं । यदि जानबूझ कर विकसित की गई सस्थाए व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं तो प्राथमिक समूह भी सदस्यों को जन्म के आधार पर प्रवेश देते हैं । प्राथमिक समूह के सदस्य एक दूसरे के मिलेजुले हितों के कारण आपस में बधे रहते हैं । उनके सबध अधिक भावात्मक और भावप्रवण

होते हैं। प्राथमिक समूह में एक सदस्य द्वितीयक समूहों में विशिष्ट कार्य करने के विपरीत विविध कार्य करता है। उदाहरण के लिये, एक परिवार में मां बच्चों और परिवार के सदस्यों के लिये रसोइया, नर्स, नैतिक शिक्षक और तनावों के प्रबंधक के रूप में कार्य करती है। यद्यपि सामाजिक परिवर्तन ने परिवार, पड़ोस और समकक्ष व्यक्तियों के समूहों के बंधन कमजोर कर दिये हैं, फिर भी इन समूहों का पुराने तरीकों से कार्य करना बिल्कुल समाप्त नहीं हो गया है और मूल संबंध भी लुप्त नहीं हुए हैं। परिवार में अनिवार्य भूमिकाएं निभाना, पड़ोस में सामाजिक सहभागिता बनाये रखना, जाति के सार्वजनिक मामलों में सम्मिलित होना और अपने संबंधियों और मित्रों की सहायता के स्रोत के रूप में कार्य करना शहरी जीवन की अभी भी महत्वपूर्ण और सार्थक विशेषताएं हैं। भारत में कई अध्ययनों (जैसे कापडिया, सच्चिदानंद, आर के मुकर्जी और एम एस गोरे) ने यह दर्शाया है कि ग्रामीण व्यक्ति, जो शहरों में प्रवास कर जाते हैं, गांव में अपने परिवारों और संबंधियों से संबंध बनाये रखते हैं। शहरों में भी वे न केवल अपने गांव या आसपास के गावों के व्यक्तियों की समस्याओं के समाधान में मदद करते हैं, बल्कि अपनी जाति के सदस्यों का भी ऐसी परिस्थितियों में साथ देते हैं। इससे उनका शहरी जीवन के अनुकूल बनना अधिक सरल हो जाता है।

नगरीय क्षेत्रों की वृद्धि (Growth of Urban Areas)

यद्यपि नगरों का अस्तित्व प्राचीन समय से मिलता है, किन्तु अभी हाल तक वे जनसंख्या के अपेक्षाकृत एक छोटे भाग का ही प्रतिनिधित्व करते थे। अधिकांश व्यक्तियों का जीवन प्रमुखरूप से ग्रामीण समाज या गांव ही बनाते थे। नगरों और महानगरों की महाकाय वृद्धि, विकास और जनसंख्या के बड़े भाग का नगरीय क्षेत्रों में जाना पिछले पांच एक दशकों का ही विशेष लक्षण रहा है। नगरीकरण औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम था। इसने केन्द्रित स्थानों पर श्रमिकों की बड़ी संख्या की मांग को उत्पन्न किया।

नगरों का विकास जन्म एवं मृत्यु दर और प्रव्रजन/स्थानान्तरण (migration) पर ही केवल निर्भर नहीं करता परन्तु वह राजनीतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और आर्थिक कारकों से भी होता है। राजनीतिक केन्द्र राज्यों की राजधानी हो सकते हैं (भूपाल, जयपुर, बम्बई, कलकत्ता, आदि) या राजनीतिक गतिविधियों के क्षेत्र (देहली), या फौज के प्रशिक्षण स्थल (खड़गवासला), या रक्षा उत्पादन केन्द्र (जोधपुर); आर्थिक केन्द्र वे क्षेत्र होते हैं जहां व्यापार और वाणिज्य का वर्चस्व (predominance) होता है (अहमदाबाद, सूरत), औद्योगिक नगर वे स्थान हैं जहां कारखाने होते हैं (भिलाई, सिंगरौली, कोटा, लुधियाना); धार्मिक नगर वे हैं जहां व्यक्ति तीर्थयात्रा पर जाते हैं (हरिद्वार, वाराणसी, इलाहाबाद); और शैक्षणिक केन्द्रों पर शैक्षणिक संस्थाएं होती हैं (पिलानी)।

भारत में 1971 में शहरी जनसंख्या 10.91 करोड़, 1981 में 16.01 करोड़, और 1991 में 21.7 करोड़ थी। जब कि 1921 में शहरी जनसंख्या देश की जनसंख्या की केवल 11.3 प्रतिशत थी, 1951 में यह बढ़कर 17.6 प्रतिशत, 1971 में 20.2 प्रतिशत, 1981 में 23.8

प्रतिशत और 1991 में 25 7 प्रतिशत हो गई (सेन्सस आफ इंडिया,1991, सीरीज 1,2) । दूसरी ओर 1911-21 के दशक में शहरी जनसख्या 8 3 प्रतिशत, 1921-31 में 19 1 प्रतिशत, 1931-41 में 32.0 प्रतिशत, 1941-51 में 41 4 प्रतिशत, 1951-61 में 37 0 प्रतिशत, 1961-71 में 38 2 प्रतिशत, 1971-81 में 35 4 प्रतिशत और 1981-91 में 40 4 प्रतिशत बढी । इस प्रकार 1941 और 1991 के बीच के पाच दशकों में शहरी जनसख्या की वृद्धि दर 3 4 और 3 8 प्रतिशत के बीच प्रतिवर्ष रही ।

नगरीय जनसख्या का विभिन्न राज्यों में वितरण भी अलग अलग मिलता है । पश्चिमी क्षेत्र (महाराष्ट्र और गुजरात) में कुल नगरीय जनसख्या का 20%, दक्षिण क्षेत्र (आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक) में 27 प्रतिशत, पूर्वी क्षेत्र (बिहार, बगाल, उडीसा, त्रिपुरा, नागालैण्ड, मिज़ोरम, आदि) में 18 प्रतिशत, तथा उत्तरी क्षेत्र (उत्तरप्रदेश, पजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर) और मध्यवर्ती क्षेत्र (राजस्थान, मध्यप्रदेश) में मिलाकर 35 प्रतिशत ।

भारत में नगरीय जनसख्या का प्रतिशत केवल 25 7 है, जब कि ससार की कुल जनसख्या का 45 प्रतिशत शहरों में रहता है । सब से अधिक नगरीय जनसख्या आस्ट्रेलिया और न्यूज़िलैण्ड में (85%) मिलती है और उसके बाद जापान (77%), उत्तर-अमेरिका (74%), रूस (66%), अफ्रीका और एशिया (34%) और पाकिस्तान (32%) में ।

प्रमुख श्रमिकों के पूर्ण रोजगार में कृषिक रोजगार का भाग 1961 में 72.0 प्रतिशत से घटकर 1981 में 68 0 प्रतिशत, और 1991 में 64 0 प्रतिशत हो गया (सेन्सस आफ इडिया) । वर्ष 2001 तक ग्रामीण जनसख्या में 19 से 20 करोड के बीच व्यक्ति जुड जायेंगे और इनमें से 10 करोड़ नौकरियों की तलाश में शहरी क्षेत्रों में आ जायेंगे । जब 1931 में एक लाख से अधिक जनसख्या वाले नगरों की कुल सख्या मात्र 32 थी, वह 1961 में 107, 1981 में 216 और 1991 में 317 हो गई (जम्मू और कश्मीर को छोडकर) । दस लाख से अधिक जनसख्या वाले बडे शहरों की सख्या 1941 में दो से बढकर 1971 में 9, 1981 में 12, और 1991 में 23 हो गई (सेन्सस आफ इंडिया, 1991 सीरीज 1 पेपर 2 251) ।

भारत में (1991 में) शहरों की कुल सख्या 4689 थी । इनमें सबसे अधिक शहर (704) उत्तरप्रदेश में हैं । इसके बाद तमिलनाडु (434), मध्यप्रदेश (327) और महाराष्ट्र में (307) हैं । 1991 की जनगणना के अनुसार 65.2 प्रतिशत जनसख्या एक लाख से अधिक जनसख्या वाले शहरों में रह रही थी, 10 9 प्रतिशत 50,000 और एक लाख के बीच की जनसख्या वाले शहरों में, 13.2 प्रतिशत 20,000 और 50,000 के बीच की जनसख्या वाले कस्बों में, 7.8 प्रतिशत 10,000 और 20,000 के बीच की जनसख्या वाले कस्बों में और 2.6 प्रतिशत 5,000 और 10,000 के बीच की जनसख्या वाले कस्बों में (सेन्सस आफ इडिया, सीरीज़ 1, पेपर 2) । भारत के चार महानगर (1991 के आकडों के अनुसार) जिनकी जनसख्या 50 लाख से अधिक है, ये हैं कलकत्ता (109 लाख), बम्बई (126 लाख), देहली (84 लाख) और मद्रास (54 लाख) (दि

हिन्दुस्तान टाइम्स, मई, 30, 1991)।

जिन शहरों की जनसख्या एक लाख से अधिक है, उनमें भारत की कुल जनसख्या का 65 20 प्रतिशत मिलता है, जिन कस्बों (towns) की 50,000 और एक लाख के बीच है उनमें कुल जनसख्या का 10 95 प्रतिशत, जिनमें 20,000 और 50,000 के बीच है उनमें 13 19 प्रतिशत, तथा जिनमें 20,000 से कम है उनमें 10 81 प्रतिशत जनसख्या मिलती है।

लगभग 15 वर्ष पहले केन्द्रीय सरकार ने छोटे कस्बों के विकास के लिए एक योजना बनाई थी। यह योजना थी "छोटे और मध्यम कस्बों के लिए विकास की एकीकृत योजना"। इसके अन्तर्गत राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार से सहायता मिलती है। परन्तु यह योजना असफल हो रही है। विकास का अभाव व्यक्तियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन को प्रभावित करता है।

नगरीकरण के सामाजिक प्रभाव

नगरीकरण के सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण उसके परिवार, जाति, महिलाओं की सामाजिक स्थिति, और ग्रामीण जीवन के सम्बन्ध से किया जा सकता है।

नगरीकरण और परिवार (Urbanization and Family)

नगरीकरण केवल परिवार के ढाचे को ही प्रभावित नही करता, अपितु वह परिवार के आन्तरिक और अन्तर-परिवार के सम्बन्धों और उन कार्यों को भी जो परिवार करता है प्रभावित करता है। शहरी परिवारों पर आई पी देसाई, कापडिया, और एलन रॉस (Aillen Ross) जैसे विद्वानों द्वारा किये गये आनुभविक अध्ययनों ने बतलाया है कि शहरी सयुक्त परिवार का स्थान धीरे-धीरे एकाकी परिवार ले रहा है, परिवार का आकार सिकुड रहा है, और रिश्तेदारी के सम्बन्ध केवल दो या तीन पीढ़ी तक ही सीमित हो गये हैं। गुजरात में महुवा कस्बे में 1955-57 में 423 परिवारों पर किये गये अध्ययन में आई पी देसाई (1964) ने पाया कि 5 प्रतिशत परिवार एकाकी (nuclear) थे (निवासीय रूप से और प्रकार्यात्मक रूप से), 74 प्रतिशत निवासीय रूप से एकाकी थे परन्तु प्रकार्यात्मक रूप से और/या मूल बातों में (सम्पत्ति में) सयुक्त, और 21 प्रतिशत निवास और कार्य और सम्पत्ति में सयुक्त थे। 95 0 प्रतिशत सयुक्त परिवारों में से (कार्य और/या सम्पत्ति, और/या निवास में सयुक्त) 27 प्रतिशत प्रकरणों में सयुक्त होने का रूप कम था (वे कार्य करने में ही सयुक्त थे), 17 0 प्रकरणों में सयुक्त होने का रूप उच्च (high) था (अर्थात वे कार्य करने और सम्पत्ति के मामलों में सयुक्त थे), 30 प्रतिशत प्रकरणों में संयुक्त होने का रूप उच्चतर (higher) था, (अर्थात वे कार्य करने एव सम्पत्ति और आवास के मामलों में सयुक्त थे, परन्तु वे दो पीढ़ी के परिवार थे), और 21.0 प्रतिशत प्रकरणों में संयुक्त होने का रूप उच्चतम (highest) था (अर्थात वे आवास, कार्य और सम्पत्ति में सयुक्त थे और वे तीन पीढ़ी के परिवार थे)। यह दिखलाता है कि यद्यपि शहरी परिवार का ढाचा बदल रहा है, परन्तु परिवारों में व्यक्तिवाद की भावना नहीं बढ़ रही है।

कापडिया (1959) ने 1955 में गुजरात में ग्रामीण और नगरीय (नवसारी) क्षेत्रों में 1,162 परिवारों के अपने अध्ययन में बताया कि जब ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक दो एकाकी परिवारों के पीछे तीन सयुक्त परिवार थे, नगरीय क्षेत्रों में एकाकी परिवार सयुक्त परिवारों से 10 प्रतिशत अधिक थे। एलन रॉस (1961) ने 1957 में बैंगलोर में मध्यम और उच्च वर्गों के 157 हिन्दू परिवारों के अध्ययन में पाया कि (1) तीन-पचम (three-fifth) परिवार एकाकी थे और दो-पचम सयुक्त, (2) सयुक्त परिवारों में 70 प्रतिशत छोटे सयुक्त परिवार थे (दम्पत्ति + अविवाहित बच्चे + बच्चों के बिना विवाहित पुत्र, या बच्चें के साथ दो या दो से अधिक विवाहित भाई) और 30 0 प्रतिशत बडे सयुक्त परिवार थे (दम्पत्ति + माता-पिता + अविवाहित बच्चे + बच्चों के साथ विवाहित पुत्र + विवाहित/ अवविवाहित भाई), (3) आज की प्रवृत्ति पारपरिक सयुक्त परिवार से अलग होकर एकाकी परिवार इकाई की ओर है, (4) शहरी भारत में अब छोटा सयुक्त परिवार पारिवारिक जीवन का सर्वाधिक प्रतिनिधिक रूप है, (5) परिवार के रूपों का एक चक्र (cycle) होता है, (6) व्यक्तियों की बढती हुई सख्या अब अपने जीवन का कम से कम एक हिस्सा एकल इकाईयों में व्यतीत करती है, और (7) व्यक्ति के दूर के सबधियों से सबध टूट रहे है या कमजोर हो रहे हैं।

आर के मुखर्जी (1973) ने भी पश्चिम बगाल में (1960-61) में 4,120 परिवारों के अध्ययन के आधार पर कहा है कि सयुक्त परिवार का एकाकी परिवार द्वारा प्रतिस्थापन एक अनिवार्य प्रक्रिया है।

यद्यपि अन्त पारिवारिक और अन्तर पारिवारिक सबधों में भी परिवर्तन आ रहा है, परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि बच्चे अपने बड़ों का अब आदर नही करते, या बच्चे अपने माता पिता एव भाई-बहिनों की ओर अपने कर्तव्यों पर ध्यान नही देते, या पत्निया अपने पतियों के अधिकार को चुनौती देती हैं। महत्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि 'पति-प्रधान' (husband-dominant) परिवार का स्थान समतावादी (equalitarian) परिवार ले रहा है, जिसमें निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में पत्नि भी भाग लेती है। माता पिता भी बच्चों पर अपना अधिकार नही थोपते है और ना ही बच्चे आखें मूद कर अपने माता-पिता के आदेशों का पालन करते हैं। बच्चों का रुख डर के बजाय आदर से प्रेरित होता है। आई पी देसाई ने भी यह माना है कि "युवा और बूढ़ी पीढ़ियों में तनाव के बावजूद बच्चों का अपने परिवारों से लगाव बिरले ही कमजोर होता है"। परन्तु रॉस (Ross) के विचार मे "परिवार के प्रति कर्तव्य की भावनाए और परिवार के सदस्यों के प्रति भावात्मक लगाव निश्चित रूप से कमजोर हो जायेंगे और पितृसत्ता समाप्त हो जायेगी। जब ऐसा होगा तो सबधियों के और बडे समूह में पहचान के लिये कुछ भी बाकी नही रह जायेगा"। हमारा अपना विचार है कि शहरी भारत में (और इस विषय में सारे भारत में) परिवार कभी भी नही टूटेगा, अपितु वह एक शक्तिशाली इकाई बना रहेगा।

नगरीकरण और जाति (Urbanization and Caste)

नगरीकरण, शिक्षा, व्यक्तिगत उपलब्धि, और आधुनिक प्रस्थिति-प्रतीकों की ओर

अभिमुखीकरण का विकास (development of an orientation) जाति की पहचान को कम करता है। नगर के लोग ऐसे सबंधों के ताने-बाने में भाग लेते हैं जिनमें कई जातियों के व्यक्ति होते हैं। रजनी कोठारी के अनुसार, व्यक्ति के प्रति बफादारी का स्थान एक दूसरे को काटने वाली वफादारियों ने ले लिया है। आन्द्रे बिताई (Andre Beteille, 1966: 209-10) ने कहा है कि पाश्चात्य रग में रगे हुए अभिजन (elite) में वर्ग के बंधन जाति के बधनों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

कुछ जातियों के शिक्षित सदस्य, जो आधुनिक व्यवसायों में हैं, कभी-कभी दबाव-समूह (pressure group) के रूप में सगठित हो जाते हैं। इस प्रकार एक जाति दूसरे दबाव समूहों के साथ राजनीतिक और आर्थिक ससाधनों के लिये एक सामूहिक इकाई की तरह प्रतिस्पर्द्धा करती है। इस प्रकार का सगठन एक नई प्रकार की एकात्मकता (solidarity) दर्शाता है। ये प्रतिस्पर्द्धा करने वाली इकाईयां जाति के ढाचों की अपेक्षा सामाजिक वर्गों की तरह अधिक कार्य करती हैं।

एक और परिवर्तन जो हम आज कल देखते हैं वह है उपजातियों का विलयन (fusion) और जातियों का विलयन। कोलेन्डा (1984.150-151) ने तीन प्रकार के विलयन की चर्चा की है. (i) रोज़गार में और शहर की अपेक्षाकृत नई बस्तियों में विभिन्न उपजातियों और जातियों के व्यक्ति एक दूसरे से मिलते हैं। वे प्राय. लगभग बराबर के दर्जे के होते हैं और इन में पड़ोस की या कार्यालय समूह की एकता विकसित होती है। इस तरह की चीज बड़े शहरों में सरकारी बस्तियों में आमरूप से पाई जाती है; (ii) अन्तर-उप-जातीय विवाह होते हैं और इससे उपजातियों के विलयन को प्रोत्साहन मिलता है। यह इस लिये होता है कि कई बार शिक्षित बेटी के लिये अपनी ही उप-जाति में पर्याप्त रूप से शिक्षित वर नही मिलता, परन्तु करीब की उप-जाति में मिल जाता है; और (iii) लोकतांत्रिक राजनीति उप-जातियों और सन्निकट जातियों के विलयन को प्रोत्साहित करती है, ताकि बडे आकार के दलों का संगठन बन सके। इसका एक उदाहरण तमिलनाडु की द्रविड मुन्नेत्र कज़गम (डी.एम.के.) और अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कज़गम (ए.डी.एम.के.) के दलों का है जिनका संगठन उच्च गैर ब्राह्मण जातियों के सदस्यों द्वारा किया गया है।

शहर के लोग जाति के प्रतिमानों के अनुसार पूर्णरूप से नही चलते। खानपान संबधों, वैवाहिक संबंधों, सामाजिक संबंधों और व्यावसायिक सबंधों में परिवर्तन हुआ है। बिहार में जाति व्यवस्था के एक अध्ययन में पाया गया कि नगरीकरण ने जाति व्यवस्था की सब विशेषताओं को समानरूप से प्रभावित नही किया है। पाच विभिन्न जातियों (ब्राह्मण, राजपूत, धोबी, अहीर, और चमार) के 200 व्यक्तियों के अध्ययन के आधार पर पाया गया कि सभी सूचनादाताओं ने अपनी ही जाति में विवाह किया था, यद्यपि शहरों में रह रहे सूचनादाताओं में से 20 प्रतिशत अन्तर्जातीय विवाहों के पक्ष में थे। इसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रों में 5.0 प्रतिशत थे। व्यवसाय के संबध में शहर में एक भी सूचानादाता अपने पारपरिक जाति के धंधे में नहीं

था, जब कि ग्रामीण क्षेत्रों में 81 0 प्रतिशत सूचनादाता अभी तक अपने पारंपरिक धंधे से जुड़े हुए थे। इसी प्रकार जातीय एकता ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में इतनी मजबूत नहीं थी। जातियों की पचायतें शहरों में बहुत कमजोर थी। धूर्ये (1952), कापडिया (1959), बार्नबास, योगेन्द्र सिंह, आर के मुखर्जी, श्रीनिवास, योगेश अटल और एस सी दुबे ने भी जाति पर नगरीकरण के प्रभाव का उल्लेख किया है।

नगरीकरण और महिलाओं की प्रस्थिति (Urbanization and Status of Women)

महिलाओं की प्रस्थिति ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में अधिक ऊंची है। तुलनात्मक रूप से शहरी महिलाएँ अधिक शिक्षित एव उदार हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में 25 1 प्रतिशत साक्षर महिलाओं के विपरीत शहरी क्षेत्रों में 1991 में 54 0 प्रतिशत महिलाएँ साक्षर थी। शिक्षित महिलाओं से कुछ कार्यरत भी थी। इस प्रकार उन्हें न केवल अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों की जानकारी थी, अपितु वे अपने अधिकारों का उपयोग अपने को अपमानित और शोषित होने से बचने में भी करती थी। लडकियों की शहरों में विवाह के समय की औसत आयु भी गावों में विवाह की औसत आयु से अधिक थी।

फिर भी श्रम बाजार में महिलाएँ अभी भी प्रतिकूल स्थिति में हैं। श्रम बाजार में महिलाओं के विरुद्ध पक्षपात रवैया अपनाया जाता है जो अवसर की समानता के विरुद्ध है। अवसर की समानता को एक इस सदर्भ में व्यापक रूप में समझा जाये। इसमें रोजगार, प्रशिक्षण और उन्नति के अवसरों की समानता आती है। इस रूप में श्रम बाजार में, जहा लिंग के आधार पर विभाजन है, परिवर्तन सभव नही है, क्योंकि श्रम बाजार की सरचना में यह माना जाता है कि महिलाओं की जीवन-वृत्ति (career) के सरूपों (patterns) में साधारणतया अन्तराल आते हैं और इसके विपरीत पुरुषों के सामान्य जीवन वृत्ति के सरूपों में निरन्तरता होती है। श्रम बाजार में लिंग विभाजन के प्रतिबधों के कारण महिलाओं की प्रवृत्ति सीमित व्यवसायों के दायरे में काम करने की होती है और इन व्यवसायों में प्रतिष्ठा और मजदूरी भी कम होती हैं। महिलाए साधारणतया अध्यापन, नर्सिंग, सामाजिक कार्य, लिपकीय और क्लर्कों के रोजगार को अधिक चाहती हैं, जिन सब में प्रतिष्ठा कम होती हैं और पारिश्रमिक भी कम। उन महिलाओं को भी, जो व्यावसायिक शिक्षा पाने में आने वाली बाधाओं को भी पार कर लेती हैं, प्रतिकूल स्थितियों का सामना करना पडता है क्यों कि उन्हें, व्यावसायिक जीवन-वृत्ति और घर की प्रतिस्पर्द्धा से भरी मागों से स्वय को अनुकूल बनाने में कठिनाई होती है।

महिलाओं के लिये अविवाहित रहना या विवाह और जीवन-वृत्ति को सम्मिश्रित करना एक कठिन कार्य है। इस आम अपेक्षा के अलावा कि सब पत्नियों को गृह-स्वामिनी होना चाहिये, यह भी पाया जाता है कि आवश्यकता पडने पर महिलाओं से अपनी जीवन-वृत्ति को त्याग देने को कहा जाता है और इस प्रकार उनके पतियों की जीवन-वृत्ति की अपेक्षा उनकी जीवन-वृत्ति को गौण समझा जाता है। इससे महिलाओं में कुण्ठाएं उत्पन्न हो जाती हैं और कुछ प्रकरणों में इससे मानसिक बीमारियां भी हो जाती हैं। परन्तु ग्रामीण महिलाओं को ऐसी

समस्याओं का सामना नही करना पडता ।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि भारत मे लडकियों की उच्च स्तर की शिक्षा छोटे आकार वाले परिवार से महत्वपूर्ण ढग से सम्बद्ध है । यद्यपि शिक्षा ने महिलाओं की विवाह की आयु बढा दी है और जन्म दर को कम कर दिया है, फिर भी इससे दहेज के साथ पारंपरिक सरूप वाले तयशुदा (arranged) विवाहों में कोई मूलभूत परिवर्तन नही हुआ है । मारग्रेट कॉरमेक (1961.109) ने विश्वविद्यालय के 500 छात्रों के अध्ययन में पाया कि लडकिया कालेज जाने और लडकों से मिलने जुलने के लिये तैयार थी, परन्तु वे अपनी शादी अपने माता-पिता के द्वारा तय कराना चाहती थी । महिलाए नये अवसर चाहती हैं, परन्तु इनके साथ-साथ वे पुरानी सुरक्षाओं की भी माग करती हैं । वे अपनी अभी हाल की प्राप्त स्वतत्रता को पसद करती हैं, परन्तु पुराने मूल्यों को भी बनाये रखना चाहती हैं ।

तलाक और पुनर्विवाह नये तथ्य हैं जिन्हें हम शहरी स्त्रियों में पाते हैं । आज महिलाए कानूनी रूप से विवाह विच्छेद करने मे अधिक पहल करती हैं, यद्यपि उन्हें विवाह के उपरान्त सामजस्य स्थापित करना कठिन लगता है । आश्चर्य यह है कि बडी सख्या में तलाक स्त्रियों द्वारा असामजस्य और मानसिक यातना के आधार पर मागा जाता है ।

राजनीतिक रूप से भी शहरी महिलाएँ आजकल अधिक सक्रिय हैं । उन महिलाओं की सख्या जो चुनाव लडती हैं, हर स्तर पर बढी हैं । वे महत्वपूर्ण राजनैतिक पदों पर आरूढ हैं और स्वतत्र राजनैतिक विचारधारा रखती हैं । इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जब ग्रामीण महिलाएँ आर्थिक और सामाजिक रूप से पुरुषो पर निर्भर हैं, शहरी महिलाएँ तुलनात्मक रूप से अधिक स्वतत्र हैं ।

नगरीकरण और ग्रामीण जीवन (Urbanization and Village Life)

पिछली आधी शताब्दी से हमारे देश में शहरी विकास के कारण ग्रामीण व्यक्तियों का ऐसे शहरी क्षेत्रों में अपकेन्द्री (centrifugal) पलायन हुआ, जहा पर पहुचने के लिये जनोपयोगी सेवाएं सुगमता से उपलब्ध थी । कई व्यक्ति शहरों में इसलिये गये क्यों कि वहा रोजगार उपलब्ध थे । जो अभी भी गावों में बसे हैं उन्हें भी शहरी जीवन की सुविधाए उपलब्ध हैं, यद्यपि वे शहरी केन्द्रों मे मीलो दूर है । उत्कृष्ट राजमार्ग, बसें व मोटरें, रेडियो, टेलीविजन और अखबार ग्रामीणों को शहरी रोजगार, और शहरी आवास और ग्रामीण सम्पर्क ने न केवल सामाजिक सरूपों में कुछ परिवर्तन किये हैं, अपितु जीवन की एक नई शैली मे समन्वय भी स्थापित किया है । ग्रामीणों को अब शहरी जीवन के बारे मे अधिक जानकारी है और उससे वे इस प्रकार प्रभावित हुए हैं कि अब वे जाति, धर्म आदि को अत्यधिक महत्व नही देते । वे अपने दृष्टिकोण में अधिक उदार हो गये हैं तथा अलगाव में भी नही रहते । कई किसानों ने खेती की नई पद्धतियां अपना ली हैं । न केवल उनके मूल्यों और आकाक्षाओं में परिवर्तन आया है, अपितु उनके व्यवहार में भी परिवर्तन हुआ है । जजमानी व्यवस्था कमजोर हो रही है और अन्तर्जातीय एवं अन्तर्वर्गीय संबंधों में परिवर्तन आ रहा है । विवाह, परिवार और जाति-पंचायतों की संस्थाओं

में भी परिवर्तन आया है। बीमारियों के उपचार के लिये प्रारम्भिक तरीकों पर निर्भर रहने के बजाय वे अब आधुनिक एलोपेथिक दवाई का प्रयोग करते हैं। चुनावों में भी इसी प्रकार वे एक प्रत्याशी की धार्मिक अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा के स्थान पर उसकी क्षमताओं और राजनैतिक पृष्ठभूमि को महत्व देते हैं।

परन्तु इसका यह *अर्थ नहीं कि गावों में अब परम्पराओं का कोई महत्व नहीं है।* व्यक्तिवाद परिवारवाद (familism) का स्थान नहीं ले पाया है और ना ही धर्मनिरपेक्षता उस बन्धन का स्थान ग्रहण पायी है जो धार्मिक है।

नगरीकरण की समस्याए (Problems of Urbanization)

शहरी समस्याए अनन्त हैं। नशीले पदार्थों का व्यसन, भ्रष्टाचार, और बेरोजगारी उनमें से कुछ हैं। हम उन छह गम्भीर समस्याओं के प्रभाव क्षेत्र और व्यापकता का विश्लेषण करेंगे जिनका इस पुस्तक के दूसरे अध्यायों में उल्लेख नहीं हुआ है। वे हैं (i) आवास और गदी बस्तिया, (ii) भीड-भाड और निर्व्यक्तीकरण (depersonalisation), (iii) पानी की आपूर्ति एव जल-निकास (drainage), (iv) परिवहन एव यातायात, (v) विद्युत की कमी और (vi) प्रदूषण।

आवास और गदी बस्तिया (Housing and Slums)

शहर में व्यक्तियो का आवास या आवासहीनता को समाप्त करना एक गभीर समस्या है। *सरकार, उद्योगपति, पूजीपति, साहसी उद्यमी (entrepreneurs),* विकासक (developers), ठेकेदार और मकानदार (landlords), निर्धन और मध्यम वर्ग के व्यक्तियों की आवासीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाये हैं। हाल की यू एन आई की रिपोर्ट के अनुसार (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 9 मई, 1988), भारत के सबसे बडे नगरों में शहरी जनसख्या के एक चौथाई और आधे के बीच व्यक्ति कामचलाऊ आश्रयों एव गदी बस्तियों में रहते हैं। देश के कुल परिवारों में से कम से कम 15 0 प्रतिशत 'आवास से वंचित है', घरों के 60 प्रतिशत से अधिक में रोशनी और हवा की सुविधाए अपर्याप्त हैं और 80 प्रतिशत ग्रामीण जनसख्या और 30 प्रतिशत शहरी जनसख्या कच्चे मकानों में रहती हैं। लाखों व्यक्तियों को अत्यधिक किराया देना पडता है, जो उनके साधनो से परे होता है। हमारी लाभ-अभिमुख अर्थव्यवस्था में निजी विकासकों और बस्तियों का निर्माण करने वालो को निर्धन और निम्न मध्यमवर्ग के व्यक्तियों के लिये शहरों में मकान बनाने से कुछ लाभ नहीं होता। वे इसके बजाय धनाड्य एव उच्च मध्यम वर्ग की आवासीय आवश्यकताओ की पूर्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। इसके परिणामस्वरूप किराये बढे हैं और कुछ उपलब्ध मकानों के लिये किराये की प्रतिस्पर्द्धा रहती है। लगभग आधी जनसख्या के पास खराब मकान हैं या वे अपनी आय का 20 प्रतिशत किराये पर व्यय करते हैं। *कुछ राज्यों में आवासन मडलों (Housing Boards)* और नगर विकास प्राधिकरणों (City Development Authorities) ने शहर की

आवासीय समस्या का जीवन बीमा निगम, हुडको और इस प्रकार की अन्य एजेंसियों ने सक्रिय वित्तीय सहायता के द्वारा समाधान करने का प्रयास किया है। वे मकान की पूरी कीमत मासिक किश्तों तक में लेते है और 9 प्रतिशत से 18 प्रतिशत ब्याज लेते है। परन्तु इंजीनियर और ठेकेदार इन सरकारी प्रयासों से बहुत लाभ कमाते हैं। वे निर्माण में घटिया माल लगाते हैं और निर्धारित विनिर्देशों (specifications) का उल्लंघन करते हुए भवनों का निर्माण करते हैं। खरीदने वाले को शीघ्र ही मालूम हो जाता है कि छत टपकती है, चूना झडने लगता है, दीवारों में दरारें पड़ जाती हैं और बिजली के साज़-सामान (fittings) खराब होने लगते हैं। इस प्रकार के कार्यों से आवासन मडल और वे थोडे से ईमानदार अफसर, जो इस प्रकार की आवासीय परियोजनाओं से सम्बद्ध होते हैं, बदनाम हो जाते हैं। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि आज भी शहरों में आवासीय समस्या केवल रोटी और कपडे के बाद सबसे विकराल समस्या बनी हुई है।

सातवीं योजना के प्रारम्भ में मकानों की अनुमानित कमी लगभग 25 0 मिलियन इकाईयां थी। शहरी क्षेत्रों में 1990 तक यह कमी 9 7 मिलियन इकाईयों तक बढ़ जाने की संभावना थी। अकेले देहली में, जहा 1957 और 1990 के बीच 2.0 मिलियन से 8.5 मिलियन की जनसख्या में वृद्धि हुई, प्रत्येक वर्ष 60,000 व्यक्तियों की वृद्धि हो जाती है जिन्हें नये आवास प्रदान करने की आवश्यकता होती है। एक यू.एन.आई. की रपट के अनुसार देहली की जनसख्या के लगभग 70 प्रतिशत व्यक्ति निम्न स्तर की परिस्थितियों में रहते हैं। देश की गंदी बस्तियों की 1992 में लगभग 45 मिलियन जनसख्या थी। इसमें देहली में उसकी जनसंख्या के 44 प्रतिशत गदी बस्तियों (झुग्गी-झोपडी) में रहते थे, बंबई की झोपड़पट्टी व चाल में 45.0 प्रतिशत, कलकत्ता की बस्तियों में 42.0 प्रतिशत, और मद्रास की चेरीज़ में 39.0 प्रतिशत। बैंगलोर, हैदराबाद, अहमदाबाद, कानपुर, पुणे, नागपुर और जयपुर के आठ अन्य महानगरों में भी स्थिति कोई इससे अधिक अच्छी नहीं है (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 21 जून, 1993 और दिसम्बर, 1993) सरकारी प्रयत्नों के बावजूद गदी बस्ती की जनसंख्या की अगले छः वर्षों में (यानि 2000 ई तक) बहुत अधिक बढने की सभावना है और इससे आवासीय समस्या व गदगी और बढगी। आबादकार बस्तियों के विकास का क्रम है, व्यक्ति, भूमि (स्थान), आश्रय और सेवाए। व्यक्ति सबसे प्रथम एक ऐसा स्थान चुनते हैं जो उनकी सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, फिर आश्रय घरों का निर्माण करते हैं और फिर कुछ समय के व्यतीत होने के बाद वे सेवाओं के आने की प्रतीक्षा करते हैं। यद्यपि बस्तियां व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, परन्तु वे शहर की योजना के नियमों को भंग करती हैं। इसलिये अब यह माना जाता है कि वर्तमान में विकास का क्रम होना चाहियेः भूमि (स्थान), व्यक्ति, आश्रय और सेवाएं। अब सरकार ने गरीबों की कम कीमत वाले अनौपचारिक आवासीय प्रौद्योगिकियों को अपनाने के लिये प्रोत्साहित करने के अतिरिक्त कई योजनाएं भी बनाई हैं और अधिक अच्छे मकान बनाने के लिये प्रोत्साहन देने के लिये कई रिआयतें दी हैं।

इनमें राष्ट्रीय आवासीय बैंक (National Housing Bank) को 100 करोड रुपये का योगदान, 100 करोड रुपये के समह (corpus) के साथ एक पृथक सामाजिक सुरक्षा कोष (Social Security Fund) की स्थापना और राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति वित्तीय और विकास निगम का गठन सम्मिलित है।

भीड़-भाड़ और निर्व्यक्तीकरण (Crowding and Depersonalisation)

भीड-भाड (जनसख्या की सघनता) और व्यक्तियों की दूसरे व्यक्तियों की समस्याओं (जिनमें उनके पडोसियों की समस्याएँ सम्मिलित है) के प्रति उदासीनता एक दूसरी समस्या है, जो शहरी जीवन में उत्पन्न हो रही है। कुछ घरों में इतनी भीड-भाड है कि पाच या छ व्यक्ति एक कमरे में रहते हैं। कुछ शहरों के अड़ोस-पडोसों में बहुत अधिक भीड-भाड है। भीड-भाड के कई हानिकारक प्रभाव होते हैं। यह विचलित व्यवहार को बढावा देती है, बीमारिया फैलाती है और मानसिक बीमारियों, मदिरापान और साम्प्रदायिक दगों के लिये परिस्थितिया उत्पन्न करती है। सघन शहरी आवास का एक प्रभाव भावशून्यता और उदासीनता होता है। शहर में रहने वाले दूसरों के मामलों में उलझना नही चाहते। यहा तक कि व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त हो जाते हैं, तग किये जाते हैं, उन पर आक्रमण किया जाता है, भगाया जाता है और उनकी हत्या तक कर दी जाती है और ऐसे समय में अन्य व्यक्ति केवल खडे हुए देखते रहते हैं।

जल आपूर्ति और जल-निकास (Water Supply and Drainage)

हम ऐसे चरण पर पहुच गये हैं जहा पर किसी भी शहर में चौबीस घटे पानी की आपूर्ति नही होती है। रुक रुक कर आपूर्ति करने से खाली पानी की लाइनों में रिक्त स्थान (vacuum) उत्पन्न हो जाता है जिससे लाइनों के रिसते हुए जोड (leaking joints) गदे पदार्थों (pollutants) को खीच लेते हैं। मद्रास, हैदराबाद, राजकोट, अजमेर और उदयपुर जैसे शहरों में नगरपालिकाए एक दिन में एक घटे से भी कम जल आपूर्ति करती हैं। कई छोटे कस्बों में प्रमुख जल आपूर्ति होती ही नही है और वे ट्यूब वैलों पर निर्भर रहते हैं। देहली जैसे सुनियोजित और सुव्यवस्थित शहर में जल आपूर्ति को बढाने के लिये 180 किलोमीटर दूर रामगगा जाना पडता है। बैंगलोर में लगभग 700 मीटर लिफ्ट करके पानी लाया जाता है। कई कस्बों और शहरों में जहा प्रतिवर्ष अच्छी वर्षा होती थी, पिछले दो तीन वर्षों से पानी की अत्यधिक कमी होने लगी है। जिस चीज का बुरी तरह अभाव है वह है एक राष्ट्रीय जल नीति जो सपूर्ण जल ससाधनों का आकलन करे और फिर पानी का आबटन करे। यह सितबर 1987 में देहली में हुई उच्च स्तरीय बैठक के बावजूद है जिसका उद्देश्य पीने के पानी की आवश्यकताओं को प्राथमिकता देना था।

जब हम पानी की आपूर्ति की दूसरी ओर देखते हैं, यानि, जल निकास, तो हम स्थिति इतनी ही खराब पाते हैं। एक बात जो भारत के बारे में कम लोग जानते हैं वह यह है कि यहा एक भी शहर ऐसा नही है जहा पूर्णरूप से मल विसर्जन नाले हों। चडीगढ जैसा नियोजित शहर भी इस विशिष्टता का दावा नही कर सकता क्यों कि उसमें और उसके आसपास के अनाधिकृत निर्माण

प्रमुख व्यवस्था के क्षेत्र से बाहर हैं । जल-निकास व्यवस्था के नहीं होने से गर्मी के महीनों में हरेक शहर में जमा हुए पानी के बड़े बड़े गड्ढे देखे जा सकते हैं । जिस प्रकार हमें एक राष्ट्रीय जल नीति की आवश्यकता है, उसी प्रकार हमे एक राष्ट्रीय और क्षेत्रीय जल निकास नीति की भी आवश्यकता है ।

परिवहन और यातायात (*Transportation and Traffic*)

परिवहन और यातायात की सभी भारतीय शहरों में तस्वीर सुन्दर नहीं है । अधिकाशत व्यक्ति बसो और टेम्पो का इस्तेमाल करते हैं और कुछ रेल का परिवहन व्यवस्था के रूप में प्रयोग करते हैं । स्कूटरों, मोटर साइकिलों, मोपेडो और कारो की बदली हुई सख्या यातायात समस्या को और भी अधिक खराब करती है । वे धुए और शोर से हवा को प्रदूषित करते हैं । देहली, बम्बई, मद्रास और कलकत्ता जैसे महानगरो में चलती बसो की सख्या पर्याप्त नहीं है और यात्रा करने वालों को बस के लिये एक या दो घटे तक प्रतीक्षा करनी पडती है जिसका अर्थ यह होता है कि उन्हें अपने कार्यस्थल पर पहुंचने के लिये सुबह दो घटे पहले घर छोडना पडता है और शाम को दो घटे बाद वे घर पहुच पाते हैं । इस परेशानी का मुख्य कारण यह है कि यात्रियों की कम आय उनको सस्ते मकानों वाले क्षेत्रों में रहने के लिये बाध्य करती है जिसके परिणामस्वरूप उन्हें लम्बी यात्रा करनी पड़ती है । इसके अतिरिक्त, चूकि हमारे नागरिक जन परिवहन व्यवस्था के लिये अधिक किराये नहीं दे सकते, किराये को कम रखना पडता है । इस कारण शहर की बस सेवाओं को इतने वार्षिक नुकसान उठाने पडते हैं कि वे वास्तव मे बढ नही सकती या शहर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त सख्या में बसें चला नहीं सकती ।

बिजली की कमी (*Power Shortage*)

यातायात से निकट से जुडी समस्या बिजली की कमी है । एक ओर शहरों में बिजली के साजो-सामान का प्रचलन बहुत अधिक हो गया है और दूसरी ओर नये उद्योगों के स्थापित होने से पुराने उद्योगों के विस्तार से भी बिजली पर निर्भरता बढ गई है । अधिकाश राज्य अपनी आवश्यकतानुसार बिजली उत्पादन करने की स्थिति में नही हैं, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें पड़ोस के राज्यों पर निर्भर रहना पडता है । दो राज्यो में बिजली की सप्लाई पर मतभेद हो जाने मे शहर में व्यक्तियों के लिये भयकर बिजली की सकट-स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।

प्रदूषण (*Pollution*)

हमारे शहर और कस्बे पर्यावरण को प्रमुख रूप से प्रदूषित करते हैं । कई शहर अपने पूरे गदे पानी और औद्योगिक अवशिष्ट कूडे का 40 से 60 प्रतिशत तक असमाधित रूप में (untreated) अपने पास की नदियों में बहा देते हैं । छोटे से छोटा कस्बा अपने कूड़े और मल को अपनी खुली नालियों के जरिये निकटतम नहर मे बहा देता है । शहरी उद्योग वातावरण को अपनी चिमनियों से निकलने धुए और जहरीली गैसों से प्रदूषित करता है ।

शहरी समस्याओ के कारण (Causes of Urban Problems)

मैकवे और आर्थर शोष्टक (1978 198-205), जिन्होंने अमरीका में शहरी समस्याओं को चार कारको से जोडा है, का अनुसरण करते हुए हम भारत में शहरी जीवन की समस्याओं के पाच निम्नाकित कारणों को बता सकते हैं (i) शहर में और शहर से बाहर प्रव्रजन, (ii) औद्योगिक विकास, (iii) सरकार की उदासीनता, (iv) दोषपूर्ण नगर योजना, और (v) निहित स्वार्थ शक्तिया।

प्रव्रजन (Migration)

व्यक्ति नगरों की ओर पलायन इसलिये करते हैं क्यों कि वहा पर रोजगार के अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छे अवसर उपलब्ध होते हैं। भारत में प्रव्रजन के चार स्वरूप हैं ग्रामीण से ग्रामीण, ग्रामीण से नगरीय, नगरीय से नगरीय और नगरीय से ग्रामीण। यद्यपि ग्रामीण से ग्रामीण प्रव्रजन अभी तक सबसे अधिक प्रचलित पलायन का रूप है, परन्तु ग्रामीण से नगरीय और नगरीय से नगरीय प्रव्रजन भी इतना ही महत्वपूर्ण है। 1981 की जनगणना के आकडे बताते हैं कि 71 3 प्रतिशत प्रकरणों में प्रव्रजन ग्रामीण से ग्रामीण की ओर था, 15 0 प्रतिशत प्रकरणों में यह ग्रामीण से नगरीय था, 8.8 प्रतिशत प्रकरणों में यह नगरीय से नगरीय था, और 4 9 प्रतिशत प्रकरणों में यह नगरीय से ग्रामीण था (बोस 1979 560)। अन्त जिले में प्रव्रजन (कम दूरी का प्रव्रजन), अन्तर-जिला या अन्त राज्यों में प्रव्रजन (मध्यम दूरी का प्रव्रजन) और अन्तरराज्य प्रव्रजन (लबी दूरी का प्रव्रजन) का विश्लेषण यह बताता है कि लगभग 68 0 प्रतिशत प्रव्रजन कम दूरी के हैं, 21 0 प्रतिशत मध्यम दूरी के हैं और 11 0 प्रतिशत लबी दूरी के हैं (बोस, 1979 187)।

ग्रामीण दरिद्रो के शहर मे प्रवेश राजस्व के स्रोतों को कम करते हैं। दूसरी ओर आजकल धनवान व्यक्ति उप नगरीय क्षेत्रों में रहना अधिक अच्छा समझते हैं। धनवान व्यक्तियों के पलायन से नगर को वित्तीय हानि होती है। इस प्रकार का शहर में प्रव्रजन और शहर से दूर प्रव्रजन से समस्याएँ बढती हैं।

औद्योगिक विकास (Industrial Growth)

भारत में जहा नगरीय जनसख्या विकास दर 4 0 प्रति शत है, औद्योगिक विकास दर लगभग 6 0 प्रतिशत प्रति वर्ष है। आठवी पचवर्षीय योजना की अभिधारणा है कि औद्योगिक विकास दर 8 0 प्रतिशत प्रति वर्ष होगी। वह विकास शहरों की बढती हुई रोजगारी की आवश्यकताओं की पूर्ति कर देगा। तृतीय खण्ड (tertiary sector) भी प्रवासियों को आश्रय प्रदान करता है यद्यपि उनकी आमदनी बहुत कम होती है।

सरकार की उदासीनता (Apathy of the Government)

हमारे नगरों की प्रशासनिक अव्यवस्था भी नगरवासियों की परेशानी के लिये उत्तरदायी है। नगरपालिका की सरकारें नगर के विकास के साथ-साथ प्रगति नही कर पाई हैं चाहे वह स्थान

की दृष्टि से हो या प्रबन्ध की उपसरचनाओं की दृष्टि से। भविष्य के लिये योजना बनाने के लिये न तो संकल्प है और न ही क्षमता। जो अभी भी बना हुआ है उसके प्रबन्ध के लिये भी कार्य-कुशलता और क्षमता नहीं है। जब तक हम शहरों की अपना शासन चलाने की क्षमता को नहीं सुधारते, तब तक हम शहरी गड़बड़ी पर काबू नहीं पा सकते। दूसरी ओर, राज्य सरकारें भी स्थानीय सरकारों पर कई शहरी समस्याओं के समाधान के लिये आवश्यक पैसा जुटाने पर कई प्रतिबंध लगा देती हैं।

दोषपूर्ण नगर योजना (Defective Town Planning)

नागरिक सेवाओं के स्तर में व्यापक गिरावट का एक अधिक चौंकाने वाला कारक है हमारे आयोजकों और प्रशासकों में बढ़ती हुई निस्सहायता की भावना। योजना आयोग से नीचे तक हमारे महानगरों के अनियन्त्रित विकास के प्रति एक भाग्यवादी स्वीकृति मालूम होती है। नगरीकरण के राष्ट्रीय आयोग के सदस्यों की मान्यता है कि कानपुर जैसे शहरों तक के लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता।

निहित स्वार्थ की शक्तियां (Vested Interest Forces)

नगरीय समस्याओं का अन्तिम कारण है निहित स्वार्थों की शक्तियां जो जनता के विरुद्ध कार्य करती हैं, परन्तु निजी व्यापारिक स्वार्थों और लाभों को बढ़ाती हैं। जब ये शक्तिशाली विशिष्ट व्यक्ति अधिक पैसा बना सकते हैं तो वे योजनाएं और कार्यक्रम बनाते समय इनकी परवाह नहीं करते कि इस प्रक्रिया में कितने व्यक्तियों को हानि होगी।

नगरीय समस्याओं के समाधान (Solutions to Urban Problems)

यदि हम नगरीय समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं तो हमें कुछ उपाय करने पड़ेंगे। इस संबंध में निम्नांकित आठ उपायों के सुझाव दिये जा सकते हैं:

नगरीय केन्द्रों का योजनाबद्ध विकास और रोजगार के अवसरों का सृजन (Systematic Development of Urban Centres and Creation of Job Opportunities)

हमारी नगरीय समस्याओं का एक महत्वपूर्ण समाधान तेजी से विकसित होते हुए नगरीय केन्द्रों का योजनाबद्ध विकास और निवेश के कार्यक्रम की योजना बनाना है जिसमें अगले 20 वर्षों में पूरे देश में बड़ी संख्या में सुवितरित व्यवहार्य नगरीय केन्द्र बन जायेंगे। अब तक हम अपना ध्यान आई.आर.डी.पी., एन.आर.ई.पी. और आर.एल.ई.जी.पी. कार्यक्रमों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में दैनिक वेतन पर रोजगारी दिलाने पर केन्द्रित कर रहे हैं जिसमें कि व्यक्ति गावों में ही बसे रहें। जब कि ग्रामीण रोजगार उपलब्ध कराने का बहुत औचित्य है, परन्तु यह अपने आप में पर्याप्त नहीं है। कृषि क्षेत्र में लाभकर रोजगार एक सीमा के बाद उपलब्ध कराना संभव नहीं है। इस उद्देश्य के लिये हमें उन कार्यक्रमों पर बल देना होगा जो व्यक्तियों के नगरों में भरण-पोषण के

लिये बहुकार्यात्मक गतिविधियों के अवसर प्रदान कर सके।

नगरीय योजना के साथ-साथ क्षेत्रीय योजना (Regional Planning along with City Planning)

नगरीय योजना नगरों में ही लगभग केन्द्रित होती है। हम सदैव कस्बे और नगर की योजना की बात करते हैं, परन्तु सम्पूर्ण क्षेत्र के नियोजित विकास की कभी नही ताकि जनसख्या का विवेकपूर्ण ढग से विसर्जन हो सके और गतिविधियों का ठीक प्रकार वितरण हो सके। नगर की योजना बनाना एक तदर्थ समाधान है, परन्तु क्षेत्रीय योजना द्वारा एक अधिक स्थाई समाधान हो सकता है। उदाहरण के लिये, नगरों में गदी बस्तियों में रहने वालों को नगर विकास प्राधिकरणों द्वारा मकान उपलब्ध करवाने के बजाय यदि क्षेत्रीय योजना के द्वारा प्रवासियों को अन्य क्षेत्रों में भेज दिया जाये जहा आकर्षक रोजगार उपलब्ध हैं, तो मौजूदा शहरों के विकास की गति रोकी जा सकती है। अब समय आगया है कि आठवी पचवर्षीय योजना में भारत सरकार राज्यों की क्षेत्रीय योजना सगठनों को स्थापित करने और अर्थपूर्ण क्षेत्रीय आवास योजनाओं को बनाने में सहायता करे।

उद्योगो को पिछड़े क्षेत्रो मे जाने के लिये प्रोत्साहित करना (Encouraging Industries to Move to Backward Areas)

भूमि मूल्य निर्धारण नीति, जो भूमि के बडे खड बहुत कम मूल्य पर देती है, को पुन नियोजित करना पडेगा जिससे उद्योग पिछडे क्षेत्रों/जिलों में जाने के लिये प्रोत्साहित हों। इससे महानगरों और बडे नगरों का रेखीय विकास रुक जायेगा। बडे नगरों में और उनके आस पास की सभावित अधिक कीमत की भूमि को लेकर उसको बाद में पूरी कीमत वसूल करने की राज्य की नीति पर भी गभीरता से विचार करना चाहिये।

नगरपालिकाओ को अपने वित्तीय ससाधन खोजना (Municipalities to Find own Financial Resources)

व्यक्ति नगरपालिकाओं को कर देने मे आपत्ति नही करते, यदि उनका पैसा सडकों के रख-रखाव के लिये, नालियों की व्यवस्था के लिये, पानी की कमी को कम करने के लिये और बिजली उपलब्ध कराने के लिये ठीक प्रकार से काम में लिया जाये। यह बात सर्वविदित है कि नगरों में ससाधनों की कमी है। यदि नगर पालिका के भ्रष्ट कर्मचारियों को निवारक (deterrent) दड दिया जाता है, तो कोई कारण नही कि नगर पालिका निगमों को नगरवासियों से पैसा जमा करने में कोई कठिनाई हो। एक नगर को अपने विकास पर किये गये व्यय का वहन स्वयं करना चाहिये। राज्य सरकार द्वारा भारी वित्तीय सहायता प्रदान करना कठिन होता जा रहा है। सम्पत्ति, पानी, और बिजली के करों को सशोधित करके पैसा इकट्ठा किया जा सकता है और आवश्यक सुख सुविधाए प्रदान करने के लिये अधिक पैसा प्रति

व्यक्ति प्रति वर्ष उपलब्ध कराया जा सकता है । जब कोई नया उद्योग या व्यापार नगर में या उसकी परिधि पर लगाया जाता है तो उस पर भारी कर लगाया जा सकता है, जिससे कि नगरपालिका को अतिरिक्त धन प्राप्त हो सके ।

निजी परिवहन को प्रोत्साहन (Encouraging Private Transport)

नगर परिवहन पर राज्य का एकाधिकार क्यों होना चाहिये ? जब परिवहन राज्य कर्मचारियों द्वारा चलाया जाता है तो यह पाया जाता है कि वे अत्यन्त अभद्र और कठोर हृदय हो जाते हैं । ट्रेड यूनियन का समर्थन उन्हें बार-बार हड़ताल पर जाने को प्रोत्साहित करता है । अत यह आवश्यक है कि निजी परिवहन को प्रोत्साहित किया जाये । निजी क्षेत्र में चलाई गई बसें और टेम्पो सेवाएं कुछ अधिक किराया अवश्य वसूल करेंगी, परन्तु यात्री अधिक अच्छी सेवाओं को दृष्टिगत रखते हुये इस पर आपत्ति नहीं करेंगे ।

किराया नियन्त्रण कानूनों मे सशोधन (Amendment of Rent Control Acts)

कानून, जो नये मकान बनाने या मकानों को किराये पर देने पर रोक लगाते हैं, में सशोधन करना चाहिये । कौन सा ऐसा मकान मालिक होगा जो दो कमरों के मकान पर लगभग एक लाख रुपया लगाये और उसे दस से बीस साल के लिये 300 रुपये पर किराये पर दे और उसके पास यह भी अधिकार न हो कि वह किराया बढ़ा सके या उचित कारणों के होते हुए भी उसे खाली न करा सके । महाराष्ट्र ने किराया नियन्त्रण कानून में सशोधन करने की पहल की है जिससे हजारों मकान किराये पर उपलब्ध हो गये हैं । दूसरे राज्यों में भी इस प्रकार के कदम का स्वागत होगा ।

व्यावहारिक आवासीय नीति को अपनाना (Adopting Pragmatic Housing Policy)

मई 1988 में केन्द्र सरकार ने एक राष्ट्रीय आवासीय नीति (National Housing Policy) बनायी थी, जिसका उद्देश्य शताब्दी के अन्त तक आवासहीनता (homelessness) को समाप्त करना है और आवास की गुणवत्ता को बढ़ा कर एक निश्चित कम से कम स्तर पर लाना है । यह नीति अत्यन्त महत्वाकांक्षी और अव्यावहारिक लगती है । यह ऐसा स्वप्न है जो बीसवी शताब्दी के अन्त तक पूरा होना असंभव लगता है । सरकारी नीति और योजना को अधिक व्यावहारिक होना चाहिये । इसका यह अर्थ नहीं कि एन.एच.पी. की परिकल्पना विवेकहीन है । एन.एच.पी. की रणनीति व्यापक है । उसमें यह प्रयत्न किया गया है कि मकानों के बनाने के लिये धन सरलता से उपलब्ध हो सके और जमीन एवं मकान बनाने का माल उचित कीमतों पर मिल सके । उसमें भवन निर्माताओं को नये प्रकार के निर्माण के सामान का प्रयोग करने के लिये प्रोत्साहित करने का भी उद्देश्य है । इसके अतिरिक्त वह भूस्वामित्व, भूमि अधिग्रहण, और नगरपालिका के अधिनियमों और किराये के कानूनों मकानों सबंधी संपूर्ण नियमों पर पुनर्विचार करने का प्रयत्न करता है । परन्तु ये सब पेचीदा समस्याएँ हैं । एन.एच.पी. धनवान

विकासकों, मकानमालिकों और ठेकेदारों की ओर अभिमुख है। एनएचपी को राजसी (luxurious) मकानों के बनाने को हतोत्साहित करना चाहिये और सहकारी और सामूहिक आवासीय सस्थाओं को प्रोत्साहित करना चाहिये। उसे गरीबों और कम आय वाले व्यक्तियो के लिये विशेष परियोजनाए विकसित करनी चाहिये। उसे मालिकों को कर्मचारियों के लिये मकान बनाने के लिये प्रोत्साहन देने के पक्ष में होना चाहिये। उसे अपनी 100 करोड रुपये की प्राधिकृत पूजी, जो वित्तीय आवश्यकताओं की बिल्कुल पूर्ति नही कर पायेगी, को बढाना चाहिये। जब तक एक अधिक व्यावहारिक एन एच पी नही अपनाई जाती, तब तक निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति असभव होगी।

सरचनात्मक विकेन्द्रीकरण (Structural Decentralisation)

अभिनव परिवर्तन (innovative) आयोजकों और कुछ आमूल परिवर्तवादियों (radicals) का एक प्रस्ताव स्वायत्त शासन के ही सरचनात्मक विकेन्द्रीकरण की कल्पना करता है। इसमें 'पडोस-क्रिया समूहों' (neighbourhood-action groups) का सृजन हो सकता है, जिन्हें साभुदायिक केन्द्र कहा जायेगा और उनमें निवासी और नगरपालिका के प्रतिनिधि होंगे। ये केन्द्र पडोस की आवश्यकताओं की पहचान करेंगे और उनकी पूर्ति की दिशा में कार्य करेंगे। उदाहरणार्थ, कई शहरों में कई नई बस्तिया स्थापित हो गई हैं जिनमें 10,000 से 50,000 व्यक्ति रहते हैं। इस प्रकार ये बस्तिया अपने आप में ही छोटे कस्बे हैं। कुछ कर जैसे भवन कर, पथ कर, विद्युत कर, आदि नगरपालिकाओं को देने के बजाय सीधे ही इन समुदायिक केन्द्रों को दिये जा सकते हैं। ये केन्द्र पडोस के मामलों को नगर पालिका निगम को भेजे बिना ही स्वय इनका सचालन करेंगे, और जमा किये हुए पैसे से सडको, रोशनी आदि का रख रखाव करेंगे। शहर में इस प्रकार के विकेन्द्रीय ढाचे के लिये यह तर्क है कि वही व्यवस्था जो लाखों व्यक्तियों को उनकी जन नियति पर अत्यधिक नियन्त्रण की अनुमति प्रदान करती है, वही उन सस्थाओं को, जो उनका जीवन व्यवस्थित करते हैं, व्यवस्थित करने में प्रभावी भूमिका निभाने से वचित करता है। साभुदायिक केन्द्र उन्हें अपना अनन्य (exclusive) वातावरण बनाने का अवसर प्रदान करेंगे।

अत यह कहा जा सकता है कि नगरीकरण और नगरीयता के प्रभावों और नगरों की समस्याओं का कभी समाधान नही हो सकता जब तक नगरीय योजना में सुधार नहीं होता और मौलिक उपाय नही किये जाते। ये लाभ के उद्देश्य पर आधारित नही होने चाहिये जिससे कि कुछ निहित स्वार्थों को ही इसका लाभ मिल सके। भूमि, प्रौद्योगिकी और करों का उपयोग सभी व्यक्तियों के लाभ के लिये होना चाहिये न कि कुछ शक्तिशाली स्वार्थ समूहों के लिये। नगरवासियों को राजनैतिक दृष्टि से सक्रिय होना पडेगा और नगरों में विद्यमान आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन लाने के लिये सगठित होना पडेगा और आदोलन करना होगा।

REFERENCES

1. Anderson and Iswaran, *Urban Sociology*, 1953.
2. Beteille Andre, "Class and Caste" in *Man in India*, Ranchi, April-June, 1966.
3. Bose Ashish, *India's Urbanisation*, 1979
4. Clinard, Marshall, *Sociology of Deviant Behaviour*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1957
5. Cormack, Margarat, *She Who Rides a Peacock*, Asia Publishing House, Bombay, 1961.
6. Desai, I.P., *Some Aspects of Family in Mahuva*, Asia Publishing House, Bombay, 1964.
7. Gore, M.S., *Urbanization and Family Change*, Popular Prakashan, Bombay, 1968.
8. Ghurye, G.S., *Caste, Class and Occupation*, Popular Book Depot, Bombay, 1952.
9. Kapadia, K M. *Sociological Bulletin*, Vol. VIII, No. 2, September, 1959.
10. Kolenda, Pauline, *Caste in Contemporary India*, Rawat Publications, Jaipur, 1984.
11. McVeigh, F.J. and Schostak, Arthur B., *Modern Social Problems*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1978.
12. Narmadeshwar, Prasad, *The Myth of the Caste System*, Samjna Prakshan, Patna, 1957.
13. Ross, Aileen, *Hindu Family in its Urban Setting*, Oxford University Press, New Delhi, 1961.
14. Simmel, George, *The Sociology of George Simmel*, trans, K.M. Wolff, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1950.
15. Sorokin and Zimmerman, *Principles of Rural Urban Society*, 1962.
16. Theodorson, G.A. and Theodorson, A.Q., *A Modern Dictionary of Sociology*, Thomas Y. Crowell Co., New York, 1969.
17. Toennies F., Gemeinschaft and Gesellschaft Parsons, et al. (eds.), *Theories of Society*, Vol. 1, The Free Press of Glencoe, New York, 1887, 1957 and 1961.
18. Weber, Max, "The Urban Community" in *Theories of Society* (Vol 1), *op.cit.*, The Free Press of Glencoe, New York, 1961.
19. Wirth, Louis, "Urbanism as a Way of Life", *American Journal of Sociology*, Vol. 44, 1938

अपराध और अपराधी
Crime and Criminals

भारत में एक घंटे में लगभग 175 सज्ञेय (cognizable) अपराध भारतीय दंड संहिता (IPC) के तहत और 435 अपराध स्थानीय और विशेष कानूनों के तहत होते हैं। एक दिन में लगभग 900 चोरियों, 250 दंगों, 400 डकैतियों और सेंध लगाकर चोरियों और 2,500 अन्य फौजदारी अपराधों से पुलिस जूझती रहती है (क्राइम इन इंडिया, 1990 14)। 1970 और 1980 के मध्य अपराध में 57 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जब कि 1980 और 1990 के बीच अपराध केवल 8 0 प्रतिशत बढा (1990 10)। अपराध की उठती हुई तरंग जनता में भय उत्पन्न कर सकती है, परन्तु हमारी पुलिस और राजनीतिज्ञ बिगडती हुई कानून और व्यवस्था की स्थिति से अप्रभावित रहते हैं। विपक्षी राजनैतिक दल इन आकडों में केवल एक ही प्रकार से रुचि लेते हैं- वे उनका उपयोग सत्ताधारी दल की नीतियों की आलोचना करने के लिये करते हैं जिससे कि वे बदनाम हो जायें और सत्ता से हटा दिये जायें और उनके स्थान पर एक नया शासक दल आ जाये।

समाजशास्त्री और अपराधशास्त्री मोटे तौर पर अपराध के कारणों का पता लगाने और दण्ड-न्याय व्यवस्था की प्रभाविकता के विश्लेषण में रुचि दिखाते हैं। हाल में, कुछ उग्र विचारों वाले (radical) विद्वान इन सकीर्ण दो बातों से आगे बढे हैं और उन्होंने कानूनों के पारित करवाने, पुलिस व्यवस्था को सुधारने, न्यायिक सक्रियावाद (activism), उत्पीडितों के हितों की सुरक्षा, कारागृहों की स्थिति में सुधार और विचलित व्यक्ति को मानवीय बनाने के सबध में प्रश्न उठाये हैं।

अपराध की अवधारणा (The Concept of Crime)

सर्वप्रथम हम अपराध और अपराधियों की परिभाषाओं पर विचार करेंगे और अपराधों और अपराधियों के विभिन्न प्रकारों का पता लगायेंगे। सरकारी आकडे चूंकि अपराधों की कानूनी परिभाषा पर आधारित हैं, दण्ड-न्याय की व्यवस्था कानूनी उपागम से समझी जाती है, अपराधियों पर किये गये आनुभविक अध्ययन कानून द्वारा परिभाषित अपराध को केन्द्र-बिन्दु बनाते हैं और चूंकि अपराध की कानूनी परिभाषा को सूक्ष्म, सुस्पष्ट, और माप के योग्य समझा जाता है, इसलिये हम सर्वप्रथम इस (अपराध की) कानूनी परिभाषा को समझें।

पॉल टप्पन (Paul Tappan, 1960 10) ने अपराध की परिभाषा इस प्रकार की है कि यह 'एक साभिप्राय (intentional) कार्य है या अनाचरण है जो दण्ड कानून का उल्लघन

करता है और जो बिना किसी सफाई (defence) और औचित्य के किया जाता है'। इस परिभाषा में पाच तत्व महत्वपूर्ण हैं.(1) किमी क्रिया को किया जाय या किसी क्रिया को करने में चूक होनी चाहिये,यानि कि किसी व्यक्ति को उसके विचारों के लिये दण्डित नहीं किया जा सकता;(2) क्रिया (action) स्वैच्छिक होनी चाहिये और उस समय की जानी चाहिये जब कि कर्त्ता का अपने कार्यों पर नियन्त्रण है;(3) क्रिया साभिप्राय होनी चाहिये,फिर चाहे अभिप्राय सामान्य (general) हो अथवा विशेष (specific)। एक व्यक्ति का विशेष अभिप्राय चाहे दूसरे व्यक्ति को गोली मारना व उसको जान से मारना न हो,परन्तु उससे इस जानकारी की आशा की जाती है कि उसकी क्रिया से दूसरों को चोट लग सकती है या उनकी मृत्यु हो सकती है;(4) वह क्रिया फौजदारी कानून का उल्लंघन होनी चाहिये (जो कि गैर-फौजदारी कानून या दीवानी या प्रशासनिक कानून से भिन्न है) जिससे कि सरकार अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाई कर सके; और (5) वह (क्रिया) बिना किसी सफाई या औचित्य के की जानी चाहिये। इस प्रकार यदि यह सिद्ध हो जाता है कि क्रिया आत्मसुरक्षा के लिये या पागलपन में की गयी थी,तो उसे अपराध नहीं माना जायेगा चाहे उससे दूसरों को हानि हुई हो या चोट लगी हो। कानून की अनभिज्ञता को अधिकतर बचाव या सफाई नहीं माना जाता है।

हाल जिरोम (Hall Jerome, 1947:8-18) की परिभाषा के अनुसार अपराध 'कानूनी तौर पर वर्जित और साभिप्राय कार्य है,जिसका सामाजिक हितों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है,जिसका अपराधिक उद्देश्य है और जिसके लिये कानूनी तौर से दण्ड निर्धारित है'। इस प्रकार उसकी दृष्टि में किसी कार्य को अपराध नहीं माना जा सकता जब तक उसमें ये पांच विशेषताएं नहीं हों· (1) कानून द्वारा वह वर्जित हो,(2) वह साभिप्राय हो,(3) वह (समाज के लिये) हानिकारक हो,(4) उसका अपराधिक उद्देश्य हो,और (5) उसके लिये कोई दंड निर्धारित हो।

अपराध की परिभाषा गैर-कानूनी और सामाजिक शब्दों में भी की गई है। मोरर (Mowrer, 1959) ने उसे एक 'असामाजिक कार्य' (anti-social act) कहा है। काल्डवेल (Caldwell, 1956:114) ने उसकी यह कहकर व्याख्या की है 'वे कार्य या उन कार्यों को करने में चूक' (failure to act) जो कि समाज में प्रचलित मानदण्डों की दृष्टि में समाज के कल्याण के लिये इतने हानिकारक हैं कि उनके संबध में कार्यवाई किसी निजी पहलशक्ति (initiative) या अव्यवस्थित प्रणालियों (haphazard methods) को नहीं सौंपी जा सक्ती, परन्तु वह कार्यवाई संगठित समाज द्वारा परीक्षित प्रक्रियाओं (tested procedures) के अनुसार की जानी चाहिये'। थौर्सटन सेलिन (1970.6) ने उसे 'मानकीय समूहों (normative groups) के व्यवहार के आदर्श नियमाचारों (conduct norms) का उल्लंघन कहा है'। मार्शल क्लिनार्ड (1957:22) ने यह दावा किया है कि मानदंडों के सभी विचलन अपराध नहीं होते। वह तीन प्रकार के विचलन (deviations) की बात करता है:(i) सहन किये जाने वाले (tolerated) विचलन,(ii) विचलन जिसकी नरमी से निन्दा की जाती है (mildly disapproved), और (iii) विचलन जिसकी कड़ी निन्दा की जाती है

(strongly disapproved) । वह तीसरे प्रकार के विचलन को अपराध मानता है । इसको समझने के लिये हम एक उदाहरण ले सकते हैं । गाधी जी न केवल स्वयं जाति के प्रतिमानों से विचलित हुए, अपितु उन्होंने दूसरों को भी इन्हें नही मानने के लिये प्रेरित किया । फिर भी गाधी जी को 'विचलित व्यक्ति' (deviant) नही माना गया, क्योंकि उनका विचलन समाज के कल्याण के लिये था । जो विचलन समाज को हानि पहुचाता है उसका ही कडा निरनिमोदन (disapproval) होता है ।

उन अपराधशास्त्रियों ने जिनका समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है यह दावा नही किया है कि अपराधशास्त्र में अपराध की कानूनी परिभाषा का कोई स्थान नही है । उन्होंने केवल ऐसी परिस्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिनमें वे व्यक्ति जो अपराधिक व्यवहार करते हैं या तो पकडे नही जाते या न्यायालयों द्वारा अपर्याप्त सबूत या कानून में बचाव के रास्तों या दबावों के कारण मुक्त कर दिये जाते हैं । अपराध की कानूनी और सामाजिक परिभाषाओं के बीच समाधानात्मक (reconciliatory) दृष्टिकोण अपनाते हुये रीड (Reid, 1975 5) ने कहा है कि कानूनी परिभाषा का अपराध के आकडों का सकलन करने के लिये और 'अपराधी' का लेबिल (label) देने के लिये उपयोग किया जा सकता है, परन्तु अपराध के कारणों के अध्ययन के लिये किये जा रहे अध्ययनों में ऐसे व्यक्तियों को भी अपराधियों के प्रतिदर्शों (samples) में सम्मिलित किया जाना चाहिये जो अपना अपराध स्वीकार करते हैं परन्तु न्यायालय से दोषी सिद्ध नही हुए हैं ।

अपराध, अपराधी और अपराधशास्त्र (Crime, Criminal and Criminology)

आजकल अपराध-विज्ञान में छह प्रश्न महत्वपूर्ण हैं (जौक यग, 1974 249-252) । ये हैं

(1) एक व्यक्ति के अपराधी व्यवहार की किस प्रकार व्याख्या की जाती है ? अपराध करते समय क्या अपराधी को स्वेच्छा से कार्य करता हुआ समझा जाता है या यह माना जाता है कि वह ऐसी शक्तियों से बाध्य हो जाता है जो उसके नियन्त्रण से बाहर हैं ?

(2) सामाजिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली को कैसा समझा जाता है ? क्या समाज में व्यवस्था को विशाल बहुमत की स्वीकृति पर आधारित माना जाता है या वह अधिकाश जबरदस्ती से थोपा हुआ है ?

(3) अपराध की परिभाषा कैसे की जाती है ? क्या अपराध को कानूनी सहिता का उल्लघन माना जाता है या उसे ऐसा व्यवहार माना जाता है जो एक विशेष समुदाय की सामाजिक सहिता का उल्लघन करता है ?

(4) अपराध के विस्तार और विवरण को कैसे देखा जाता है ? क्या अपराध को एक सीमित तथ्य के रूप में लिया जाता है जो कि कुछ ही व्यक्ति करते हैं या विस्तृत तथ्य माना जाता है जिसे जनसख्या का एक बडा अश करता है ?

(5) अपराध के कारणों की व्याख्या कैसे की जाती है ? क्या अपराध के कारण मुख्यतया व्यक्ति में स्थित होते हैं (यानि कि उसके व्यक्तित्व में) या अपराध को अधिक विस्तृत समाज, जिसमें वह व्यक्ति रहता है, की उपज समझा जाता है ?

(6) अपराधियों के बारे में क्या नीति है ? क्या अपराधी को दण्डित करने की नीति उपयुक्त है या अपराधी के उपचार की नीति को स्वीकार किया जाता है ?

निम्नलिखित प्रश्न द्विभाजनों (dichotomics) के आधार पर बनाये जा सकते हैं

- व्यक्ति का व्यवहार: स्वतन्त्र इच्छाशक्ति बनाम (versus) नियतिवाद
- सामाजिक व्यवस्था की कार्य प्रणाली सर्वसम्मति बनाम बल प्रयोग
- अपराध की परिभाषा: कानूनी बनाम सामाजिक
- अपराध का विस्तार एवं वितरण सीमित बनाम विस्तृत
- अपराध के कारण: व्यक्तिगत बनाम सामाजिक
- अपराधियों के प्रति नीति दण्ड बनाम उपचार

फिटजिराल (Fitzgeral, 1975:248-307) और जौक यग (Jock Young, 1974) का अनुसरण करते हुए इन छह प्रश्नों के सात विभिन्न उदाहरणों की द्विभागी प्रतिक्रियायों को दर्शाने के लिये निम्नांकित मान-चित्र (सारणी 12.1) दिया जा सकता है।

भारत में अपराध की प्रमुख विशेषताए (Salient Characteristics of Crime in India)

सरकारी अपराधिक आकड़ों की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यह कदाचित बुद्धिमानी नहीं होगी कि भारतीय समाज में अपराध के सबसे महत्वपूर्ण लगने वाले तथ्यों को बताने का प्रयास किया जाये। इसकी कल्पना की जा सकती है कि यदि उपयुक्त वैध तरीकों का उपयोग किया जाये तो इन तथ्यों में से कई पूर्णत. बदल जायेंगे। फिर भी हमारे देश में अपराध के निम्नांकित वर्णन के समर्थन के लिये काफी प्रमाण हैं:

(1) भारत में प्रतिवर्ष भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत लगभग 14.5 लाख संज्ञेय (cognizable) अपराध होते हैं (जिसमें चोरी, सेंध लगा कर चोरी, लूटमार, डकैती, हत्या, दगा, अपहरण, धोखाधड़ी, विश्वास-भग आदि सम्मिलित हैं) और लगभग 37.7 लाख अपराध स्थानीय और विशेष कानूनों तहत होते हैं (जैसे मोटर विहीकिल एक्ट, प्रोहिबिशन एक्ट, गैम्बिलिंग एक्ट, एक्साइज एक्ट, आर्म्ज एक्ट, सप्रेशन आफ इम्मौरल ट्रेफिक एक्ट, ओपियम एक्ट, रेल्वे एक्ट, एक्सप्लोसिव सब्सटैन्स एक्ट आदि)। इस प्रकार हमारे देश में अपराध की दर अधिक ऊंची नहीं है। औद्योगिक समाजों में अमरीका में अपराध की दर सबसे अधिक है (वह एक वर्ष में पूरी जनसख्या की 4% या 5% है. हावर्ड बेकर, 1966:211), भारत में कुल जनसंख्या की वह केवल 0.25 प्रतिशत है।

सारणी 12.1

अपराध और अपराधियों के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विभिन्न उदाहरणों की प्रक्रियायें

प्रश्न और द्विभागीय (dichotomous) प्रक्रियाए	श्रेण्यवाद (Classicism)	प्रत्यक्षवाद जैविक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक सिद्धान्त	रुढ़िवाद	तनाव सिद्धान्त	नया विचलन सिद्धान्त	उदारवादी सुधारवादी सिद्धान्त	मॉक्सिज्म
व्यक्तिगत व्यवहार का निर्धारण कैसे किया जाता है ? (स्वतंत्र इच्छा शक्ति बनाम नियतिवाद)	स्वतंत्र इच्छा शक्ति	नियतिवाद	स्वतंत्र इच्छा-शक्ति	नियतिवाद	नियतिवाद	नियतिवाद	नियतिवाद
सामाजिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली को कैसे समझा जाता है ? (सर्वसम्मति बनाम बल प्रयोग)	सर्वसम्मति	सर्वसम्मति	बल-प्रयोग	सर्वसम्मति	बल प्रयोग	बल-प्रयोग	बल-प्रयोग
अपराध की परिभाषा (कानूनी बनाम सामाजिक)	कानूनी	सामाजिक	सामाजिक	सामाजिक	कानूनी	कानूनी	कानूनी
अपराध का विस्तार (सीमित बनाम विस्तृत)	सीमित	सीमित	विस्तृत	सीमित	सीमित	सीमित	सीमित
अपराध के कारण (व्यक्तिगत बनाम सामाजिक)	व्यक्तिगत	सामाजिक	व्यक्तिगत	सामाजिक	सामाजिक	सामाजिक	सामाजिक
अपराधी के प्रति नीति (दण्ड बनाम उपचार)	दण्ड	उपचार	दण्ड	*	*	उपचार	*

* वे सामाजिक संरचनाओं और सामाजिक व्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली को परिवर्तित करने पर बल देते है।

(2) प्रतिवर्ष पुलिस द्वारा छानबीन किये हुए लगभग 58 लाख मामलों में से (जिसमें पिछले वर्ष के लंबित मामले सम्मिलित हैं) लगभग 30 प्रतिशत मामले संज्ञेय अपराधों के होते हैं और लगभग 70 प्रतिशत अपराधों के मामले स्थानीय और विशेष कानूनों के तहत होते हैं।

(3) प्रति एक लाख जनसंख्या में संज्ञेय अपराध की दर लगभग 180 है।

(4) कुल (संज्ञेय) अपराधों में से लगभग एक तिहाई (33 0%) आर्थिक (संपत्ति) अपराध हैं जो चोरी (22 0%), सेंध लगाकर चोरी (9.0%), लूटमार (1 5%) और डकैती (0 5%) से संबंधित हैं। दूसरे शब्दों में संपत्ति से जुड़े हुए अपराध व्यक्तियों के विरुद्ध अपराधों (हत्या, अपहरण) से अधिक हैं। यह अमरीका के लिये भी सत्य है, जहा 77 0 प्रतिशत अपराध सम्पत्ति के अपराध हैं (सेंध लगाकर चोरी, चोरी, औटो की चोरी) और 23 प्रतिशत अपराध व्यक्तियों के विरुद्ध हैं (वेकर, 1966 211)।

(5) स्थानीय और विशेष कानूनों के तहत अपराधों के लिये गिरफ्तार किये गये कुल व्यक्तियों में से तीन-पचम से कुछ अधिक (62.0%) चार कानूनों के तहत पकड़े जाते हैं मोटर विहीकिल एक्ट-23 0 प्रतिशत, प्रोहिबिशन एक्ट–22.0 प्रतिशत, गेम्बिलिंग एक्ट-13 0 प्रतिशत और एक्साइज एक्ट-4.0 प्रतिशत। बचे हुए दो-पचम (38.0%) आर्म्स एक्ट, रेल्वेज एक्ट, एम आई टी एक्ट, ओपियम एक्ट, आदि के तहत गिरफ्तार किये जाते हैं।

(6) कुल (संज्ञेय) अपराधों में से लगभग दो- पंचम चार हिन्दी भाषीय उत्तरी राज्यों (उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार और राजस्थान) में होते हैं और लगभग एक-चौथाई चार दक्षिणी राज्यों (तमिलनाडु, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश और केरल) में होते हैं।

(7) लगभग 14 5 लाख (संज्ञेय) अपराधों के लिये जो प्रतिवर्ष किये जाते हैं, लगभग 24 लाख व्यक्ति गिरफ्तार किये जाते हैं, यानि प्रत्येक 10 किये गये अपराधों के लिये औसत 17 व्यक्ति गिरफ्तार किये जाते हैं। दूसरी ओर, स्थानीय और विशेष कानूनों के तहत किये गये प्रत्येक नौ अपराधों के लिये 10 व्यक्ति गिरफ्तार किये जाते हैं।

(8) अपराधियों में से चार-पचम से अधिक (85.0%) ऐसे (संज्ञेय) अपराध करते हैं जिनके लिये उन्हें छह महिने से कम का कारावास होता है यानि उनके अपराध 'साधारण अपराध' (misdemeanours) होते हैं।

(9) अपराध की दर महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में बहुत अधिक है। सौ अपराधियों में से 97 पुरुष हैं और तीन महिलाएँ हैं।

(10) शहरी अपराधियों का अनुपात ग्रामीण अपराधियों की तुलना में बहुत कम है।

(11) अपराध की दर निम्नतम सामाजिक-आर्थिक समूहों में सबसे अधिक है।

(12) अपराध की दर 18-30 वर्षों के आयु समूह में सबसे अधिक (49%) है। अन्य आयु-समूहों में प्रतिशतता है 16 वर्षों से कम के आयु समूह में 1 प्रतिशत से कम, 16-18 वर्षों के आयु समूह में 2 प्रतिशत, 30-50 आयु समूह में 39 प्रतिशत और 50 से अधिक के आयु समूह में 9 प्रतिशत।

(13) भारतीय अपराधिक दृश्य की अन्तिम विशेषता सगठित अपराध का बढ़ना है। अपराधिक गतिविधियों के लिये बडे पैमाने पर सगठनों का विकास मिलता है। अवैध चीजों और सेवाओं के नियन्त्रण और वितरण को अधिक सगठित किया जा रहा है—जैसे, मादक दवाईया (नारकोटिक्स), भारत और अरब देशों में वेश्यावृत्ति के लिये लडकिया, सोने की तस्करी, आदि। इसके अतिरिक्त, माफिया गिरोहों के विभिन्न वैध व्यापार की गतिविधियों जैसे कोयले की खानों, उद्योगों में सघों आदि के नियन्त्रण के लिये सगठित प्रयास होते हैं। यद्यपि बडे अपराधों में आरोपित 'सगठित अपराधों' की कुल सख्या सभवतया कम है, किन्तु शहरों में उनकी कीमत और उनके सरूप उन्हें एक विशिष्ट तत्व का रूप देते हैं।

इन तथ्यों और विशेषताओं को बताने के पीछे यह सकेत देना है कि सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप होने की प्रेरणाए कमजोर हो रही हैं और सामाजिक सबधों और सामाजिक बधनों का विघटन हो रहा है। हमारे समाज के प्राय सभी श्रेणियों में अशान्ति बढ रही है। युवाओं, किसानों, औद्योगिक श्रमिकों, छात्रों, सरकारी कर्मचारियों और अल्पसख्यकों में अशान्ति व्याप्त है। यह अशान्ति कुण्ठाओं और तनावों को बढाती है जिससे कानूनी और सामाजिक प्रतिमानों का उल्लघन होता है। इस प्रकार हमारे समाज की विद्यमान उप व्यवस्थाओं और सरचनाओं का सगठन और कार्यप्रणाली अपराध की वृद्धि के लिये उत्तरदायी है। अपराध के कारणों के बारे में विचारों के प्रभावशाली सेट कई विद्वानों ने विकसित किये हैं, जिनकी उत्पत्ति विशेषरूप से दुर्खीम ने की और फिर मर्टन, कोहेन, मिलर, क्लोवार्ड और ओहलिन जैसे विद्वानों ने इस पर काम किया। हम इन विचारों में से कुछ के विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

अपराधी व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्याए (Theoretical Explanations of Criminal Behaviour)

अपराधिक व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्याओं का छह समूहों में वर्गीकरण किया गया है (i) जैविक या स्वभाव-सबधी व्याख्याए, (ii) मानसिक अव-सामान्यता (sub-normality), बीमारी और मनोवैज्ञानिक-रोगात्मक व्याख्याए, (iii) आर्थिक व्याख्या, (iv) स्थलाकृतिक (topographical) व्याख्या, (v) (मानव) पर्यावरणवादी व्याख्या, और (vi) 'नवीन' और 'रैडिकल' (radical) व्याख्या।

रीड (1976 103-251) ने सैद्धान्तिक व्याख्याओं का इस प्रकार वर्गीकरण किया है (1) क्लैसिकल (classical) और सकारात्मक (positive) व्याख्याए, (2) शारीरिक, मनश्चिकित्सीय और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, और (3) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त। इसने

समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का दो श्रेणियों में उपवर्गीकरण किया है (i) सामाजिक संरचनात्मक सिद्धान्त (जिनमें मर्टन, कोहेन, क्लोवार्ड एवं ओहलिन, मात्ज़ा, मिलर और क्विनी के सिद्धान्त सम्मिलित हैं) और (ii) सामाजिक प्रक्रिया सिद्धान्त (जिनमें सदरलैन्ड और हावर्ड बेकर के सिद्धान्त सम्मिलित हैं)।

हम सिद्धान्तों को चार समूहों में बाट कर इन पर विचार-विमर्श करेंगे (1) क्लासिक, (2) जैविकीय (biogenic), (3) मनोवैज्ञानिक, और (4) सामाजिक।

क्लासिक व्याख्या (Classicist Explanation)

अपराध और दड की क्लासिक व्याख्याए अठारहवीं शताब्दी के दूसरे अर्ध में विकसित की गई थीं। वास्तव में, ये सैद्धान्तिक व्याख्याए प्रबुद्ध विचारकों और राजनैतिक सुधारकों की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुईं। ये व्यक्ति न्याय की मनमानी पद्धतियों और दण्ड की बर्बर संहिताओं, जो अठारहवीं शताब्दी तक प्रचलित थीं, के विरुद्ध थे। उन्होंने ऐसी कानून प्रणाली की माग की जो कि अपराधियों के हितों की रक्षा करे और उनके अधिकारों और स्वतत्रता को बचाये। वे राज्य की उत्पत्ति के अनुबन्ध (contract) सिद्धान्त (जिसे रूसो ने प्रस्तुत किया था) में विश्वास करते थे, अर्थात् उन स्वतन्त्र व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित करना जो समाज में स्वतत्र एवं समान व्यक्तियों के बीच एक स्वतन्त्र और 'कानूनी' अनुबन्ध से एक दूसरे से बंधे हुए थे। इस प्रकार व्यक्तियों की कल्पना स्वतन्त्र, तार्किक (rational) और प्रभुसत्ता-सम्पन्न (sovereign) व्यक्तियों के रूप में की गई थी, जो अपने स्वार्थों को निश्चित करने और विवेकपूर्ण ढग से अपने कार्यों के परिणामों को सोचने की क्षमता रखते थे। इसलिये उन्होंने राज्य/समाज को प्रभुसत्ता-सम्पन्न न मान कर ऐसा माना कि उसको व्यक्तियों द्वारा अपने व्यक्तिगत और आपसी हित के लिये अनुबन्ध से स्थापित किया गया है। इस प्रकार उन्होंने राज्य की शक्ति को व्यक्ति के अधिकारों एवं स्वतंत्रता और सुरक्षा की रक्षा के लिये सीमित करने का प्रयत्न किया।

क्लासिक व्याख्या को प्रस्तुत करने वाला एक इटेलियन विचारक बैकेरिया (Beccaria) था जिस पर बेन्थम (Bentham) और जान हावर्ड जैसे विद्वानों के विचारों का प्रभाव पड़ा था। क्लासिक विचारधारा यह मानती थी कि (अ) मानव प्रकृति तार्किक एवं स्वतंत्र है और अपने स्वार्थ से निर्धारित होती है, (ब) सामाजिक व्यवस्था मतैक्यता और सामाजिक अनुबंध पर आधारित है, (स) अपराध सामाजिक प्रतिमानों का उल्लंघन नहीं बल्कि कानून संहिता का उल्लंघन है, (द) अपराध का वितरण सीमित है और उसका पता 'उचित प्रक्रिया' से लगाना चाहिये, (इ) अपराध व्यक्ति की तार्किक प्रेरणा (rational motivation) से होता है, और (फ) अपराधी को दण्ड देते समय 'सयम' का सिद्धान्त अपनाना चाहिये।

बैकेरिया की क्लासिक व्याख्या के प्रमुख आधारतत्व (शेफर स्टीफन, 1969:106) जो उसने 1764 में विकसित किये थे, निम्न थे·

- व्यक्ति का व्यवहार सप्रयोजन (purposive) और तार्किक (rational) है और सुखवाद (hedonism) या सुख-पीडा के सिद्धान्त पर आधारित है, अर्थात् वह सोच-समझकर सुख चुनता है और पीडा से बचता है।
- प्रत्येक अपराध के लिये ऐसा दड निर्धारित होना चाहिये जो अपराध करने से मिलने वाली सुख प्राप्ति की अपेक्षा अधिक पीडाजनक हो।
- दण्ड कठोर और निवारक (deterrent) नही होना चाहिये, अपितु वह अपराध के अनुपात में होना चाहिये और वह पूर्व निर्धारित, शीघ्र, और सर्वविदित भी होना चाहिये।
- कानून सब नागरिकों के लिये समान होना चाहिये।
- विधान मण्डलों को स्पष्ट कानून बनाना चाहिये और उसके उल्लघन के लिये सुस्पष्ट दड निर्धारित करना चाहिये। न्यायाधीशों को कानून की व्याख्या नही करनी चाहिये, अपितु यह निर्णय लेना चाहिये कि व्यक्ति ने अपराध (कानून का उल्लघन) किया या नही। दूसरे शब्दों में न्यायालय को केवल निर्दोषता (innocence) या अपराध (guilt) का निर्धारण करना चाहिये और उसके पश्चात नियत दण्ड के आदेश प्रदान कर देने चाहिये।

क्लासिक व्याख्या की प्रमुख कमजोरिया थी (1) सब अपराधियों के साथ बिना उनकी आयु, लिग या बुद्धि में भेद करके समान व्यवहार किया जाना, (2) अपराध की प्रकृति को कोई महत्व नही दिया गया (यानि कि अपराध जघन्य (felony) था या साधारण (misdemeanour) था)। इसी तरह अपराधी के प्रकार को भी कोई महत्व नही दिया गया था (अर्थात वह पहली बार का अपराधी था या आकस्मिक अपराधी था या पेशावर अपराधी था), (3) एक व्यक्ति के व्यवहार की व्याख्या केवल 'स्वतत्र इच्छा शक्ति' (free-will) के सिद्धान्त पर करना और 'उपयोगितावाद' (utilitarianism) के सिद्धान्त पर दड प्रस्तावित करना अव्यवहारिक दर्शन है जो अपराध को अमूर्त मानता है और जिसके निष्पक्ष एव आनुभविक मापन (measurement) में वैज्ञानिक उपागम का अभाव है, (4) न्यायसगत (justifiable) अपराधिक कार्यों के लिये उसमे कोई प्रावधान नही था, और (5) बैकेरिया और बेन्थम को फौजदारी कानून में सुधार करने में अधिक रूचि थी, जैसे बजाय अपराध को नियत्रित करने और अपराध-विज्ञान के सिद्धान्तों का विकास करने में दण्ड की कठोरता को कम करना, जूरी (Jury) व्यवस्था के दोषों को हटाना, देश निकाला और फासी देने के दण्ड को समाप्त करना और कारागृह दर्शन को अपनाना, और नैतिकता को नियमित करना।

नव-क्लासिकवादी (neo-classicist) अग्रेज अपराधशास्त्रियों ने क्लासिक सिद्धान्त में 1810 और 1819 में सशोधन किया और उसमें न्यायिक विवेक का प्रावधान किया और न्यूनतम और अधिकतम दण्ड के विचार को सन्निविष्ट किया (बोल्ड जौर्ज, 1958 25-26)। समान न्याय की अवधारणा को अवास्तविक बताते हुए उन्होंने अपराधियों का दण्ड निर्धारित करते समय आयु, मानसिक दशा और लघुकारक परिस्थितियों को महत्व देने का सुझाव दिया। सात वर्ष से कम आयु के बच्चों और मानसिक रोग से पीडित व्यक्तियों को कानून से मुक्त

अपराध के कारणों की सैद्धान्तिक व्याख्यायें

क्रमाक		सैद्धान्तिक व्याख्या	रचियता (Propounder)	वर्ष	प्रमुख अभिधारणा कि अपराध इसके परिणाम हैं
1		क्लासिकल (Classical)	बेकेरिया	1764	(1) आदमी को विवेकपूर्ण प्रेरणा। (2) सुखवाद या पीड़ा/सुख का सिद्धान्त।
2		जैविकीय (Biogenic)			वशागत विशेषतायें :
	(i)	विकासवादी पूर्वजानुरूप सिद्धान्त	लोम्ब्रोजो	1876	शारीरिक क्षतचिन्ह या दोषपूर्ण सगठित शरीर रचना
	(ii)	गोरिंग का सिद्धान्त	चार्ल्स गोरिंग	1919	दोषपूर्ण शारीरिक कारक
	(iii)	हूट्न का सिद्धान्त	हूट्न	1939	जैविकी हीनता
	(iv)	शारीरिक बनावट का सिद्धान्त	शेल्डन	1940	मध्यरूप (Mesomorphic) शरीर-गठन
3		मनोवैज्ञानिक (Psychogenic)			दोषपूर्ण व्यक्तित्व .
	(i)	मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त	गोडार्ड	1919	वशागत मदबुद्धि
	(ii)	मनश्चिकित्सीय सिद्धान्त	विलियम हीले	1915	मानसिक रोग और भावात्मक घबराहट/व्याकुलता
	(iii)	मनोवैश्लेषिक सिद्धान्त	एडलर, अब्राहमसेन, आदि	1930, 1952	सहज-वृतिया या अविकसित अहम् या अपराध भावनायें या हीन भावना
4		सामाजिक (Sociogenic)			सीखा हुआ और सामाजिक पर्यावरण से अनुकूलित/प्रभावित
	(A)	प्रक्रिया सबधी व्याख्या			
	(i)	विभिन्न सम्पर्क सिद्धान्त	सदरलैण्ड	1939	अपराधी प्रतिमानों से सम्पर्क और उनके सामाजिक प्रभाव
	(ii)	लेबिलिग सिद्धान्त	हावर्ड बेकर	1963	अपराधी पर अन्य व्यक्तियों के द्वारा नियमों और दड के लागू करने के परिणाम
	(B)	सरचनात्मक व्याख्या			
	(i)	आर्थिक सिद्धान्त	फोनसी और बोनार, आदि	1894, 1916	आर्थिक परिस्थितिया या गरीबी और अमीरी
	(ii)	भौगोलिक सिद्धान्त	डेक्सटर, क्विटलेट, आदि	1904	भौगोलिक कारक जैसे जलवायु, तापमान, आद्रता, आदि
	(iii)	समाजशास्त्रीय सिद्धान्त			
		(अ) मानक शून्यता (एनोमी) सिद्धान्त	मर्टन	1938	लक्ष्यों और साधनों के बीच नियोजन के परिणामस्वरूप तनाव
		(ब) विभिन्न अवसर सिद्धान्त	क्लोवार्ड और ओहलिन	1960	सफलता-लक्ष्य प्राप्ति के लिये वैध एव अवैध साधनों में विशेषक (differentials)
		(स) विचलित उप-सस्कृति सिद्धान्त	कोहेन	1955	प्रभुतापूर्ण मूल्यों का अस्वीकरण और विचलित मूल्यों का विकास
		(द) विरोध नीति/अतर्विष्ट सिद्धान्त	वाल्टर रेकलेस	1967	प्रतिकूल आत्म धारणा

रखा। फिर भी इन परिवर्तनों के बावजूद नव क्लासिकवादियों ने स्वतंत्र इच्छा-शक्ति और सुखवाद के सिद्धान्तों को स्वीकार किया। इसलिये इस विचारधारा को भी अपराधशास्त्र की वैज्ञानिक विचारधारा नहीं माना गया है।

जैविकीय व्याख्या (Biogenic Explanation)

प्रत्यक्षवादियों (positivists) ने क्लासिकवादियों और नव-क्लासिकवादियों द्वारा समर्थित 'स्वतन्त्र इच्छा शक्ति' की अवधारणा को अस्वीकार करके 'नियतिवाद' (determinism) के सिद्धान्त पर बल दिया। लोम्ब्रासो, फ्रैरी और गेरोफलो प्रमुख प्रत्यक्षवादी थे जिन्होंने *अपराधिक व्यवहार के जैविकी से उत्पन्न होने वाले और वंशानुगत (hereditary)* पहलुओं पर बल दिया। (आनुवंशिकता (heredity) माता-पिता का योगदान है, जो 46 क्रोमोसोमों द्वारा किया जाता है। उनमें से दो शिशु के लिंग का निर्धारण करते हैं और 44 शरीर के अन्य गुणों पर प्रभाव डालते हैं। जीन्स (genes) का सम्मिश्रण (combination) और क्रमचय (permutation) शिशु के विशेष जीनोटाइप का निर्धारण करते है यानि कि शरीर-रचना (organism) का जननिक (genetic) योगदान।

लोम्ब्रोसो जो एक इटेलियन चिकित्सक और क्लिनिकल साइकिएट्री और क्रिमिनल एन्थ्रोपोलोजी का आचार्य था और जिसे 'अपराधशास्त्र का पिता' कहा जाता है ने 1876 में विकासात्मक पूर्वजानुरूपता का सिद्धान्त (Theory of Evolutionary Atavism), जिसे शारीरिक अपराधी रुप (Physical Crimianl Type) या पैदाइशी अपराधियों का सिद्धान्त भी कहते हैं, प्रस्तुत किया। उसने दावा किया कि अपराधी का शारीरिक रुप गैर-अपराधी के शारीरिक रुप से भिन्न होता है (1911 365)। एक अपराधी की कई शारीरिक असामान्यताएं (abnormalities) होती हैं। इसलिये वह कई विशेषताओं और कलंकों (stigmata) से पहचाना जा सकता है, जैसे असममित (asymmetrical) चेहरा बड़े कान, बहुत अधिक लम्बी बाहें, पिचकी हुई नाक, पीछे की ओर झुका हुआ ललाट, गुच्छेदार और कुंचित (crispy) बाल, पीड़ा की तरफ संज्ञाहीनता (insensibility), आखो में खराबी और अन्य शारीरिक अनूठेपन (peculiarities)। लोम्ब्रोसो ने अपराधियों और गैर-अपराधियों के बीच न केवल शारीरिक विशेषताओं में अन्तर बताया परन्तु उन विशेषताओं का भी जिक्र किया जो उनके द्वारा किये गये अपराधों की किस्मों के अनुसार अपराधियों में भेद दर्शाते है।

चार्ल्स गोरिंग, एक अंग्रेज मनश्चिकित्सक एव दार्शनिक ने 1913 मे अपने अध्ययन के आधार पर (जिसमें उसने 3000 अंग्रेज कैदियों और बड़ी संख्या में गैर अपराधियों की विशेषताओं को जांचा) लोम्ब्रोसो के सिद्धान्त की आलोचना की। उसने दृढ़तापूर्वक कहा कि शारीरिक अपराधी रूप (physical criminal type) जैसी कोई चीज नहीं होती है। फिर भी उसने स्वयं अपराध की वंशानुगत कारणों के आधार पर व्याख्या की (1919 11) और इसमें उसने तथ्यों का सांख्यिकीय विवेचन (statistical treatment of facts) या जिसे सांख्यिकीय-गणित रीति कहते हैं, का उपयोग किया। परन्तु गोरिंग के काम की भी आलोचना

हुई क्यों कि (रीड,1976: 120-21) (1) साख्यिकीय विश्लेषण में उसने भी वही गलतिया की जिनके लिये उसने लोम्ब्रोसो की आलोचना की थी। उसने बुद्धिमत्ता (I Q) को उपलब्ध साइमन-बानेट (Simon-Binet) परीक्षणों से नही मापा परन्तु अपराधियों की मानसिक योग्यता के बारे में अपने स्वयं के विचार से ज्ञात किया, (2) उसने अपराध पर पर्यावरण के प्रभाव को बिल्कुल अनदेखा कर दिया, (3) गैर-अपराधियों का प्रतिदर्श, जिसमे विश्वविद्यालय के पूर्वस्नातक छात्र, अस्पताल के मरीज, मानसिक रोगी, और सेना के जवान सम्मिलित थे, दोषपूर्ण था, और (4) वह लोम्ब्रोसो के विरुद्ध भयकर रूप से पूर्वाग्रही था।

यद्यपि फेरी और गारोफैलो ने भी लोम्ब्रोसो को समर्थन दिया था, परन्तु उसने (लोम्ब्रोसो ने) अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपने सिद्धान्त में परिवर्तन कर दिया और कहा कि सभी अपराधी 'जन्मजात अपराधी' नही होते। 'साधारण अपराधी' (जो सामान्य शारीरिक और मनोवैज्ञानिक बनावट के व्यक्ति होते है), आकस्मिक अपराधी, और सवेगात्मक अपराधी भी होते हैं।

लोम्ब्रोसो की सैद्धान्तिक व्याख्याओं के विरुद्ध प्रमुख आलोचनाए है:(1) उसके तथ्यों का सकलन जैविक कारकों तक सीमित था और उसने मानसिक और सामाजिक कारकों पर ध्यान नही दिया, (2) उसका तरीका मुख्यत वर्णनात्मक था, न कि प्रयोगात्मक, (3) उसके पूर्वाजानुरूपता (atavism) और विकृति (degeneracy) सबधी सामान्यीकरणों ने सिद्धान्त और तथ्य के बीच एक दरार बना दी। उसने अपने सिद्धान्त को ठीक बैठाने के लिये तथ्यो को तोड़ा मरोडा, (4) उसका सामान्यीकरण (पूर्वजानुरूपता के बारे में) एक अकेले प्रकरण मे प्राप्त किया गया था और इसलिये वह अवैज्ञानिक है, और (5) उसके साख्यिकी के उपयोग का परीक्षण वास्तव में आकड़ों से नहीं किया गया था। इन आलोचनाओं के बावजूद अपराधशास्त्र के चिन्तन के विकास के लिये लोम्ब्रोसो का योगदान इस आधार पर माना गया है कि उसने अपराध के स्थान पर अपराधी पर पुन बल दिया।

जैविकी से उत्पन्न होने वाले चरों (variables) में हार्वर्ड के एक भौतिक मानवशास्त्री हूटन ने 1939 में फिर से रुचि पैदा कर दी। उसने 3,203 पुरुष गैर-अपराधियों की छोटी सख्या की तुलना में 13,873 पुरुष कैदियों के 12 वर्ष के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि अपराध का मूल कारण 'जैविक हीनता' (biological inferiority) है। अपने अध्ययन (1939) द्वारा उसने जो चार निष्कर्ष निकाले वे थे (1) अपराधिक व्यवहार वशागत जैविक हीनता का सीधा परिणाम है। इसकी विशेषताए हैं ढालू ललाट, पतले होंट, सीधे बाल, शरीर पर बाल, छोटे कान, लबी पतली गर्दन, और ढालू कधे, (2) विशेष प्रकार के अपराध विशेष किस्म की जैविक हीनता के फलस्वरूप होते हैं। लबे और पतले आदमियों का झुकाव हत्यारे और लूटेरे बनना होता है, लबे और भारी आदमियों का धोखेबाज बनना, छोटे कद के और पतले आदमियों का चोर और सेंध मार बनना, और छोटे कद वाले और भारी आदमी यौन अपराधों को करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, (3) अपराधी जैविक रूप से हीन प्रकृति वाले होते हैं, और (4)

अपराध का निराकरण शारीरिक और मानसिक रूप से अनुपयुक्त व्यक्तियों की नसबंदी से ही संभव है।

इसके अतिरिक्त उसका यह मानना था कि प्रत्येक समाज में थोड़े से प्रतिभाशाली व्यक्ति (geniuses) होते हैं, सामान्य व्यक्तियों के झुंड (hordes of mediocres) होते हैं, ढेरों मन्दबुद्धि (masses of morons) के होते हैं, और बहुसंख्या में (regiments) अपराधी होते हैं। उसने जैविकी रूप से हीन व्यक्तियों के तीन प्रकार बतलाये (i) जो जैविक रूप से अ-अनुकूलनीय (inadaptable) होते हैं, (ii) मानसिक रूप से अविकसित (stunted) होते हैं, और (iii) समाजशास्त्रीय रूप से विकृत (warped) होते हैं।

तथापि उसके सिद्धान्त की एल्बर्ट कोहेन, एल्फ्रेड लिन्डस्मिथ और कार्ल शूसलर (देखें, सदरलैन्ड, 1965 118-19, वोल्ड, 1958 59-64, गिबन्स, 1977 139-40) ने ये तर्क देकर आलोचना की (1) उसके गैर-अपराधियों के नियन्त्रित समूह आकार में छोटे थे और ऐसे प्रकारों का प्रतिनिधित्व करते थे जिनसे मानसिक रूप से बेहतर (विश्वविद्यालय के छात्र) और शारीरिक रूप से अधिक बलवान (फायरमेन) होने की आशा की जा सकती थी, (2) अपराधियों का प्रतिदर्श (sample) प्रतिनिधिक नहीं था क्योंकि उसमें केवल बंदी जनसंख्या को लिया गया था, (3) उसकी अनुसंधान पद्धति दोषपूर्ण थी, (4) उसके पास 'जैविक हीनता' का कोई सुनिश्चित मानदंड नहीं था, और (5) उसने इसका कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया कि शारीरिक हीनता वंशानुगत है।

शैल्डन ने 1940 में अपराध का सम्बन्ध शारीरिक बनावट या शरीर गठन से बतलाया। उसने व्यक्तियों को उनके शरीर गठन (या शरीर के प्रकारों) के आधार पर तीन समूहों में वर्गीकृत किया एन्डोमोर्फिक (endomorphic), एक्टोमोर्फिक (ectomorphic) और मेसोमोर्फिक (mesomorphic)। पहले प्रकार के शरीर गठन वाले व्यक्ति (जिनकी छोटी हड्डियां, छोटे अंग, और नर्म, चिकनी और मखमल जैसी त्वचा होती है) आराम और ऐश का जीवन पसंद करते हैं और मूलतः बहिर्मुखी (extroverts) होते हैं। जिनकी दूसरे प्रकार की शरीर की बनावट होती है (जिनका शरीर दुबला-पतला, सुकुमार और कोमल होता है और हड्डियां छोटी और कोमल होती हैं) वे अन्तर्मुखी (introverts) होते हैं, उन्हें क्रियागत शिकायतें रहती हैं, वे शोर के प्रति संवेदनशील होते हैं, उन्हें चिरकालिक थकावट महसूस होती है और वे भीड़ और व्यक्तियों से दूर भागते हैं। जिनका शरीर गठन तीसरे प्रकार का होता है (जिनकी मांसपेशी और हड्डियां मजबूत होती हैं, सीना भारी होता है और कलाईयां और हाथ बड़े होते हैं) वे सक्रिय, गतिशील और आक्रामक होते हैं। शेल्डन ने शरीर के प्रकारों को लंबाई चौड़ाई मापने के लिये मापदण्ड बनाये थे जिनमें व्यक्तियों के प्रत्येक भाग को एक से सात अंकों के बीच अंक दिये गये थे। तथापि शेल्डन की यह परिकल्पना कि अपराधी व्यवहार और शरीर के प्रकारों में संबंध होते हैं और अपराधी गैर-अपराधी की तुलना में अपने शरीर के गठन में कुछ अधिक मेसोमोर्फिक होते हैं, निश्चय से सिद्ध नहीं हो पाई है। अपराध एक सामाजिक

प्रक्रिया है; वह जैविक रूप से निर्धारित व्यवहार का एक सरूप नही है ।

यदि हम क्लासिकल विचारधारा के प्रमुख बिन्दुओं की तुलना प्रत्यक्षवादी विचारधारा से करें तो हम कह सकेंगे कि (1) पहले ने अपराध की कानूनी परिभाषा पर जोर दिया, दूसरे ने उसे अस्वीकार कर दिया, (2) पहला स्वतंत्र इच्छा-शक्ति के सिद्धान्त में विश्वास रखता था, दूसरा नियतिवाद में, (3) पहले ने आनुभविक शोध का उपयोग नही किया, दूसरे ने किया, (4) पहले ने अपराध पर जोर दिया (दण्ड को प्रस्तावित करके), दूसरे ने अपराधी पर, (5) पहले ने कुछ अपराधों के लिये मृत्यु दड प्रस्तावित किया, दूसरे ने मृत्यु दड हटाने की अनुशसा की, (6) पहला एक निश्चित दण्ड के पक्ष में था, दूसरा अनिश्चित दण्ड के ।

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त, समरूपी (identical) जुडवा बच्चों पर किये गये कुछ अध्ययनों ने भी आनुवशिकता को अपराध में एक महत्वपूर्ण कारक मानने पर बल दिया है । लैन्ग (1931) ने कई जेलों में जुडवा बच्चों के व्यवहार की किसी भी सस्था मे नही जुड़े हुये (uninstitutionalised) जुडवा बच्चों के व्यवहार से तुलना की । उसने देखा कि समरुपी बच्चों (जो एक ही अण्डाणु के गर्भाधान से पैदा हुए थे) के प्रकरण में 15 जोडों (pairs) में से 10 सदृश (concordant) थे (जुडवा जोडे के दोनों सदस्यों की एक सी विशेषताए थीं) जब कि भ्रातृक (fraternal) जुडवा बच्चों (जो अलग अलग अण्डाणु से पैदा हुए) के प्रकरण में 17 जोडों में 15 बेमेल थे (दोनों जुडवा सदस्यो की विशेषताएं भिन्न-भिन्न थी)।

क्रेन्ज (रोजन्थाल, 1970) ने जुडवा बच्चो और अपराध के ऊपर किये गये अपने 1936 के अध्ययन में देखा कि समरूपी जुडवा बच्चों मे 66 प्रतिशत जुडवा बच्चे सदृश थे और भ्रातृक जुडवां बच्चों में 54 प्रतिशत सदृश थे । क्रिस्टियनमेन (1968) ने उन 6000 जोड़ों, जो डेनमार्क में 1880 और 1890 के बीच पैदा हुए थे, के अध्ययन में पाया कि अपराधी व्यवहार के संबंध में समरुपी जुडवा बच्चे 66.7 प्रतिशत सदृश थे और भ्रातृक जुड़वां बच्चों में 30 4 प्रतिशत ।

वशागत कारकों से अपराधिक व्यवहार की व्याख्या करने के विरुद्ध यह आलोचना है कि समरुपी जुडवा बच्चों के व्यवहार की समरूपताए एक ही वातावरण में रहने के फलस्वरूप भी हो सकती है और इस कारण उनका सबध आनुवशिकता से बिल्कुल भी नही हो । द्वितीय, यदि आनुवशिकता अपराध का कारण है तो समरुपी जुडवा बच्चों के ऐसे प्रकरण नही होने चाहिये जहा एक अपराधी है और दूसरा नही । उसी तरह से पारिवारिक वंशावलियों (family lines), (जैसे, दजेल द्वारा 1877 में ज्यूक्स का अध्ययन, गोडार्ड द्वारा 1911 में कालीकैक्स का अध्ययन, आदि) को वशागत अपराधिकता (inherited criminality) का प्रमाण मानने वाले अध्ययन को भी अस्वीकार कर दिया गया है ।

मनोत्पत्तिक व्याख्या (Psychogenic Explanation)

मनोविज्ञान मे उत्पन्न होने वाले सिद्धान्त अपराध को अपराधी के व्यक्तित्व में कुछ दोषों में या 'व्यक्ति के अन्दर' खोजते हैं । मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त मन्द बुद्धिमत्ता (निम्नबुद्धि भागफल

अथवा I Q) पर बल देता है, मनश्चिकित्सीय सिद्धान्त मानसिक रोगों पर बल देता है, और मनोवैश्लेषिक सिद्धान्त अविकसित अहम् या प्रेरणाओं (drives) और मूल प्रवृत्तियों (instincts) या अपराध भावनाओं (guilt-feelings) या हीन भावना पर बल देता है।

मनोवैज्ञानिक व्याख्या (Psychological Explanation)

हेनरी गोडर्ड ने 1919 में बुद्धि परीक्षणों के परिणाम बतलाये और कहा (1918 8-9) कि विचलन (delinquency) और अपराध का सबसे बड़ा अकेला कारण मन्द बुद्धिमत्ता है (बहुत निम्न आई क्यू)। उसने कहा कि मन्द बुद्धिमत्ता वशागत होती है और जीवन की घटनाओं से बहुत कम प्रभावित होती है। उसने इस पर बल दिया कि अपराधी पैदा नही होता, अपितु बनाया जाता है। परन्तु गोडर्ड इसमें विश्वास नही करता था कि प्रत्येक मन्दबुद्धि वाला व्यक्ति अपराधी होता है। वह सम्भावित अपराधी हो सकता है, परन्तु उसके अपराधी बनने का निर्धारण दो कारक करते हैं उसका स्वभाव और उसका पर्यावरण। इसलिये मन्द बुद्धिमत्ता वशानुगत हो सकती है, परन्तु अपराधिकता वशानुगत नही है।

1928-29 में सदरलैन्ड (1931-357-75) ने बुद्धि परीक्षण के अध्ययनों की 350 रिपोर्टों का, जिनमें दो लाख अपराधियों का परीक्षण किया गया था, यह मालुम करने के लिये विश्लेषण किया कि अपराध और मानसिक कमियों में क्या सबंध हैं। उसने पता लगाया कि (1) 1910-14 के बीच किये गये अध्ययनों में 50 प्रतिशत अपराधी मन्द बुद्धि वाले थे परन्तु 1925-28 के काल के अध्ययनों में केवल 20 प्रतिशत ही ऐसे अपराधी पाये गये, (2) अपराधियों और गैर-अपराधियों की मानसिक आयु में नगण्य अन्तर था, (3) निम्न मनोवृत्ति वाले कैदियों और उच्च मनोवृत्ति वाले कैदियों में अनुशासन समान था, और (4) मन्द बुद्धि वाले और पैरोल पर रिहा सामान्य अपराधियों का पैरोल की शर्तों के प्रति समजन प्राय बराबर था। इसलिये उसने यह निष्कर्ष निकाला कि मन्द बुद्धि वाले की निम्न मनोवृत्ति अपराधिकता का महत्वपूर्ण कारण नही है।

मनश्चिकित्सीय व्याख्या (Psychiatric Explanation)

विलियम हीले, जो शिकागो में एक मनश्चिकित्सक थे, ने अपने चिकित्सक साथियों से इस बात पर असहमति व्यक्त की कि बाल-अपराध दोष पूर्ण शरीर-रचनाओं और शारीरिक कारकों के कारण होता है और इस पर बल दिया कि व्यक्तित्व के दोष और विकार या 'मनोवैज्ञानिक विशेषताएं' अपराध का कारण होती हैं। मोटे तौर पर मनोवैज्ञानिक विशेषताएं व्यवहार की उन विशेषताओं को जन्म देती हैं जो एक शिशु या छोटे बालक में परिवार में भावात्मक सम्पर्क से स्थापित हो जाती है। ये विशेषताएं हैं बहिर्मुखता अथवा अन्तर्मुखता, प्रभुत्व अथवा अधीनता, आशावाद अथवा निराशावाद, भावात्मक स्वतंत्रता अथवा निर्भरता, आत्मविश्वास अथवा उसका अभाव, अहंभाव अथवा समाज-भाव, इत्यादि (जॉन्सन, 1978 155)। अधिक सीमित अर्थ में साइकोजिनिक शब्द का अर्थ मानसिक विकार अथवा 'भावात्मक व्याकुलता

होता है। मनोवैज्ञानिक कारकों का विश्लेषण करते हुए हीले ने पाया कि अपराधियों में गैर-अपराधियों की तुलना में व्यक्तित्व के विकार अधिक पाये जाते हैं।

मनश्चिकित्सकों ने मानसिक विकारों अथवा मनोविकृतियों (psychoses) के तीन रुप बतलाये हैं (अर्थात् वे व्यक्ति जो विसपीडन (decompression), वास्तविकता का तोड़-मरोड़ और वास्तविकता से सपर्क का अभाव प्रदर्शित करते है) (1) खडित मनस्कता (schizophrenia) (भ्रान्ति और निर्मूल भ्रमों (hallucination) के द्वारा वास्तविकता से पलायन (retreat) करने की प्रवृत्ति को दर्शाना), (ii) विक्षिप्त अवसादक रोग (manic-depressive disorder) (जो मनोदशा में उतार-चढाव दर्शाता है), और (iii) सविभ्रम (paranoia)। अनुमान है कि केवल 1.5 प्रतिशत से 2.0 प्रतिशत अपराधी मानसिक रोग (psychotic) से पीडित होते हैं और ऐसे अपराधियों में खडित मनस्कता सबसे आम होती है।

न्यूयार्क में 1932 और 1935 के बीच 10,000 महापराधियों (felons) के ऊपर किये गये अध्ययन ने सकेत दिया कि केवल 1.5 प्रतिशत मानसिक रोग से पीडित (psychotic) थे, 6.9 प्रतिशत मनोस्नायु रोगी (psycho-neurotic) थे और 2.4 प्रतिशत मन्द बुद्धि वाले थे। इस प्रकार 82.3 प्रतिशत अपराधी 'सामान्य' थे। पाल शिल्डर द्वारा न्यूयार्क में 1937 में किये गये अध्ययन (जर्नल आफ क्रिमिनल साइकोपैथोलोजी अक्तूबर, 1940 152) ने संकेत दिया कि 83.8 प्रतिशत अपराधी 'सामान्य' थे। इलिनोय (Illinois) अस्पताल में 500 पुरुषों के ऊपर किये गये डनहेम (1939: 352-61) के अध्ययन ने दिखाया कि खंडित मनस्कता का कारक अपराध के कारणत्व में नगण्य होता है। इस प्रकार ये सब अनुसन्धान यह बताते हैं कि मनश्चिकित्सीय सिद्धान्त अतर्कसंगत है (ब्रोमबर्ग और टाम्पसन, 1939: 70-89)।

हीले के अनुसन्धानों में भी गभीर पद्धतिशास्त्र की त्रुटियां पाई गई हैं (1) उसके प्रतिदर्श (samples) छोटे और अप्रतिनिधिक हैं; (2) उसके शब्दों (terms) की परिभाषा नहीं की गई है या अस्पष्ट रूप से की गई है, उदाहरणार्थ, 'सामान्य भावात्मक नियंत्रण' और 'अच्छी जीवन निर्वाह की स्थितियां'। इन कारकों को कैसे मापा जाये, (3) अनुसधान यह बतलाने में असफल रहा है कि क्यों कुछ बच्चों में वे विशेषताएं जो अपराधियों की विशेषताएं होती हैं, विद्यमान होते हुए भी वे अपराधी नही होते और क्यों कुछ बच्चों में वे विशेषताएं नही होतीं फिर भी वे अपराधी हो जाते हैं। इन तर्कों के आधार पर मनश्चिकित्सकीय सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया है।

मनोविश्लेषिक व्याख्या (Psycho-Analytical Explanation)

मनोविश्लेषक सिगमन्ड फ्रायड ने, जिसने अपना सिद्धान्त उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विकसित किया था, अपराधी व्यवहार का कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया। परन्तु उसके अपागम और तीन तत्वों, इद (Id), अहम् (ego), और पराहम् (super-ego), का एडलर, अब्राहममैन, आइक्षौर्न और फ्राइडलैन्डर जैसे अन्य व्यक्तियों ने

अपराधिक व्याख्या करने के लिये प्रयोग किया। इद एक व्यक्ति की अपरिष्कृत मूल प्रवृत्तिया (raw instincts) या इच्छा या आवेग (urge) है, अहम् वास्तविकता है, और पराहम् एक व्यक्ति की अन्तरात्मा या नैतिक दबाव है। पराहम् निरन्तर इद को दबाने का प्रयास करता है, जब कि अहम इद और पराहम् के बीच एक स्वीकार्य संतुलन है। इद और पराहम् मूलरूप से अचेतन हैं, जब कि अहम् व्यक्तित्व का चेतन भाग है।

मनोवैश्लेषिक चिन्तन के तीन प्रस्ताव हैं (1) व्यवहार अधिकतर अचेतन मनोवैज्ञानिक जैविकी शक्तियों (इच्छाओं या मूल प्रवृत्तियों) की उपज है, अपराधिकता उन द्वन्दों से उत्पन्न होती है जो इन मूल इच्छाओं से सबंधित हैं, अवाछनीय (अपराधिक) व्यवहारों में परिवर्तन करने के लिये एक व्यक्ति को उसकी अचेतन मूल कारणों की जानकारी प्राप्त करने के लिये प्रेरित करना चाहिये। एक सन्तुलित व्यक्तित्व में इद, अहम् और पराहम् में समन्वय होता है। परन्तु असामान्य प्रकरणों में (स्नायु-रोगियों में) असन्तुलन और असामजस्य उत्पन्न हो जाता है। जब पराहम् पर्याप्त रूप से विकसित नही होता है तो दमन की हुई प्रवृतिया जब मुक्त होती हैं तो वे असामाजिक व्यवहार की ओर मोड ले सकती हैं। अचेतन मस्तिष्क में संघर्ष अपराध की भावनाओ को जन्म देता है और इसके परिणाम स्वरूप उन अपराध की भावनाओं को हटाने और पाप के विरुद्ध पुण्य का सतुलन बनाने के लिये दडित करने की इच्छा जागृत होती है। व्यक्ति फिर अपराधिक कार्य करता है और अपने पकडे जाने के लिये और दण्डित होने के लिये वह सुराग छोडता है (वोल्ड, 1958 93)।

आइछौर्न (Aichhorn, 1955 30) पहला विद्वान था जिसने अपराधियों के अध्ययन करने के लिये फ्रायड के मनोवैश्लेषिक उपागम का उपयोग किया। उसने कई प्रकार के अपराधी पाये कुछ स्नायुरोगी (neurotic) थे, कुछ आक्रामक (aggressive) थे और उनके पराहम् का विकास नही हुआ था, कुछ ऐसे थे जिनमें अपनी प्रवृत्तियो (drives) के दमन करने की क्षमता नही थी, और कुछ में अनुरक्ति की लालसाए (cravings for affection) विकृत थी।

एल्फ्रेड एडलर अपराध की व्याख्या 'हीन-भावना' के द्वारा करता है। एक व्यक्ति 'ध्यान आकर्षित करने के लिये' अपराध करता है जिससे उसकी हीन-भावना की क्षतिपूर्ति हो जाये। परन्तु एडलर के सिद्धान्त की इसलिये आलोचना हुई कि उसने व्यक्ति के व्यवहार के बुद्धिसगत पहलू पर बहुत अधिक बल दिया और अति सरलीकरण कर दिया।

डेविड अब्राहमसेन (1952) ने अपराध की व्याख्या व्यक्ति की प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के प्रति विरोध (resistence) से की। उसने एक फार्मूला विकसित किया

$$\text{सी} = \frac{\text{टी} + \text{एस}}{\text{आर}}$$

यहा 'सी' अपराध (crime) के लिये है, 'टी' प्रवृत्तियों (tendencies) के लिये, 'एस' परिस्थिति (situation) के लिये और 'आर' विरोध (resistance) के लिये है। यदि व्यक्ति में जोरदार अपराधिक प्रवृत्तिया हैं और उन्हें रोकने की शक्ति कम है, तो

अपराधिक व्यवहार उत्पन्न होगा।

समाजशास्त्रियों ने अब्राहमसेन की व्याख्या पर अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त नही की है और न ही मनोवैश्लेषिक व्याख्या पर कि अपराधों के कारण अचेत (unconscious) होते हैं। उनका कहना है कि कारणों को गणित की शब्दावली में तीन कारकों में घटा देना अति सरलीकरण है। इसी तरह, यह व्याख्या कि अपराधी इस कारण अपराध करता है क्यों कि उसकी अपराध भावनाओं के फलस्वरूप वह अवचेतन रूप से दण्डित होना चाहता है, सभी अपराधों के लिये स्वीकार नहीं की जा सकती क्यों कि कुछ प्रकरणों में व्यक्ति अपराध करता है, अपराध स्वीकार करता है और फिर वह दण्डित होता है। मेनहाइम ने भी कहा है कि दण्ड अपराध के लिये निवारक के रूप में कार्य नही करता। इस प्रकार मनश्चिकित्सीय सिद्धान्त के विरुद्ध तर्क हैं (1) *मनश्चिकित्सीय सिद्धान्त में पद्धतिशास्त्र और विज्ञान के तर्क की त्रुटि है*, (2) शब्दावली अस्पष्ट है क्यों कि इद, अहम, पराहम की परिचालनात्मक (operational) व्याख्याएं नही दी गई हैं, (3) प्रक्षेपीय (projective) तकनीकों का विश्लेषक आत्मपरक (subjective) व्याख्या कर सकता है, (4) अनुसंधान छोटे प्रतिदर्शों और अपर्याप्त नियन्त्रण समूहों पर आधारित हैं, (5) जब तक एक व्यक्ति उपागम का ध्यान केन्द्र रहता है, तब तक व्यवहार के सरूपों के बारे में सामान्यीकरण (generalisations) नहीं किये जा सकते, और (6) वास्तव में, यह सिद्धान्त अपराधिक व्यवहार के कारणों के बारे में कुछ भी स्पष्ट नही करता है।

समाजोत्पत्तिक व्याख्या (Sociogenic Explanation)

शारीरिक, मनश्चिकित्सीय और मनोवैज्ञानिक सैद्धान्तिक व्याख्याएँ इस पर बल देती है कि या तो अपराध विरासत में मिलता है और किसी शारीरिक अथवा मानसिक कारक से होता है, या बचपन के दबे हुए अनुभवों का परिणाम हैं। इसके विपरीत समाजशास्त्री यह तर्क देते हैं कि अपराधिक व्यवहार सीखा जाता है और सामाजिक पर्यावरण के परिस्थितिवश होता है। समाजशास्त्रियों ने अपराध के कारणत्व का अध्ययन करने के लिये दो उपागमों का उपयोग किया है पहला उपागम अपराध और समाज की सामाजिक सरचनाओं के बीच सबंध का अध्ययन करता है और दूसरा उपागम उस प्रक्रिया का अध्ययन करता है जिससे एक व्यक्ति अपराधी बन जाता है। इस प्रकार समाजशास्त्रीय व्याख्याओं को दो श्रेणियों में बाटा जा सकता है (1) सरचनात्मक व्याख्याएं जिनमें आर्थिक व्याख्या, भौगोलिक व्याख्या, और मर्टन और क्लिफोर्ड शॉ की समाजशास्त्रीय व्याख्याएं और कोहेन और क्लोवार्ड और ओहलिन की उपसंस्कृति व्याख्याएं सम्मिलित हैं, और प्रक्रिया की व्याख्याए जिनमें सदरलैण्ड, हावर्ड बेकर, और वाल्टर रेकलेस की व्याख्याए सम्मिलित है।

आर्थिक व्याख्या (Economic Explanation)

यह व्याख्या समाज में आर्थिक परिस्थितियों के द्वारा अपराधिक व्यवहार का विश्लेषण करनी

है। इस व्याख्या के अनुसार अपराधी आर्थिक वातावरण का उत्पाद है जो उसे उसके आदर्श और लक्ष्य देता है। एक इटैलियन विद्वान फोर्नेसरी ने 1984 में अपराध और निर्धनता के बीच में सबंध की बात कही थी। उसने कहा था कि इटली की 60 प्रतिशत जनसख्या निर्धन है और इटली के कुल अपराधों में से 85 प्रतिशत से 90 प्रतिशत अपराध यह निर्धन वर्ग करता है। एक डच विद्वान ने भी 1916 में अपराध और पूजीवादी आर्थिक सरचना के बीच सबध पर बल दिया था। पूजीवादी व्यवस्था में आदमी केवल स्वय पर ही सकेन्द्रित रहता है और इससे उसमें स्वार्थपरता (selfishness) उत्पन्न होती है। आदमी की रुचि केवल अपने ही लिये पैदा करने में होती है, विशेषरूप से अधिशेष (surplus) पैदा करने में जिसका विनिमय वह लाभ से कर सकता है। उसे अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं में रुचि नही है। इस प्रकार पूजीवाद सामाजिक दायित्वहीनता (social irresponsibility) को जन्म देता है, और इसके परिणामस्वरूप अपराध होता है।

एक अग्रेज अपराधशास्त्री सिरिल बर्ट (1944 147) ने 1938 में बाल-अपराध का विश्लेषण करते हुए यह पाया कि 19 0 प्रतिशत बाल-अपराधी अत्यन्त निर्धन परिवारों के है और 37 0 प्रतिशत सामान्य निर्धन परिवारों के। उसने निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि निर्धनता अपराध में महत्वपूर्ण कारक है, परन्तु यह अकेला ही कारक नही है। विलियम हीली ने 1915 में 675 बाल अपराधियों का अध्ययन किया और पाया कि उनमें 5 0 प्रतिशत निराश्रय (destitute) वर्ग के थे, 22 0 प्रतिशत निर्धन वर्ग के, 35 0 प्रतिशत सामान्य (normal) वर्ग के, 34 0 प्रतिशत सुखी (comfort) वर्ग के और 4 0 प्रतिशत अत्यन्त सुखी (luxury) वर्ग के थे। इस प्रकार क्यों कि 73 0 प्रतिशत बाल अपराधी ऐसे वर्गों के थे जो आर्थिक दृष्टि से सामान्य अथवा समृद्ध थे इसलिये निर्धनता को बाल अपराध में अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक नही माना जा सकता।

आर्थिक नियतिवाद के कार्ल मार्क्स के विचार ने इसका समर्थन किया कि सपत्ति के निजी स्वामित्व के कारण निर्धनता होती है जिससे उनमें जो उत्पादन के साधनों के मालिक हैं और उनमें जिनका वे आर्थिक लाभ के लिये शोषण करते हैं, भेद किया जा सकता है। दूसरे प्रकार के व्यक्ति निर्धनता के कारण अपराध करने लगते है। इस प्रकार यद्यपि मार्क्स ने विशेषरूप से अपराधिक कारणत्व का सिद्धान्त विकसित नही किया परन्तु उसका विश्वास था कि आर्थिक व्यवस्था ही केवल अपराध का निर्धारक तत्व है।

भारत में दो अध्ययनों का इस सदर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। रुत्तनशा ने पूना में 225 बाल-अपराधियों का अध्ययन किया और पाया (1947 49) कि 20 0 प्रतिशत उन परिवारों के थे जिनकी आय 150-500 रुपये प्रतिमाह थी, 12 2 प्रतिशत उन परिवारों के थे जिनकी आय 500-1000 रुपये प्रतिमाह थी, 4 8 प्रतिशत उन परिवारों के थे जिनकी आय 1000-2000 रुपये प्रतिमाह से अधिक थी। इस प्रकार यह अध्ययन बतलाता है कि अपराध में निर्धनता को बहुत अधिक महत्व नही दिया जा सकता। सदरलैण्ड (1965) ने भी कहा है

कि:(1) निर्धन परिवारों में हम अधिक अपराधी इस कारण पाते हैं क्यों कि उनका पता लगाना सरल होता है,(2) उच्च वर्गों के अपराधी गिरफ्तारी और दंड से बचने के लिये अपने प्रभाव और दबावों का उपयोग करते हैं, और (3) प्रशासको की प्रतिक्रियाँ,उच्च वर्ग के व्यक्तियों के प्रति अधिक पूर्वाग्रही होती हैं। इस प्रकार आजकल अधिकाश व्यवहार का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक अपराधिक व्यवहार में आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त को स्वीकृत नही करते।

भौगोलिक व्याख्या (Geographical Explanation)

यह व्याख्या अपराध का आकलन भौगोलिक कारकों जैसे जलवायु,तापमान, और आद्रता के आधार पर करती है। इसका समर्थन क्वेटलेट,डेक्सटर,मोन्टेस्क्यू,क्रोपोटोकिन,चैम्पनेफ और कई अन्य विद्वान करते हैं। क्वेटलेत के अनुसार,व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध दक्षिण मे अधिक होते हैं और गरमी के मौसम में इनकी सख्या में बढोतरी हो जाती है,जब कि सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध उत्तर में अधिक होते हैं और शीतकाल में इनकी सख्या बढ जाती हैं। चैम्पनेफ ने अपराध की प्रकृति और जलवायु के बीच के सबध की परिकल्पना का समर्थन किया। उसका आधार था उसके द्वारा सन् 1825 और 1830 के मध्य फ्रास में किया गया अध्ययन। उसने पाया कि उत्तरी फ्राम में व्यक्तियों के विरुद्ध किये गये प्रत्येक 100 अपराधों के विपरीत 181.5 सपत्ति के अपराध हुए और दक्षिणी फ्रास में व्यक्तियों के विरुद्ध हुए प्रत्येक 100 अपराधों के विपरीत 98 8 सपत्ति के अपराध हुए। सपत्ति के अपराधों पर 1825 और 1830 के मध्य किये गये अपने अध्ययन के आधार पर फ्रांसिसी विद्वान,लेकेसेन (Laccasagne) ने भी यह पाया कि सपत्ति के अपराधों की अधिकतम सख्या दिसम्बर में थी और उसके बाद जनवरी,नवंबर और फरवरी में थी। मौसम का व्यक्ति के व्यवहार के प्रभाव पर 1904 में किये गये अपने अध्ययन में अमरीकी विद्वान,डेक्सटर ने पाया कि अपराध और भौगोलिक पर्यावरण में एक दूसरे का निकट का सबध है। एक रूसी विद्वान क्रोपोटोकिन ने 1911 में यह सिद्ध किया कि किसी भी महीने/वर्ष में हत्या की दर की भविष्यवाणी उससे पहले आने वाले महीने/वर्ष के औसत तापमान और आद्रता की गणना से की जा सकती है। इसके लिये उसने गणित-फार्मूला दिया,$2(7x + y)$, जहा 'x' तापमान है और 'y' आद्रता है। पिछले महीने के औसत तापमान 'x' को 7 से गुणा करके और पिछले महीने की औसत आद्रता 'y' को जोडा जाये और इस कुल अक को हम दो से गुणा कर दें,तो हमें किसी महीने मे की गई हत्याओं की सख्या प्राप्त हो जायेगी।

भौगोलिक व्याख्या की इस आधार पर आलोचना हुई कि भौगोलिक कारक व्यक्तिगत व्यवहार को प्रभावित कर सकते हैं,परन्तु अपराध और भौगोलिक कारकों का सीधा संबंध जैसा विद्वानों ने दिया स्वीकार नही किया जा सकता। यदि ऐसा सबध होता तो एक निश्चित भौगोलिक पर्यावरण मे अपराध की प्रकृति और सख्या सदैव वही रहती जब कि ऐसा नहीं है। इस कारण यह सिद्धान्त अप्रामाणिक है।

समाजशास्त्रीय व्याख्या (Sociological Explanation)

सदरलैण्ड का विभिन्न सपर्क सिद्धान्त (Sutherland's Theory of Differential Association)

सदरलैण्ड ने 1939 में 'विभिन्न सपर्क' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया । वह कहता है कि अपराधिक व्यवहार की मुख्यतया दो व्याख्याए प्रस्तुत की गई हैं परिस्थिति-सबधी और आनुवंशिक (genetic) या ऐतिहासिक । पहली अपराध की व्याख्या परिस्थिति (जो अपराध के समय होती है) के आधार पर की जाती है, और दूसरी (अपराध की) व्याख्या अपराधी के जीवन के अनुभवों पर आधारित है । उसने स्वय ने दूसरे उपागम का उपयोग अपराधिक व्यवहार के सिद्धान्त को विकसित करने में किया । मान लें कि एक लडका दुकान पर आता है और दुकानदार को वहा नही पाता । वह एक रोटी चुरा लेता है । इस प्रकरण में लडका चोरी इसलिये नही करता क्यों कि वहा दुकानदार नही था और वह भूखा था परन्तु यह इसलिये होता है कि उसने पहले से ही यह सीख लिया था कि एक व्यक्ति अपनी भूख को चीजों की चोरी करके मिटा सकता है । इस प्रकार परिस्थिति एक व्यक्ति को चोरी करने की प्रेरणा नहीं देती, अपितु पहले से सीखे हुए दृष्टिकोण और विश्वास उसके लिये उत्तरदायी हैं ।

सदरलैण्ड की प्रमुख अभिधारणा (1969 77-79) है कि व्यक्ति अपने जीवन काल में कई असगत और परस्पर-विरोधी सामाजिक प्रभावों का सामना करते हैं और कई व्यक्ति अपराधिक प्रतिमानों के वाहकों (carriers) के सम्पर्क में आ जाते हैं और उसके फलस्वरूप वे अपराधी हो जाते हैं । उसने इस प्रक्रिया को 'विभिन्न सपर्क' के नाम से पुकारा ।

यह सिद्धान्त बताता है कि अपराधिक व्यवहार दूसरे व्यक्तियों के सपर्क की प्रक्रिया में सीखा जाता है, मुख्यरूप से छोटे, घनिष्ट समूहों में । इस विद्या में अपराध करने की तकनीकों का सीखना भी सम्मिलित है । प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, तार्किकीकरण (rationalisations) और दृष्टिकोणों की विशिष्ट दिशा ऐसी कानूनी सहिताओ की परिभाषाओं से सीखी जाती है जो अनुकूल या प्रतिकूल हैं । एक व्यक्ति अपराधी इसलिये हो जाता है क्यों कि उसे कानून के उल्लघन करने की अनुकूल परिभाषाए कानून के उल्लघन की प्रतिकूल परिभाषाओं के अपेक्षाकृत अधिक मिल जाती हैं । यह 'विभिन्न सपर्क' का सिद्धान्त है । विभिन्न सपर्क आवृति, कालावधि, प्राथमिकता और तीव्रता में घट-बढ सकते हैं । अपराधिक और अनअपराधिक सरूपों के सम्पर्कों द्वारा अपराधी व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया में उन सब विधियों की आवश्यकता होती है जो किसी भी अन्य विद्या के लिये आवश्यक होती हैं । जबकि अपराधी व्यवहार सामान्य आवश्यकताओं और मूल्यों की अभिव्यक्ति है, परन्तु उसकी व्याख्या उन आवश्यकताओं और मूल्यों से नही की जा सकती है क्यों कि गैर-अपराधिक व्यवहार भी उन्ही आवश्यकताओं और मूल्यों की अभिव्यक्ति है ।

सदरलैण्ड के सिद्धान्त का समर्थन जेम्स शार्ट (James Short) जूनियर ने अपने 176 स्कूल के बच्चों (126 लडके और 50 लडकियों) के 1955 में किये गये अध्ययन के आधार पर

किया (रोज़ गियालोम वार्डो, 1960 85-91)। शार्ट ने समाज में अपराध के अनुमानित प्रभावन (exposure), आवृति, कालावधि, प्राथमिकता, अपराधी मित्रों के साथ अन्तर्क्रिया की तीव्रता और वयस्क अपराधियों की जानकारी और उनके साथ सम्पर्क को मापा।

परन्तु सदरलैण्ड के सिद्धान्त का विरोध कई विद्वानों ने किया जैसे शेल्डन ग्लूयक, मेबिल इलियट, काल्डवेल, डोनेल्ड क्रेसी, टपन, जार्ज वोल्ड, हर्बर्ट बलोच, जैफरी क्लेरेन्स, डेनियल ग्लेसर और अन्य। प्रमुख आलोचना यह है कि आनुभविक रूप से सिद्धान्तों की जाच और 'सम्पर्कों', प्राथमिकता, तीव्रता, कालावधि और सबधों की प्रायिकता (frequency) का माप करना कठिन है। टपन के अनुसार, सदरलैण्ड ने अपराध में व्यक्तित्व की भूमिका अथवा जैविकीय और मनोवैज्ञानिक कारकों की भूमिका पर भी ध्यान नहीं दिया है। जार्ज वोल्ड (1958 194) ने कहा है कि अपराध में द्वितीयक (secondary) सपर्क और औपचारिक समूहों की भूमिका की अवज्ञा की गयी है। क्लेरेन्स रे जेफरी का मत है कि सदरलैण्ड का सिद्धान्त अपराध की उत्पत्ति को नहीं समझाता क्यो कि अपराध का होना आवश्यक है तभी वह किसी से सीखा जा सकता है (जानसन, 1978 158)। मेबिल इलियट (1952. 402) कहता है कि सदरलैण्ड का सिद्धान्त व्यवस्थित अपराधों को समझाता है, परन्तु परिस्थिति संबंधी अपराधो को नहीं। क्रेसी (Cressey) के अनुसार, सदरलैण्ड पूर्णरूप से सीखने की प्रक्रिया के उपलक्षणों का अन्वेषण नहीं करता कि किस प्रकार वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को प्रभावित करती है। हर्बर्ट ब्लोच (Herbert Bloch, 1962·158) का यह मत है कि साहचर्यों का तुलनात्मक एव मात्रात्मक माप करना वस्तुत असभव है। ग्लूयक (1951:309) का कहना है कि व्यक्ति दूसरों से हरेक व्यवहार नहीं सीखता, कई कार्य स्वाभाविक रूप से सीख लिये जाते हैं। काल्डवेल कहता है कि व्यक्ति किस प्रकार के हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनके सम्पर्क किन व्यक्तियों से रहे हैं, अपितु शारीरिक या अन्तर्जात वंशानुगत ढाचे और पर्यावरण के प्रेरकों की तीव्रता का भी मूल्यांकन करना चाहिये।

डेनियल ग्लेसर (1956 194) ने सदरलैण्ड के सिद्धान्त में कुछ सशोधन यह समझाने के लिये किया कि एक व्यक्ति किससे अपराध सीखता है। उसने इस नये सिद्धान्त का नाम 'विभिन्न पहचान का सिद्धान्त' (Differential Identification Theory) रखा और कहा कि एक व्यक्ति अपराधी व्यवहार को उस सीमा तक जारी रखता है जहां तक वह असली या काल्पनिक व्यक्तियों से तादात्म्य स्थापित कर पाता है जिनके परिप्रेक्ष्य के अनुसार उसका अपराधी व्यवहार स्वीकार्य मालूम पडता है। इससे और आगे वह कहता है कि विभिन्न सम्पर्क के सिद्धान्त में निरन्तर आने वाली समस्याओं में से एक यह है कि अपराधिकता के सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति व्यावहारिक संरूप को अगीकार नहीं करता या उसका अनुकरण नहीं करता। इसलिये सम्पर्क की प्रकृति या गुण में वह क्या अन्तर है कि एक व्यक्ति जो एक समूह के मनोभावों और व्यवहार को स्वीकार कर लेता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति उस समूह के व्यवहार की विशेषताओं से परिचित तो हो जाता है परन्तु उन्हें अपनाता नहीं है।

मर्टन का एनोमी सिद्धान्त (Merton's Theory of Anomie)

मर्टन ने जैविक और मनश्चिकित्सक सिद्धान्तों (कि अपराध वशागत विशेषताओं का परिणाम है) के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए सर्वप्रथम 1939 में अमेरिकन सोशालाजिकल रिव्यू में छपे अपने एक प्रपत्र में विचलित व्यवहार को समझाने का प्रयास किया। उसने 1949 और 1957 में अपने विचार को सविस्तार प्रतिपादित किया और सामाजिक और सास्कृतिक सरचनाओं में भेद बतलाया। उसके अनुसार सास्कृतिक सरचना उन लक्ष्यो और स्वार्थों का उल्लेख करती है जिन का लोग अनुसरण करते है, जब कि सामाजिक सरचना उन साधनों का अनुमोदित तरीकों का उल्लेख करती हैं जो लक्ष्यों और स्वार्थों के अनुसरण को समजित एव नियन्त्रित करते है। समाज की सास्कृतिक व्यवस्था व्यक्तियों को लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये मानकीय रूप से (normatively) समजित अथवा अनुमोदित व्यवहार के रूपों के द्वारा प्रयास करने का आदेश देती हैं। तथापि सामाजिक रूप से अनुमोदित साधनों के द्वारा इन लक्ष्यों की प्राप्ति के अवसर असमान रूप से विद्यमान रहते हैं। विचलित व्यवहार उस समय घटित होता है जब सामाजिक सरचना एक व्यक्ति के इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अनुमोदित तरीको को अपनाने को सीमित कर देती है या उन पर पूर्णरूप से प्रतिबन्ध लगा देती है। दूसरे शब्दो मे लक्ष्यों और साधनों में असमजन तनाव उत्पन्न करता है जो क्रमश व्यक्तियों की सास्कृतिक रूप से अनुमोदित लक्ष्यों या सस्थागत साधनों के प्रति कटिबद्धता को कमजोर कर देता है, अर्थात् इसके परिणामस्वरूप एनोमी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार मर्टन के सिद्धान्त के अनुसार कुछ सामाजिक सरचनाए कुछ व्यक्तियों पर अनुरूपित (conformist) व्यवहार के स्थान पर प्रतिकूलित (non conformist) व्यवहार करने के लिये निश्चित दबाव डालती हैं।

मर्टन (1968 192-193) ने उन पाच अनुकूलन (adaptation) के ढगो की पहचान की है जो समाज के लक्ष्यों और साधनों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने वालों के लिये उपलब्ध होते हैं अनुपालन (conformity), नवाचार (innovation), विधिवाद (ritualism), पलायनवादिता (retreatism), और विद्रोह (rebellion)। अनुपालन समाज के लक्ष्यों और साधनों को स्वीकार करना बताता है। नवाचार का अर्थ है लक्ष्यों को स्वीकार करना, परन्तु साधनों को अस्वीकार करना। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी परीक्षा को उत्तीर्ण करने और डिग्री प्राप्त करने के लक्ष्य को तो स्वीकार करता है परन्तु उत्तीर्ण होने के लिये अनुचित साधनों का उपयोग करता है। इस प्रकार मर्टन का कहना है कि निर्धनता से अपराध उत्पन्न नही होता, अपितु जब निर्धनता का प्रमुख लक्ष्य आर्थिक सफलता माना जाता है और इसकी प्राप्ति के लिये सास्कृतिक तरीकों पर बल दिया जाता है और एक निर्धन व्यक्ति सारकृतिक मूल्यों के अभाव से इस प्रतिस्पर्द्धा में भाग नही ले पाता, उस समय उसका सामान्य परिणाम अपराधी व्यवहार होता है। विधिवाद लक्ष्यो को अस्वीकार करता है परन्तु साधनों को स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी कालेज तो जाता है परन्तु कक्षाओं में न जाकर कालेज केन्टीन में समय

बिताता है। पलायनवादिता में दोनों लक्ष्यो और साधनों को अस्वीकार करना होता है। उदाहरण के लिये,जब एक व्यक्ति वैध साधनों से अपने लक्ष्य प्राप्त नही कर पाता और अपने पूर्व समाजीकरण के कारण अवैध साधनों को भी अपना नही सकता तो वह दोनों लक्ष्यों और साधनों को अस्वीकार कर देता है और शराबी या नशीले पदार्थों का आदी या आवारा हो जाता है। विद्रोह की विशेषता यह होती है कि इसमे लक्ष्यों और साधनो दोनों को अस्वीकार किया जाता है और नये लक्ष्यों और साधनों को अपनाया जाता है।

मर्टन के सिद्धान्त की कोहेन,क्लिनार्ड,और लेमर्ट ने आलोचना की है। उनके प्रमुख तर्क हैं: (1) मर्टन का सिद्धान्त अपूर्ण है क्यों कि उसने यह नही बतलाया है कि कौन लक्ष्यों को अस्वीकार करेगा और कौन साधनों को, (2) केवल सरचनाओं को ही महत्व दिया गया है और व्यक्ति के व्यक्तित्व की उपेक्षा की गई है, (3) तनावों से आवश्यक रूप से विचलित व्यवहार उत्पन्न नही होता, (4) यह सिद्धान्त सामाजिक नियन्त्रण की महत्वपूर्ण भूमिका की अवज्ञा करता है, (5) मर्टन की मान्यता कि विचलित व्यवहार दोषपूर्ण अनुपात में निम्न वर्गों के लोगों में अधिक पाया जाता है, सही नही है, (6) परिसीमित जीवन के सयोग एनोमी का परिणाम न होकर उसका कारण हो सकता है, (7) कोहेन ने यह तर्क दिया है कि मर्टन ने यह नही बतलाया है कि व्यक्ति के अनुकलन के रूप के निर्धारण के लिये कौन से निर्धारक तत्व हैं, (8) कोहेन ने यह भी कहा है कि मर्टन ने 'अनुपयोगी' अपराध और बाल अपराध के कारण नही बतलाये हैं जिन्हें व्यक्ति समाज के विशिष्ट लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये नहीं, अपितु केवल आमोद-प्रमोद के लिये करते हैं, जैसे कला वस्तुओं का विनाश या आनन्द उठाने के लिये सवारी करने के लिये कार की चोरी, और (9) अन्त में, यह सिद्धान्त सामाजिक-मनोवैज्ञानिक चरों या सामाजिक सरचनात्मक तत्वों पर भी ध्यान नही देता जो कदाचित यह समझा सकें कि व्यक्ति एक प्रकार के अनुकूलन को अपनाने के स्थान पर किसी दूसरे प्रकार के अनुकूलन को क्यों अपनाते हैं।

क्लोवार्ड और ओहलिन का 'विभिन्न अवसर' सिद्धान्त (Cloward and Ohlin's Theory of Differential Opportunity)

क्लोवार्ड और ओहलिन ने सदरलैण्ड और मर्टन के सिद्धान्तों का समाकलन कर दिया और 1960 में अपराधी व्यवहार के एक नये सिद्धान्त को विकसित किया। जब कि सदरलैण्ड अवैध साधनों के बारे में बात करता है और मर्टन वैध साधनों में विभिन्नताओं की, क्लोवार्ड और ओहलिन सफलता के लक्ष्यों के लिये वैध और अवैध दोनों साधनों की विभिन्नताओं के बारे में बात करते हैं। इस सिद्धान्त के महत्वपूर्ण तत्व हैं (1) एक व्यक्ति का वैध और अवैध दोनों अवसरों की संरचनाओं में स्थान होता है, (2) अवैध अवसरों की तुलनात्मक उपलब्धता व्यक्ति के समजन की समस्याओं के समाधान को प्रभावित करती है, और (3) जब उसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये वैध अवसरों की कमी का सामना करना पडता है और अपनी आकाक्षाओं को कम करने में वह स्वयं को अक्षम पाता है, तो उसे तीव्र नैराश्य अनुभव होता है और इसके फलस्वरूप वह प्रतिकूल (non-conformist) विकल्पों को खोजने लगता है।

क्लारेन्स शिराग (Clarence Schrag, 1972 167) ने क्लोवार्ड के सिद्धान्त को क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित किया और उसकी चार अभिधारणाए (postulates) बताई (1) मध्यम वर्ग के लक्ष्य, विशेषरूप से आर्थिक लक्ष्य, व्यापक है, (2) प्रत्येक सगठित समाज इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये वैध अवसर प्रदान करता है, (3) वैध साधनों तक पहुच एक वर्ग से दूसरे वर्ग में कम ज्यादा होती है, (4) किसी निश्चित समाज में अवैध अवसर उपलब्ध हो सकते हैं और नही भी। परन्तु शिराग ने स्वय ने उपर्युक्त अभिधारणाओं पर आधारित क्लोवार्ड और ओहलिन के सिद्धान्त की दो बातों को लेकर आलोचना की है (1) यह सिद्धान्त इस बात को नही समझाता कि क्यों निम्नवर्ग का एक युवा व्यक्ति अपराधी समूहों की गतिविधियों में लिप्त नही होता, और (2) लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये कौन अवैध साधनों का उपयोग करेगा ? दूसरे प्रश्न का शिराग ने स्वय उत्तर दिया है। वह कहता है कि तीन प्रकार के ऐसे व्यक्ति होते हैं जो विचलित व्यवहार कर सकते हैं या अपराधी समूहों में सम्मिलित हो सकते हैं (1) वे जो कि अपनी असफलताओं और/या समजन (adjustments) की समस्याओं के लिये व्यवस्था को दोषी ठहराते हैं (2) वे जो यह सोचते हैं कि उनके पास पद सबधी मानदण्ड तो हैं परन्तु व्यावहारिक मानदण्ड नही है, और (3) वे जो कि परम्परागत प्रतिमानों या वैध व्यवस्था से विमुख हो गये है।

क्लोवार्ड और ओहलिन ने अपराध की तीन प्रकार की उपसस्कृतिया बताई है अपराधिक, सघर्षग्रस्त, और पलायनवादी। पहली (उपसस्कृति) उस व्यवस्थित क्रिया/गतिविधि पर बल देती है जो आर्थिक लाभ की ओर अभिमुख होती है, दूसरी हिसा और बदूक से लडने पर बल देती है, और तीसरी नशीले पदार्थ के उपयोग और अन्य नशीली वस्तुओं पर बल देती है। पहली सस्कृति की उन क्षेत्रों में उत्पन्न होने की प्रवृत्ति होती है जहा सफल और बहुत बडे अपराधी रहते हैं और उनकी परपरागत समाज में बहुत प्रतिष्ठा होती है और राजनैतिक तत्र एव कानून प्रवर्तन अधिकारियों से उनके अच्छे पारस्परिक सबध होते हैं। यह उप सस्कृति हिसा का प्रदर्शन नही करती है। दूसरी उप सस्कृति उन क्षेत्रों में पाई जाती है जहा अपराधिक और परपरागत तत्वों में कोई सबध नही होते। इस उपसस्कृति में प्रतिष्ठा पाने के एक तरीके के रूप में हिसा और/ या हिसा की धमकी परिलक्षित होती है। ऐसे अडोस-पडोसों में युवा व्यक्ति अपने आपको गिरोहों (gangs) में सगठित करके एक दूसरे से लडते हैं और हिंसा एव कठोरता दिखा कर नाम कमाना चाहते हैं। तीसरी उप सस्कृति उन क्षेत्रों में पाई जाती है जहा सडक पर झगडा करना पुलिस के दमन के उपायों के कारण से बहुत खतरनाक हो जाता है या जहा हिसा के विरुद्ध नैतिक एव अन्य अन्तर्बाधाए (inhibitions) होती हैं। जिन व्यक्तियों को अपराध और 'झगडे' के अवसर प्राप्त नही होते, वे नशीले पदार्थों की दुनिया में चले जाते हैं।

शॉर्ट, टेनिसन और रिवर्स ने एक ही बस्ती में रहने वाले 500 नीग्रो और सफेद निम्न वर्ग के गिरोहों के लडकों और मध्यम वर्ग के लडकों, जो किसी गिरोह में सम्मिलित नही थे, के शिक्षा

और व्यवसाय से सम्बधित वैध एव अवैध अवसरों की जानकारी प्राप्त करने के लिये किये गये अध्ययन के आधार पर क्लोवार्ड के सिद्धान्त का परीक्षण करने के लिये एक परियोजना को हाथ में लिया । अवसरों की जानकारी प्राप्त करने के लिये कुछ प्रश्न इस प्रकार के थे (1) मैं जिस प्रकार का काम करना चाहता हूँ वह कदाचित इसलिये नहीं कर पाऊगा क्यों कि मैं पर्याप्त रूप से शिक्षित नहीं हूँ,(2) यदि मेरी तरह का बच्चा परिश्रम करता है तो वह नेतृत्व कर सकता है, (3) मेरा परिवार वह अवसर प्रदान नहीं कर सकता जो अधिकाश बच्चों को प्राप्त हैं,(4) अधिकाश व्यक्तियों की स्थिति मुझसे अधिक अच्छी है,और (5) मुझ जैसे व्यक्ति के कालेज मे शिक्षा प्राप्त करने के अच्छे अवसर हैं ।

इन प्रश्नों के मिले उत्तरों के आधार पर रेकलेस ने पाया कि क्लोवार्ड का सिद्धान्त कुछ अश तक सही है,यानि वह कुछ अपराधों को समझाता है परन्तु सबको नहीं ।

क्लोवार्ड और ओहलिन के सिद्धान्त की महत्वपूर्ण आलोचनाए इस प्रकार हैं (1) इस सिद्धान्त का प्रमुख दावा कि अवसरो के प्रकार होते है-वैध एव अवैध-इतना सरल नहीं है जितना दिखलाई पडता है। इनमे अन्तर वास्तविक (real) तो है परन्तु 'मूलभूत' (concrete) न होकर 'विश्लेषणात्मक' है,यानि कुछ ऐसी स्थितिया नहीं हैं जिन्हें वैध अवसर कहा जा सके और अन्य ऐसी जिन्हे अवैध अवसर कहा जा सके,परन्तु एक ही स्थिति सदैव दोनों प्रकार के अवसर होती हैं, उदाहरण के लिये छात्रों द्वारा कागज के छोटे टुकडो पर तैयार किये गये नोट्स का परीक्षा में अनुचित साधनो के रूप मे उपयोग किया जा सकता है और उनका वैध साधन के रूप मे परीक्षा से एक दो दिन पूर्व बिन्दुओं को याद करने के लिये भी उपयोग किया जा सकता है । इसी प्रकार बन्दूक का उपयोग दूसरे को मारने और स्वय को बचाने के लिये किया जा सकता है, (2) क्लोवार्ड और ओहलिन का मानना है कि निम्न वर्ग के युवाओं की दो अभिमुखताएं (orientations) होती है (अ) मध्यम वर्ग की सदस्यता की ओर अभिमुखता जिसे 'जीवन शैली अभिमुखता' कहते हैं और (ब) आर्थिक उन्नति की ओर अभिमुखता जिसे 'आर्थिक अभिमुखता' कहते हैं । क्लोवार्ड की यह अभिधारणा है कि अपराध उपसंस्कृति के लिये वे अभ्यर्थी होते हैं जो अपनी निम्न वर्ग की सदस्यता बनाये रखना चाहते हैं,परन्तु अपने आर्थिक दर्जे को सुधारना चाहते हैं (जान्सन,1978 179) । परन्तु गार्डन कहता है कि ये दोनों अभिमुखताएं अलग-अलग नहीं पाई जाती, (3) क्लोवार्ड ने विभिन्न प्रकार की उप-सस्कृतियों के प्रकट होने के लिये प्रारंभिक परिस्थितियों का उल्लेख नहीं किया है; (4) उसके सिद्धान्त में वर्ग का पूर्वग्रह है; (5) कुछ अवधारणाओं को परिचालित (operationalise) नहीं किया जा सकता, उदाहरणार्थ, अवसर सरचना, अवसर की जानकारी,वैधता का वचन या दोहरी असफलता, और (6) व्यक्तित्व के कारक की पूर्णरूप से उपेक्षा की गई है ।

कोहेन का मूल्य-अभिमुखिकरण या विचलित उपसस्कृति का सिद्धान्त (Cohen's Theory of Value Orientation or Delinquent Sub-Culture)

एल्बर्ट कोहेन का सिद्धान्त प्रमुख रूप से श्रमिक वर्ग के लडकों की स्थिति के समजन (status adjustment) की समस्याओं के बारे में है। उसका विश्वास है (1955 65-66) कि युवा व्यक्तियों की स्वय के बारे में भावनाए मुख्य रूप से इस पर निर्भर करती हैं कि उनके बारे में दूसरों के क्या विचार हैं। जिन स्थितियों में उन्हें आका जाता है, सबसे अधिक विशेष रूप से स्कूल की स्थिति में, वहा बहुधा मध्यम वर्ग के मूल्यों और मानदण्डों की प्रधानता होती है, वास्तव में वही प्रमुख मूल्य व्यवस्था (value system) होती है। इन मानदण्डों में सफाई, शिष्टाचार, शैक्षिक बुद्धिमत्ता, मौखिक धारा प्रवाहिकता, ऊचे स्तर की आकाक्षाए और उपलब्धि के लिये प्रेरणा जैसी कसौटिया हैं। विभिन्न उद्गमों और पृष्ठभूमियों से आने वाले युवा व्यक्तियों को समाज के एक से ही प्रतिमानों से आका जाता है, इस प्रकार निम्न वर्ग के युवा व्यक्तियों को एक से ही नियमों के सेट के अन्तर्गत प्रतिष्ठा और पसदगी (*approval*) के लिये प्रतिस्पर्द्धा करनी पडती है। परन्तु इस प्रतिष्ठा के खेल में सफलता के लिये वह समानरूप से सुसज्जित नही होते। इस कारण एव अन्य कारणों से निम्नवर्ग के बच्चों को असफलता और अनादर अनुभव करने की अधिक सभावना रहती है। इस समस्या से निबटने का एक तरीका यह है कि वे इस खेल का परित्याग कर दें और पीछे हट जायें और यह मानने से मना कर दें कि ये नियम उन पर लागू होते हैं। परन्तु यह इतना सरल नही है क्योंकि प्रबल मूल्य व्यवस्था कुछ सीमा तक उनकी भी मूल्य व्यवस्था है। उनके सामने तीन विकल्प हैं (1) 'कालेज के लडके की प्रतिक्रिया' की तरह वह ऊर्ध्वगामी गतिशीलता (upward mobility) अपनाए (अर्थात् मितव्ययी (thrifty) व परिश्रमी होना और मित्रों की गतिविधियों से अपने को अलग कर लेना), (ii) 'स्थिर कोने में खडे लडके (stable corner boy) की प्रतिक्रिया' को अपनाए (वह ऊर्ध्वगामी गतिशीलता के विचार को नही त्यागता, परन्तु वह न तो मितव्ययी होता है और न ही मित्रों से अलग होता है और न ही मध्यम वर्ग के व्यक्तियों या अपराधी लडकों को अपना वैरी बनाता है), और (iii) 'अपराधी की प्रतिक्रिया' (delinquent response) अपनाता (जिसमें वह मध्यम वर्ग के मानदण्डों का पूर्णरूप से परित्याग कर देता है)। इन तीन विकल्पों में से अधिकाश बच्चे तीसरी प्रतिक्रिया को अपनाते हैं। वे प्रतिक्रिया गठन (reaction formation) का आश्रय लेते हैं। वे प्रबल मूल्य व्यवस्था को अस्वीकार कर देते है और नये मूल्यों का सृजन करते है जो अनुपयोगी होते हैं (क्यों कि उनसे उन्हें कोई आर्थिक लाभ प्राप्त नही होता), विद्वेषपूर्ण होते हैं (क्यों कि वे दूसरों की कीमत और पीडा से आनन्द उठाते हैं), और नकारात्मक होते हैं (क्यों कि वे समाज के बडे भाग द्वारा मान्यता प्राप्त मूल्यों का विरोध करते हैं)।

कोहेन के उपरोक्त सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्याकन अपराधी उप-सस्कृति के सिद्धान्त और अपराध के सिद्धान्त दोनों रूपों में किया गया है। साइक्स एव मेट्ज़ा (Sykes

and Matza), मर्टन, रीस एव रोड्स (Reiss and Rhodes), कोब्रिन एव फाइनस्टोन, क्लिट्सयूज़ एव डेट्रिक, और विलेन्सकी एव लेबो (Wilensky and Labeaux) ने उसके शोध-प्रबन्ध के प्रस्तावों एव आशयों (implications) का विरोध किया है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध प्रमुख आलोचनाए हैं. (1) एक गिरोह का सदस्य मध्यम वर्ग के मूल्यों और मानदण्डों को अस्वीकार नहीं करता, परन्तु अपने अपराधी व्यवहार को तार्किक बनाने के लिये निष्प्रभाव (neutralise) करने की तकनीकें अपनाता है (साइक्स एव मेट्ज़ा, 1957), (2) यदि कोहेन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो निम्न-वर्ग के लडकों में अपराध की दर उन क्षेत्रों में अधिक ऊंची होनी चाहिये जहाँ उन्हें मध्यम वर्ग के लडकों के साथ सीधी प्रतिस्पर्धा करनी पडती है और यह दर उन क्षेत्रों में सबसे कम होनी चाहिये जहा निम्नवर्ग व्यापक है। परन्तु रीस एव रोड्स (1961) ने पाया कि जितने निम्न वर्ग के लडके स्कूल मे और उनके आवासीय क्षेत्रों में कम थे, उतनी ही उनके अपराधी बनने की सभावनायें कम थी, (3) क्लिट्सयूज़ एव डेट्रिक ने कोहेन के इस कथन को चुनौती दी है कि श्रमिक-वर्ग का लडका अपने को मध्यम वर्ग के प्रतिमानों से आकता है, (4) उसका अपराधी उप-सस्कृति को अनुपयोगी (non-utilitarian), विद्वेषपूर्ण और नकारात्मक बताना गलत है। मध्यम वर्ग की व्यवस्था के प्रति श्रमिक-वर्ग के लड़के की द्वैधवृत्ति (ambivalence) को जो कोहेन ने 'प्रतिक्रिया गठन' की अवधारणा बताया है, वह सही नहीं है; (5) उसके सिद्धान्त का जो पद्धतिशास्त्र का आधार (methodological basis) है, वह ऐसा है कि उसके इस सिद्धान्त का परीक्षण नहीं हो सकता; और (6) इस सिद्धान्त में उप-सस्कृति के आविर्भाव (emergence) और उसके 'अनुरक्षण' (maintenance) में जो संबध बताया गया है, वह अस्पष्ट है।

हावर्ड बेकर का लेबलिंग (labelling) का सिद्धान्त (Howard Becker's Labelling Theory)

बेकर ने 1963 में अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इसके पहले फ्रैन्क टेनिनबॉम (1938), एडविन लेमर्ट (1951), जान क्लिट्सयूज (1962) और के एरिकसन ने भी एक उपागम का उपयोग किया था और उसे 'सामाजिक प्रतिक्रिया उपागम' (Social Reaction Approach) या 'सामाजिक अन्त.क्रिया उपागम' (Social Interaction Approach) कहा था। यह मर्टन द्वारा उपयोग किये गये 'संरचनात्मक उपागम' या कोहेन एव क्लोवार्ड एव ओहलिन द्वारा उपयोग किये गये 'सांस्कृतिक उपागम' से भिन्न था। यह सिद्धान्त इस प्रश्न पर विचार नहीं करता कि एक व्यक्ति अपराधी क्यों बनता है, परन्तु यह बतलाता है कि समाज कुछ व्यक्तियों को अपराधी अथवा विचलित व्यक्ति कह कर क्यों वर्गीकरण करता है। कुछ व्यक्ति बहुत अधिक शराब पीते हैं और शराबी कहलाये जाते हैं जब कि अन्य नहीं; कुछ व्यक्ति विचित्र व्यवहार करते हैं और उन्हें अस्पताल में भर्ती कर दिया जाता है, जब कि कुछ और को नहीं। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार विचलन के अध्ययन में जो महत्वपूर्ण है वह सामाजिक दर्शकगण (audience) हैं न कि व्यक्ति। बेकर ने यह भी कहा कि अपराध में जो

महत्वपूर्ण है वह एक व्यक्ति का कार्य (act) नही, अपितु समाज की नियमों और अनुसमर्थनों (sanctions) के अनुसार प्रतिक्रिया है। काई एरिक्सन (Kai Erikson) ने भी कहा है कि एक अपराधी एक गैर-अपराधी से उस विशेषता के कारण भिन्न नही होता जो उसमें पायी जाती है परन्तु उस विशेषता के कारण होता है जो अन्य व्यक्ति उसको देते (assign) हैं। बेकर के अनुसार (1963 9) विचलन एक आदमी के द्वारा कार्य करने की गुणवत्ता (quality of the act) नहीं है, अपितु वह 'अपराधी' पर अन्य व्यक्तियों द्वारा नियमों और अनुसमर्थनों को लागू करने का परिणाम है। विचलित व्यक्ति वह है जिस पर सफलतापूर्वक वह 'चिन्ह' (label) लगा दिया गया है। विचलित व्यवहार वह है जिसे लोग ऐसा मानते हैं। यूनाइटेड स्टेट्स में एक प्रयोग किया गया था (रीड, 1970 232) जिसमें आठ सन्तुलित और स्वस्थ व्यक्ति जो भिन्न भिन्न पृष्ठभूमि से थे, देश के विभिन्न भागों के बारह अस्पतालों के मनोविकार (psychiatric) वार्डों में मानसिक रोग का बहाना बना कर भर्ती हो गये। उन सभी ने अपने जीवन की परिस्थितियों का एक जैसा ही वर्णन दिया। एक के अतिरिक्त सभी को खंडित मनस्कता (schizophrenia) का रोगी माना गया। एक बार जब उन्हें पागल घोषित कर दिया गया तो वहा के कर्मचारियो ने उन्हें पागल मान कर उनके साथ व्यवहार करना शुरू कर दिया। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि अन्य व्यक्तियों की प्रतिक्रिया ही एक व्यक्ति को एक विशेष रूप से वर्गीकृत करती है। अपराधियों के प्रकरण में समाज ही कुछ लोगों को अपराधी घोषित करता है, जब कि दूसरों को नही। यदि एक निम्न वर्ग का लडका कार की चोरी करता है तो उसे 'चोर' कह कर वर्गीकृत किया जाता है, परन्तु यदि उच्च वर्ग का लडका ऐसा करता है तो उसे 'शरारती विलास-प्रिय व्यक्ति' (pleasure-seeker) कहा जाता है।

एक दूसरे प्रयोग में जो अमरिका में 1962 में रिचर्ड सवार्टज (Richard Schwartz) और जिरोम सोलनिक (Jerome Skolnick) द्वारा किया गया, एक व्यक्ति का जिसका अपराधी इतिहास था, चार विभिन्न विवरणों के साथ सौ सम्भावित नियोक्ताओं (potential employers) से मिलवाया गया। ये चार विवरण थे उसे अपराधी पाया गया था और उसे सजा हो गई थी, उसे अपराधी नहीं पाया गया था और वह छोड दिया गया था, उसे अपराधी पाया गया था, परन्तु उसे छोड दिया गया था, वह अपराधी नही था परन्तु उसे सजा हो गई थी। यह पाया गया कि नियोक्ता एक ऐसे व्यक्ति को नौकरी देने को तैयार नही थे जिसका अपराधी इतिहास रहा था। इस प्रकार लेबलिंग के सिद्धान्त ने केन्द्र बिन्दु (focus) को उन पर स्थानान्तरित कर दिया जो लेबल लगाते हैं, यानि कि नियम बनाने वालों और नियम लागू करने वालों की प्रक्रिया पर।

बेकर के अनुसार लेबल लगाया जाता है या नहीं, इन तथ्यों पर निर्भर करता है (1) वह समय जब क्रिया की जाती है, (2) क्रिया कौन करता है और शिकार कौन होता है, और (3) क्रिया के परिणाम। इस प्रकार कोई क्रिया विचलन है अथवा नही अशत क्रिया की प्रकृति पर निर्भर करता है और अशत इस बात पर कि अन्य व्यक्ति उसके बारे में क्या सोचते हैं। बेकर ने सुझाव

दिया कि नियम तोड़ने वाले व्यवहार और विचलन में भेद किया जाना चाहिये। विचलन ऐसा गुण नहीं है जो स्वयं व्यवहार में पाया जाता है, परन्तु वह उस अन्त क्रिया में होता है जो उस व्यक्ति के जो काम करता है और उनके जो प्रतिक्रिया दिखलाते हैं के बीच होती है। बेकर ने यह भी सुझाव दिया है कि कुछ विशेष प्रकारों के समूहों के लेबलिंग की संभावना अन्यों की अपेक्षाकृत अधिक होती है, उदाहरणार्थ, वे समूह जिनके पास राजनैतिक शक्ति नहीं होती और इसलिये वे अधिकारियों पर कानून लागू नहीं करने के लिये दबाव नहीं डाल पाते, या वे समूह जो सत्ता में होने वाले व्यक्तियों को डरा-धमका सकते हैं, और वे समूह जिनका सामाजिक स्तर नीचा होता है।

उस व्यक्ति पर जिसे लेबल किया जाता है, क्या प्रभाव पड़ते हैं? विचाराधीन व्यवहार पर सरकारी अधिकारिक प्रतिक्रिया ऐसी प्रक्रियाओं को जन्म दे सकती है जिनमें कि 'अपराधी' व्यक्ति और अधिक अपराधिक व्यवहार में लिप्त हो जाये, और इसके अतिरिक्त जो कम से कम उनके लिये परम्परागत समाज में पुन: प्रवेश करने को और अधिक कठिन बना दें। दूसरी ओर यदि एक व्यक्ति को अपने अपराधिक कार्यों के लिये कोई सरकारी दण्ड नहीं मिलता तो वह उन्हें करना जारी रख सकता है और इस काल में उसे अपने व्यवहार को बदलने के लिये कोई सहायता नहीं मिलती (वीलर और केट्रिल, 1966 22-27)।

लेबलिंग-सिद्धान्त के विरुद्ध यह आलोचना है कि वह तर्क तो अच्छा देता है परन्तु अपराध का कारण नहीं बतलाता। वह कारण के प्रश्न की पूर्णरूप से अनदेखी करता है। जैक गिब्स (Jack Gibbs, 1982.219) ने चार प्रश्न उठाये हैं- इस कथन में कौन से तत्व वास्तविक सिद्धान्त न होकर केवल परिभाषाएं मानी गई हैं? क्या मूल उद्देश्य विचलित व्यवहार को समझाना है या विचलन पर प्रतिक्रियाओं को समझाना है? क्या विचलित व्यवहार को केवल उस पर होने वाली प्रतिक्रिया द्वारा ही पहचाना जाये? तथ्यत, किस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यवहार को विचलन के रूप में पहचानती है?

वाल्टर रेकलेस का आत्मधारणा और परिरोधन नीति का सिद्धान्त (Walter Reckless's Theory of Self-Concept and Containment)

वाल्टर रेकलेस (1967:522) ने कहा है कि अपराधी व्यवहार को समझाने के लिये जिस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देना है वह यह है, कि जब व्यवहार के विधि-पालक (law-abiding) और विधि-भजक (law-violating) दो विकल्प हैं, तो क्यों कुछ लोग एक व्यवहार अपनाते हैं और दूसरे दूसरा व्यवहार। वह कहता है कि व्यवहार के विकल्पों में एक व्यक्ति विशेष किस को चुनता है, इसे समझाने के लिये मुख्य कारक 'आत्मधारणा' है। अनुकूल आत्मधारणा एक व्यक्ति को विधि-पालक व्यवहार की ओर ले जाती है और प्रतिकूल आत्मधारणा उसे अपराधिक व्यवहार की ओर। रेकलेस ने इसमें आगे कहा है कि नियन्त्रण के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं. आन्तरिक नियंत्रण एवं बाहरी नियन्त्रण और इन नियन्त्रण पद्धतियों के शेष पर यह निर्भर होता है कि एक व्यक्ति विचलित अथवा अनुरूपित (conformist) मार्ग पर चलेगा।

उसकी मान्यता है कि दृढ आन्तरिक परिरोधन नीति और सुदृढ करने वाले बाहरी नियन्त्रण से मानकीय विचलन (normative deviancy) के विरुद्ध अलगाव हो जाता है, अर्थात् सामाजिक-विधि सम्मत व्यवहार के प्रतिमानों का उल्लघन।

1955 में रेकलेस और डिनिट्ज (Dinitz) ने गोरे 'अच्छे' (good) लडकों का अध्ययन किया (जिनके बारे में उनके अध्यापक सोचते थे कि वे कोई गैर कानूनी कार्य नही करेंगे)। वे छठी कक्षा के थे और उनकी आयु 12 वर्ष की थी और उनका चयन ऐसे क्षेत्रों से किया गया था जहा बहुत अपराध होता था। जिस अनुसूचि (schedule) द्वारा लडकों के घरों से तथ्य एकत्रित किये गये उसमें 50 बातें थी, जिनकी रूपरेखा 'आत्मधारणा' को आकने के लिये बनाई गई थी। इसी प्रकार 1956 में उन्होंने 101 'खराब' लडकों का साक्षात्कार किया (जिनके बारे में उनके अध्यापक सोचते थे कि वे अपराधी बनेंगे) और उनकी आत्मधारणा का अध्ययन किया। इस अध्ययन के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि अच्छी आत्मधारणा अनुकूल समाजीकरण और 'प्रबल आन्तरिक स्व' का प्रमाण होती है जो एक व्यक्ति को मध्यम वर्ग के मूल्यों की ओर ले जाती है। 'प्रबल आन्तरिक स्व' में आत्मसयम, सुविकसित पराहम्, कुण्ठा सहने की प्रबल शक्ति, विचलनों का प्रतिरोध, वैकल्पिक सतोषों को खोज लेने की क्षमता, और तनाव कम करने वाले तार्किकीकरण आते हैं। बुरी आत्मधारणा प्रतिकूल समाजीकरण और 'निर्बल आन्तरिक दिशा' को बताती है जो क्रमश लडके को बुरे साथियों और नुक्कड के समाज को छोडने नही देती, उसको मध्यम वर्ग के मूल्यों को अपनाने नही देती और उसको इस बात की जानकारी देती है कि वैध अवसर की व्यवस्था की ऊर्ध्वगामी गति से वह कट चुका है।

इस सिद्धान्त के मूल्याकन से प्रकट हुआ कि यद्यपि समाजशास्त्रियों द्वारा विचलित व्यवहार के क्षेत्र में केवल यही अनुसधान है जो व्यक्तित्व और स्व (self) के चरों (variables) को उपयोग करता है, फिर भी आत्मधारणा के माप का विरोध किया गया है और नियन्त्रण समूहों के अभाव का भी उल्लेख किया गया है। प्रतिदर्शों पर भी आपत्ति की गई है। क्या 'अच्छे' लडकों का चयन उनके स्कूलो के कार्यों से सबधित था ? उन लडको के बारे में क्या कहा जा सकता है जिनकी 'खराब' आत्मधारणाए थी, परन्तु जो अपराधी नही हुये ?

अपराधियो का कारावास और सुधार (Confinement and Correction of Criminals)

हमारे समाज में अपराधियों को दडित/उपचार करने के लिये प्रमुख रूप से दो तरीकों का उपयोग किया जाता है कारावास और परिवीक्षा पर मुक्ति (release on probation), यद्यपि कुछ भयकर अपराधियों को फासी की सजा भी दी जाती है और कुछ छोटे अपराधियों पर जुर्माने भी किये जाते हैं।

कारागृह (Prisons)

भारतीय कारागृहों में 1919-20 तक स्थितिया भयावह थी। 1919-20 की भारतीय जेल

सुधार कमेटी के सुझावों के पश्चात ही अधिकतम सुरक्षा कारागृहों (जैसे केन्द्रीय जेल, जिला जेल और उप-जेल) में परिवर्तन किये गये। इन परिवर्तनों में सम्मिलित थे वर्गीकरण, कैदियों का पृथक्करण, शिक्षा, मनोरंजन, उत्पादन कार्य का देना, और परिवार और समाज से सम्पर्क रखने के अवसर। बाद में तीन राज्यों में तीन मध्यम-सुरक्षा कारागृह या आदर्श (model) कारागृह भी स्थापित किये गये जिनमे पचायत राज, स्व-सचालित केन्टीन और मजदूरी पद्धति पर बल दिया गया, परन्तु अन्तत इन कारागृहों को केन्द्रीय कारागृहों में परिवर्तित कर दिया गया। न्यूनतम-सुरक्षा कारागृह या खुले कारागृह (open jails) 1952 में उत्तर प्रदेश में शुरु किये गये और तब से 1994 के मध्य तक 18 (25 में से) राज्यों में 31 खुले जेल स्थापित किये जा चुके हैं। कैदियों को खुले जेल में प्रवेश के पहले कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं, जैसे कैदियों को कारावास की एक तिहाई अवधि साधारण जेल में काटनी पड़ती है, अच्छे व्यवहार का लेखा प्रस्तुत करना पड़ता है, शारीरिक एव मानसिक स्वस्थता रखनी होती है और 20 और 50 वर्ष के आयु-समूह में होना पड़ता है। खुले कारागृहो की क्षमता 100 और 3000 के बीच घटती बढ़ती है। सबसे अधिक क्षमता (3,000) उत्तरप्रदेश में नैनीताल जिले के सितारगज कैम्प मे है और सबसे कम (सौ से कम) तमिलनाडु, असम, मध्यप्रदेश और गुजरात के खुले कारागृहों में है। कुछ खुले कारागृह केवल कृषि में ही प्रशिक्षण देते हैं और कुछ कृषि और उद्योग दोनों में। एक कैदी को खुले जेल में रहने की अवधि सामान्यत दो से तीन वर्ष की होती है।

अधिकतम सुरक्षा कारागृहों के सबंध में, भारत में इस प्रकार के लगभग 1200 कारागृह हैं जिनमें 6.0 प्रतिशत केन्द्रीय कारागृह हैं, 18 प्रतिशत जिला कारागृह हैं, 75 प्रतिशत उप-कारागृह हैं और 1.0 प्रतिशत विशेष कारागृह हैं। 24.0 लाख अपराधियों में से जो विभिन्न प्रकार के 14.5 लाख अपराधों के लिये प्रति वर्ष गिरफ्तार किये जाते हैं, लगभग 5.0 लाख को प्रतिवर्ष कारागृहों में भेजा जाता है। भारत में कारागृहों की औसत प्रतिदिन जनसख्या लगभग 1.5 लाख है जिनमें से 60.0 प्रतिशत पर मुकदमा चल रहा होता है (under-trials), और 40.0 प्रतिशत कैदी सजायाफ्ता (convicted) होते हैं। भारतीय कारागृहों में कुल कैदियों में से लगभग 1.0 प्रतिशत 16 वर्ष से कम आयु के हैं, 17.0 प्रतिशत 16 और 21 वर्ष के बीच, 40.0 प्रतिशत 21 और 30 वर्ष के बीच, 28.0 प्रतिशत 30 और 40 वर्ष के बीच, 12.0 प्रतिशत 40 और 60 वर्ष के बीच, और 2.0 प्रतिशत 60 वर्ष से अधिक आयु के हैं। लगभग 45.0 प्रतिशत कैदियों की कृषि पृष्ठभूमि होती है, 33.0 प्रतिशत पढे लिखे होते हैं, और 85.0 प्रतिशत को छह महिने से कम की कैद होती है एव 10.0 प्रतिशत को छह महिने और दो वर्ष के बीच की।

कारागृह समान पोशाक पहनने वालों का ससार है जहा के प्रत्येक निवासी पर कलंक लगा होता है और उसे अपरिचित साथियों के साथ निर्धारित कार्यों को नियत समय में करना पड़ता है। उसके निवासियों को आजादी, सुविधाओं, भावात्मक सुरक्षा और विपमलिगीय सबधों से वचित किया जाता है। इन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं का सामना करने के लिये वहा के निवासी 'कैदी व्यवस्था' (inmate system) को 'कैदी संहिता' (inmate code)

का पालन करते हैं, जो कि कारागृह पद्धति की औपचारिक संहिता के बिल्कुल विपरीत होती है। कैदी संहिता/प्रतिमानों के कुछ उदाहरण हैं परिश्रम मत करो, अधिकारियों के साथ सहयोग मत करो, दूसरे कैदियों से झगडा/ग्रहस मत करो, गुप्त बातों को अधिकारियों को मत बतलाओ, सदैव खाने, कपडे, काम आदि के प्रति असतोष व्यक्त करते रहो, इत्यादि। डोनेल्ड क्लेमर ने इन मूल्यों और प्रतिमानों के आन्तरीकरण (internalization) को 'बन्दीकरण' (prisonization) की प्रक्रिया कहा है। उसका दावा है कि प्रत्येक कैदी का बन्दीकरण हो जाता है, बन्दीकरण कई चरणों में होता है, और बन्दीकरण की मात्रा निम्न, मध्यम, एव ऊची हो सकती है, *बन्दीकरण आयु, कैद की अवधि, अपराध की प्रकृति, बाहरी दुनिया से सबध*, कोठरी-निवासियों (cell-inmates) और कार्य-साथियों (work-colleagues) जैसे कारकों पर और जेल में बिताई कालावधि पर निर्भर होता है। 'बन्दीकृत' (prisonized) कैदी को 'अबन्दीकृत' (deprisonized) एव 'पुनबन्दीकृत' (reprisonized) बनाया जा सकता है। राजस्थान में तीन केन्द्रीय कारागृहों में 1967-68 में 252 कैदियों के आनुभाविक अध्ययन के आधार पर कारागृह पद्धति के प्रभाव और प्रभावीपन के अध्ययन के दौरान *(आहूजा, 1981)* मैंने ने *यह पाया कि यद्यपि बन्दीकरण की प्रक्रिया भारतीय जेलों में भी पाई* जाती है परन्तु क्लेमर के दावे के विपरीत प्रत्येक कैदी 'बन्दीकृत' नही होता। कैदी प्रतिमानों और जेल प्रतिमानों के प्रति अनुरूपता (conformity) का अध्ययन मैंने तीन कारकों के आधार पर किया। ये तीन आधार थे कैदियों/अधिकारियों से सम्पर्क, जेल/कैदी प्रतिमानों से एकात्मीकरण, और कैदियों/अधिकारियों के प्रति निष्ठा। अध्ययन में पाया गया कि 24.0 प्रतिशत कैदी अनुपालक (conformist) थे (जिन्होंने जेल प्रतिमानों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था, जो कर्मचारियों के प्रति निष्ठावान थे और जिनके कारागृह कर्मचारियों से बड़े अच्छे सम्पर्क थे), 42.0 प्रतिशत अ अनुयायी (non-conformists) थे (जिन्होंने कैदी प्रतिमानों के साथ तादात्मय स्थापित कर लिया था, जो कैदियों के प्रति निष्ठावान थे, और जिनके कारागृह कर्मचारियों से अच्छे सम्पर्क नही थे), 27.0 प्रतिशत आशिक रूप से अनुयायी थे और 7.0 प्रतिशत पृथक्त्ववादी (isolationists) थे। इसके अतिरिक्त 15 प्रश्नों के उत्तरों को अक देकर कैदी/कारागृह प्रतिमानों के समाविशन के विश्लेषण से यह मालूम हुआ कि 48.0 प्रतिशत कैदी कैदी-प्रतिमानों से समनुरुपण (conform) करते थे, 45.0 प्रतिशत जेल प्रतिमानों से, और 7.0 प्रतिशत तटस्थ थे। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि कैदी प्रतिमानों से समनुरुपण की दर लगभग उतनी ही थी जितनी जेल प्रतिमानों से समनुरुपण की, और कैदियों में अधिकाश की जेल/कैदी प्रतिमानों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने में अस्पष्ट स्थिति रहती है। यह भी पाया गया कि 'बन्दीकरण' का आयु, अपराध की प्रकृति, कैद की अवधि और कारावास के पहलु (phase) से सबध नही होता जैसा कि क्लेमर ने कहा था। फिर भी उसका सबध उन कैदियों के प्रकार से होता है जिनके साथ कैदी रहता/काम करता है। इस प्रकार क्लेमर के मॉडल को अस्वीकार करके मैंने एक नया मॉडल बनाया जिसे मैंने "आत्मछवि

मॉडल" (Self Image Model) कहा, जिससे कारागृह में निवासियों के समायोजन की प्रक्रिया को समझाया गया। यह मॉडल चार तत्वों पर आधारित है आत्मछवि, मूल्य अनुरुपता, वास्तविक अनुरुपता, और कैदियों की प्रतिष्ठा।

इस मॉडल द्वारा तीन कारागृहों में किये गये अध्ययन के आधार पर यह कहा गया है कि कारागृह के निवासियों के सबध में उन्हें कारावास के द्वारा दण्डित करने एव उनका उपचार करने हेतु एक उदार और कठोर सतुलित नीति को अपनाना चाहिये। जेल व्यवस्था को अधिक प्रभावी बनाने के लिये और अपराधियों को सुधारने के लिये जिन अन्य उपायों की आवश्यकता है वे हैं:विचाराधीन कैदियों को सजायाफ्ता कैदियों के साथ एक ही जेल में नही रखना चाहिये, कैदियों को उनकी फाइलें प्राप्त करानी चाहिये, कैदियों को बैरक निर्धारण/काम देने से पहले उनका उपयुक्त निदान (diagnosis) होना चाहिये, कैदियों को अपनी इच्छा के अनुसार काम चुनने की स्वतत्रता देनी चाहिये, पैरोल पर रिहा करने को अधिक सरल एव प्रभावी बनाना चाहिये, निजी उद्योगों को कारागृहों में आने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये, कैदियों को अपनी शिकायतें व्यक्त करने के लिये प्रभावी माध्यम उपलब्ध कराये जाने चाहिये, अनिश्चित (indefinite) सजा की प्रणाली लागू करनी चाहिये, अपराधियों को अल्प काल (छह माह से कम) के लिये कारागृह भेजने को हतोत्साह करना चाहिये। आजकल हमारे कैदियों में से 85 प्रतिशत अल्पकालिक (short-termers) हैं, राज्य स्तर पर एक जेल उद्योग ब्यूरो स्थापित करना चाहिये, और कैदियों को सलाहकार समितियों के माध्यम से जेलों के प्रबन्ध से सम्बद्ध करना चाहिये (यह प्रणाली कारागृहों में पचायत राज पद्धति से भिन्न होगी)। यह जानते हुए कि कारागृह की स्थितियों की कठोरता और अपराध के किये जाने में कोई संबंध नहीं है, हम क्यों न इस प्रकार के कार्यक्रमों को बनाने का प्रयास करें, जो कैदियों को एक नया जीवन प्रारम्भ करने के लिये प्रोत्साहित करें? आज हमें आवश्यकता है कारागृहों के विकल्प की।

परिवीक्षा (Probation)

परिवीक्षा कारागृह का एक विकल्प है। उसका आशय है अदालत द्वारा अपराधी की सजा को स्थगित करना और कुछ शर्तों पर उसे रिहा करना, जिससे वह समाज में परिवीक्षा अधिकारी की देख-रेख में या उसके बिना समाज में रह सके। यह प्रणाली भारत में 1958 में केन्द्रीय परिवीक्षा अधिनियम (Central Probation Act) बना कर लागू की गई थी। यद्यपि 1898 के सी.आर.पी.सी की 562 धारा अपराधी को परिवीक्षा पर छोडने की अनुमति देती थी किन्तु वह बाल-अपराधियों एव प्रथम अपराधियों (first offenders) पर ही लागू होता था। उसमें निरीक्षण (supervision) का कोई प्रावधान नही था और केवल प्रथम श्रेणी दण्डनायक ही परिवीक्षा प्रदान करने के लिये सक्षम थे। ब्रिटिश सरकार ने 1934 में राज्यों को परिवीक्षा पर रिहा करने के लिये स्वय के कानून बनाने की अनुमति दी। मद्रास और मध्यप्रदेश ने 1936 में ऐसा अधिनियम बनाया, बबई और उत्तरप्रदेश ने 1938 में, हैदराबाद ने 1953 में, और पश्चिम बंगाल ने 1954 में। परन्तु ये सभी अधिनियम बाल-अपराधियों को ही परिवीक्षा पर रिहाई के

लिए थे। 1958 को अधिनियम सभी अपराधियों पर लागू होता है। यह कानून तीन वर्ष की अधिकतम अवधि के लिये परिवीक्षा पर रिहाई की अनुमति देता है और उसमें अवधि को रद्द करने का भी प्रावधान है। कुछ राज्यों ने (जैसे राजस्थान, उत्तरप्रदेश, असम, और हिमाचल प्रदेश) परिवीक्षा को समाज कल्याण से जोड दिया है और अन्य ने (जैसे बिहार, बगाल, पजाब, आध्रप्रदेश, तमिलनाडु और केरल) जेल विभाग से। मध्यप्रदश ने उसे विधि विभाग से जोडा है, तो कर्नाटक में इसका अलग निदेशालय है। परिवीक्षा अधिकारी को दो कार्य सौंपे गये हैं सामाजिक छान-बीन/अन्वेषण और परिवीक्षार्थी का निरीक्षण। पूरे भारत में लगभग 500 परिवीक्षा अधिकारी हैं। औसतन, एक पर्यवेक्षण अधिकारी एक वर्ष में 10 प्रकरणों का अन्वेषण करता है और चार प्रकरणों का निरीक्षण।

परिवीक्षा प्रणाली में कारागृह प्रणाली की अपेक्षाकृत कुछ लाभ हैं। ये हैं परिवीक्षा पर रिहा किये गये अपराधी पर कोई कलक नही लगता, परिवीक्षार्थी का आर्थिक जीवन भग नही होता, उसके परिवार को कष्ट नही भोगना पडता, अपराधी कुण्ठित नही होता और आर्थिक रूप से यह कम महगी है। इसमें कमियाँ ये हैं कि अपराधी उसी पर्यावरण में रहता है जहाँ उसने अपराध किया था, दण्ड का कोई डर नही होता, और परिवीक्षार्थियों पर कोई व्यक्तिगत ध्यान नही दिया जाता। परन्तु ये आलोचनाए तर्कसगत नही हैं। इसके अतिरिक्त परिवीक्षा को नये उपायों से अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है। नये उपाय ये हो सकते हैं परिवीक्षा की अवधारणा को बदलना और उसको सजा का स्थगन मानने के स्थान पर सजा का विकल्प मानना (इससे परिवीक्षार्थी को प्रारभिक अपराध, जो स्थगित कर दिया गया था, के लिये कैदी नही बनाया जायेगा, परन्तु उसे शर्तों के उल्लघन के लिये दण्डित किया जायेगा), उन सब प्रकरणों में जिनमें अपराधियों को परिवीक्षा पर छोड दिया जाता है, उनके सामाजिक अन्वेषण को अनिवार्य करना, सभी परिवीक्षार्थियों के लिये निरीक्षण को अनिवार्य नही करना, रिहाई की शर्तों को लचीला बनाना, अनिश्चित सजा प्रणाली को लागू करना, और परिवीक्षा सेवाओं को किसी अन्य विभाग से न जोड कर राज्य स्तर पर उनका एक अलग निदेशालय स्थापित करना।

सुधार की समस्या को सक्षिप्त करते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपराधशास्त्रियों की रुचि सदैव दो बातों में ही रही है प्रथम, सुधार व्यवस्था को अधिक कुशल बनाने के लिए प्रबधकीय रुचि (managerial interest) और, द्वितीय, व्यवस्था को सुधारने के लिए मानवतावादी रुचि। ये दोनों रुचिया प्राय असगत मानी जाती हैं, परन्तु 'सुधार आचार-शास्त्र' (rehabilitative ethics) के सदर्भ में यदि इनको देखा जाये तो हो सकता है कि ऐसा न लगे। उपचार अधिक कुशल होने के साथ साथ अधिक मानवतावादी भी हो सकता है।

REFERENCES

1. Abrahamsen, David, *Who are the Guilty*, Holt, Rinehart and Winston, 1952.
2 Ahuja, Ram, *The Prison System*, Sahitya Bhawan, Agra, 1981.
3 – – –, "A Prisoner is a Human-being", *Times Weekly*, Times of India, Bombay, May 27, 1973
4. Aichhorn, August, *Wayward Youth*, Meridian Books, New York, 1985
5. Beccaria, Cesare, *On Crimes and Punishments*, translated by Henry Paolucci, Bobbs-Merrill, Indianapolis, 1963
6 Becker Howard, (ed), *Social Problems: A Modern Approach*, John Wiley and Sons, Inc., New York, 1966
7 Bonger, W A , *Criminality and Economic Conditions*, translated by Henry P Horton, Little, Brown and Co , Boston, 1916.
8. Bloch, Horbert A.. *Man, Crime and Society*, Random House, New York, 1956
9 Bonger, William A , *Criminality and Economic Conditions*, translated by Henry P Horton, Little, Brown and Co., Boston, 1916.
10 Brombery, Walter & Thompson, Charles B., "The Relation of Psychosis, Mental Defect and Personality Types to Crime", *Journal of Criminal Law and Criminology*, May-June, 1937.
11 Burt Cyril, *Young Delinquent*, University of London Press, London, 1944.
12. Caldwell, Robert G., *Criminology*, University of Pennsylvania Press, Philadelphia, 1956
13. Christian Sen K.O., in Reuck and Porten (eds.), *The Mentally Abnormal Offender*, Little Brown & Co., Boston, 1968.
14. Clemmer, Donald, *The Prison Community*, Christopher Publishing House, Boston, 1940.
15. Clinard, Marshall, B., *Sociology of Deviant Behaviour*, Holt, Rinehart and Winston, Inc., New York, 1957.
16 Cloward Richard & Ohlin Lloyd, *Delinquency and Opportunity: A Theory of Delinquent Gangs*, The Fress Press, Glencoe, Illionois, 1960
17. Cohen, Albert K., *Delinquent Boys: The Culture of the Gang*, The Free Press, New York, 1955
18. – – –, *Deviance and Control*, Prentice-Hall, Inc. Englewood Cliffs, New Jersey, 1966.

19 Dexter, Edwin Grant, *Weather Influences*, Macmillan Co , New York, 1904
20 Dunham, Warren, *American Sociological Review*, June, 1939
21 Elliot, Mabel, *Crime in Modern Society*, Harper & Bros , New York, 1952.
22 Fitzgerald, Mike, *Crime and Society*, Harmondsworth, 1975
23 Gibbs, Jack P, "Conceptions of Deviant Behaviour The Old and the New", in Voss, *Society, Delinquency and Delinquent Behaviour*
24 Gibbons, Don, *Society, Crime and Criminal Careers*, (3rd ed), Prentice Hall, New Jersey, 1977
25 Giallombardo, Rose, *Juvenile Delinquency*, John Wiley & Sons, New York, 1966
26. Glaser Daniel, *American Journal of Sociology*, March, 1956
27. Goddard, Henry M , *Feeblemindedness Its Causes and Consequences*, Macmillan, New York, 1914
28. Goring Charles, *The English Convict A Statistical Study*, His Majesty's Stationery Office, London, 1919
29. Hall Jerome, *General Principles of Criminal Law*, Indian Polis , 1947
30. Healy William, *Delinquents and Criminals*, Macmillan, New York, 1926
31 Hooton, Earnest A , *The American Criminal Anthropological Study*, Harvard University Press, Cambridge Mass, 1939
32 Hooton, Earnest, A , *Crime and the Man*, Harvard University Press, Cambridge, 1939
33 Johnson, Elmer H , *Crime, Correction and Society*, (4th ed), The Dorsey Press, Homewood, Illinois, 1978
34 Lombroso, Cesare, *Crime, Its Causes and Remedies*, translated by H P. Horton, Little Brown, Boston, 1911.
35 Kituse John I and Dietrick David C , "Delinquent Boys A Critique" in Giallombardo, Rose, *Juvenile Delinquency*, John Wiley and Sons, New York, 1966
36 Lange, Johannes, *Crime as Destiny* (translated), George Allen & Unwin, London, 1931.
37 Lombroso, Cesare. *Crime Its Causes and Remedies*, translated by Horton, H P, Little Brown, Boston, 1911
38 Merton, *Social Theory and Social Structure*, The Free Press, New York, 1968
39. Mowrer Ernest, R., *Disorganisation Social and Personal*, 1959

40 Reckless, W. and Dinntz Simon, "Pioneering with Self-Concept as a Vulnerability Factor in Delinquency", *Journal of Criminal Law, Criminology & Police Science*, December, 1967
41 Reid, Sue Titus, *Crime and Criminology*, The Drydon Press, Hinsdale, Illinois, 1976
42 Rosenthal, D , *Genetic Theory and Abnormal Behaviour*, McGraw Hill, New York, 1970.
43 Ruttonsha, G.N *Juvenile Delinquency and Destitution in Poona*, Deccan College, Poona, 1947
44 Schafer Stephen, *Theories in Criminology*, Random House, New York, 1969
45 Schilder Paul, *Journal of Criminal Psychopathology*, October, 1940
46 Scharg Clarence, "Delinquency and Opportunity: Analysis of a Theory" in VOS, *Society, Delinquency and Delinquent Behaviour*, 1972
47 Sellin Thorsten, "A Sociological Approach" in Wolfgang Marvin E. et al (eds), *The Sociology of Crime and Delinquency*, (3rd ed.), Wiley Eastern Co , New York, 1970
48 Sheldon, William H. et al., *Varieties of Human Physique*, Harper and Row Publishers, New York, 1940.
49 Sutherland, Edwin H., "Mental Deficiency and Crime" in Kimball Young, (ed.), *Social Attitudes*, Holt, Rinshart & Winston, New York, 1931
50 Sutherland, E.H. & Cressay, D.R., *Principle of Criminology*, (6th ed.), The Times of India Press, Bombay, 1965.
51. Sykes and Matza, *American Sociological Review*, December, 1957.
52. Tappan Paul, *Crime, Justice and Correction*, McGraw Hill, New York, 1960.
53. Vold, George, B., *Theoretical Criminology*, Oxford University Press, New York, 1958.
54. Wheeler, Stanton & Cottrell Leonard S. Jr., *Juvenile Delinquency: Its Prevention and Control*, Russell Sage Foundation, New York, 1966.
55. Young, Jock, "New Directions in Subcultural Theory" in Joyn Rex, (ed.), *Contributions to Sociology*, Routledge & Kegan Paul, London, 1974.
56. Young Jock, *The Myths of Crime* in Paul Rock & Jock Young, (ed.), Routledge & Kegan Paul, London, 1975.
57. Young Jock et al., *Critical Criminology*, Routledge & Kegan Paul, London, 1975.

बाल-अपराध
Juvenile Delinquency

बाल-अपराध के बारे मे सामान्य व्यक्तियों और कुछ सामाजिक वैज्ञानिकों के विचार अपर्याप्त, दोषपूर्ण और भ्रामक हैं। कई कारणों में से एक यह है कि वे यह मानते हैं कि बाल अपराधी केवल अल्प-आयु के अपराधी हैं, अर्थात् वे गैर वयस्क अपराधी या बालक हैं, जो ऐसे दोषों में लिप्त होते हैं जिनको यदि वयस्क करते हैं तो अपराध समझा जाता है और जो देश के कानून द्वारा निर्धारित 7 और 16 या 18 वर्ष की आयु के हैं। 1986 के जूविनाइल जस्टिस एक्ट (Juvenile Justice Act) के अनुसार आज बाल-अपराधियों की अधिकतम आयु लडकों के लिये 16 वर्ष और लडकियों के लिये 18 वर्ष है, परन्तु इससे पहले चिल्ड्रन एक्ट्स (Children Acts) के अनुसार यह विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न थी। उत्तर प्रदेश, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, पजाब और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में यह 16 वर्ष थी, परन्तु बगाल और बिहार जैसे राज्यों मे यह 18 वर्ष थी। राजस्थान, असम और कर्नाटक जैसे राज्यों में यह लडकों के लिये 16 और लडकियो के लिये 18 वर्ष थी। फिर भी, आयु के अतिरिक्त अपराध की प्रकृति भी इतनी ही महत्वपूर्ण है।

युवा, जो भगोड़ापन/कर्मपलायन (truancy), आवारागर्दी, व्यभिचार, और बेलगामी (ungovernability) जैसे 'प्रस्थिति सम्बन्धी दोषों' (status offences) में लिप्त होते हैं, वे भी बाल अपराध की परिभाषा में आते हैं। न्यूमेयर, आइवन नाई और जेम्स शॉर्ट जूनियर, रिचर्ड जैन्किस और वाल्टर रेकलेस ने भी बाल-अपराध की अवधारणा में 'व्यवहार के प्रकार' पर बल दिया है। वाल्टर रेकलेस (1956) के अनुसार बाल-अपराध शब्द का प्रयोग दण्ड सहिता के उल्लघन एव/या ऐसे व्यवहार के सरूपों के अनुसरण (pursuit) के लिये किया जाता है, जो बच्चों और कम आयु के किशोरों के लिये अनुचित माने जाते हैं। इस प्रकार आयु एव व्यावहारिक उल्लघन जो कानून में वर्जित हैं, दोनों ही बाल अपराध की अवधारण मे महत्वपूर्ण हैं।

बाल अपराधी और वयस्क अपराधी में अन्तर एकल कार्य (case-work) उपागम की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। दोनों में अन्तर आचरण, न्यायालय द्वारा प्रयोग किये गये तरीकों, निर्णय के बाद व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा, यश और कानूनी अधिकारों से किया जाता है।

बाल अपराधियो का वर्गीकरण (Classification of Juvenile Delinquents)

बाल अपराधियों का वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न आधारों पर किया गया है।

उदाहरणार्थ, हर्श (1937) ने उन्हें किये हुए अपराधों के प्रकार के आधार पर छ समूहों में वर्गीकृत किया है (1) असाध्यता (incorrigibility) (उदाहरण के लिये, देर से घर आना, आज्ञाल्लधन) (2) भगोडापन (घर या स्कूल से), (3) चोरी (छोटी चोरी से लेकर सशस्त्र लूटमार तक), (4) सम्पति का ध्वस (जिसमें सार्वजनिक और निजी दोनों सम्पत्तिया सम्मिलित है), (5) हिंसा (शस्त्रों का प्रयोग समाज के विरुद्ध करके), और (6) यौन अपराध (समलैंगिक कामुकता से लेकर बलात्कार तक)।

ईटॉन और पोक (Eaton and Polk 1969) ने बाल अपराधियो का अपराध के प्रकार के अनुसार पाच समूहों में वर्गीकरण किया है। ये अपराध हैं (1) छोटे उल्लघन (जिनमें उपद्रवी आचरण और यातायान नियमो के छोटे उल्लघन सम्मिलित हैं) (2) यातायात नियमों के भारी उल्लंघन (जिनमें मोटरों की चोरिया सम्मिलित हैं), (3) सम्पत्ति के उल्लघन, (4) व्यसन (जिनमें शराबीपन और मादक पदार्थों की लत सम्मिलित है), और (5) शारीरिक चोट (जिसमें मानव हत्या और बलात्कार सम्मिलित हैं)।

रॉबर्ट ट्रोजेनोविज (Robert Trojanowicz, 1973 59) ने बाल अपराधियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है: आकस्मिक (accidental), असमाजीकृत (unsocialized), आक्रामक, अनियमित (occasional), पेशेवर, और सगठित गिरोह वाले।

मनोवैज्ञानिकों ने बाल अपराधियों का उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं या उनके व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक गतिकी (psychological dynamics) के आधार पर पाच समूहों में वर्गीकरण किया है मानसिक रूप से दोषपूर्ण (mentally defective), मानसिक रोग से पीडित (psychotic), नाड़ी रोग से पीडित (neurotic), परिस्थितजन्य (situational), और सास्कृतिक।

प्रकृति एव विस्तार (Nature and Incidence)

किशोरों द्वारा किये गये कुल अपराधों में से मुश्किल से 2.0% पुलिस और न्यायालयो के ध्यान में आते हैं। पुलिस अन्वेषण ब्यूरो, देहली के द्वारा सकलित किये गये आकड़े भारत मे बाल अपराध के विस्तार का कुछ संकेत देते हैं। 1987 तक प्रति वर्ष भारतीय दड सहिता (IPC) के अन्तर्गत लगभग 50 हजार अपराध होते थे और स्थानीय और विशेष कानूनों के अन्तर्गत लगभग 85 हजार। परन्तु अक्टूबर, 1987 में बाल-न्याय अधिनियम (जिसे 1986 में बनाया गया था) के प्रवर्तन (enforcement) के बाद एक किशोर की नई परिभाषा में से 16-21 वर्षों के आयु समूह में पुरुषों को और 18-21 वर्षों के आयु-समूह में महिलाओ को निकाल दिया गया। स्वाभाविक रुप से अपराधिक मामले जिनके लिये किशोरों को उत्तरदायी माना जाता था, अब कम हो गये हैं। इस कारण 1987 और इससे पूर्व के वर्षों की तुलना में 1988 और उसके पश्चात बाल अपराध आई.पी.सी. और स्थानीय एवं विशेष कानूनों के अन्तर्गत कम हो गया है। 1991 में लगभग 26 हजार आई.पी.सी. के अन्तर्गत और लगभग 27 हजार अपराध

स्थानीय और विशेष कानूनों के अन्तर्गत हुए थे। इसी प्रकार से लगभग 56 हजार बालक भिन्न-भिन्न अपराधों (39 हजार या 70 0% आई पी सी के अन्तर्गत और 17 हजार या 30% स्थानीय और विशेष कानूनों) के अन्तर्गत गिरफ्तार किये गये। भारत में आज कुल संज्ञेय (cognizable) अपराध का लगभग 2 0% बाल अपराध है (1991 में यह 1 9% था)। 1988 से पहले यह प्रतिशतता (भारत में कुल संज्ञेय अपराध में बाल अपराध की प्रतिशतता) लगभग 4 0 थी। बाल अपराध 1978 और 1988 के बीच लगभग 25 0% बढ़ा, परन्तु 1988 में आई पी सी के अन्तर्गत यह 1987 की तुलना में 53 0% कम हो गया और स्थानीय एव विशेष कानूनों के अन्तर्गत यह 70 0% घट गया।

स्थानीय एव विशेष कानूनों के अन्तर्गत 1991 में सबसे अधिक योगदान उन अपराधों ने दिया जो प्रोहिबिशन एक्ट (34 0%) और गैम्बिलिंग एक्ट (16 2%) के अन्तर्गत आते हैं (1987 तक यह 27 0% और 21 0% क्रमश था)। चार राज्यों—महाराष्ट्र (43 0%), मध्य प्रदेश (13 0%), बिहार (7 0%) और आध्र प्रदेश (5 0%) – में पूरे देश में आई पी सी के अन्तर्गत हुए कुल बाल अपराधों के लगभग 68 0% बाल अपराध हुए। स्थानीय और विशेष अपराधों के अन्तर्गत दो राज्यों—महाराष्ट्र (47 0%) और तमिल नाडु (26 0%) – में कुल अपराधों के 73 0% हुए। (क्राइम इन इण्डिया, 1991 132-136)

लगभग 38 हजार बालकों में से जो 1991 से प्रति वर्ष आई पी सी के अन्तर्गत गिरफतार किये जाते हैं और अदालतों के सामने पेश किये जाते हैं, 11 0% को सलाह/चेतावनी देकर अपने घर भेज दिया जाता है, 25 0% को परिवीक्षा पर छोड़ दिया जाता है, 2 0% को विशेष गृहों में भेज दिया जाता है, 13 0% पर जुर्माना किया जाता है, और 10 0% को रिहा कर दिया जाता है। लगभग 39 0% मामले लम्बित (pending) रहते हैं। (1988 149)

विशेषताए (Characteristics)

भारत में बाल अपराध की कुछ महत्तवपूर्ण विशेषताए निम्नांकित हैं

(1) अपराध की दरें लडकियों की अपेक्षा लडकों में बहुत अधिक हैं, अर्थात् लडकिया लडकों की अपेक्षा कम अपराध करती हैं। 1987 तक बाल अपराध में सम्मिलित लडकियों की प्रतिशतता लगभग 6 0% से 7 0% थी। यह 1988 में बालकों की परिभाषा के परिवर्तन, जिसमें केवल 16-18 वर्षों के आयु-समूह की ही लडकियों को बालक माना गया है, के कारण सहसा बढ गई। यदि हम इससे पूर्व के वर्षों के आकड़े लें और नई परिभाषा की श्रेणी की लडकियों की प्रतिशतता की गणना करें तो वह 13 11% आती है जो 1988 के 13 4% की तुलना में अनुकूल है। इस प्रकार आज के आकडों के अनुसार लडकों और लडकियों की कुल गिरफ्तारियों का अनुपात 6 4 1 है।

(2) अपराध की दरें प्रारम्भ की किशोरावस्था (12-16 वर्षों का आयु-समूह) में सबसे ऊची हैं। 1987 में बाल अपराध की आयु की नई परिभाषा किये जाने के समय से

अब चार-पचम अपराधी (81 0%) 12-16 वर्षो के आयु-समूह में आते हैं। इससे पहिले (1978 और 1987 के बीच) यह पाया गया कि अपराधियों की एक बडी संख्या (71 0%) 18-21 वर्षों (उत्तर किशोरावस्था) के आयु-समूह में थी, 15.0% 16-18 वर्षों के आयु-समूह में, 9 0% 12-16 वर्षों के आयु-समूह में, और 5 0% 7-12 वर्षों के आयु-समूह में थी। अब इन दोनों आयु समूहों की प्रतिशतता का हिस्सा बदल गया है। अब 9 0% 7-12 वर्षों के आयु-समूह और 10 0% 16-18 वर्षों के आयु समूह में हैं (1991 141)। 12-16 वर्षों के आयु-समूह का हिस्सा 1978-87 में 10 0% से 1988 मे बढकर 81 0% हो गया क्योंकि 1988 मे 18-21 वर्षों का आयु समूह बालक श्रेणी के दायरे मे बाहर चला गया।

(3) बाल अपराध एक ग्रामीण तथ्य होने की अपेक्षा नगरीय तथ्य अधिक है। देहली, बबई, मद्रास, कलकत्ता, अहमदाबाद और बैंगलोर जैसे महानगर छोटे शहरों और कस्बों की अपेक्षा अधिक बाल अपराधी उत्पन्न करते हैं।

(4) गिरफ्तारी क समय लगभग दो-तिहाई (64 0%) अपराधी अपने माता-पिता के साथ रहते हुए पाये गये है, लगभग एक-चौथाई (23.0%) अपने अभिभावकों के माथ और शेप (13.0%) बेघर होते हैं (1991: 150)। यह बाल अपराध में पारिवारिक वातावरण के महत्व को दिखलाता है।

(5) लगभग दो-पचम (42.0%) बच्चे निरक्षर होते हैं, आधे (52.0%) प्राथमिक, मिडिल और सैकन्डरी कक्षाए पास किये होते हैं, और बहुत ही कम सख्या (6.0%) हाई स्कूल स्तर और उसके आगे तक शिक्षित होते हैं। इस प्रकार अधिकाश अपराधी निरक्षर और कम शिक्षित होते हैं।

(6) लगभग तीन-पंचम (57 0%) अपराधी ऐसे घरों से आते हैं जिनकी आय 500 रुपये प्रति माह से कम होती है (यानि अत्यन्त निर्धन वर्ग), लगभग एक चौथाई (27.0%) ऐसे घरों से आते हैं जिनकी आय 501 और 1000 रुपये प्रतिमाह के बीच होती है (यानि निर्धन वर्ग), लगभग एक-दशाम (9 0%) ऐसे घरों से जिनकी आय 1001 और 2000 रुपये के बीच प्रतिमाह होती है (यानि निम्न मध्यम वर्ग), और एक बहुत छोटी सख्या (5 0%) ऐसे घरों से जिनकी आय 2001 और 3000 रुपये के बीच प्रतिमाह (यानि उच्च मध्यम वर्ग) और 3000 रुपये प्रतिमाह से अधिक (2.0%) (यानि उच्च वर्ग) (1991: 151) होती है। इससे यह प्रदर्शित होता है कि बाल-अपराध निम्न वर्ग में अधिक घटित होता है। हमारे देश में बाल अपराध और उसका सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मे सम्बन्ध पर हुए सभी अध्ययन (रतनशा, हन्सा सेठ, सुशील कुमार और एस.सी. वर्मा) यह बताते हैं कि सबसे निम्न स्तर पर होने वाले व्यक्तियों में अपराध की दरें सबसे ऊंची होती है। इसकी मत्यता की सीमा विभिन्न परिस्थितियों मे घटती बढ़ती हैं।

(7) बाल अपराधियों में चार-पचम से अधिक प्रथम अपराधी होते हैं और केवल एक-दशाम के लगभग अपराध व्यसनी या पुराने अपराधी होते है। 1981 और 1991 के बीच का औसत यह बतलाता है कि 87 0% नये अपराधी थे।

(8) अधिकाश अपराध समूहो में किये जाते हैं। अमरीका मे भी शॉ और मैके ने अपने अध्ययन मे पाया कि अपराध करते समय 90 0% बच्चो के साथ उनके साथी थे।

(9) यद्यपि समूहों में अधिक अपराध किये जाते हैं, परन्तु हमारे देश में ऐसे बच्चों के गुटों की सख्या जिन्हें सगठित वयस्क अपराधियों का समर्थन प्राप्त है अधिक नही है।

प्रकार (Types)

बाल-अपराध विभिन्न ढग के आचरण या व्यवहार के तरीके प्रदर्शित करता है। सरुपों मे प्रत्येक का अपना सामाजिक सदर्भ होता है, कारण होते हैं जो तथाकथित रुप से उसे उत्पन्न करते हैं और प्रत्येक सरुप के लिये उसके रोकने या उपचार हेतु उपयुक्त तरीके सुझाये जाते हैं। हावर्ड बेकर (1966 226-38) ने बाल अपराध के चार प्रकारों का उल्लेख किया है (अ) व्यक्तिगत बाल अपराध (ब) समूह द्वारा समर्थित बाल अपराध (स) सगठित बाल अपराध और (द) परिस्थितिवश बाल अपराध।

व्यक्तिगत बाल-अपराध (Individual Delinquency)

यह उस बाल अपराध की ओर सकेत करता है जिसमें अपराध कार्य करने मे केवल एक बालक ही *लिप्त होता है और उसका कारण उस बाल अपराधी के अन्दर होता है। इस अपराधिक* व्यवहार की मनोचिकित्सको ने अधिकाश व्याख्याए दी हैं। उनका तर्क है कि बाल अपराध मनोवैज्ञानिक समस्याओं के कारण होता है जो मुख्य रुप से दोषपूर्ण अनुचित, रोगात्मक पारिवारिक अन्त क्रिया के सरुपों से उत्पन्न होती है। हीली और ब्रौनर एल्बर्ट बाडुरा और रिचर्ड वाल्टर्स, एडविन पावर्स और हेलन विटमर और हेनरी मेयर और एडगर बोर्गेटा के अनुसधान इस उपागम पर आधारित हैं। हीली और ब्रौनर (1936) ने अपराधी युवाओं की उनके गैर अपराधी सहोदर भाईयों से तुलना की है और उनकी भिन्नताओं का विश्लेषण किया। उनका सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह था कि उनके 13 0% गैर अपराधी भाईयों की तुलना मे 90 0% से अधिक अपराधियों का घरेलु जीवन दुखी था और वे अपने जीवन की परिस्थितियों से असतुष्ट थे। दुख की प्रकृति भिन्न भिन्न थी। कुछ सोचते थे कि उनके मा-बाप ने उन्हें अस्वीकार कर दिया है और अन्य भाईयों की तुलना में वे अपने को हीन समझते थे या उनके प्रति ईर्ष्या रखते थे। वे अपराध इसलिए करते थे क्योंकि इसमें वे अपनी समस्याओं का समाधान पाते थे क्योंकि इससे (अपराध करने से) वे या तो अपने माता पिता का ध्यान आकर्षित करते थे या अपने समकक्ष व्यक्तियो का समर्थन प्राप्त करते थे या अपनी दोषी भावनाओं को घटाते थे। बाद में किये गये अध्ययनों ने पारिवारिक सबधों के उन महत्वपूर्ण पहलुओं की पहचान की जिनके कारण अपराध होते हैं। बाडुरा और वाल्टर्स ने श्वेत बाल

अपराधियों के आक्रामक कार्यों की ऐसे गैर अपराधी लड़कों के ऐसे ही कार्यों से तुलना की जिनमें आर्थिक कष्ट का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता था। उन्होंनें पाया कि अपनी माताओं से सबधों के मामले में बाल-अपराधियों और गैर अपराधियों में बहुत कम अन्तर था। इस प्रकार माता-पुत्र संबधों की अपेक्षा पिता-पुत्र संबंध अपराध में अधिक निर्णायक प्रतीत होते थे क्योंकि अपराधी लडके अपने पिताओं में अच्छी भूमिका-आदर्शों (role models) के अभाव के कारण नैतिक मूल्यों का अन. करण नहीं कर पाये थे। इसके अतिरिक्त उनका (पिताओं का) अनुशासन भी अधिक कठोर और सख्त था।

समूह द्वारा समर्थित बाल अपराध (Group-Supported Delinquency)

इस प्रकार के अपराध दूसरों की सगति में किये जाते हैं और इसका कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व में स्थित नहीं होता और न ही अपराधी के परिवार में, अपितु व्यक्ति के घर और पड़ोस की सस्कृति में होता है। थेशर एवं शॉ और मैके के अध्ययन इस प्रकार के अपराध पर किये गये हैं। किशोरों का अपराधी हो जाना किस कारण से होता है,इसका पता लगाने के दौरान उन्होंने यह मुख्य निष्कर्ष निकाला कि यह उनका पहले से ही हो चुके अपराधियों के साथ सम्पर्क और सगति के कारण होता है। इसे बाद में बहुत स्पष्ट रुप से कहा सदरलैंड ने जिसने 'विभिन्न सम्पर्क (differential association) का सिद्धान्त' विकसित किया। मन से उत्पन्न होने वाली (psychogenic) व्याख्याओं के विपरीत विचारों का यह सेट उन समस्याओं, जो अपराध करने के लिये प्रेरित कर सकते हैं, की अपेक्षा इस पर ध्यान केन्द्रित करता है कि क्या सीखा जाता है और किससे सीखा जाता है ?

सगठित बाल अपराध (Organised Delinquency)

यह बाल अपराध उन बाल अपराधों का उल्लेख करता है जो औपचारिक रुप से संगठित गुटों को विकसित करके किये जाते हैं। इन बाल अपराधों का विश्लेषण अमरीका में 1950 के दशक में किया गया और अपराधी उप-सस्कृति की अवधारणा को विकसित किया गया। यह अवधारणा उन मूल्यों और प्रतिमानों का उल्लेख करती है जो कि गुट के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित (guide) करते हैं, अपराध करने को प्रोत्साहित करते हैं, ऐसे कार्यो के आधार पर प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं और उन लोगों से विशिष्ट संबंधों का उल्लेख करते हैं जो उन समूहीकरणों के बाहर होते हैं जो समूह के प्रतिमानों से प्रभावित होते हैं। कोहिन वह पहला व्यक्ति था जिसने इस प्रकार के अपराध का उल्लेख किया। इसके बाद क्लोवार्ड, ओहलिन, और कुछ अन्य आये।

परिस्थितिवश बाल अपराध (Situational Delinquency)

उपर्युक्त बाल अपराध के प्रकारों में एक बात समान है। इन सब में अपराध की जड़ों को गहरा माना जाता है। व्यक्तिगत अपराध में (मन से उत्पन्न होने वाली व्याख्या के अनुसार) बाल

अपराध की जडें मुख्यतया बालक के अन्दर होती है। समूह द्वारा समर्थित और सगठित अपराधों (समाज से उत्पन्न होने वाली व्याख्या) में जडें या तो (अपराध की) समाज की सरचना में स्थित होती है जिसमें उन पारिस्थितिकी क्षेत्रों पर बल होता है जहां बाल अपराध व्याप्त है या उस व्यवस्थित तरीके पर जिसमें सामाजिक सरचना कुछ व्यक्तियों को सफलता के लिये मुकाबला न कर पाने हेतु कमजोर स्थिति में रखती है। परिस्थितिवश अपराध एक भिन्न परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। यहा यह मान्यता है कि अपराध की जडें गहरी नही होती और अपराध के लिये प्रेरणाए और उसे नियन्त्रित करने के साधन बहुधा अपेक्षाकृत सरल होते हैं। एक युवा व्यक्ति अपराधिक कार्य अपराध के प्रति गहरी वचनबद्धता के बिना करता है क्योंकि उसमें मनोवेग नियन्त्रण कम विकसित होता है और/या पारिवारिक नियन्त्रण कम सुदृढ होते हैं और क्योंकि पकडे जाने पर भी उसके पास खाने के लिये अपेक्षाकृत बहुत कम होता है। डेविड माटजा एक वह विद्वान है जिसने इस प्रकार के बाल अपराध का उल्लेख किया है। फिर भी परिस्थितिवश बाल अपराध की अवधारणा अविकसित है और अपराध कारणत्व की समस्या में इसे अधिक प्रासागिक नही माना जाता। इसे दूसरे प्रकारों के बाल अपराध का प्रतिस्थापन (replacement) न मानकर सपूरक (supplement) माना जाता है।

अन्तर्ग्रस्त कारक (Factors Involved)

शोधकर्ता सामान्यतया इस बात से सहमत हैं कि बच्चे के अपराधों मे कई कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हम इन कारकों को दो समूहों मे बाट सकते हैं व्यक्तिगत कारक और परिस्थिति सबधी कारक। पहले में विनम्रता, अविज्ञा (defiance), विरोध, आवेगशीलता (impulsiveness), असुरक्षा की भावना, भय, आतमनियत्रण का अभाव, और भावात्मक द्वन्द्व (emotional conflict) जैसी व्यक्तिगत विशेषताए सम्मिलित है, जबकि दूसरे को हम पाच समूहों में उपविभाजित कर सकते हैं परिवार, साथी, स्कूल का वातावरण, सिनेमा और कार्य का वातावरण।

परिवार (Family)

कई सिद्धान्तवादी बाल अपराध के विकास में परिवार को सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक मानते हैं। वर्ग की प्रतिष्ठा, शक्ति समूह सबध (power group relations) और वर्ग की गतिशीलता (class mobility) भी परिवार के वातावरण से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुप से सबधित है। *मनोवैज्ञानिक जैसे इर्विग काफमेन (1959· 15), सिडनी बर्मन (1964 142)* और आगस्ट आईछोर्न (1969. 16) अपराध के कारणों में मुख्यतया बचपन के अनुभवों, भावात्मक वचनों (deprivations), बच्चे के पालने की प्रक्रियाओं जो व्यक्तित्व के निर्माण को प्रभावित करते है, को महत्व देते है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार असामान्य (abnormal) व्यवहार की अभिव्यक्ति, जो असामाजिक रूप में व्यक्तिगत चरों (variables), जैसे प्रेरणा (motivation), प्रवृत्ति (drive), मूल्य, और आवश्यकताओं की पहचान को महत्व देते हैं

समाजशास्त्री के लिए सामाजिक वातावरण, सामाजिक व्यवस्था संबंधी कारक, और उन संस्थाओं की कार्य प्रणाली जो बाल अपराध को प्रभावित करती हैं, अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक आन्तरिक नियन्त्रण पर अधिक बल देते हैं और समाजशास्त्री बाह्य नियन्त्रण पर।

सामाजिक वातावरण, जो बाल अपराध को उत्पन्न करता है, का विश्लेषण छिन्न-भिन्न परिवार, पारिवारिक तनाव, माता-पिता द्वारा अस्वीकृति (rejection), माता-पिता का नियन्त्रण, और पारिवारिक आर्थिक स्थिति के संदर्भ में किया जा सकता है। एक सामान्य परिवार वह है जो संरचनात्मक रुप से संपूर्ण है (जहा माता-पिता दोनों जीवित हैं), कार्यात्मक रुप से पर्याप्त है (जहा प्रत्येक सदस्य अपनी अपेक्षित भूमिकाए निभाता है जिस कारण झगडे कम हो जाते हैं), आर्थिक रुप से सुरक्षित है (जिससे सदस्यों की महत्वपूर्ण आवश्यकताए पूरी हो जाती हैं) और नैतिक रुप से सशक्त है (जहा प्रत्येक सदस्य संस्कृति के नैतिक मूल्यों का अनुसरण करता है)। वह परिवार असामान्य होता है जिसमें इन विशेषताओं में किसी का भी अभाव होता है।

छिन्न-भिन्न या टूटा परिवार (broken family), जहा माता पिता में से कोई भी एक माता-पिता के संबंध विच्छेद होने, तलाक या मृत्यु होने के कारण से अनुपस्थित होता है, बच्चे को प्रेम देने और उसे नियन्त्रण में रखने में असफल रहता है। शेल्डन और ग्लूएक (1968: 12) ने अपराधियों और गैर अपराधियों के अपने अध्ययन में पाया कि अध्ययन किये हुए अपराधियों में से आधे से अधिक का लालन पालन माता पिता में से केवल एक ने किया था जबकि गैर अपराधियों में केवल 10% का ही लालन पालन माता पिता में से किसी एक ने किया था। मोनेहन (1957. 250-58), ब्राउनिंग (1960. 37-44), गोल्ड मार्टिन, स्लोकम एवं स्टोन (1965) और पीटरसन एवं बेकर (1965) ने भी पाया कि गैर अपराधियों की अपेक्षा अपराधियों की कहीं अधिक संख्या छिन्न-भिन्न परिवारों से थी।

पारिवारिक तनाव (family tension) भी अपराध व्यवहार में एक प्रमुख योग देने वाला कारक होता है। अब्राह्मसेन (1960: 43) ने पाया कि पारिवारिक तनाव विरोध और घृणा से उत्पन्न होता है। तनाव से भरे हुए पारिवारिक वातावरण में बच्चा सुरक्षित और संतुष्ट महसूस नहीं करता। लंबे समय से चलता तनाव परिवार की समरसता (Cohesiveness) को कम कर देता है और माता पिता के संतोषजनक शिशुपालन और पारिवारिक समस्या निवारण के लिये प्रेरक वातावरण प्रदान करने की क्षमता को प्रभावित करता है। मैक्कार्डस और जोला (1959) ने भी पाया कि समरस परिवार कम अपराधियों को जन्म देते हैं और वे परिवार, जहां तनाव और विरोध व्याप्त होते हैं, भविष्य के अपराधियों के अच्छे जन्म स्थल बन जाते हैं। ग्लूएक्स (1968: 8) ने पाया कि सात गैर अपराधी परिवारों में से एक की तुलना में तीन अपराधी परिवारों में से एक परिवार विघटित हुआ जब माता पिता में से एक ने तनाव से भरे और झगड़ालू संबंधों के कारण परिवार को छोड दिया।

तालिका 13 1

बाल अपराध में कारक

- *व्यक्तिगत कारक*
  - विनम्रता
  - अवज्ञा
  - विद्वेष
  - आवेगशीलता
  - असुरक्षा की भावना
  - भय
  - भावात्मक सघर्ष
  - आत्मनियत्रण का अभाव
- *परिस्थिति सबधी कारक*
  - *परिवार*
    - माता-पिता का अनुशासन
    - माता-पिता का स्नेह
    - परिवार की ससक्तिशीलता
    - परिवार के आचरण के मानक
    - स्थानापन्न माता पिता
    - पिता के कार्य की आदतें
    - परिवार की आर्थिक स्थिति
    - माता-पिता के वैवाहिक सबध
    - छिन्न भिन्न परिवार
    - भाई-बहिनों का स्नेह
    - गृहस्थी के कर्तव्य
    - घर की सास्कृतिक परिष्कृति
  - *मित्र समूह से सबध*
  - *स्कूल का पर्यावरण*
    - स्कूल के साथियों के साथ समायोजन
    - स्कूल के प्रति अभिवृत्तियाँ
    - कक्षाओं या शैक्षिक रुचियों में असफलता
  - *सिनेमा*
  - *कार्य का वातावरण*
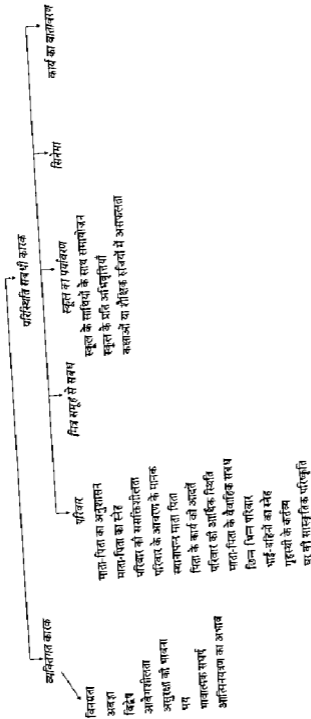
माता-पिता की अस्वीकृति (parental rejection) या भावात्मक वंचन का बाल अपराध से गहरा संबंध होता है। यदि अस्वीकृत अथवा उपेक्षित बच्चे को घर में प्रेम और स्नेह और इसके साथ-साथ समर्थन नहीं मिलेगा और उसकी देख रेख नहीं होगी तो वह अक्सर परिवार के बाहर विचलित प्रकृति के समूहों का आश्रय लेगा। अध्ययनों ने पाया है कि माता-पिता और बच्चे की एक दूसरे की अस्वीकृति सकारात्मक सबंध पर सुस्पष्ट रुप से प्रभाव डालती है और अन्त में इसका परिणाम अपराधी व्यवहार होता है। जैन्किस (1957: 528-37) ने पाया कि माता-पिता की अस्वीकृति का बच्चे की अन्तरात्मा (conscience) के विकास पर सीधा प्रभाव पड़ता है। उसने कहा है कि समुचित अन्तरआत्मा का अभाव और उसके साथ अस्वीकृत किये जाने से उत्पन्न विरोध की भावनाएं आक्रमणशीलता की ओर ले जाती है। एन्ड्री (1960: 64) ने भी यह माना है कि गैर अपराधियों की तुलना में अपराधियों को मात्रा और गुणात्मकता दोनों ही रुप में माता-पिता का प्रेम कम मिलता है।

जिस प्रकार टूटे परिवार, पारिवारिक तनाव, और माता-पिता द्वारा अस्वीकृति पारिवारिक सरचना की क्षमता को प्रभावित कर सकते हैं, उसी प्रकार माता-पिता का नियन्त्रण या अनुशासन के रूप भी अपराधी व्यवहार के विकास में अपनी भूमिका अदा कर सकते हैं। बच्चों के लालन-पालन में माता-पिता द्वारा जिस प्रकार के अनुशासन को काम में लाया जाता है, वह परिस्थिति और बच्चे के अनुसार भिन्न होता है। अनुशासन के प्रति अधिकारवादी (authoritarian) उपागम बच्चे के समकक्ष समूह के संबंधों को प्रभावित करता है क्योंकि इस कारण बच्चा अपने साथ के बच्चों के साथ मुक्त भाव से अन्तःक्रिया नहीं कर पाता। इसके विपरीत, बहुत अधिक उदारता से बच्चे में अपने व्यवहार को संचालित करने के लिये आवश्यक नियन्त्रण उत्पन्न नहीं होंगे। अनुचित अथवा पक्षपाती अनुशासन से बच्चे में समुचित अन्तरआत्मा नहीं बन पाती। वह अनुचित अनुशासन को ऐसा आदर्श (model) बनने से रोकता है जिसका बच्चा अनुकरण कर सके। यह (अनुचित अनुशासन) किशोर (adolescent) को भी अपने माता-पिता को पीड़ा नहीं पहुंचाने और अपराधी व्यवहार नहीं अपनाने की इच्छा को निर्बल करता है। ग्लूएक्स (1968: 15-16) ने पाया कि बाल अपराधियों के माता-पिता मौखिक रुप से बात करने की अपेक्षा शारीरिक दंड का उपयोग अधिक करते हैं। बाल अपराधियों के माता-पिता में गैर अपराधियों के माता-पिता की तुलना में अपने अनुशासन के उपायों में कम संगति रहती है। यदि अनुशासित करने के उपायों का इस प्रकार वर्गीकरण किया जाये—प्रेम अभिमुख अनुशासन, दण्डात्मक अनुशासन, ढीला अनुशासन, अनियमित (erratic) अनुशासन (दण्डात्मक और ढीला)—तो पिछले तीन प्रकार का संबंध अपराध से है।

भावात्मक अस्थिरता (emotional instability) और व्यवहारिक गड़बड़ियां (behavioural disturbanes) में से यदि एक या दोनों माता-पिता में होती है, तो इससे भी बच्चे में अपराधी व्यवहार उत्पन्न होता है। उन माता पिता का बच्चा जो निरन्तर झगड़ते रहते

हैं, अक्सर परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाता है और बहुत अधिक दुर्व्यवहार करने के उपरान्त भी बच निकलता है।

अन्त में, **पारिवारिक अर्थशास्त्र** (family economics) भी बाल अपराध में एक महत्वपूर्ण योगदान देने वाला चर (variable) है। बच्चे की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में परिवार की असमर्थता असुरक्षा उत्पन्न कर सकती है और बच्चे पर परिवार के नियन्त्रण की मात्रा को प्रभावित कर सकती है क्योंकि वह प्राय सासारिक सहारा और सुरक्षा घर से बाहर खोजता है। पीटरसन और बेकर (1965) ने बतलाया है कि बाल अपराधियों के घर अक्सर भौतिक दृष्टि से खराब हालत में होते हैं जो लडके के अपने स्वय के बारे में विचार को प्रभावित कर सकते हैं और घिनौनी चीज के रुप में सामने आकर उन्हें घर से परे कर सकते हैं। फिर भी यह बतलाना आवश्यक है कि आर्थिक स्थिति और भौतिक सपत्तिया मध्यम और उच्च वर्ग में व्याप्त अपराध को स्पष्ट नही करती। परिवार की आर्थिक स्थिति एक बहु समस्यात्मक परिवार के कई योगदान देने वाले कारको में से एक हो सकती है।

पड़ोस (Neighbourhood)

बच्चे पर पडोस का प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में अधिक होता है। परिवार के बाद बच्चा दिन का बडा भाग अपने पडोस में बिताता है। पडोस मूल व्यक्तित्व की आवश्यकताओं में रुकावट उत्पन्न कर, सास्कृतिक सघर्षों को उत्पन्न करके और असामाजिक मूल्यों को बढ़ावा देकर अपराध की ओर ले जाने में अपना योगदान दे सकता है। दूसरी ओर वह सामाजिक मूल्यों का रख रखाव करके घर के प्रभाव को बढा सकता है। घनी आबादी वाले पड़ोस, जहां मनोरजन की सुविधाएं अपर्याप्त होती है, बच्चों के खेलने की प्राकृतिक प्रबल इच्छाओं का दमन करते हैं और अपराधी गिरोहों के बनने को प्रोत्साहित करते हैं। सिनेमा घर, सस्ते होटल और विडियो हाल जो पडोस में होते हैं, दुराचार और अपराध को जन्म देने वाले स्थान बन जाते हैं।

सिनेमा और अश्लील साहित्य (Cinema and Pornographic Literature)

सिनेमा और कॉमिक पुस्तकें जिनमें व्यभिचार, धूम्रपान, मदिरापान और क्रूरता का चित्रण होता है, बच्चों और किशोरों के अपरिपक्व मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डालते हैं। कई बार वे अपराध और अपचार (delinquency) करने का ढग भी सिखाते हैं। हमारे देश के विभिन्न भागों से कई बच्चे साधारण चोरी, सेंध लगा कर चोरी, और अपहरण करने के लिये उन्हीं शैलियों का उपयोग करने पर गिरफ्तार किये जाते हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्होंने ऐसी प्रक्रियाओं को सिनेमा में देखा है। इन चलचित्रों से ऐसी मनोवृत्तिया बन जाती हैं जो सरलता से पैसा बनाने की इच्छाओं को जागृत करके, उसकी प्राप्ति के लिये सन्दिग्ध तरीके सुझाकर, अपने को जोखिम में डालने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देकर, कामवासनाओं को भडकाकर और दिवा स्वप्न देखने की आदत बना कर अपराधी व्यवहार उत्पन्न करते हैं।

बाल अपराध का समाजशास्त्र (Sociology of Juvenile Delinquency)

वे समाजशास्त्री जिन्होंने अपराध के अपराधशास्त्रीय ज्ञान में योगदान दिया है ये हैं मर्टन, फ्रेडरिक थ्रेशर, क्लिफोर्ड शॉ एव हेनरी मीड, जार्ज हर्बर्ट मीड, एल्बर्ट कोहेन, क्लोवार्ड एव ओहालिन, वाल्टर मिल्टर, और डेविड मेट्जा। हमने अनेक सिद्धान्तों का पिछले अध्याय में विस्तार से वर्णन किया है, इसलिये उनका हम यहा तत्काल सदर्भ के लिये सक्षिप्त में ही विवरण प्रस्तुत करेंगे।

मर्टन का "व्याधिकी सिद्धान्त" (Anomie Theory) (1938· 672-682) यह है कि जब सस्थागत साधनों, जो परिवेश में उपलब्ध हैं, और उन लक्ष्यों, जिनका अपने परिवेश में आकाक्षा रखना व्यक्तियों ने जान लिया है, में विसगति उत्पन्न हो जाती है तब तनाव और कुण्ठा पैदा होते हैं और प्रतिमान टूट जाते हैं और विचलित व्यवहार जन्म लेता है। इस प्रकार मर्टन विचलन में व्यक्तिगत प्रेरक कारकों पर विचार नही करता है (यानि उसके द्वारा सुझाये गये व्यवहार के पाच वैकल्पिक ढगों में से किसी एक का चयन करने में) या वह यह नही समझा पाता कि एक सी ही परिस्थितियों में सभी व्यक्ति विचलन को क्यों नही चुनते।

फ्रेडिक थ्रेशर का गिरोह सिद्धान्त (Gang Theory) (1936: 381) सामूहिक अपराध को सकेन्द्रित करता है और समान लोगों के सुस्पष्ट प्रभाव की व्याख्या करता है जैसा कि कोहिन, क्लोवार्ड और मिलर के सिद्धान्तों ने बाद में किया। थ्रेशर यह नही कहता कि गिरोह अपराध का कारण है, परन्तु वह कहता है कि गिरोह अपराध में मदद करता है। उस प्रक्रिया को समझाते हुए जिसके द्वारा एक समूह कुछ व्यावहारिक विशेषताए अपना लेता है और फिर उन्हें अपने सदस्यों को हस्तान्तरित कर देता है, वह कहता है कि एक गिरोह की उत्पत्ति सहज खेल के समूहों और दूसरे समूहों से झगड़े से किशोरावस्था के वर्षों में होती है, फिर यह अपने सदस्यों के अधिकारों की रक्षा के लिये और उन आवश्यकओं की पूर्ति के लिये जो उनका वातावरण और परिवार पूरा नही कर सकता, एक गिरोह में परिवर्तित हो जाता है। धीरे-धीरे यह गिरोह स्पष्ट विशेषताएं बना लेता है, जैसे उसके कार्यप्रणाली का ढग और यह अपराध के तरीकों का प्रसार करता है और आपसी स्वार्थों और अभिवृत्तियों को बनाता है और अपने सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करता है। थ्रेशर ने इस पर बल दिया है कि गिरोह की सभी गतिविधियां आवश्यक रप से भ्रामक नही होती और गिरोह के सदस्यों का काफी समय सामान्य व्यायाम की गतिविधियों एवं किशोरों के अन्य उद्यमों में व्यतीत होता है। उसकी अभिधारणा इस प्रकार विशेष रप से इसका वर्णन करती है कि अपराधी व्यवहार के लिये परिवेश का दवाव किस रप में प्रेरक होता है।

शॉ और मैके के सास्कृतिक प्रसार सिद्धान्त (Cultural Transmission Theory) (1931: 386) की यह मान्यता है कि अपराध का प्रसार व्यक्तिगत और सामूहिक सम्पर्कों से होता है और प्रभावी सामाजिक नियन्त्रण की ऐजन्सियों का अभाव बड़े नगरों के कुछ भागों में अपराध के भारी सख्या को योगदान देता है। ये अपचार क्षेत्र (delinquency areas) निम्न

आय और भौतिक रुप से जीर्ण शीर्ण क्षेत्र होते हैं, जहा के सदस्य आर्थिक वचन से ग्रस्त होते हैं। इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रों के लडके आवश्यक रुप से असगठित, असमजित अथवा असामाजिक नही होते। उन पर इन क्षेत्रों में व्याप्त अपराध की परपराओं का प्रभाव उनको अपराधी बना देता है। इस प्रभाव के नहीं होने पर वे अपराध के बजाय दूसरी गतिविधियों से सतुष्ट हो जाते हैं। शॉ और मैके यह मानते है कि अन्य कारक कुछ किशोरों को अपराधिक गतिविधियों में लिप्त कर सकते हैं, परन्तु वे यह सोचते हैं कि यह कारक उन आर्थिक और सामाजिक कारकों जो समाज में विद्यमान हैं, की तुलना में गौण है। अपराध के इस सीखे हुए तथ्य को सदरलैन्ड के सिद्धान्त में भी विकसित किया गया है।

जार्ज हर्बर्ट मीड के "भूमिका सिद्धान्त और स्व का सिद्धान्त" (Role Theory and Theory of the Self) (1934 577 602) यह बतलाते है कि व्यक्तियों की केवल एक सीमित सख्या ही क्यों अपराधिक विशिष्टताए करती है, जबकि व्यक्तियों में से अधिकाश विधिपालक होते रहते हैं। वह कहता है कि अपराधी बनने में और अपराधिक विशिष्टता धारण करने में कानून के उल्लघन करने वालो से केवल सपर्क ही नही अपितु और कोई अन्य बातें भी सम्मिलित होती है। ये सम्पर्क व्यक्ति के लिये सार्थक होने चाहिये और उस भूमिका और आत्मधारणा (self concept), जिसके प्रति वह प्रतिबद्ध होना चाहता है, को समर्थन देने वाले होने चाहिये।

एल्बर्ट कोहेन के "श्रमिक वर्ग का लडका और मध्यम वर्ग की भूमिका के माप का सिद्धान्त" (Working class Boy and Middle class measuring Role Theory) (1955. 119) ने माना है कि अपराध प्रमुख रुप से एक श्रमिक वर्ग की घटना है। वह कहता है कि श्रमिक वर्ग का लडका जब कभी मध्यम वर्ग के ससार में जाता है तो वह अपने को प्रस्थिति के सोपान में तल (bottom) पर पाता है। उस अश तक, जहा तक वह मध्यम वर्ग की प्रस्थिति को महत्व देता है या तो इस कारण कि वह मध्यम वर्ग के व्यक्तियों के अच्छे मूल्याकन का सम्मान करता है, या इस कारण कि कुछ अश तक उसने मध्यम वर्ग के मानदण्डों का स्वय आन्तरीकरण कर लिया है, वह समायोजन की समस्या का सामना करता है। अपराधी उप सस्कृति *समायोजन की समस्याओं पर (यानि प्रस्थिति की समस्याओं की) प्रस्थिति* के उन मापदडों को बतलाकर जिन्हें ये बच्चे प्राप्त कर सकते हैं, विचार करती है। उस व्यवहार को नहीं सीखने से जो कि उन्हें सफलता के लिये प्रतिस्पर्द्धा के सघर्ष से निपटने के वास्ते तैयार कर दें श्रमिक वर्ग के लडके कुण्ठित हो जाते है, मध्यम वर्ग के मूल्यों और मानदण्डों के विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हैं, और उनके प्रतिपक्ष को यानि अनुपयोगी, विद्वेषपूर्ण और नकारात्मक मूल्यो को अपना लेते हैं। समूह अथवा गिरोह की अपराधिक गतिविधि *मध्यम वर्ग की सस्थाओं पर* आक्रमण को वैध बना देती है और उसका समर्थन करती है।

क्लोवार्ड और ओहलिन का "सफलता और अवसर की सरचनाओं का सिद्धान्त (Success and Opportunity Structures Theroy) (1960 86) सदरलैण्ड, मर्टन

और मीड के सिद्धान्तों की विसंगतियों के बारे में बात करता है और आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उन विकल्पों की किस्मों को बतलाता है,जो तनाव और वैध विकल्पों के अभाव के कारण उपलब्ध हैं। अपने लक्ष्यों पर पहुंचने के लिये वैध उपायों की सीमाबद्धताओं का अनुभव करके और अपनी आकाक्षाओं को कम करने में अपने को असमर्थ पाकर निम्न वर्ग के युवाओं में तीव्र उत्कण्ठाएं जागृत होती हैं,जिसके परिणामस्वरुप उन्हें असमंजनकारी (non conformist) और अवैध विकल्पों की खोज करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। क्लोवार्ड और ओहलिन के सिद्धान्त का आनुभविक रूप से परीक्षण और मूल्यांकन करना कठिन है।

वाल्टर मिलर का "निम्न वर्ग का लड़का और निम्न वर्ग की संरचना का सिद्धान्त" (Lower Class Boy and Lower Class Structure Theory) (1985: 6) अपराधी उप संस्कृति को अस्वीकार करता है और निम्न वर्ग की संस्कृति की ही बात करता है जो कि आप्रवासन (immigration), देशान्तरण (migration) और गतिशीलता (mobility) की प्रक्रिया के कारण उत्पन्न होती है। वे व्यक्ति जो इन प्रक्रियाओं के कारण पिछड़ जाते हैं,निम्न वर्ग में समाविष्ट हो जाते हैं। उनके व्यवहार का एक अलग संरुप (pattern) होता है (जो कि आवश्यक रुप से अन्य किसी वर्ग के विरुद्व प्रतिक्रियाशील (reactive) नहीं होता) और वह सुस्पष्ट विशेषताओं (निम्न वर्ग की), जैसे उदण्डता, चतुरता, उत्तेजना, नियति (fate), और स्वायत्तता पर आधारित होता है। सड़क का समूह (street group) निम्न वर्ग के किशोर लड़के को उदण्डता से कार्य करने का और नर-गतिविधियों में लिप्त होने के अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार उसकी कई गतिविधियां उसकी वास्तविक पुरुष (real man) बनने की अभिलाषा के चारों ओर घूमती है। मिलर के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचना यह है कि जन संचार की आज सुविधा उपलब्ध होने के कारण यह विश्वास करना कठिन है कि पृथक निम्न वर्ग की संस्कृति जिसका मिलर वर्णन करता है,इतने विशुद्ध रुप में बनी रह सकती है। निम्न वर्ग का अन्य वर्गों से प्रभावित होना आवश्यक है।

डेविड माट्ज़ा का "अपराध और ड्राफ्ट सिद्धान्त" (Delinquency and Draft Theory) (1964:11) प्रत्यक्षवादी मत (Positive School) के नियतिवादी अभिमुखन को अस्वीकार करता है कि अपराध व्यवहार लगभग पूर्ण रुप से भावात्मक और परिवेश के कारकों के कारण होता है। माटजा का विचार है कि आदमी न तो सम्पूर्ण रुप से स्वतंत्र है (जैसा कि क्लासिकल स्कूल मानता है) और न ही वह सम्पूर्ण रुप से नियन्त्रित है (जैसा कि प्रत्यक्षवादी मत मानता है),परन्तु वह नियन्त्रित होने और स्वतन्त्र होने के कहीं बीच में है। बहाव (drift) स्वतंत्रता और नियन्त्रण के बीचोबीच है। इसलिये किशोर अपराधिक और परम्परागत कार्य के बीच बहता रहता है। यद्यपि किशोर की अधिकाश गतिविधियां विधिपालक (law-abiding) होती है,फिर भी वह समय समय पर अपराध की ओर बह जाता है क्योंकि सामान्य परम्परागत नियन्त्रणों, जो प्रायः अपराध व्यवहार को रोकता है, बहाव की प्रक्रिया के परिणामस्वरुप निष्प्रभावी हो जाता है। जब कभी वह अपराध करता है तो वह वापस

रुढ़िवादिता की ओर चला जाता है। इस प्रकार मात्रा अपराध की इच्छा (will to crime) पर बल देता है। यह इच्छा ही है जो इस बात को बताती है कि क्यों कुछ किशोर अपराध व्यवहार को चुनते है, जबकि उनके अधिकाश समकक्ष किशोर उसी परिवेश में समाज द्वारा स्वीकार्य अनुकूलन के ढंगों को चुनते हैं। वह यह भी बतलाता है कि अपराध क्यों 'या ये या वह' (eigher-or) प्रस्ताव नहीं है अधिकाश किशोर परम्परा और अपराध के बीच नैरन्तर्य (continuum) में कही विचरते हैं। अपराध के प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता असामान्य है।

अब हम यदि बाल अपराध के सभी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को एक साथ लें, तो यह कहा जा सकता है कि सभी समाजशास्त्रियों ने सामाजिक सरचना के वातावरण और सीखने (learning) की प्रक्रिया पर बल दिया है। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक हैं जो अपराध में व्यक्ति और उसके अभिप्रेरक (motivational) संरूपों को महत्वपूर्ण समझते हैं।

अपराधियो के उपचार के तरीके (Methods of Treating Delinquents)

अपराधी के उपचार के लिये कई उपागमों और तरीकों का उपयोग किया जा सकता है। कुछ महत्वपूर्ण तरीके हैं. (1) मनश्चिकित्सा, (2) यथार्थ चिकित्सा, (3) व्यवहार चिकित्सा, (4) क्रिया चिकित्सा, और (5) पर्यावरण चिकित्सा। दण्ड को उपचार का ढग नही माना जाता है क्योंकि इसको अब उपचार का व्यवहार्य ढग नही समझा जाता, यद्यपि कुछ अब भी सोचते है कि दडं भविष्य में अपराधी कार्य करने में प्रतिरोधात्मक सिद्ध होता है। प्रतिबन्ध और डाट (reprimand) अपनाये गये प्रमुख उपचार के उपागम के प्रभावी पूरक हो सकते हैं परन्तु दंड अपने आप में लक्ष्य नहीं हो सकता।

किशोरों के उपचार के लिये दो मूल उपागम हैं व्यक्तिगत उपचार और सामूहिक उपचार। इनमें से व्यक्तिगत तरीका मनोवैज्ञानिक, मनश्चिकित्सक, समाजशास्त्री और सामाजिक कार्यकर्ता अपनाते हैं, यद्यपि मनावैज्ञानिक कई बार सामूहिक तरीके का भी उपयोग करते हैं। समाजशास्त्री प्राय अपराध के लिये सामाजिक अभियान्त्रिकी (Social engineering) उपागम का उपयोग करते है, अर्थात् वे सामाजिक सरचना की उन परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं जिससे अपराध की उत्पत्ति होती है, जबकि मनोवैज्ञानिक व्यक्ति का उपचार करते हैं और अन्तर वैयक्तिक गतिकी (inter-personal dynamics) पर बल देते हैं। समाजशास्त्र को सैद्धान्तिक विद्या (theoretical discipline) माना जाता है जो अपराध और अपचार के कारणों और प्रभावों पर अनुसधान करता है। सामाजिक कार्य का पेशा समाजशास्त्रियों का 'प्रायोगिक क्षेत्र' (practical arm) है (ट्रोजनोविच, 1973: 229)। इस प्रकार उपरोक्त छ. चिकित्सीय तरीके सामान्यत मनोवैज्ञानिकों, मनश्चिकित्सकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा उपयोग में लिये जाते हैं। हम प्रत्येक तरीके पर अलग-अलग संक्षिप्त में विचार करेंगे।

मनश्चिकित्सा *(Psychotherapy)* भावात्मक और व्यक्तित्व की समस्याओं का मनोवैज्ञानिक तरीके से उपचार करती है, अर्थात् अभियोगार्थी (अपराधी) के भूत में महत्वपूर्ण

व्यक्तियों (जैसे माता-पिता) के प्रति अभिवृत्तियों और भावनाओं को परिवर्तित करके। जब किशोर के अपने माता-पिता के साथ प्रारंभिक सम्बध सतोषजनक नही रहते तो उसका भावात्मक विकास अक्सर धीमा पड जाता है, जिसके फलस्वरुप वह अपने शिशुकाल की लालसाओं को सतुष्ट करने के प्रयास में प्राय आवेगशील हो जाता है और अपने परिवार में सामान्य रुप से सतुष्ट नहीं रहता। इन लालसाओं और आवेगों को सतुष्ट करना असामाजिक व्यवहार का रुप धारण कर सकता है। मनश्चिकित्सा के द्वारा बाल अपराधी को चिकित्सक के द्वारा यह अनुमति दी जाती है कि वह प्रेम और स्वीकृति के वातावरण में काम करे, जहा उस बालक को कड़ी अस्वीकृति या शारीरिक दण्ड का कोई डर नही हो। यह अन्तरण (transference) स्थापित होने के कारण होता है जिसमें कि रोगी (client) और चिकित्सक सूचना को आदान प्रदान करने में निश्चिन्त महसूस करते हैं। इस प्रकार यह चिकित्सा सघर्षों को सुलझाने में सुविधा प्रदान करती है और अभियोगी के व्यवहार के अनुकूलन (adaptation) के लिये सकारात्मक विकल्प प्रस्तुत करती है।

यथार्थ चिकित्सा (reality therapy) इस विचार पर आधारित है कि वे व्यक्ति जो अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर पाते गैर-जिम्मेदार तरीके से काम करते हैं। यथार्थ चिकित्सा का उद्देश्य अपराधी व्यक्ति को जिम्मेदार तरीके से काम करने में सहायता प्रदान करना है, अर्थात असामाजिक कार्य करने से रोकना है। उदाहरणतया, यदि लड़का अध्यापक की कठोरता के कारण स्कूल की कक्षाओं मे उपस्थित नही होता, तो उसे यह समझाया जाता है कि अध्यापक कठोर नही है, परन्तु उसके जीवन को बनाने में उसको सहायता देना चाहता है। यहा वर्तमान का भूत से सम्बध विच्छेद कर दिया जाता है क्यों कि भूत को बदला नहीं जा सकता। यह चिकित्सा कोई भी दे सकता है (पुलिस अफसर, परामर्शदाता, अध्यापक, सामाजिक कार्यकर्ता, परिवार का सदस्य या मित्र) क्यों कि यह अस्पष्ट मनश्चिकित्सीय शब्दों पर, व्यापक परीक्षण या समय व्यय करने वाले प्रकरण परामर्शो पर बल नही देती। यह तरीका मनोचिकित्सीय तरीके से इस प्रकार भिन्न है कि पिछला भूतकाल के व्यवहार से संबधित है जब कि यह वर्तमान के व्यवहार से सबधित है। जबकि मनोचिकित्सा इस पर आधरित है कि व्यक्ति उस समय तक अपने वर्तमान के व्यवहार को नहीं बदल सकता जब तक कि वह भूतकाल की घटनाओं से, उसे स्पष्ट रुप से जोड़ नही ले। यथार्थ चिकित्सा का आधार यह है कि भूत नगण्य है। इस चिकित्सा में बच्चे को एक जिम्मेदार व्यक्ति माना जाता है और न एक अभागा बच्चा। इसमे बच्चे में शक्ति का संचार होता है। बच्चे से नियमों की अनुपालना की अपेक्षा की जाती है, परन्तु जब वह किसी नियम को तोड़ता है तो उसे अस्वीकृत नही किया जाता।

व्यवहार चिकित्सा (behaviour therapy) अपराधी के सीखे हुए व्यवहार में नई सीखने की प्रक्रियाओं के विकास के द्वारा परिवर्तन करना है। व्यवहार सकारात्मक या नकारात्मक प्रभावों के द्वारा अर्थात्, पुरस्कारों या दण्डों के द्वारा बदला जा सकता है। नकारात्मक या अप्रिय प्रभाव (जैसे प्रतिबन्ध) नकारात्मक व्यवहार को कम (यानि, अपराधी

कार्यवाही को) अथवा विलुप्त (eliminate) कर देते हैं, जबकि सकारात्मक या प्रिय प्रबलन (जैसे पुरस्कार) सकारात्मक व्यवहार (जैसे नौकरी या समूह में सफलता) को बनाये रखते/बढ़ाते हैं। इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करने वाली चीजों को मालूम करना पड़ता है, अर्थात वे पहलू जिन्हें व्यक्ति (अपराधी) व्यक्तिगत सतोष प्राप्त करने के लिये पाने की कोशिश करता है। पैसा, प्रशंसा, ध्यान, खाना, विशेषाधिकार, स्कूल में प्रवेश, बच्चों के साथ खेलने की स्वतन्त्रता और अच्छे वस्त्र सकारात्मक प्रभाव देने वाले माने जा सकते हैं जब कि धमकियां, कारावास, उपहास, शारीरिक दण्ड और पैसे से वंचित करना नकारात्मक प्रभाव देने वाले है। व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिये दोनों प्रभाव देने वालों को काम में लाया जा सकता है।

क्रिया चिकित्सा (activity therapy) कई बच्चों में परम्परागत व्यक्तिगत अथवा सामूहिक स्थिति में प्रभावी रूप से बातचीत करने की मौखिक क्षमता नही होती। क्रिया चिकित्सा में 6-8 बच्चों के समूह को विशेष समय/स्थान पर खेलने या किसी कलात्मक प्रयास में भाग लेने हेतु एकत्रित/निमंत्रित किया जाता है। वातावरण स्वछंद (permissive) होता है और बच्चे अपनी इच्छानुसार अपना समय व्यतीत कर सकते हैं। इस प्रकार एक साधारण स्नायु-रोगी (neurotic) बालक स्वछंद/अनुज्ञात्मक वातावरण में बहुत निर्मुक्त महसूस करता है जहा वह सृजनात्मक कार्य, खेल या शैतानी में अपना विरोध एव आक्रमण प्रकट कर सकता है। चूंकि उसके व्यवहार से प्रतिशोध, दण्ड या अस्वीकृति उत्पन्न नही होती, इसलिये उसकी दबी हुई भावनाओं को उपयुक्त मुक्ति मिल जाती है।

परिवेश चिकित्सा (milieu/environment therapy) ऐसे वातावरण को बनाने का प्रयत्न करती है जो कि अर्थपूर्ण परिवर्तन और सतोषजनक समायोजन में मदद करें। इसका उन व्यक्तियो के लिये उपयोग किया जाता है जिनका विचलित व्यवहार प्रतिकूल जीवन की परिस्थितियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया है।

उपरोक्त तरीकों का उपयोग करने के अतिरिक्त तीन और तरीकों का उपयोग बाल अपराधियों के उपचार में किया जाता है। ये हैं (1) सामाजिक प्रकरण कार्य (Social case work) अर्थात्, असमजित बच्चे को उसकी समस्याओं का सामना करने मे सहायता करना। कई पहलुओं में समान होते हुए भी तकनीकी तौर पर सामाजिक प्रकरण कार्य मनो चिकित्सा से भिन्न है। सामाजिक प्रकरण कार्यकर्ता परिवीक्षा अधिकारी कारागृह परामर्शदाता, मानसिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता या अस्पताल का सामाजिक कार्यकर्ता हो सकता है जबकि मनोश्चिकित्सक अनिवार्य रप से व्यवसाय से डाक्टर होता है। प्रकरण कार्यकर्ता अभियोगार्थी (client) का प्रकरण इतिहास, उसकी पृष्ठभूमि, परिवेश और उसके परिवार मित्रों और स्कूल के साथियों के साथ सबधों की छान बीन करने के लिये तैयार करता है और उसकी व्यक्तिगत शक्तियों और कमजोरियों का मूल्याकन करता है, जिससे कि एक उपचार योजना बनाई जा सके और उसका कार्यान्वयन हो सके। फिर भी यह तरीका प्राय अपराधियों के साथ सफल नही होता क्योंकि एक ओर अपराधी का सहयोग पाना कठिन होता है क्योंकि

उसे प्रकरण कार्यकर्ता में विश्वास नही होता और दूसरी ओर अपराधी का परिवार भी विरोध करता है और प्रकरण-कार्यकर्ता की छान-बीन से उसे आशंका होने लगती है,(2) व्यक्तिगत परामर्श, अर्थात्, अपराधी को उसकी तात्कालिक परिस्थितति से अवगत कराना और उसकी समस्या के समाधान के लिये पुनः शिक्षित करना । इस तरीके में अभियोगार्थी के व्यक्तित्व में मूलभूत परिवर्तन करने का कोई प्रयास नही किया जाता, (3) व्यावसायिक परामर्श-इसका प्रमुख उद्देश्य अपराधी के जीवन के विकल्पों,नौकरी के विशेष विवरण और योग्यताओं और सफल रोजगार के लिये आवश्यक प्रशिक्षण के बारे में जानकारी को बढ़ाना है । सकारात्मक रुख,निपुणताएं और आदतें जो कि कार्य स्थिति (work situation) में बच्चा विकसित और परिष्कृत करता है,समाज तक ले जाई सकती है और निश्चित रुप से उसके दूसरों के साथ संबधों को प्रभवित कर सकती हैं ।

बाल सस्थाओं मे अभिरक्षा/हिरासत (Custody in Juvenile Institutions)

रिमाण्ड होम्स, सर्टिफाइड स्कूल, रिफार्मेटरी स्कूल, बोर्स्टल स्कूल, ओर प्रोबेशन हॉस्टिल वे महत्वपूर्ण सस्थाए हैं जिन्हें भारत में बाल-अपराधियों के हिरासत,सरक्षण् ओर सुधार के लिये काम में लिया जाता है ।

बाल अधिनियम (Children acts) विभिन्न राज्यों में बाल अपराधियों के उपचार और सुरक्षा के लिये और उनकी अभिरक्षा,मुकदमों और दण्ड के लिये बहुत पहले बनाये गये थे । मद्रास (वर्तमान में तमिलनाडु) ने ऐसा अधिनियम 1920 में बनाया,बंगाल ने 1922 में, और बबई (महाराष्ट्र) ने 1924 में बनाया । अन्ततोगत्वा सभी राज्यों में ये अधिनियम बनाये गये । बाल अपराधियों के अतिरिक्त ये अधिनियम उपेक्षित,निराश्रय और सामाजिक रुप से अक्षम (handicapped) बच्चों, उत्पीड़ित बच्चों और उच्छृंखल (uncontrollable) बच्चों पर भी लागू होते थे । परन्तु अब इन अधिनियमों का स्थान बाल न्याय अधिनियम, 1986 (Juvenile Justice Act, 1986) ने ले लिया है । स्थिति की समीक्षा यह बतलाती है कि चिलड्रन एक्ट,1960 जो कि केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के लिये लोक सभा ने पारित किये थे, के अतिरिक्त नागालैन्ड को छोडकर सभी राज्यों ने अपने अपने कानून बना रखे थे । तथापि देश के 55 जिलों पर बाल अधिनियमों (Children Acts) में से कोई भी लागू नहीं होता था । 1986 का नया अधिनियम जो कि विभिन्न राज्यों और केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के 25 विभिन्न बाल अधिनियमों का स्थान लेता है, अब पूरे देश पर लागू होता है ।

बाल अधिनियमों में पूरे देश में एक समान कानून के अभाव के कारण कई कमिया थी । इनमें से कुछ कमिया ये हैं: (1) बच्चे की परिभाषा में उच्च आयु सीमा प्रत्येक राज्य में भिन्न थी; (2) सारे राज्यों में बाल अदालतों का प्रावधान नहीं था; (3) संस्थात्मक सुविधाओं में क्षमता, स्टाफ और कार्यक्रमों को नियत्रित करने के लिये कोई सुपरिभाषित मानदण्ड और प्रतिमान नहीं थे, (4) मूल आवश्यकताओं, रहनें की स्थितियों (living conditions) या चिकित्सा सेवाओं के कोई न्यूनतम मानदण्ड नही थे, और (5) अधिकाश राज्यों में उपेक्षित

बच्चों को बाल अपराधियों के साथ ठूस दिया जाता था।

1986 अधिनियम की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें अपराधी बच्चे के विपरीत उपेक्षित बच्चे के लिये एक विभेदक (differential) उपागम है। उपेक्षित बच्चे की श्रेणी में वे बच्चे आते हैं जिनके साथ दुर्व्यवहार एव शोषण की और जिनके अपराधी जीवन में प्रवेश करने की सभावना है और जिन्हें ऐसी स्थितियों से बचाने के लिये कानूनी सहायता की आवश्यकता है। बाल अपराधियों को किसी भी परिस्थिति में कारागृह में अन्य कैदियों के साथ नही रखना चाहिये। उपेक्षित बच्चों को बाल गृहों अथवा प्रेक्षण गृहों (Observation Homes) में रखना होगा। इस अधिनियम के अन्तर्गत 16 वर्ष तक के आयु के लडकों और 18 वर्ष तक की लडकियों को अपराध करने के लिये बाल अधिनियम के अर्न्तगत ही दण्डित करना होगा, जबकि उपेक्षित बच्चों को बाल कल्याण बोर्ड (Child Welfare Board) के सम्मुख पेश करना होगा। अपराधियों के विरुद्ध बाल न्यायालय (Juvenile Court) कार्य करेंगे। उपेक्षित बालक को उसी दशा में बाल गृह में भेजा जायेगा जब उसके पिता, अभिभावक या कोई उपयुक्त व्यक्ति उसकी देखभाल करने में सहायक नही होगा। बाल अपराधियों के लिये यह आवश्यक है कि विशेष गृह स्थापित किये जाए जहाँ उनके आवास, शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण, और चरित्र निर्माण की सुविधाए उपलब्ध हों। यह अधिनियम आदेश देता है कि राज्य सरकार ऐसे कोष का निर्माण करें जिसका एक मात्र उपयोग इस अधिनियम के अन्तर्गत आने वाले बच्चों के कल्याण और पुनर्निवास पर हो और सलाहकारी बोर्ड बनाये जायें जो गृहों की स्थापना और रख-रखाव, ससाधनों को जुटाने आदि मामलों पर सलाह दें।

बाल न्यायालय कुछ राज्यों में विशेष तौर पर बाल अपराधियों की न्यायायिक जाच और सजा देने के लिये स्थापित किये गये हैं। पहला बाल न्यायालय 1922 में कलकत्ता में स्थापित किया गया था, इसके बाद 1927 में बबई में और 1930 में मद्रास में। उसके बाद कुछ और राज्यों द्वारा भी ऐसे न्यायालयों का गठन किया गया। बाल न्यायालयों द्वारा अपनाये गये तरीके वयस्क फौजदारी अदालतों द्वारा उपयोग किये जा रहे तरीकों से बहुत अलग होते हैं। सामान्यत. इन नयायालयों के सचालन करने वाले मजिस्ट्रेट महिलाए होती हैं। इन में पुलिस अफसरों को सरकारी यूनिफार्म में आने की अनुमति नही दी जाती है। न्यायिक जाच के दौरान भी पूर्ण गोपनीयता बरती जाती है। बाल-न्यायालयों की बैठकों में जनता के लोगों को विशेष अनुमति के अतिरिक्त उपस्थित रहने की अनुमति नही दी जाती। वकीलों को बाल न्यायालय के सामने किसी भी मुकदमें में पेश होने का अधिकार नही है। तथापि, यदि बाल न्यायालय का यह मत है कि जनहित में वकील का पेश होना आवश्यक है तो उसे विशेष मुकदमों में साधारण पोशाक में पेश होने के लिये अधिकृत किया जाता है। इस न्यायालय द्वारा दिया गया दण्ड किसी दूसरे अपराध में किसी दूसरे न्यायालय में न्यायायिक जाच को प्रभावित नहीं करता। बाल-न्यायालयों की प्रमुख विशेषताए ये हैं कार्य प्रणाली की अनौपचारिकता, प्रतिरोधात्मक या प्रतिकारी न्याय दिये जाने वाले बल को हटाना, बच्चों की सुरक्षा एवं पुनर्निवास, और

सामाजीकरण के लिये उपचार के उपाय। संरचनात्मक रूप से बाल-न्यायालय न्यायायिक श्रेणीबद्ध संगठन के एक अभिन्न भाग हैं, क्योंकि बाल-न्यायालय से सभी अपीलें इनसे उच्च (प्रौढ) न्यायालयों को प्रेषित की जाती है। बाल न्यायालयों में मुकदमों को निबटाने के लिये सामान्यतया जो तरीके काम में लाये जाते है वे हैं अभिभावकों को वापस सौंप देना, चेतावनी देकर रिहा कर देना, जुर्माना करना, परिवीक्षा (probation) पर रिहा करना, सुधारगृहों, मान्यता प्राप्त स्कूलों, एवं वोर्स्टल स्कूलों को सौंपना, और कारावास।

रिमान्ड होम या प्रेक्षण (अवलोकन) गृह (Remand Homes or Observation Homes)

यह गृह उन बच्चो के लिये होते हैं जिनकी जाच न्यायालयों में लम्बित (pending) है, परन्तु उनका उपयोग बेघर, निराश्रय एव उपेक्षित बच्चों को रखने के लिये भी किया जाता है। उनके यहा पर निवास का उनकी व्यक्तित्व की विशेषताओं और व्यवहार के मूल्याकन के लिये किया जाता है। इस प्रकार इन गृहों को कारावास स्थानों के बजाय प्रेक्षक गृहो के रूप में देखा जाता है। रिमान्ड गृहों की महत्वपूर्ण विशेषतायें ये हैं पृथक्करण, शिक्षा, प्रशिक्षण, मनोरजन की सुविधाए, स्वास्थ्य की देख-भाल, नियत्रित अनुशासन, और प्रभावी निरीक्षण। बच्चा क्योंकि अवलोकन गृह या रिमाण्ड गृह में पहली बार कानून के सपर्क में आता है, इसलिये यदि उसके परिवेश को सहायक नही बनाया जाता तो बच्चा न्यायालय के प्रति शक्की और अवज्ञाकारी हो सकता है।

भारत में रिमान्ड गृह या प्रेक्षक गृह सभी राज्यों में नही हैं। 1990 के आकडों के अनुसार, प्रेक्षण गृह 25 राज्यों में से केवल 11 राज्यों में और एक केन्द्र प्रशासित क्षेत्र में पाये जाते हैं। इन गृहो की सबसे अधिक सख्या महाराष्ट्र में है। इसके बाद गुजरात, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल, उत्तर प्रदेश, बिहार, आध्रप्रदेश और पश्चिम बगाल में है। लगभग 139 रिमान्ड/प्रेक्षण गृहों में से आधे से कुछ अधिक सरकार द्वारा चलाये जाते हैं और आधे से कुछ कम स्वयंसेवी हैं। लडकों और लडकियों के लिये पृथक गृह हैं। रिमान्ड गृहों में कुल निवासियों में से दो तिहाई 7-14 वर्षो के आयु समूह मे हैं जबकि शेष एक-तिहाई या तो सात वर्ष से कम के हैं या 14 और 18 वर्ष के बीच के हैं।

लगभग 50% निवासी यहा छह सप्ताह से कम अवधि के लिये रखे जाते है, 35 0% छह सप्ताह और छह माह के बीच में और 15 0% छह माह से अधिक समय के लिये। डाक्टर स्वास्थ्य की देख-भाल के लिये पूर्ण-कालिक और अश-कालिक आधार पर नियुक्त किये जाते हैं। जब कि रिमान्ड गृहों में 1973 में प्रति निवासी प्रति माह व्यय लगभग 60 रुपये था, 1993 में वह 320 रुपये प्रति माह प्रति निवासी माना जाता था।

मान्यता प्राप्त या सुधारक स्कूल (Certified or Reformatory School)

उन बच्चों को जिन्हें न्यायालय से निरोधादेश (detention orders) दिये जाते हैं सुधारक

स्कूलों में न्यूनतम तीन वर्षों के लिये और अधिकतम सात वर्षों के लिये रखा जाता है। उन निवासियों का जो 18 वर्ष के हो जाते हैं, स्थानान्तरण बोर्स्टल स्कूलों में कर दिया जाता है। ये स्कूल जो केवल लड़कों के लिये होते है, जेल विभाग के निरीक्षण में रहते हैं। प्रत्येक स्कूल, जिनमें 80-100 निवासियों की क्षमता होती है, को 4-5 शयनागारों (dormitories) में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक शयनागार में 4-5 कक्ष (cells) होते हैं। प्रत्येक स्कूल में एक अधीक्षक (superintendent), उप अधीक्षक, उप-जेलर, सहायक जेलर, डाक्टर, 3-4 प्रशिक्षक, 2-3 अध्यापक और कुछ वार्डन होते हैं। सिलाई, खिलौने बनाने, चमड़े का सामान बनाने और कृषि में प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रत्येक प्रशिक्षण कार्यक्रम दो वर्ष का होता है। निवासी को कच्चा माल स्कूल से मिलता है और उसके द्वारा बनाई गई चीजें बाजार में बेची जाती हैं और मुनाफा उसके खाते में जमा करा दिया जाता है। जब जमा राशि एक निर्धारित रकम तक पहुंच जाती है, तो निवासी को केवल राज्य के उपयोग के लिये ही चीजें बनानी होती हैं। निवासी को बुनियादी शिक्षा छटी कक्षा तक मिलती है और उसे वर्ष के अन्त में परीक्षा में बैठना होता है जिसका सचालन स्कूलों के निरीक्षक करते हैं। यदि निवासी छटी कक्षा से आगे पढ़ना चाहता है तो उसका प्रवेश बाहर के स्कूल में करा दिया जाता है। चुकि निवासियों को किसी काम के लिये बाध्य नही किया जाता, इसलिये वे परिवार के सदस्यों की तरह रहते हैं। तथापि, कोई अनुवर्ती (follow-up) रिकार्ड निवासियो के रिहाई के बाद स्कूलों द्वारा नही रखे जाते। दूसरे, प्रशिक्षण कार्यक्रम काफी पुराने और रुढ़िवादी हैं।

बोर्स्टल स्कूल (Borstal Schools)

बीसवी शताब्दी के दूसरे दशक में किशोर अपराधियों को वयस्कों से पृथक रहने का प्रावधान किया गया जिससे कि सुधार सेवाएं अधिकारवादी (authoritarian) वातावरण से मुक्त हों और किशोर अपराधियों के लिये सुधार सम्भव हो सके। इस प्रकार बोर्स्टल स्कूल 16-21 वर्षों की आयु समूह के किशोर अपराधियों के लिये स्थापित किये गये। देश में 1991 तक बोर्स्टल स्कूल केवल नौ राज्यों में थे। तमिलनाडु (1926), आन्ध्र प्रदेश (1926), बिहार (1926), पजाब (1926), मध्य प्रदेश (1928), महाराष्ट्र (1929) उत्तर प्रदेश (1938), केरल और कर्नाटक (1943)। प्रत्येक स्कूल की क्षमता 100 से 350 निवासियों के बीच घटती-बढ़ती है। यद्यपि यह स्कूल महानिरीक्षक जेल (इन्सपेक्टर जनरल आफ प्रिजन्स) के सामान्य निरीक्षण में काम करते है, तथापि प्रत्येक स्कूल की एक अपनी निरीक्षण समिति (visiting committee) होती है जिसमें एक सत्र न्यायाधीश, एक जिला मजिस्ट्रेट, जिला स्तर का स्कूल अफसर, और चार गैर-सरकारी सदस्य होते हैं। कोई भी निवासी यहा दो वर्ष से कम या पाच वर्ष से अधिक नही रखा जाता। इस प्रकार केवल उन्हीं अपराधियों को इन स्कूलों में भेजा जाता है जिन्हें तीन वर्ष से अधिक की सज़ा होती है। प्रत्येक स्कूल को गृहों (houses) में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक गृह का एक गृहपति (house-master) होता है। प्रत्येक गृह को इसके अतिरिक्त समूहों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक समूह का एक मॉनिटर होता है। इन

भीड-भाड रहती है, प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण है, प्रशिक्षण कार्यक्रम अत्यन्त रुढिवादी हैं और व्यक्तियों पर व्यक्तिगत ध्यान नही दिया जाता है। उनके लिये बजट का आवटन भी बहुत कम है। बाल सुधारक संस्थाओं के मूल्याकन के लिये 1968 में एस.डी. गोखले के निर्देशन में इंडियन काउन्सिल आफ सोशल वैलफ़ेयर ने एक अध्ययन किया था। इस अध्ययन में (1969. 83-89), 1958 और 1963 के बीच रिहा किये गये 229 निवासियों का साक्षात्कार लिया गया। उसमें यह पाया गया कि (1) इन सस्थानो में दिया गया प्रशिक्षण निवासियों को नौकरी मिलने में सहायक नही होता, (2) सस्थाए औरपचारिक स्कूल/कालेज शिक्षा के लिये सुविधाए उपलब्ध नही करती, (3) परामर्श और प्रकरण-कार्य (case-work) सुविधाए अपर्याप्त हैं, (4) निवासियों पर व्यक्तिगत ध्यान नही दिया जाता, और (5) सस्थाओं के पास सीमित बजट होता है जिससे पर्याप्त योजना नही बन पाती।

सामाजिक रुप से बाधित (handicapped) बच्चों के लिये राजस्थान में 27 सस्थाओं (जिनमें बाल सुधार गृह, अवलोकन गृह, परिवीक्षा गृह और बाल गृह सम्मिलित हैं) के 1975-76 में एम.एस. बेदी द्वारा किये गये अध्ययन ने भी यह बतलाया कि (1) सस्थाओं की सुविधाओं का पूरी तरह उपयोग नही किया जाता और उनके अधिभोग (occupancy) की दर उनकी क्षमता से कही कम हैं, (2) व्यावसायिक प्रशिक्षण की गुणवत्ता और विषय वस्तु बहुत कम है। वह एक निवासी को सस्था से रिहा करने के उपरान्त उसे आर्थिक रुप से पुनर्निवासित होने में सक्षम नहीं बनाती, (3) निवासियों के लिये जगह और भौतिक सुविधाए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा निर्धारित प्रतिमानों से बहुत कम है, (4) सस्था में रहने की अवधि में सुरक्षा सेवाएं (तगडे और आक्रामक निवासियों के विरुद्ध एव साथी निवासियों द्वारा समलिगकामी (homosexual) आक्रमण के विरुद्ध एव खाने की एव अन्य चीजों के छीनने के विरुद्ध) और सस्था से रिहा होने के बाद (पुराने सहापराधियों, पुलिस उत्पीडन और अनैतिक अवैध व्यापारियों के विरुद्ध) उपलब्ध नही कराई जाती, और (5) निवासियों को परिवार के सदस्यों, सम्बन्धियों और मित्रों के साथ सम्पर्क रखने की सुविधाए अपर्याप्त हैं।

निवारक कार्यक्रम (Preventive Programme)

बाल अपराध प्रमुख रुप से एक शहरी तथ्य है, इसलिये बाल अपराध को रोकने के लिये और खास तौर से शहरी जीवन की जटिलताओं के कारण निजी और सरकारी ऐजेन्सियों को इसमें शामिल करना पडेगा।

बाल-अपराध के रोकने के लिये तीन उपागम हैं (1) ऐसी गतिविधियों का आयोजन करना जो बच्चों के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास करें और उनका समायोजन करें, (2) बच्चों के ऐसे वातावरण को नियन्त्रित करें जो बाल-अपराध में योगदान देता है, और (3) बच्चों के लिये विशेष निवारक सेवाए आयेजित करें। पहला उपागम बाल-अपराध के रोकने को इनसे जोडता है. (i) समाज के सस्थात्मक ढाचें में व्यापक सुधारों से, उदाहरण के लिये, परिवार, पडोस, स्कूल में सुधार (ii) निर्धनता से ग्रसित परिवारों के आय स्तरों को ऊचा उठाना, (iii) बच्चों को नौकरी

के अवसरों को उपलब्ध कराना,(iv) स्कूलों को स्थापित करना,(v) नौकरी की स्थितियों को सुधारना,(vi) पडोस में मनोरजन की सुविधाए उपलब्ध कराना,(vii) वैवाहिक संबंधों को पारिवारिक परामर्श सेवाओं के माध्यम से सुधारना, और (viii) अन्य उपायों के साथ नैतिक और सामाजिक शिक्षा प्रदान करना। दूसरे प्रकार की निवारक गतिविधियों में सम्मिलित सामुदायिक संगठन,कल्याण और बच्चों की देख-रेख करने वाली ऐजेन्सिया हैं। तीसरे प्रकार की निवारक गतिविधियों में परिवीक्षा और पैरोल की सेवाए,मान्यता प्राप्त एव बोर्स्टल स्कूल, बाल गृह,परिवीक्षा छात्रावास,आदि हैं। निवारक कार्यक्रमों का भी इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है (टोजनोविज,1973· 188) (1) विशुद्ध (pure) निवारण या प्राथमिक निवारण,जो कि बाल-अपराध को उसके होने से पहले रोकता है, और (2) पुनर्निवासीय निवारण या द्वितीय निवारण जो उन बच्चों के लिये है जिन्हें न्यायालय बाल-अपराधी घोषित कर चुका है

पीटर लेजिन्स (Peter Lejins, 1967: 3) ने निवारक कार्यक्रमों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है (1) दण्डात्मक (punitive) निवारण,(2) दोष निवारक (corrective) निवारण, और (3) भौतकीय (mechanical) निवारण। पहला दण्ड की धमकी है जो इस विचार पर आधारित है कि दण्ड अपराधिक कार्यों को रोक देगा, दूसरा उस प्रयास की ओर सकेत करता है जो कि संभावित (Potential) कारणों को अपराधी व्यवहार के वास्तविक रुप से होने से पहले ही हटा देता है, और तीसरा संभावित अपराधी के मार्ग में बाधाएं (जैसे अधिक सुरक्षा के उपाय या अधिक पुलिस सुरक्षा) डालने पर बल देता है,जिससे कि उसे अपराध करने में कठिनाई हो।

बाल अपराध के निवारण के लिये भारत में पचास और अस्सी के दशकों के बीच और नब्बे दशक के आरभिक वर्षों में ये ऐजेन्सिया कार्यरत थी-जैसे,स्वयंसेवी बाल संस्थाएं जो बाल कल्याण को देखती थी, स्कूल, समाज कल्याण विभाग, उद्धार गृह, अनाथालय और मनश्चिकित्सा केन्द्र। स्वयसेवी संगठनों के प्रयत्न कम समन्वित (coordinated) थे,जबकि सरकारी विभागों के अधिक नियोजित एव सुव्यवस्थित रुप से आयोजित थे।

सरकारी सस्थाओं (बाल गृह,मान्यता प्राप्त स्कूल .) के पुनर्वासीय निवारण के लिये कार्य प्रणाली का अधिनिरीक्षण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है (सस्थाओं में अभिरक्षा की परिचर्या के साथ)। यहा हम विशुद्ध निवारण कार्यक्रमों की संक्षेप में चर्चा करेंगे। सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र, जहा सरकार को शिक्षा, मनोरजन और व्यावसायिक प्रशिक्षण की सुविधाए बाल-अपराधों को रोकने के लिये उपलब्ध कराने की आवश्यकता है, शहरों में गदी बस्तियों के क्षेत्र हैं। बड़े शहरों में जनसख्या का एक बडा भाग गदी बस्तियों में रहता है। यदि थ्रेशर शॉ और मैके,कोहिन एव क्लोवार्ड एव ओहलिन की पर्यावरण से बाल अपराधों को सीखने और पड़ोस की संसक्तिशीलता (cohesiveness) के अभाव से संबन्धित सिद्धान्तों का कुछ औचित्य है, तो यह आवश्यक है कि सरकार इन क्षेत्रों में बच्चों के कल्याण के लिये और उनके सामुदायिक जीवन में और अच्छे समाकलन के लिये कुछ कार्यवाही करें।

परिवार एक दूसरी संस्था है, जिसकी ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। बाल-अपराध में कार्यात्मक अपर्याप्त परिवारों, सरचनात्मक रुप से अधूरे या छिन्न-भिन्न परिवारों, निर्धन परिवारों, अनैतिक परिवारों और अनुशासन विहीन परिवारों की भूमिका को पहले ही सविस्तार प्रतिपादित किया जा चुका है। जब तक इन विघटित परिवारों को पुन सघटित नही किया जाता, जब तक पर्यावरण सबधी चिकित्सा उपलब्ध नही कराई जाती, तब तक कुण्ठित और भावात्मक रुप से विक्षुब्ध बच्चों को अपराधियों से सबध स्थापित करने से नही रोका जा सकता।

पुलिस द्वारा बच्चों के लिये चलाई जा रही मनोरजन इकाईया एक नई अवधरणा हैं। बबई और देहली जैसे नगरों में पुलिस विभाग की बाल इकाईयों ने इन कार्यों को अपने हाथ में लिया है। इसी प्रकार से पुलिस और स्कूल के बीच सम्पर्क कार्यक्रम पुलिस और बच्चों के बीच विद्वेष और पारस्परिक सशय (suspicion) को समाप्त करने, पुलिस को अध्यापकों को समस्यात्मक युवाओं से निपटने में सहायता करने, और सामान्यत पुलिस की छवि को सुधारने में सफल होगा।

मादक पदार्थों के सेवन के हानिकारक प्रभावों के बारे में और भ्रामक सामाजिक व्यवहार में लिप्त होने के बारे में बच्चों को शिक्षित करना बाल अपराध को रोकने का एक अन्य उपाय है। पिछले वर्षों में मादक पदार्थों का व्यसन स्कूल के बच्चों और गदी बस्तियों के रहने वालों में बढ गया है। ऐसे बच्चों को जो मादक पदार्थों का प्रयोग कर रहे हैं परामर्श सेवाए उपलब्ध कराना, विशेष रुप से अवैध मादक पदार्थों के प्रयोग और सामान्यत बाल-अपराध का सामना करने में एक प्रभावी उपाय होगा।

भगोडे बच्चो के लिये कार्यक्रमों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इन बच्चों के लिये कर्मचारियों की सहायता और निर्देशन से अपनी स्वय की स्थितियों पर विचार करने का अवसर प्रदान करने के लिये बडे नगरों और कस्बों में गृहों (homes) को स्थापित करने की आवश्यकता है। ये गृह भागे हुए बच्चों और उनके माता-पिता एव अभिभावकों के बीच वास्तविक सम्पर्क को बढावा देने में सहायक हो सकते हैं, जिससे कि गभीर समस्याओं का निवारण हो सके।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बाल-अपराध के रोक और नियन्त्रण के सभी पहलुओं के बारे में एक सही सरकारी नीति के लिये सूक्ष्म अन्वेषण पद्धतियों के द्वारा योजना एव मूल्याकन दोनों की आवश्यकता है। इसके लिये सरकारी ऐजेन्सियो, विश्वविद्यालयों, पुलिस, न्यायपालिका और सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच समन्वय भी आवश्यक है।

REFERENCES

1. Abrahamsen, David, *The Psychology of Crime*, Columbia Press, New York, 1960.
2. Aschhorn August, *Delinquency and Child Guidance*, International Universities Press, New York, 1969.
3. Andry, R.G *Delinquency and Parental Pathology*, Metheun, London, 1960.
4. Becker, Howard S *Social Problems. A Modern Approach*, John Wiley & Sons, Inc., New York, 1966
5. Berman Sidney, "Anti-social Character Disorder", in Ruth S. Cavan, *Readings in Juvenile Delinquency*, J.B. Lippincott and Co., Philadelphia, 1964.
6 Browing, Charles J, "Differential Impact of Family Discorganisation on Male Adolescents", in *Social Problems*, 1960.
7. Cloward, Richard and Ohlin, Lloyd, E. *Delinquency and Opportunity. A Theory of Delinquent Gangs*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1960.
8 Cohen, Albert, *Delinquent Boys: The Culture of the Gang*, The Free Press, Glencoe, Illinois, 1960.
9. Giallombardo, Rose, *Juvenile Delinquency*, John Wiley & Sons, Inc., New York, 1960.
10. Gibbons, Don C., *Deviant Behaviour*, (2nd edition), Prentice-Hall, Inc., Englewood Cliffs, N.J., 1976.
11. Glueck & Sheldon, *Delinquents and Non-Delinquents in Perspective*, Harvard University Press, Cambridge, 1968.
12. Gokhale, S.D., *Impact of Institutions on Juvenile Delinquents*, United Asia Publications Ltd., Bombay, 1969.
13. Hirsh, Nathanieal, *Dynamic Causes of Juvenile Crime*, Science Art Publishers, Cambridge, 1937
14. Jenkins, Richard L., "Motivation and Frustration in Delinquency" in *American Journal of Orthopsychiatry*, 1957.
15. Kaufman, Irving and Reiner, B.S., *Character Disorders in Parents of Delinquents*, Family Service Association of America, 1959.
16 Knadten Richard D. and Schaper Stephen, *Juvenile Delinquency: A Reader*, Random House, New York, 1970.
17. Legins, Peter, "The Field of Prevention" in *Delinquency Prevention Theory and Practice*, ed. by William Amos & Charles Welfond, 1967.
18. Martin Gold, "Status Forces in Delinquent Boys", in Rodman and Grams, *Juvenile Delinquency and The Family*, 1976.

19. Matza, David, *Delinquency and Drift*, John Wiley & Sons Inc , New York, 1964
20 McCord Joan & Zola Irving, *Origin of Crime*, Columbia University Press, New York, 1959
21 Mead George Herbert, *Mind, Self and Society*, University of Chicago Press Chicago, 1934
22 Merton, Robert K *Social Theory and Social Structure*, The Free Press, Glencoe Illinois, 1957
23 Miller Walter, "Lower Class Culture as a Generating Milieu of Gang Delinquency", *Journal of Social Issues*, No 3, 1958
24. Monahan, Thomas P, "Family Status and the Delinquent Child", in *Social Forces*, 1957.
25 Mowrer, *Disorganisation Social and Personal*, 1969
26. Neumayer, *Juvenile Delinquency*, 1977
27. Peterson & Becker, "Family Interaction and Delinquency" in Herbert C. Quay, *Juvenile Delinquency*, 1965
28. Reckless Walter, G *Handbook of Practical Suggestions for the Treatment of Adult and Juvenile Offenders*, Government of India, 1956.
29 Shaw, Clifford & McKay Henry, D , *Social Factors in Juvenile Delinquency*, U S Government Printing Office, Washington, 1931.
30 — — —, *Juvenile Delinquency and Urban Areas*, University of Chicago Press, Chicago, 1942
31 Slocum and Stone, "Family Interaction and Delinquency" in Herbert C Quay, *Juvenile Delinquency*, Van Nostrand Co , Princeton, 1965
32 Tappan, Paul W. *Crime, Justice and Correction*, McGraw-Hill, New York, 1960
33 Thrasher, Frederick, *The Gang*, University of Chicago Press, Chicago, 1936
34. Trojanowicz, Robert C., *Juvenile Delinquency Concepts and Control*, Prentice Hall Inc , Englewood Cliffs, N.J 1973
35. Venugopal Rao, *Juvenile Delinquency Role of the Police* Working paper in a Seminar organised by C B I Ministry of Home Affairs, Delhi, November 25-27, 1965

अध्याय 14

मद्यपान
Alcoholism

मद्यपान की समस्या कुछ दशकों पहले तक एक नैतिक समस्या एवं सामाजिक अनुत्तरदायित्व का लक्षण समझा जाता था। कुछ राज्यों में 1960 के दशक में मद्य-निषेध की नीति लागू होने के बाद यह एक अवैध कार्य के रुप में देखा जाने लगा। अब यह कुछ विद्वानों द्वारा एक विचिलित व्यवहार से अधिक एक जटिल, दीर्घकालिक और अत्यन्त महगी बीमारी समझी जाती है। इसके शिकार व्यक्ति को दण्डात्मक सलूक के स्थान पर विशेषज्ञों द्वारा उपचार की आवश्यकता होती है, जैसे, मनश्चिकित्सकों, डाक्टरों व सामाजिक कार्यकर्ताओं की तथा उनको जो उसके व्यक्तित्व की पुन. सरचना में सहायता प्रदान करें।

मद्यपान और मादक पदार्थों के व्यसन की समस्या में काफी समानता है। दोनों में अल्पकालिक सुखद मनोदशा उत्पन्न करने के लिये मूलतः रसायनिक वस्तुओं का आदतन उपयोग किया जाता है। दोनों के परिणाम अत्यन्त गंभीर हो सकते हैं। दोनों के आदतन व्यक्तियों को दड के बजाय चिकित्सा की आवश्यकता होती है। तथापि इन समानताओं के बावजूद, दोनों समस्याए काफी भिन्न हैं और उन पर अलग-अलग परिचर्चा होनी चाहिये। भारत में पियक्कड़ विरले ही हैं और अधिकाश कम पीने वाले व्यक्ति ही हैं। आदतन पीने वाले और मद्यसारिक (alcoholics) अल्पसंख्या में हैं। मद्य सेवन इतना खतरनाक नही है, जितना मादक द्रव्यों के सेवन की आदत।

शराब उत्तेजक (stimulant) नही है, यह केन्द्रीय स्नायु तंत्र (central nervous system) पर शमक (depressant) अथवा निरोधक (inhibitor) के रुप में प्रभाव डालती है। शराब व्यवहार पर प्रथागत नियंत्रण को कम कर देती है और शराब पीने वाला कम नियंत्रित हो जाता है एव अधिक स्वच्छन्द (free) महसूस करता है। परन्तु कभी-कभार भी शराब के पीने से उसकी आदत पडने की संभावना होती है और पीने वाला उसे बहुधा और अधिक मात्रा में पीना आरम्भ कर सकता है जिसके घातक एव अनर्थकारी परिणाम हो सकते हैं। यह उसे शारीरिक रुप से प्रभावित कर सकती है, उसकी काम करने की और कमाने की क्षमता को नष्ट कर सकती है, उसके पारिवारिक जीवन को बर्बाद कर सकती है, और उसके मनोबल को पूर्णरूप से गिरा सकती है। एक निर्दोष (innocent) मनोरजन इस प्रकार पीने वाले के पूरे जीवन को बिगाड़ सकता है। परन्तु मद्यपान के कारणों और प्रभावों के विश्लेषण करने से पहले हमें कुछ मूल अवधारणाओं को समझना चाहिये।

अवधारणा (The Concept)

मद्यपता या मद्यपान (alcoholism) वह स्थिति है जिसमें एक व्यक्ति मदिरा लेने की मात्रा पर नियन्त्रण खो बैठता है जिससे कि वह पीना आरम्भ करने के पश्चात उसे बन्द करने में सदैव असमर्थ रहता है (जौन्सन,1973 519)। केलर एव एफ्रौन (1955 619-644) के अनुसार मद्यपान का लक्षण मदिरा का इस सीमा तक बार-बार पीना है जो कि उसके प्रथागत उपयोग या समाज के सामाजिक रिवाजों के अनुपालन से अधिक है और जो पीने वाले के स्वास्थ्य या उसके सामाजिक अथवा आर्थिक कार्य करने को प्रभावित करता है।

मद्यसारिक 'यदा-कदा पीने वाले' (occasional drinker) से भिन्न होता है। कोई भी व्यक्ति जो मदिरा का सेवन करता है 'पीने वाला' होता है, जब कि 'बाध्यताकारी (compulsive) पीने वाला', जो मदिरा पिये बिना नहीं रह सकता है, 'मद्यसारिक' कहलाता है। रिचर्ड वास्किन (1964, 362) के अनुसार एक मद्यसारिक 'अत्यधिक पीने वाला' (excessive drinker) होता है जिसकी मदिरा पर निर्भरता इस सीमा तक पहुच चुकी होती है कि उसके परिणामस्वरुप उसमें स्पष्ट मानसिक गडबड हो जाती है या उसके शारीरिक एव मानसिक स्वास्थ्य, उसके अन्तरवैयक्तिक सबधों और उसके निर्विघ्न सामाजिक एव आर्थिक कार्य करने की क्षमता में बाधा पडती है, या वह होता है जो कि इस प्रकार के परिणामों के प्रारम्भिक लक्षण दर्शाता है। क्लाइन बेल (1956 17) ने 'मद्यसारिक' की परिभाषा यह कह कर की है कि यह वह व्यक्ति है जिसके पीने से उसके जीवन के महत्वपूर्ण पुन समजनों (readjustments) और *अन्तरवैयक्तिक सबधों में प्राय या निरन्तर बाधा उत्पन्न होती है।*

मोटे तौर पर मद्यपान की विशेषता चार कारकों द्वारा जानी जाती है (1) मदिरा का अत्यधिक सेवन, (2) व्यक्ति की अपने पीने पर बढती हुई चिन्ता, (3) पीने वाले का अपने पीने पर नियन्त्रण खो देना, और (4) अपने सामाजिक ससार में कार्य करने में गडबड (distrubance) पैदा होना।

रिचर्ड ब्लूम (1973 508) ने पीने का दो सदर्भों में उल्लेख किया है (i) निर्धारित सामाजिक सरुप (pattern) के सदर्भ में जहा पीना समाज की सस्कृति से जुडा हुआ है और वह प्रतिदिन की दिनचर्या का अग समझा जाता है (उदाहरण के लिये, इटली, अमरीका) और व्यक्तियों को उसमें कोई मनोवैज्ञानिक विभव/सभावना (potential) प्रतीत नहीं होती, (ii) मदिरा सेवन को सस्कृति और समाज के लिये विघटनकारी माने जाने और व्यक्तियों द्वारा उसमें आदी होने की सभावना देखने (जैसे भारत में) और पीने को विलास और पलायन (escape) का साधन समझने के सदर्भ में। शराब पीने वालों का वर्गीकरण 'गैर-व्यसनी' (non-addicts), 'व्यसनी' (addicts), और 'चिरकालिक मद्यसारिक' (chronic alcoholic) के रूप में किया गया है। गैर-व्यसनियों को 'प्रयोगकर्ताओं' (experimenters) और 'नियमितों' (regulars) की श्रेणी में रखा जाता है। डान केहलन ने मदिरा पीने वालों का पीने की आवृति (frequency) (और ना कि मदिरा पीने की मात्रा) के आधार पर पाच प्रकार का

वर्गीकरण किया है:

(1) बिरले (rare) प्रयोक्ता, जो एक वर्ष में एक या दो बार पीते हैं।
(2) अनित्य (infrequent) प्रयोक्ता, जो दो-तीन महीनों में एक या दो बार पीते हैं।
(3) हलका (light) प्रयोक्ता, जो एक महीने में एक या दो बार पीते हैं।
(4) मध्यम (moderate) प्रयोक्ता, जो एक महीने में तीन या चार बार पीते हैं।
(5) भारी (heavy) प्रयोक्ता, जो प्रतिदिन या दिन में कई बार पीते हैं।

अन्तिम श्रेणी के पीने वालों को 'सख्त (hardcore) पीने वाले' कहा जाता है।

मद्यपान की मात्रा (Extent of Alcoholism)

भारत में लगभग 10 प्रतिशत से 15 प्रतिशत व्यक्ति मदिरापान करते हैं। तथापि इनमें से अत्यधिक बिरले, कभी-कभार और हल्के की श्रेणी में आते हैं। मध्यम और भारी पीने वालों की संख्या बहुत कम है। परन्तु जैसे अमरीका और अन्य पाश्चात्य देशों में इसके उपयोग में वृद्धि हो रही है, उसी प्रकार भारत में भी पिछले कुछ दशकों से मदिरा का उपयोग एवं दुरुपयोग बढ़ रहा है। जब कि 1943 में अमरीका में पीने वालों की प्रतिशतता कुल जनसंख्या की 2.2 प्रतिशत थी, वह 1955 में कुल जनसंख्या की 3.3 प्रतिशत, 1965 में 6.5 प्रतिशत और 1986 में 9 प्रतिशत हो गई (रैमजे क्लेन्क: 1988)।

1983 में अमरीका में 76.0 प्रतिशत व्यक्ति मदिरा सेवन करते थे। इनमें से 74 प्रतिशत पुरुष एवं 26.0 प्रतिशत महिलाएं थीं। डान केहलन द्वारा किये एक सर्वेक्षण के अनुसार (जॉन्सन,1973: 520), 1969 में 76.0 प्रतिशत व्यक्तियों में से जो मदिरा का सेवन कर रहे थे, 32.0 प्रतिशत बिरले प्रयोक्ता थे, 17.0 प्रतिशत कभी कभार के प्रयोक्ता थे, 28.0 प्रतिशत हलके प्रयोक्ता थे, 15.0 प्रतिशत मध्यम प्रयोक्ता थे और 8.0 प्रतिशत भारी प्रयोक्ता थे। 1974 में 11 पीने वालों में से एक मद्यसारिक (alcoholic) था (मेकवे एवं शोस्टक, 1977: 111)।

भारत में, राज्य सभा में कल्याण राज्य मंत्री द्वारा दी गई एक रिपोर्ट के अनुसार, अकेले देहली में 1982 और 1988 के बीच भारत में बनी विदेशी मदिरा (आई.एम.एफ.एल.) के उपभोग में 88.69 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। मदिरा की बिक्री से (जिसमें आई.एम.एफ.एल., बीयर और देशी मदिरा सम्मिलित हैं) देहली प्रशासन ने 1987-88 के दौरान 82.83 करोड़ रुपये का राजस्व अर्जित किया (जब कि आई.एम.एफ.एल.की 168.12 लाख बोतलें, बीयर की 126.47 लाख बोतलें, और देशी मिदरा की 198.90 लाख बोतलें बिकीं)। (हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 14: 1988)। आन्ध्र प्रदेश की सरकार प्रति वर्ष आबकारी शुल्क से लगभग 800 करोड़ रुपये का राजस्व अर्जित करती है, जिसमें से अधिकांश सरकार द्वारा पैक की हुई देशी मदिरा से एकत्रित किया जाता है। 1991-92 में आबकारी शुल्क 860 करोड़ रुपया आंका गया था (हिन्दुस्तान टाइम्स, नवम्बर 10, 1992)। गुजरात में मदिरा के व्यापार से वार्षिक वसूली 600 करोड़ और

900 करोड़ रुपये के बीच मानी जाती है, जो कि राज्य के मौजूदा बजट के घाटे को पूरा करने के लिये पर्याप्त है। ये आकडे मस्तिष्क को चकरा देने वाले हैं परन्तु इसमें कच्ची शराब और सरकार द्वारा निर्मित देशी मदिरा का उपयोग सम्मिलित नही है। यह तथ्य कि गुजरात में मदिरा का उपभोग निषेध है, अकेला ही यह सुनिश्चित कर लेता है कि सब प्रकार की मदिराओं का, चाहे वो हूच हो या ब्रूअरी में बनी हुई, मूल्य बहुत अधिक होता है। गुजरात की जनसख्या 1981 की जनगणना के अनुसार लगभग 3 40 करोड थी (जो कि 1991 में बढकर 4.23 करोड हो गई) और जिस प्रकार से वहा शराब अपलब्ध है, उससे कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि उपभोग का आकड़ा अनुदार (conservative) निकले (प्रोब इडिया, अप्रेल, 1989)।

यदि हम विभिन्न देशों के बीस वर्ष की आयु से अधिक (यानि वयस्कों) के मदिरा सेवन करने वालों की तुलना करें, तो सबसे अधिक सख्या फ्रास में (5,200 प्रति एक लाख जनसंख्या) में पाई जाती है, उसके पश्चात अमरीका (4,760 प्रति लाख), स्वीडन (2780 प्रति लाख), स्विटजरलैन्ड (2,685 प्रति लाख), डेनमार्क (2260 प्रति लाख), नार्वे (2,250 प्रति लाख), कनाडा (2,140 प्रति लाख), आस्ट्रेलिया (1,640 प्रति लाख), इगलैण्ड (1,530 प्रति लाख), और इटली (1,100 प्रति लाख) में पायी जाती है (लास्किन रिचर्ड, 1964. 365)।

मद्यसारिक बनने की प्रक्रिया (Process of Becoming an Alcoholic)

एक पीने वाले को मद्यसारिक बनने के लिये विभिन्न चरणों से गुजरना पड़ता है। एक अमेरिकन मनश्चिकित्सक, जैलिनेक, (1946· 368) के अनुसार, एक मद्यसारिक को सात अवस्थाओं के क्रम से गुजरना पड़ता है (1) अन्धकार की दशा (black-outs), जिसमें व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत समस्याओं का हल नही निकाल पाता, (2) गुप्त रुप से पीना, जिसमें वह बगैर किसी के देखे मदिरा का सेवन करता है, (3) बढी हुई सहनशीलता, जिसमें वह पीने के अधिक बढे हुए प्रभावों को सहन करता है, (4) नियन्त्रण का अभाव, जिसमें वह मदिरा नही पीने की इच्छा पर नियन्त्रण नही रख पाता, (5) एक बहाने के तरीके (alibi system) का विकास, जिसमें वह धीरे-धीरे अपनी सामाजिक भूमिकाओं की ओर ध्यान नहीं देना आरम्भ कर देता है, (6) समय-समय पर केवल पीने का ही कार्यक्रम रखना, जिसमें वह नियमित रुप से पीना जारी रखता है और (7) नियमित रुप से प्रात काल में पीना, जिसमें वह नियमित रुप से सुबह पीना आरम्भ कर देता है।

जैलिनेक ने मद्यसारिक बनने की प्रक्रिया का भी निम्नांकित चार चरणों में उल्लेख किया है (गोल्ड और स्केरपिटी, 1967. 469)

(1) *मद्यसारिक के पूर्व की लक्षणात्मक अवस्था (Symptomatic phase)* इस अवस्था में सामाजिक स्वीकृति का लाभ उठाते हुये व्यक्ति तनावों को कम करने और अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को हल करने के लिये पीना आरम्भ कर देता है। पीने को राहत से जोड़ते हुये वह उन अवसरों की खोज में रहता है जिनमें वह पी सके। जैसे-जैसे वह जीवन के सघर्षों का सामना करने की शक्ति को खोना आरम्भ कर देता है, वैसे-वैसे उसके पीने की आवृति

(frequency) बढती जाती है ।

(2) *अतिव्ययी अवस्था (Prodigal phase)*: इस अवस्था में पीने की आवृत्ति में वृद्धि के साथ-साथ पीने की मात्रा में भी वृद्धि होती जाती है । तथापि उसमें दोष भावना उत्पन्न हो जाती है और उसे इसका आभास होने लगता है कि शनै-शनै: वह एक असामान्य व्यक्ति होता जा रहा है ।

(3) *संकटमय अवस्था (Crucial phase)*: इस अवस्था में उसका पीना सुप्रकट हो जाता है । वह सामाजिक दबावों का सामना करने के लिये और स्वय को आश्वस्त करने के लिये, कि उसने अपने ऊपर नियन्त्रण नही खोया है, युक्तिकरण को विकसित करता है । तथापि वह अपने आत्मसम्मान को नही खोता । जब उसकी शारीरिक एव सामाजिक अवनति दूसरे व्यक्तियों के सम्मुख प्रकट हो जाती है, तो वह धीरे-धीरे अपने आप को उनसे विलग करना आरम्भ कर देता है ।

(4) *दीर्घकालिक अवस्था (Chronic phase)*: इस अवस्था में वह सुबह भी पीना आरम्भ कर देता है । उसे लबे समय तक नशा रहता है, उसकी सोचने की शक्ति क्षीण हो जाती है, उसमें अनिर्वचनीय (indefinable) भय और कम्पन उत्पन्न होने लगते हैं और कुछ विशेष प्रवीणताओं का क्षय हो जाता है । वह सदैव पीने की ही सोचता रहता है और मदिरा के बिना अशान्त रहता है ।

जैलिनेक ने भी मद्यसारिकों (alcoholics) के पीने के इतिहास की अवस्थाओं का अध्ययन किया और आसक्ति (addictive) का एक विशिष्ट संरुप विकसित किया । उसने विशिष्ट मद्यसारिक व्यवहार और उसके आविर्भाव के समय-क्रम (time sequence of appearance) को सूची-बद्ध किया । एक मद्यसारिक की कुछ विशिष्ट व्यवहारों के प्रथम बार घटित होने की उसके द्वारा पाई गई औसत आयु इस प्रकार थी (लेन्डिस, 1959: 214-15): वह 18.8 वर्ष की आयु में पीना आरम्भ करता है, गुप्त रुप से पीना 25.9 वर्ष की आयु में करता है, असयत व्यवहार में 27.6 वर्ष की आयु में आसक्त (indulge) होता है, मित्रों को खोना 29.7 वर्ष की आयु में आरम्भ करता है, मदिरा की गुणात्मकता की ओर से 30 वर्ष की आयु में उदासीन होता है, कार्यकाल (working time) को 30.4 वर्ष की आयु में खोना आरम्भ करता है, पारिवारिक नापसन्दगी (disapproval) का सामना 30.5 वर्ष की आयु में करता है, नौकरी मे हाथ 30 9 वर्ष की आयु में धो बैठता है, दिन के समय में पीने में 31 वर्ष की आयु में संलग्न हो जाता है, असामाजिक व्यवहार 31.3 वर्ष की आयु में करने लगता है, कम्पनों (tremors) का सामना 32.7 वर्ष की आयु में करता है, भयभीत 32.9 वर्ष की आयु में होने लगता है, शामक (sedatives) 35 5 वर्ष की आयु में लेता है, धार्मिक आवश्यक्ताए उसे 35.7 वर्ष की आयु में अनुभव होने लगती हैं, डाक्टरी परामर्श 35.8 वर्ष की आयु में लेता है, अस्पताल में 36.8 वर्ष की आयु में भर्ती होता है, नियन्त्रण की असमर्थता 38 1 वर्ष की आयु में स्वयं से स्वीकार करता है, और सबसे निम्न बिन्दु पर 40 7 वर्ष की आयु में पहुंचता है (यानि तल को छूता है)।

उपरोक्त विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए यह प्रतीत होता है कि व्यक्ति सामाजिक दायित्व को खोता हुआ चला जाता है, अपने व्यक्तिगत व्यवहार पर धीरे-धीरे नियन्त्रण खोता हुआ पाया जाता है और फिर बाद के चरणों में वह प्रत्येक सम्भावित स्रोत से,जो धर्म से लेकर दवाई और अस्पताल में भर्ती होने तक होता है,निराशोन्मुख होकर सहायता खोजता हुआ दिखलाई पड़ता है ।

मद्यसारिकों का तीन समूहों में वर्गीकरण किया जा सकता है स्थिर (steady), आवर्ती (periodic), और पठार (plateau) । स्थिर मद्यसारिक वह है जो निरन्तर मदिरा में सन्तृप्त रहता है । आवर्ती मद्यसारिक वह है जो लबे समयावधियों तक नही पीता और फिर रगरेलिया मनाता है । अधित्यका व पठार मद्यसारिक वह है जो उपरोक्त दोनों किस्मों में से प्रत्येक से अधिक जानबूझ कर पीता है और मदिरा से अधिकतम प्रभावों को चाहने की ओर प्रवृत्त होता है । उसे हर समय सतृप्ति का एक विशेष स्तर बनाये रखने की इच्छा होती है,परन्तु उसमें अपनी मदिरा के प्रभाव को लबे समय की अवधि तक फैलाने की क्षमता होती है (लैन्डिस,1959. 212) ।

सामाजिक स्थिति में मद्यसारिकों का वर्गीकरण निम्न तल और उच्च तल प्रकारों में किया जाता है । पहला उस व्यक्ति की ओर सकेत करता है जो सामाजिक स्थिति के तल पर पहुच गया है,जब कि दूसरा वह है जो अपने पीने के बावजूद भी काफी आदरणीय स्थिति बनाये रखता है ।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से मदिरापान में जो महत्वपूर्ण है वह है मदिरा को स्वीकृत करने के लिये सामाजीकरण । भारतीय सस्कृति मदिरा सेवन करने वालों को सामान्य नही मानती । इस कारण व्यक्ति मानसिक रुप से मदिरा को सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण भाग मानने के लिये तैयार नही है । जब कि पाश्चात्य समाज में 'ड्रिन्क लीजिए' (Have a drink) या 'क्या आप ड्रिन्क लेना चाहेंगे' (Would you care for a drink) जैसे अनुरोध शाम की सभा में आम हैं । भारत में दूसरी ओर हम प्राय 'एक प्याला चाय लीजिये' की बात करते हैं । इस प्रकार मद्यपान हमारी सस्कृति में एक गभीर सामाजिक विषय है । यद्यपि मादक वस्तुओं की तुलना में पीना कई माता-पिताओं,जो स्वय पीते हैं,के द्वारा कम हानिकारक और नगण्य तक माना जाता है,फिर भी मदिरा को सम्मानजनक नही समझा जाता । कभी-कभी शराब पीने को सहन किया जा सकता है परन्तु निरन्तर पीने की निन्दा की जाती है । हमें इसलिये उस व्यक्ति में जो मदिरा का सेवन सयम से करता है और उसमें जो 'समस्यात्मक पीने वाला' है,के बीच स्पष्ट रुप से भेद करना चाहिये,या उनके बीच भी भेद करना चाहिए जो उत्तरदायित्वपूर्ण रुप से पीते हैं और जो इस ढग से पीते हैं जिससे वे स्वय के लिये,अपने परिवार और समाज के लिये समस्याए उत्पन्न कर देते हैं ।

मद्यसारिक में निहित खतरे का माप उसकी रक्त धारा में मदिरा की मात्रा की प्रतिशतता से किया जाता है । एक बार की मदिरा पीने की मात्रा से एक व्यक्ति के रक्त में मदिरा का स्तर

0.035 प्रतिशत होता है, परन्तु दो बार की मात्रा से उसमें 0.05 प्रतिशत का स्तर होता है । यद्यपि कानूनन उसे मदोन्मत्त नही माना जाता, परन्तु वह उसके मन्द प्रभावों को महसूस करता है और उसकी गाड़ी (कार, स्कूटर, साइकिल) चलाने की समर्थता कम हो जाती है । यदि व्यक्ति के रक्त में मदिरा का स्तर 0 1 प्रतिशत है, तो उसे उस समाय कानूनी दृष्टि से 'मदोन्मत्त' (drunk) समझा जाता है, जब वह गाड़ी चलाने की दुर्घटना में फस जाता है । उसके विवेक, दृष्टि और मासपेशी (muscle) का समन्वय क्षीण हो जाता है । 0.25 प्रतिशत के स्तर पर व्यक्ति को 'बिल्कुल मदोन्मत्त' समझा जाता है, जब कि 0.3 प्रतिशत से 0.4 प्रतिशत के स्तर पर उसे 'गंभीर रूप में मदोन्मत्त' माना जाता है । इससे कुछ व्यक्ति मूर्च्छा की स्थिति में आ जाते हैं । अन्त में, 0.5 प्रतिशत से 0.8 प्रतिशत के मदिरा स्तर से एक व्यक्ति का सास लेना कठिन हो जाता है और हृदय की गति कम हो जाती है और मृत्यु हो सकती है (मैकवे एवं शोस्टक, 1978: 110) ।

मद्यपान की बडी समस्याओं में से एक यह है कि व्यक्ति अपने-आप को मद्यसारिक नहीं मानता । एक अमेरिका के मनोशिचकित्सक, रॉबर्ट वी. सेलिन्जर ने बीस प्रश्नों की एक परीक्षण-सूची बनाई है । यदि इन प्रश्नों में से कुछ के भी उत्तर 'हां' में हैं, तो व्यक्ति को उसे आने वाली विपत्ति की चेतावनी समझना चाहिये । परीक्षण-सूची के कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं;(1) क्या पीने के कारण काम पर जाने में आपको देरी हो जाती है ? (2) क्या पीना आपके पारिवारिक जीवन को दुखी बना रहा है ? (3) क्या पीने से आपकी प्रतिष्ठा प्रभावित हो रही है ? (4) क्या आपने पीने के बाद ग्लानि का अनुभव किया है ? (5) क्या पीने के कारणवश आपको वित्तीय समस्या हुई है ? (6) क्या पीने के परिणामस्वरुप आप निम्न स्तर के साथियों की ओर प्रवृत होते हैं ? (7) क्या आपका पीना आपको अपने परिवार के कल्याण की ओर से लापरवाह बनाता है ? (8) क्या पीने के बाद से आपकी महत्वाकांक्षा कम हुई है ? (9) क्या प्रतिदिन एक निश्चित समय पर आपको पीने की तीव्र इच्छा होती है ? (10) क्या पीने से आपको सोने में कठिनाई आती है ? (11) क्या पीने के बाद से आपकी कार्य-कुशलता कम हुई है ? (12) क्या पीना आपकी नौकरी या व्यापार को जोखिम में डाल रहा है ? (13) क्या आप अपना आत्मविश्वास बढ़ाने के लिये पीते हैं ?

मदिरा के व्यसन के कारण (Causes of Alcohol Abuse)

मद्यपान के कारणों की व्याख्या करते समय जो महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी चाहिये वह यह है कि जो मदिरा का सेवन करते है उनमें से 90.0 प्रतिशत मद्यसारिक नहीं बनते । मद्यपान की कुंजी 'कारण' (motive) में है जिससे व्यक्ति दुबारा पीता है । इसलिये मद्यपान को केवल व्यक्तित्व की सरचना जैसे कारकों के आधार पर समझना अपर्याप्त होगा । कोई आश्चर्य नहीं है कि मनोजात व मानसिक (psychogenic) दृष्टिकोण को मद्यपान की अतिसरल की गई व्याख्या माना जाता है । एक मनोवैज्ञानिक विचार यह है कि लगभग सभी मद्यसारिक बचपन में भावात्मक आवश्यकताओं के वचन से ग्रसित होते हैं । क्लाइमबेल (1956: 45) ने कहा है कि माता-पिता की अभिवृत्तियों के चार प्रमुख प्रकार होते हैं जो वयस्कता के मद्यपान से जुडी

होती हैं। ये सब अभिवृत्तिया बच्चे को मानसिक आघात पहुचाती हैं और उसमें भावात्मक खचन उत्पन्न करती हैं (1) सत्तावाद (authoritarianism), (2) प्रकट अस्वीकरण (overt-rejection), (3) नीतिवाद (moralism), और (4) सफलता की पूजा। ये कारक ऐसे असुरक्षित व्यक्तित्व के,जो मदिरा का शिकार हो जाता है,बनने में महत्वपूर्ण हैं इस तथ्य से दिग्दर्शित होता है कि मद्यसारिकों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन बार-बार व्यक्तित्व के गुणों का निम्नांकित उल्लेख करते हैं अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों में ऊचे स्तर की चिन्ता, भावात्मक अपरिपक्वता, सत्ता के प्रति द्वैधवृत्ति (ambivalance), कुण्ठा के प्रति कम सहनशीलता, आत्मसम्मान की कमी, अलगाव और दोष की भावनाए (क्लाइनबेल, 1956 49)। ये मनोवैज्ञानिक लक्षण मद्यपान के परिणाम नहीं हैं, अपितु मद्यपान के कारण हैं। ये कई मद्यसारिकों में उनके अत्याधिक पीने के आरम्भ करने से प्राय. पहले ही विद्यमान होते हैं।

कुछ विद्वानों के अनुसार मद्यपान और व्यक्तित्व के असमायोजन में निश्चित सबध दिखलाई पडता हैं। आरम्भ में एक व्यक्ति जीवन की अपनी समस्याओं से आश्रय लेने के लिये या अपनी मुसीबतों से अल्पकालिक राहत पाने के लिये पीता है। धीरे-धीरे वह अधिक से अधिक बार पीना आरम्भ कर देता है और उस पर पूर्ण रुप से निर्भर हो जाता है। तथापि, मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि केवल वे ही व्यक्ति निरन्तर पीने लगते हैं,जो भावात्मक रुप से अपरिपक्व होते हैं या जिनमें आत्मविश्वास नहीं होता है।

समायोजन की वे कौन सी समस्याए है जिनसे चिन्ता,तनाव,दोष,और कुण्ठा उत्पन्न होती हैं ? बेकम (1959 208) के अनुसार प्रमुख ये समस्याए है व्यक्ति का अपना मूल्याकन,दूसरों के आदर और प्रेम को अर्जित करना और उसको बनाये रखना,स्वाग्रह (self-assertion) के कारण दूसरों से सघर्ष,पूर्णतया आक्रामक होने से झगडा,स्वामित्व से जुडी प्रतिष्ठा,व्यक्तिगत सुरक्षा के बारे में व्यापक सुरक्षा क्योंकि ये पैसे से जुडे हुए हैं,विशिष्ट लक्षणों की प्राप्ति के लिये स्वीकार किये गये उत्तरदायित्व, और यौन सबधी मामले।

मदिरा सेवन के समाजशास्त्रीय कारण मूलत वही हैं जो मादक पदार्थ लेने के हैं। तथापि, मदिरा सेवन और अवैध मादक पदार्थों के लेने के कारणों में भेद किया जा सकता है। क्योंकि मदिरा अवैध मादक पदार्थों के अपेक्षाकृत सामाजिक रुप से अधिक स्वीकार्य है। इसलिये मदिरापान से व्यक्ति के भय,परेशानिया और चिन्ताए कम हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त मदिरा अवैध मादक पदार्थों की तुलना में अधिक आसानी से मिल जाती है। वह कई मादक पदार्थों जैसे हेरोइन,कोकीन और एल एस डी से अधिक सस्ती भी है। मदिरा पीने के प्रमुख समाजशास्त्रीय कारण हैं (1) पर्यावरण से सबधित दबाव,(2) मित्रों के दबाव,और (3) प्रबल उप-सस्कृति।

प्रश्न यह है कि क्यों कुछ व्यक्ति विशेष पर्यावरण के दबाव के कारण पीना पसन्द करते हैं जबकि अन्य ऐसा नहीं करते ? यहा निश्चित रुप से व्यक्ति के अनुभव में व्यक्तित्व और सास्कृतिक कारक प्रमुख अनुकूलन (conditioning) तत्व होते है। सास्कृतिक वर्जनाए और

मद्य-निषेध की नीति के कारण मदिरा की अनुपलब्धता कई व्यक्तियों को उसके प्रयोग के जोखिम से दूर रखती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मद्यपान की व्याख्या एकल कारक (single-factor) उपागम के स्थान पर सम्पूर्णवादी (holistic) कारक के द्वारा ही की जा सकती है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या सस्कृति में ही ऐसे दबाव ढूढे जा सकते हैं जो मद्यपान को प्रोत्साहित करते हों और उसे रोकते हों। यह कहा जाता है कि कुछ सस्कृतिया ऐसी हैं जो दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छे तरीके से व्यक्ति पर प्रभावी नियत्रण रखती हैं। अमरीका में एक अनुसंधान बताता है कि यहूदियों में (13.0%) कैथिलिकों (21.0%) और प्रोटेस्टेन्टों (41.0%) की तुलना में बहुत कम मद्यत्यागी (teetotallers) हैं। फ्रान्स, जर्मनी और अमरीका में शराब का काफी प्रचलन है। अभी हाल में ही मद्यपान इन देशों के व्यक्तियों के जीवन में एक प्रमुख सकट बन गया है। एक बार व्यक्ति सास्कृतिक स्वीकृतियों के कारण मदिरा का सेवन प्रारम्भ कर देते हैं तो वे उसका बार-बार सेवन करते हैं, विशेषतया असुरक्षा एवं चिन्ताओं की स्थितियों में।

वर्तमान उपागम यह है कि मद्यपान को चरित्र और प्रेरणा के संदर्भ में समझा जाना चाहिये। मद्यसारिक एक रोगी पुरुष है। उसे उपहास, निराकरण (condemnation), या निन्दा से नहीं देखा जाना चाहिये। वह उस समय तक मनोग्रन्थियों (complexes), अभिवृतियों और आदतों का शिकार रहता है जब तक कि उसके आत्मनाश की प्रक्रिया अपरिहार्य नहीं हो जाती।

मद्यपान की समस्याए (Problems of Alcoholism)

मद्यपान की समस्याएं—व्यक्तिगत दुख, पारिवारिक बजट, पारिवारिक क्लेश, मजदूरी की हानि, स्वास्थ्य का बिगड़ना, दुर्घटनाएं और हरजाने के दावे, जेल में हवालात के दौरान उपचार के खर्चे, न्यायालयों में पैसे का नुकसान और अपराध की प्रवृति—प्रायः अनर्थकारी है। सामाजिक विचलन और सामाजिक समस्याएं मदिरा के उपयोग और दुरुपयोग से उपजती हैं। यद्यपि हमारे देश में खुले आम अधिक नशे में होने के कारण वार्षिक गिरफ्तारियों की संख्या अधिक नहीं है, परन्तु यह सर्वविदित है कि बड़ी संख्या में मद्यसारिक इसलिये गिरफ्तार नहीं किये जाते क्योंकि गिरफ्तारी इस समस्या का अच्छा हल नहीं माना जाता। बड़ी संख्या में व्यक्ति जो बलात्कार, सेंध लगाकर चोरी, हत्या और साधारण चोरी के लिये गिरफ्तार किये जाते हैं, वे लोग होते हैं जो कि मदिरा के नशे में इन्हें करते हैं। मदिरा राजमार्ग की दुर्घटनाओं का प्रमुख कारक है। इसके अतिरिक्त इससे प्रतिवर्ष हजारों मृत्यु हो जाती है।

अस्पतालों में भर्ती की बड़ी प्रतिशतता, विशेषतया मानसिक अस्पतालों में, उन व्यक्तियों की होती है जिन्हें मद्यसारीय विकृति (alcoholic disorder) या मदिरा के पीने से समस्या (drinking problem) होती है। अन्य सामाजिक रुप से विचलित कार्य जो मदिरा/मादक पदार्थों से संबंधित होते हैं, वे हैं: चोरियां, रिश्वतें, पत्नी को पीटना और आत्महत्याएं।

आत्महत्या पर हुये अध्ययन बताते है कि मद्यसारिकों (मादक पदार्थ और शराब का उपयोग करने वालों) में गैर मद्यसारिकों (मादक पदार्थ और शराब का उपयोग नही करने वालों) की अपेक्षा आत्महत्या की दर 50 गुना अधिक है।

मद्यसारिकों या मादक पदार्थ प्रयोक्ताओ (users) द्वारा चार या पाच अन्य व्यक्ति भी प्रभावित होते हैं (पत्नि, माता-पिता, बच्चे, भाई-बहिन, घनिष्ठ मित्र, साथ में काम करने वाले), इसलिये यह समस्या देश में लाखों व्यक्तियो को प्रभावित करती है। मद्यसारिकों और मादक पदार्थों के प्रयोक्ताओ के परिवार सबसे अधिक कष्ट पाते हैं। यहा तक कि पारिवारिक हिसा, पारिवारिक अशान्ति और तलाक तक उनके कारण होते है। शराब पीना व्यापार, कार्यालय-कार्यकुशलता और कारखाने के उत्पादन को भी प्रभावित करता है। अनुपस्थिति, कम उत्पादकता और कमजोर विवेक जिससे कार्य सबधी दुर्घटनाए होती हैं, से सरकार को करोडों रुपये की हानि होती है। अधिकाश कारखानों के मालिक कारखानों/कार्यालयों में कार्यरत कर्मचारियों की इन समस्याओं में रुचि नही दिखाते अथवा उनके होने से इकार करते हैं, जिससे कि वे उनकी रोक के लिये प्रभावी उपायों को लागू करने की दिक्कत से बच सकें।

मदिरा पीने वाला यह सोचता है कि मदिरा उसके तनाव, दोष, चिन्ता और कुण्ठा को कम कर देगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह उसकी कार्य कुशलता (operational efficiency) को सामाजिक अस्तित्व (social existence) स्तर या मात्र अस्तित्व (bare existence) के लिये आवश्यक न्यूनतम स्तर से भी नीचे कर देती है। एक शराब पीने वाले को यह भ्रामक विश्वास होता है कि मदिरा समाज मे सबधों और अन्तर वैयक्तिक गतिविधि को अधिक सरल बना देगी। परन्तु वास्तव मे मदिरा व्यक्ति के सम्पर्कों में भागीदारी को समाप्त कर देती है और इस प्रकार व्यक्ति को सामाजिक रुप से निर्बल कर देती है। वह सामाजिक रुप से मूल्यवान विचारों को क्षति पहुचाती है।

हमारी मद्यपान की समस्या यह है कि इसने अवैध शराब बनाने को बढा दिया है। स्वाधीनता के उपरान्त देश में सैकडों दुखद घटनाए हुई है, जिनमें हजारों व्यक्ति अवैध रुप से निर्मित मदिरा को पीने से मर गये हैं। नकली शराब, 'सुरा' के शिकारी सदा निर्धन व्यक्ति होते हैं। 6 नवम्बर, 1991 को लगभग 200 व्यक्ति, जो उत्तर-पश्चिमी देहली की चार गन्दी बस्तियों और आसपास के क्षेत्रों में रहते थे, उत्तर प्रदेश के गाजियाबाद जिले के मुरादनगर मे एक फार्मेसी द्वारा निर्मित अवैध शराब के पीने से मर गये। 7 मई, 1992 को कटक शहर (उडीसा) में 200 व्यक्ति अवैध शराब पीने से मर गये थे। इसके पूर्व 1 जनवरी, 1992 को दक्षिण बम्बई में तारदेव और गामदेवी बस्तियों में नव वर्ष के अवसर पर अवैध शराब पीने से 100 से अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी। इसी प्रकार मार्च 1992 में तमिलनाडु (मयीलादुथराई) में 60 व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी। परन्तु फिर भी आज तक अवैध शराब बनाने व बेचने वालों में से किसी को भी फासी देने के लिए मुकदमा नही चलाया गया है। इस प्रकार की दुर्घटनाए भविष्य में भी होती रहेंगी। किसी ने भी कभी लोगों को भारत निर्मित विदेशी मदिरा (आई एम एल एफ)

के पीने से मरते नहीं सुना । देशी शराब की कई किस्में होती हैं,यद्यपि वे सब साधारण तथा एक ही गुण और कीमत की होती है । देशी शराब में ऐलकोहल की मात्रा 28 प्रतिशत होती है,जबकि सुरा में 32 प्रतिशत होती है। अधिकतर पाइरीडाइन (*pyridine*) का परिशोधित (rectified) स्पिरिट को विगुणन (denature) करने के लिये उपयोग होता है । इसको साइट्रिक एसिड से निष्प्रभावित (neutralise) किया जाता है, क्योंकि परिशोधित स्पिरिट लाइसेंस प्राप्त होती है । कभी-कभी मिथाइलेटेड स्पिरिट को उसमें मिला दिया जाता है । ऐसे जहरीले पेय आख की दृष्टि,लिवर और गुरदे को अंत में क्षतिग्रस्त कर देते हैं । प्रशासन अवैध शराब के पीने की दुखद घटनाओं के प्रति अनुत्तरदायी रहता है और सरकार इस समस्या से निपटने के बारे में निरुत्साहपूर्ण रुख अपनाती है । अधिक से अधिक वह इन दुखद घटनाओं में मरने वालों के परिवारों को 5,000 रुपये से 10,000 रुपये तक की अनुग्रह राशि का भुगतान कर देती है । अवैध शराब बनाने वालों,उनकी बाहु शक्ति और पैसे की शक्ति की भूमिका साम्प्रदायिक दगों में एक रिकॉर्ड है। देश के कई नगर अवैध शराब बनाने वालों-पुलिस-राजनीतिज्ञ के गठबन्धन से ध्वस्त हो जाते हैं । अवैध शराब बनने में लाभ की सीमा (margin) वास्तविक निवेश से 9 से 12 गुना आंकी जाती है । कोई आश्चर्य नही कि असामाजिक तत्वों की एक बड़ी सख्या अवैध शराब को निर्मित करने,जमा करने,ढोने और वितरण करने को अपना व्यापार बना लेती है । जस्टिस मियाभाई आयोग ने,जिसे गुजरात सरकार द्वारा 1981 में राज्य में निषेधाज्ञा की नीति के विषय में छानबीन के लिये नियुक्त किया गया था,1983 में अपनी रिपोर्ट पेश की । उसने अवैध शराब बनाने वालों और राजनीतिज्ञों में सबंध बतलाया और इस तथ्य को भी उजागर किया कि राज्य (गुजरात) में लगभग सभी अवैध शराब बनाने वाले समाज-विरोधी तत्व थे,जो कि उनका पर्दाफाश करने के प्रयत्न करने वालों को आतंकित कर सकते थे ।

मद्यसारिकों का उपचार (Treatment of Alcoholics)

मद्यपान मादक पदार्थों की लत से अधिक उपचार योग्य है । कई सफल उपचार कार्यक्रम किये जा चुके है । उपयोग और दुरुपयोग के मध्य क्योंकि एक सततता बनी रहती है इसीलिये मदिरापान की विभिन्न श्रेणियों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की योजनाएं होती हैं । मुख्यत: मनश्चिकित्सा, पर्यावरण चिकित्सा, व्यवहार चिकित्सा, और डाक्टरी चिकित्सा इसके लिये सुझाई जाती हैं और विभिन्न प्रकार के पियक्कडो के लिये उपयोग में लाई जाती हैं । डाक्टरी चिकित्सा में अस्पताल और क्लिनिक मदिरा के आदी मरीजों को 'एन्टाब्यूज' नामक दवाई देते हैं (जिसे तकनीकी रुप से टैट्रा इथाइलरयू रेम्डिमुल फाइड कहते हैं) (वाल्श और फर्पी,1958: 151) । यह दवाई कीमती नही है और मुंह से ली जाती है । यह कोई असर नही करती जब तक कि मरीज शराब नहीं पीता; शराब पीने की स्थिति में उसके तीव्र और अप्रियकर लक्षण होते हैं, परन्तु खतरनाक नहीं होते । इस प्रकार एन्टाब्यूज पीने वाले को आवर्तन (relapse) के विरुद्ध रोकती है ।

मनश्चिकित्सा में पुनर्सामाजीकरण को परामर्श एव सामूहिक चिकित्सा के द्वारा प्रबलित (reinforce) किया जाता है । पर्यावरण चिकित्सा में,पीने वाले को पर्यावरण बदलने के लिये बाध्य किया जाता है जिससे कि उसके व्यवहार पर सरलतापूर्वक नियन्त्रण रखा जा सके । व्यवहार चिकित्सा में उसके भय और अवरोध (inhibitians) को हटाया जाता है,जिससे वह आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता को विकसित कर सके । इस प्रकार निम्नाकित उपचार के उपायों का पीनेवालों (drinkers) और मद्यसारिकों (alcoholics) के उपचार के लिये प्रमुख रुप से उपयोग किया जाता है.

(1) *अस्पतालों में निर्विषीकरण (detoxication in hospitals)*: मदिरा के व्यसनियों के लिये पहला कदम निर्विषीकरण करना है । मद्यसारिको को डाक्टरी देखभाल और निरीक्षण की आवश्यकता होती है ।उनके प्रत्याहार (withdrawal) लक्षणों, जैसे ऐंठन (convulsions) और मतिभ्रम (hallucinations) के उपचार के लिये प्रशान्तकों *(tranquillizers) का उपयोग किया जाता है । उनके शारीरिक पुनर्निवास के लिये अधिक* प्रभाव वाले विटामिनों और द्रव्य इलेक्ट्रोलाइट षासग (fluid electrolyte balance) का भी उपयोग किया जाता हे ।

(2) *परिवार की भूमिका (role of family)*. मद्यसारिक के परिवार को उसके उपचार और पुनर्वास में सम्मिलित करने से सफलता की सभवनाए 75 प्रतिशत से 80 प्रतिशत तक बढ जाती है । पारिवारिक सदस्य उपदेश नही देते, ना ही वे मद्यसारिक पर दोषारोपण या उसकी निन्दा करते हैं ।वे समस्याओं को कम करते है,सद्भावपूर्ण और नि स्वार्थ सहायता और मार्ग दर्शन प्रदान करते हैं और मद्यसारिक को कभी नही छोडते हैं ।

(3) *अनामी मद्यसारिक (alcoholics anonymous)*· सबसे अधिक प्रभावी सामाजिक चिकित्साओं में जो सामूहिक अन्त क्रिया का उपयोग करती हैं, अनामी मद्यसारिक सगठन है । यह पूर्व मद्यसारिकों का एक सगठन है जो चालीस के दशक के प्रारम्भ में शुरु हुआ और आज उसके लाखों सदस्य हैं । भारत में उसकी शाखाए केवल हाल ही में कुछ महानगरों में खुली हैं । अनामी मद्यसारिक के सदस्य अन्य मद्यसारकों को अपने अनुभवों में भागी बनाते हैं और उनकी सामान्य समसयाओं के समाधान और मदिरापान से मुक्त होने के प्रयास में उनको शक्ति और आशा प्रदान करते हैं । वह व्यक्ति,जो पीने की आदत को वश में करने में ऊपरी तौर पर अपने को असमर्थ पाकर निरुत्साहित महसूस करता है, दूसरों से, जिन्होंने इसी प्रकार की बाधाओं को पार किया है, उदाहरण और प्रोत्साहन से साहस बटोरता है । सदस्यता के लिये केवल एक शर्त पीने को समाप्त करने की इच्छा है । अनाम मद्यसारिक प्रमुख रुप से देहली, बम्बई और कलकत्ता जैसे महानगरों में पाये जाते हैं । सभाए केवल इस रुप में चिकित्सा का कार्य करती हैं कि पियक्कड उन व्यक्तियों के सामने अपनी समसयाओं को व्यक्त कर सकते हैं जो उनके साथ काम करते हैं और जो उनकी कमजोरी से लडने में और आत्मसम्मान और घनिष्ठता की भावना को सशक्त करने में उनकी सहायता करते हैं ।

(4) *उपचार केन्द्र (treatment centres)*: ये केन्द्र कुछ नगरों में अस्पताल के उपचार के विकल्पों के रूप में विकसित किये गये हैं। प्रत्येक केन्द्र में लगभग 10-20 आवासी होते हैं। यहां न केवल अनुकूल पर्यावरण में परामर्श दिया जाता है, अपितु आवासियों को पीने के विरुद्ध नियमों का भी पालन करना पड़ता है।

(5) *शिक्षा के माध्यम से मूल्यों में परिवर्तन करना (changing values through education)*. कुछ स्वयंसेवी संगठन मद्यसारियों को अत्यधिक पीने के खतरों से सावधान करने के लिये कुछ शैक्षणिक एवं सूचना कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं। सामाजिक कार्यकर्ता पियक्कड़ों को जीवन का सामना करने और पीने के बारे में सामाजिक मूल्यों और रुखों में परिवर्तन लाने में मदद करते हैं।

मद्यपान पर नियन्त्रण (Control on Alcoholism)

एक चरण पर, भारत सरकार पीने और मद्यपान की समस्या के हल करने के उद्देश्य से कानून का सहारा लेना चाहती थी और मद्य-निषेध लागू करना चाहती थी। तथापि, बड़ी संख्या में नेता और अधिकारीगण इसके विरोध में थे। कुछ राज्यों में मद्य-निषेध कानून बनाये गये, परन्तु ठीक प्रकार से उनका क्रियान्वयन नहीं हो सका। कुछ राज्यों ने कुछ दिनों को मद्यवर्जित दिन (dry days) कर दिया। यह योजना भी सफल नहीं हो पाई क्यों कि पीने में इच्छुक खरीददार और इच्छुक विक्रेता दोनों सम्मिलित होते हैं, और मद्य-निषेध के शिकार को अपराधी की श्रेणी में धकेल दिया जाता है। अत: अवैध शराब का बनाना और पुलिस के दुर्व्यवहार बढ़ गये। इसलिये दमनात्मक उपाय, जिसमें पुलिस की प्रबल सरगरमी और कठोर न्यायिक उपायों का प्रयोग करना पड़ता था, को समाज की सुरक्षा के लिये हटाना पड़ा। मद्यनिषेध के मॉडल के समाप्त होने से सरकारी नियन्त्रण शराब के व्यापार के नियन्त्रण का मूलरूप से राज्य का उत्तरदायित्व बन कर रह गया है। राज्य सरकारें खुली लाइसेंस प्रणाली के व्यापार के अन्तर्गत मदिरा के पेय पदार्थों को निजी उद्यम को सौंप देती हैं और नाममात्र के सार्वजनिक लक्ष्य ये होते हैं कि उन व्यक्तियों को जिनका अपराधिक अथवा सन्दिग्ध वित्तीय इतिहास हो, इससे अलग रखा जाये और लाइसेंस वाली शराब की दुकानों के भौतिक स्थान पर नियन्त्रण रखा जाये। प्रत्येक राज्य सरकार जब ठेके को नीलाम करती है, करोड़ों रुपये प्रति वर्ष कमाती है। उग्र सुधारवादी यह तर्क देते हैं कि जब तक हमारी सामाजिक संरचना और आर्थिक प्रणाली असमानता, बेरोजगारी, निर्धनता, अन्याय, और भूमिका-तनावों और अन्य तनावों को उत्पन्न करते रहेंगे, मदिरापान बना रहेगा। चूंकि हमारे समाज में चल रही सामाजिक पद्धतियां अधिक कुंठाएं एवं वंचन पैदा करती हैं, इस कारण पीने की दर भविष्य में और अधिक बढ़ेगी। लिहाजा, जिसकी आवश्यकता है वह है एक ऐसी नीति और कार्यक्रम जो अधिक नौकरियों को पैदा करे, निष्पक्ष प्रतियोगिता की अनुमति दे और नियुक्तियों और पदोन्नतियों में भ्रष्टाचार और भाई भतीजावाद को कम करे। यदि व्यक्तियों के जीवन को सार्थक, लाभप्रद और मनोरंजनक बनाया जाये, तो मदिरा की आवश्यकता नहीं रहेगी या बहुत कम हो जायेगी। दूसरे, हानि और

दुख,जो मदिरा एक व्यक्ति के जीवन और समाज को पहुचा सकती है,के बारे में शिक्षा मदिरा के उपयोग को नियन्त्रित करने में सहायक होगी। माता-पिता मद्यसारिक बनने के खतरों के बारे में शिक्षा दे सकते हैं और विचलितों को दण्डित कर सकते हैं और आवश्यक भय पैदा कर सकते हैं। माता-पिता की शिक्षा ऐसे दृष्टिकोणों और व्यवहार को बनाने से सबधित होनी चाहिये जो नही पीने में सहायक हो। अन्त में,स्कूल और कालेज भी युवा छात्रों को मदिरा और मद्यपान के मनोवैज्ञानिक एव समाजशास्त्रीय परिणामों के बारे में शिक्षित कर सकते हैं।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मद्यपान की समस्या के लिये सयुक्त आक्रमण की आवश्यकता है, जिसमें उपचार, सामाजिक उपाय, शिक्षा एव अनुसन्धान सम्मिलित हों।

REFERENCES

1. Clinebell Howard J, *Understanding and Counselling the Alcoholic*, Abingdon Press, New York, 1956
2. Herry Gold and Scarpiti Frank, (ed), *Combating Social Problems*, Holt, Reinhar and Winston, New York, 1967
3. Jellinek, E M , "Phases in Drinking History of Alcoholics", *Quarterly Journal of Studies on Alcohol*, June, 1946
4. Jhonson, Elmer H, *Social Problems of Urban Man*, the Dorsey Press, Homewood, Illinois, 1973
5. Keller Mark and Vera Efron, "The Prevalence of Alcoholism," *Quarterly Journal of Studies on Alcohol*, December, 1955
6. Landis, Paul, H., *Social Problems*, J B Lippincott Co , Chicago, 1959
7. McVeigh Frank and Shostak Arthur, *Modern Social Problems*, Holt, Rinchart and Winston, New York, 1978.
8. Ramsay Clank, *Crime in America*, New York, 1978
9. Shepard, J M. and Voss, H L *Social Problems*, Macmillan Publishing Co , Inc , New York, 1978
10. Walsh & Furfay, *Social Problems and Social Action*, Prentice Hall Inc , Englewood Cliffs, NJ 1958
11. Waskin Richard, (ed.), *Social Problems*, McGraw Hill & Co , New York, 1964

अध्याय 15

आतंकवाद
Terrorism

आतकवाद एक ऐसी समस्या है जिसका भारत में हम तीन दशकों से अधिक से सामना कर रहे हैं। इसमे पहले नागा और मिजो विद्रोहियों से निबटते समय हमने उत्तर-पूर्वी भारत में विद्रोह की समस्या और बगाल में नक्सलवादियों के आतंकवाद का सामना किया था। आज आतकवाद को ऐसी समस्या माना जाता है जो न केवल राष्ट्रीय किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भी अस्थिर कर सकती है। हाल के समय में आतंकवाद ने विकसित एव विकासशील दोनों देशों को प्रभावित किया है। जिन कारकों ने आतंकवाद को आतंकवादी तकनीकों से व्यक्तियों द्वारा वांछित लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये एक महत्वपूर्ण साधन बनाया है, वे इस प्रकार हैं 'उद्देश्य' की विशुद्धता में दृढ विश्वास, कट्टर निष्ठा, आत्म-बलिदान की इच्छा, तानाशाही की भावना, और विदेशों से वित्तीय एवं भौतिक सहायता।

अवधारणा (The Concept)

आतंकवाद क्या है ? विशेषज्ञों की मान्यता है कि इसकी एक एकल परिभाषा सम्भव नहीं है। 1936 और 1981 के मध्य 109 परिभाषाएँ दी गयी थीं (Alex Schmid, *Political Terronsm: A Research Guide*) और कुछ अब भी दी जा रही हैं। फिर भी आतंकवाद की जो सामान्य धारणा है (जो यद्यपि अस्पष्ट है) उसके अनुसार "आतंकवाद हिंसा का या हिंसा की धमकी का उपयोग है तथा लक्ष्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष/लड़ाई की एक विधि व रणनीति है एव् अपने शिकार (victim) में भय पैदा करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। यह क्रूर (rutheless) है और मानवीय प्रतिमानों का पालन नहीं करता। इसकी रणनीति में प्रचार एक आवश्यक तत्व है।"

आतंकवाद, विद्रोह, गृह-युद्ध, क्रान्ति, गुरिल्ला युद्ध, अभित्रास (भयभीत करना) और उग्रवाद जैसे शब्द बहुधा एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग किये जाते हैं और इनका उपयोग मुक्त रूप से होता है। इन सब में 'हिंसा' सर्व-सामान्य (common) है। आतंकवाद अभित्रास की एक संगठित पद्धति है। मोटे तौर पर उसे यह कह कर परिभाषित किया जाता है कि यह "एक हिंसक व्यवहार है जो समाज या उसके बड़े भाग में राजनैतिक उद्देश्यों से भय पैदा करने के इरादे से किया जाता है।" इसको ऐसे भी परिभाषित किया जाता है कि "यह एक ऐसा तरीका है जिसके द्वारा एक सगठित समूह अथवा दल अपने प्रकट उद्देश्यों की प्राप्ति मुख्य रूप से हिंसा के योजनाबद्ध उपयोग से करता है" (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज)।

आतंकवादी कार्यवाहियों का लक्ष्य वे व्यक्ति होते हैं जो व्यक्तिगत कर्त्ता के रूप में अथवा सत्ता के प्रतिनिधि की तरह ऐसे समूह के उद्देश्यों की परिपूर्ति में बाधा डालते हैं। एक 'आतंकवादी' वह है जो अपने संगठन द्वारा निर्धारित किये गये दण्ड को उन व्यक्तियों पर लागू करता है जो क्रान्तिवादी कार्यक्रम में बाधा पहुंचाने के लिये दोषी माने जाते हैं। आतंकवादी धमकी नहीं देता है, अपितु मृत्यु या विध्वंसकता उसके कार्य के कार्यक्रम का भाग है। यदि उसे बन्दी बना लिया जाता है तो वह अपनी निर्दोषता को सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करता, अपितु वह अपने सिद्धान्तों को प्रचारित करता है।

यद्यपि आतंकवाद, विद्रोह और क्रान्ति के दीर्घकालीन उद्देश्य एक से हैं, अर्थात् विद्यमान शासन अथवा व्यवस्था को समाप्त कर देना, परन्तु उनके अल्पकालिक उद्देश्य, रणनीति या प्रणाली भिन्न हो सकती है।

एक मत यह है कि उपरोक्त परिभाषाएं उस आतंकवाद से संबंधित हैं जो 'राज्य के विरोधियों' द्वारा अपनाया जाता है। एक दूसरा आतंकवाद होता है जो 'राज्य के तंत्र' द्वारा अपनाया जाता है। उपरोक्त परिभाषाओं में आतंकवाद की पिछली किस्म सम्मिलित नहीं है। आतंकवाद की कला के सबसे बड़े कार्यान्वित करने वालों, जैसे हिटलर, स्टालिन, माओ, याहिया खान, मुसोलिनी, और फ्रैन्को को इन परिभाषाओं को मद्देनजर रखते हुये 'आतंकवादी' नहीं कहा जा सकता। राज्य के द्वारा किया गया आतंकवाद उस हिंसा का उल्लेख करता है जो इतर-कानूनी (extra-legal) तरीकों पर आधारित होता है। फिर भी यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि राज्य द्वारा की गई सब हिंसाएं आतंकवाद नहीं होती। वास्तव में, एक संगठित राज्य को कभी-कभी कुछ उद्देश्यों के लिये हिंसा का प्रयोग करना पड़ता है। प्रजातान्त्रिक राज्य सामान्यतया अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये कानूनी तंत्र का उपयोग करते हैं, केवल सर्वसत्तात्मक राज्य (Totalitarian states) ही आतंक का उपयोग करते हैं। परन्तु सभी सर्वसत्तात्मक राज्य आतंकवादी नहीं होते। उसी प्रकार प्रजातान्त्रिक राज्य भी कभी-कभी आतंक का उपयोग कर सकते हैं।

आतंकवाद की सामान्य परिभाषा में हिंसा की वे सभी किस्में सम्मिलित नहीं हैं जिनका संगठित समूह प्रयोग करते है। वह हिंसा जो विशुद्ध व्यक्तिगत उद्देश्यों के कारण की जाती है, आतंकवाद से अलग है। इसमें डकैती और लूटमार जैसे संगठित अपराध भी नहीं आते। परन्तु वे सब हत्याएं और डकैतियाँ, जो नक्सलवादियों जैसे सैद्धान्तिक गुटों के द्वारा की जाती हैं, आतंकवाद के क्षेत्र में आती हैं।

आतंकवाद को 'अभित्रास' (intimidation) और 'विद्रोह' से भी अलग किया गया है। 'अभित्रास' में, अभित्रास करने वाला फिरौती प्राप्त करने के लिये चोट (injury) की धमकी देता है परन्तु 'आतंकवाद' और 'विद्रोह' में आतंकवादी और विद्रोही वास्तव में हिंसा का उपयोग करते हैं। आतंकवाद व्यक्तियों के बीच की लड़ाई नहीं हैं, अपितु वह सामाजिक समूहों एवं राजनैतिक शक्तियों के बीच संघर्ष है। उसका व्यक्तियों को व्यक्ति होने के नाते से डराने

से कोई सरोकार नही है । आतक्वादी उन व्यक्तियों को दण्डित करते हैं जिन्हें उनका संगठन उस कार्यक्रम में बाधा पहुचाने का दोषी मानते हैं, जिसका लक्ष्य अवांछित सामाजिक या सरकारी प्रणाली को हटाना है । पॉल विल्किसन (1974) के अनुसार, राजनीति में आतंकवाद ब्लैकमेल, जबरदस्ती और अल्पसंख्यकों के संकल्प को बहुसंख्यकों के निर्णय के विरुद्ध और उसके ऊपर लागू करने का हथियार है ।

आतंकवाद उत्तेजिक भीड व 'सामूहिक हिंसा' (mob violence) से भी भिन्न है । सामूहिक हिंसा अनियोजित व अनियन्त्रित होती है । वह ऐसे तात्कालिक कारण से हो सकती है जो तर्क संगत तक नही हो और किसी निश्चित कार्यक्रम पर आधारित नहीं हो । आतंकवाद का एक निश्चित लक्ष्य होता है और वह नियोजित होता है । उसका उद्देश्य सरकारी सत्ता के मनोबल को गिराना और उसकी शक्ति को कमजोर करना होता है । फिर भी कभी-कभी आतंकवाद सामूहिक हिंसा को भी अपना तरीका बना सकता है ।

आतंकवाद और 'विद्रोह' में यह अन्तर है कि विद्रोही को स्थानीय जनता के एक बड़े भाग का समर्थन होता है, जब कि एक आतंकवादी के लिये यह आवश्यक नही है । इसके अतिरिक्त विद्रोही उस देश का नागरिक होता है जो अपने देश की संवैधानिक सरकार के विरुद्ध विद्रोह करता है और गुरिल्ला युद्ध के द्वारा सरकार को हटाने के लिये संघर्ष करता है; जब कि दूसरी ओर आतंकवादी उस देश का, जहां वह क्रियाशील है, नागरिक हो सकता है या नहीं भी हो सकता है (सक्सेना, 1985: 14-35) ।

उपरोक्त परिभाषाएं आतंक्वाद की छ: मूल परिभाषाई तत्वों को प्रस्तुत करती हैं । इनमें ये सम्मिलित हैं. (1) भय का प्रयोजन, यानि, मूल लक्ष्य (व्यक्ति/समूह) के मस्तिष्क में भय उत्पन्न करना, (2) सहायक (instrumental) या तात्कालिक पीड़ित (immediate victims), (3) मुख्य लक्ष्य (जनसमुदाय या व्यापक समूह और अन्य), (4) सहायक लक्ष्य (target) की परिणामस्वरूप मृत्यु और संपत्ति की हानि या नाश, (5) हिंसा, और (6) राजनैतिक उद्देश्य ।

आतंकवाद कई रूपों में प्रकट होता है-बाजार, रेल्वे स्टेशन, बस स्टैण्ड या बस में अपरिष्कृत व घर का बनाया हुआ बम, हैन्ड ग्रिनेड या अन्य विस्फोटक को रखने से लेकर महत्वपूर्ण व्यक्तियों का अपहरण और हत्या तक । आतंकवादियों का मुख्य उद्देश्य उनसे बदला लेना है जिन्हें वे अवरोध अथवा शत्रु अथवा अत्याचारी समझते हैं ।

आतक्वाद के पाँच प्रकार बताये गये हैं (Mahendra Ved, *The Hindustan Times*, March 22, 1993): (1) *राज्य द्वारा प्रायोजक (State-sponsored)* आतंकवाद जो अधिकांश एक कमज़ोर राज्य द्वारा प्रयोग किया जाता है; (2) *गुट द्वारा प्रायोजक (faction sponsored)* आतंकवाद जो एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है जो राज्यप्रतिरोध या पृथक्तावादी आन्दोलन के एक अंग के रूप में पैदा होता है; (3) *अपराध-सम्बन्धित (crime-related)* आतंकवाद जो आतंक फैलाने के लिए हिंसा को एक साधन के रूप में

प्रयोग करता है और जो प्रेरणा (motivation) के लिए राजनैतिक सत्ता के स्थान पर धन का उपयोग करता है, (4) *नार्को (Narco)* आतकवाद जो रुपयों के लिए मादक पदार्थों के धधे को समर्थन देता है, और (5) *विवाद प्रेरित (Issue motivated)* आतकवाद जो परमाणु हथियारो पर निषेध, भूमि सघर्षों, औद्योगिक प्रतिष्ठापनों चुनावो में जीतने आदि विवादों से प्रेरित होता है।

विशेषताए (Characteristics)

आतकवाद निरुद्देश्य (random) और क्रूर उत्पीडन, जोर-जबरदस्ती या जान-माल के नुकसान की तकनीक है। इसका प्रयोग ऐसे उपराष्ट्रीय समूहों द्वारा किया जाता है जो तनाव की भिन्न-भिन्न स्थितियों में काम करते हुए वास्तविक अथवा भ्रातिमूलक लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते हैं। आतकवाद की मुख्य विशेषताए ये हैं

- यह राज्य या समाज के विरुद्ध होता है।
- इसका राजनैतिक उद्देश्य होता है।
- यह अवैध और गैरकानूनी होता है।
- यह न केवल पीडित को अपितु सामान्य व्यक्तियो को डराने और उनमें भय एव आतक उत्पन्न करने की चेष्टा उन्हें अवपीडित एव वश में करने के अभिप्राय से करता है।
- जन साधारण मे इससे बेबसी और लाचारी की भावना पैदा होती है।
- यह बुद्धिसगत विचार को समाप्त कर देता है।
- इससे लडने या भागने की प्रतिक्रिया होती है।
- इसमें की गई हिंसा में मनमानापन होता है क्यों कि पीडितो (victims) का चयन बेतरतीब और अन्धाधुन्ध होता है।

उद्देश्य (Objectives)

आतकवादियों के उद्देश्य प्रत्येक आन्दोलन के साथ बदल सकते हैं, परन्तु आतकवाद के मुख्य उद्देश्य सभी *आतकवादी आन्दोलनों* में एक ही होते हैं। ये हैं (1) शासन को प्रतिक्रिया और अतिप्रतिक्रिया दिखाने के लिये प्रेरित करना। सरकार/समाज को आतकवादियों की माग को मनवाने के लिये बाध्य करने हेतु प्रतिक्रिया की आवश्यकता होती है। अति प्रतिक्रिया या अन्धाधुन्ध प्रतिक्रिया की आवश्यकता शासन द्वारा दमन किये जाने को दिखाने के लिये करनी पडती है जिससे कि जनता उस (शासन) से विमुख हो जाये और उस (जनता) की सहानुभूति उन्हें (आतकवादियों को) प्राप्त हो जाये। सरकार द्वारा अति विशिष्ट व्यक्तियों (वी आई पीज) और सरकारी सस्थाओं की सुरक्षा के लिये सुरक्षा बलो का उपयोग साधारण जनता की सुरक्षा के लिये उपलब्ध सुरक्षाबलों को कम कर देता है जिससे जनता में असुरक्षा और लाचारी की भावना बढ जाती है और आतक भी अधिक हो जाता है. (2) जनता के समर्थन को सगठित करना और संभावित समर्थकों को और अधिक आतकवाद के लिये प्रेरित करना, या/और अधिक

व्यक्तियों को उसमें अधिक लिप्त करना। विदेशी क्षेत्र में आतंकवादी गतिविधियों का उद्देश्य मित्र बनाने के स्थान पर व्यक्तियों को प्रभावित करना होता है। इन स्थानों पर मुख्य उद्देश्य शक्ति प्रदर्शन होता है एवं शासन द्वारा जनता की सुरक्षा करने और व्यवस्था को कायम रखने में असमर्थता दर्शाना होता है; (3) विरोधियों और मुखबिरों को खत्म करना और आन्दोलन के लिये खतरे को दूर करना और अपने अनुयायियों के अनुसरण को सुनिश्चित करना; और (4) अपने उद्देश्य और शक्ति का प्रचार करना एवं उसे अतिरंजित करना।

बलजीत सिंह (एलेग्जैंडर और फिन्गर, 1977.8) के अनुसार, आतंकवाद के व्यापक उद्देश्य इस प्रकार हैं (i) जनसमर्थन प्राप्त करना, (ii) शासन की सैन्य एवं मनोवैज्ञानिक शक्ति को विघटित और ध्वंश करना, और (iii) आन्तरिक स्थिरता को तोड़ना और विकास को रोकना। यदि इस आधार को स्वीकृत किया जाता है कि राजनैतिक आतंक मुख्यत. सैन्य-सामग्री के स्थान पर मानस (psyche) को अपना लक्ष्य बनाता है तो चुनिन्दा महत्वपूर्ण परन्तु अलोकप्रिय अधिकारियों और राजनीतिज्ञों को जान से मारने से आतंकवादियों का मनोबल बढ़ सकता है, जनता में सहानुभूति उत्पन्न हो सकती है और शासन को दमन के ऐसे उपाय करने के लिये उकसा सकता है जिससे जनता और अधिक विमुख हो जाये।

जे मेलिन (1971:9) ने राजनैतिक आतंकवाद के पाँच मुख्य अल्प कालिक उद्देश्य सुझाये हैं (i) सामान्य आतंकवादियों का मनोबल बढ़ाना, (ii) आन्दोलन का प्रचार करना, (iii) जनता की स्थिति भ्रान्तिमूलक एवं मनोवैज्ञानिक अलगाव, (iv) विरोधी शक्तियों को हटाना, और (v) सरकार को भड़काना।

उत्पत्ति और विकास (Origin and Development)

राजनैतिक आतंकवाद सत्ता के उपकरण (instrument of power) के रूप में 1793 की फ्रांसिसी क्रान्ति के दौरान विकसित हुआ। आतंक से इस क्रान्ति में दो पहलुओं का समावेश हुआ: एक समूह में चिन्ता की स्थिति, और उस उपकरण, जिसने भय और हिंसात्मक कार्यों को उकसाया, का लक्ष्य राज्य के राजनैतिक व्यवहार को प्रभावित करना था। फ्रांसिसी क्रान्ति के पश्चात, राजनैतिक आतंकवाद ने 1921 तक कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं की, जब कि आयरलैण्ड में आ आर.ए. ने उसका प्रयोग ब्रिटिश के विरुद्ध किया। विश्व युद्ध II शुरू होने को बाद (यानि, 1939 के बाद) राजनैतिक आतंकवाद अंतर्राष्ट्रीय परदे पर पुनः प्रकट हुआ। भारत के अतिरिक्त इसका प्रयोग अल्जीरिया, साइप्रस और कैन्या में राजनैतिक स्वाधीनता के लिये ऐसी गतिविधियों द्वारा किया गया जिनमें उत्पीड़न, तोड़-फोड़, अपहरण और हत्या सम्मिलित थी।

साठ के दशक में राजनैतिक आतंकवाद ने दूसरी अवस्था में पदार्पण किया। बलजीत सिंह (एलेग्जैन्डर और फिन्गर, 1977:7) के अनुसार, आतंकवाद में साठ के दशक में जो दो सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणात्मक परिवर्तन हुए, वे थे: उसका पार-राष्ट्रीय (trans-national) रूप और उसका एक आत्मनिर्भर रणनीति की तरह उभरना, यानि आतंकवादियों

ने बडे राजनैतिक कार्यक्षेत्र के बिना स्वतत्र रूप से कार्य करने का प्रयास किया। यह सचार और आधुनिक नगरीय सभ्यता में क्रान्ति आने से सभव हो पाया। 1969 और 1975 के बीच, चालीस से अधिक देश आतकवादी गतिविधियों से ग्रस्त थे (बलजीत सिह, 1977 9)।

एलेग्जैंडर और फिन्गर (1977 xi) का मत है कि आतकवाद के प्रमुख कारण आधुनिक सभ्यता की प्रकृति में ही हैं और आधुनिक औद्योगिक प्रणाली में निहित हैं। इन्होंने आतकवाद की उत्पत्ति और विकास के लिये निम्नाकित कुछ कारण दिये हैं·

(1) आज का जटिल प्रौद्योगिकी समाज आतकवाद के अकल्पित और बेरहम आक्रमणों का आसानी से शिकार हो सकता है, क्यों कि परिवहन केन्द्र, सचार सुविधाए, कारखाने और कृषि मैदान समर्पित एव कृत सकल्प आतकवादियों के बेतरतीब आक्रमणों से सदैव बचाये नही जा सकते,

(2) अत्यधिक परिष्कृत हथियार जैसे प्रक्षेपणास्त्र (missiles) और सुदूर नियन्त्रण शस्त्र विभिन्न आतकवादी आन्दोलनों के लिये प्राप्त करना अब अपेक्षाकृत सरल है। भविष्य में आतकवादी समूहों की पहुच सभवत रासायनिक एव अणु शस्त्रों और मृत्यु एव विनाश के उपकरणों तक भी हो जायेगी,

(3) आधुनिक युद्ध क्षमताओं के साथ 'शक्तिहीन' आतकवादी समूह उपराष्ट्रीय समूहों में परिवर्तित हो गये हैं और उनकी इतनी भयानक शक्ति हो गई है कि वे राज्यों के अन्दर राज्य बनाने के योग्य हो गये हैं जिससे वैध सरकारों के शासन करने या बने रहने की शक्ति कमजोर हो गई है (श्रीलका में लिट्टे, भारत में खालिस्तान कमाडो, और इजराइल में पी एल ओ ऐसे शक्तिशाली उपराष्ट्रीय समूहों के कुछ उदाहरण हैं)।

(4) सचार और परिवहन अवसरों ने आतकवाद के अन्तर्राष्ट्रीय जाल को कुछ अश तक केन्द्रीयकृत सगठनात्मक सरचना के आधार पर विकसित किया है। सैद्धान्तिक रूप से जुडे हुए समूहों और समान राजनैतिक स्वार्थों वाले समूहों के बीच सहयोग ने ऐसे सम्बध बनाये हैं जिनके वित्तीय सहायता, प्रशिक्षण, सैन्य सामग्रियों की आपूर्ति, सगठनात्मक सहायता और सयुक्त आक्रमण सम्मिलित हैं। 'मित्रता' (comradeship) का यह प्रतिरूप अन्तर्राष्ट्रीय हिंसा के क्षेत्रों का अनिवार्यता से विस्तार कर रहा है।

(5) सचार के माध्यमों में आई क्रान्ति के द्वारा आतकवादी केवल तात्कालिक पीडितों (victims) को ही अपनी हिंसा का निशाना नही बना पाते बल्कि उसकी दिशा को अधिक व्यक्तियों की ओर भी मनोवैज्ञानिक उत्पीड़न और ब्लैकमेल के लिये मोड सकते हैं। सचार माध्यमों के द्वारा प्रसार होने वाली सूचनाए भी आतकवादी तकनीकों और प्रेरणाओं को अन्य आतकवादी समूहों को निर्यात करती हैं।

इन कारकों के अतिरिक्त, दूसरे कारक जिन्होंने आतकवाद को काफी मात्रा में योगदान

दिया है ये हैं (i) निर्बल राष्ट्रों की शक्तिशाली राष्ट्रों को अशक्त करने की इच्छा। उनकी यह इच्छा उन्हें शक्तिशाली राष्ट्रों के उप-राष्ट्रीय समूहों को आतंकवादी गतिविधियों को समर्थन देने के लिए प्रेरणा देती हैं। इसके अलावा आतंकवादी समूहों को धार्मिक एवं सांस्कृतिक आधार पर धनवान अनिवासियों द्वारा भी वित्तीय सहायता से समर्थन देने का प्रोत्साहन मिलता है; (ii) आतंकवादियों द्वारा तस्करी और मादक पदार्थों के व्यापार के तरीकों का उपयोग करने की सम्भाव्यता और इस प्रकार आधुनिक हथियारों को खरीदने के लिये पैसा जमा करना, (iii) पूर्व और पश्चिम के बीच और वामपंथी और दक्षिणपंथी विचारधाराओं के बीच संघर्ष (iv) सारे संसार के समूहों में धार्मिक, भाषाई, प्रजातीय और राष्ट्रीय चेतना का बढ़ना; (v) अपनी स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय के वैध अधिकार के लिये संघर्ष कर रहे अल्पसंख्यकों में वंचन और कुण्ठा की भावनाएं, और (vi) नागरिकों द्वारा अपने देशों में सत्तारूढ़ दमनात्मक सरकारों और तानाशाहों के विरोध में वृद्धि।

राजनैतिक आतंकवादियों द्वारा अपनाई गई रणनीतियां और चालें सामान्यतया तीन समूहों को अपना निशाना बनाती हैं जनसाधारण, सत्तारूढ़ सरकार, और स्वयं आतंकवादी संगठन।

परिप्रेक्ष्य (Perspectives)

आतंकवाद को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में देखा है। हम इस प्रकार के चार परिप्रेक्ष्यों की पहचान कर सकते हैं: ऐतिहासिक, राजनैतिक, समाजशास्त्रीय और वैधानिक (सारणी 15.1)।

सारणी 15.1
आतंकवाद में परिप्रेक्ष्य
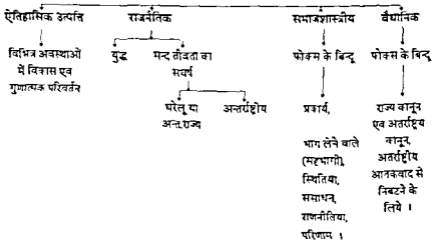
ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का केन्द्र बिन्दु आतकवाद की उत्पत्ति, विकास और उसकी विभिन्न अवस्थाओं में गुणात्मक परिवर्तन होता है। बलजीत सिंह (एलेग्जैन्डर और फिन्गर, 1977 5-17) एक वह विद्वान है जिसने आतकवाद के विश्लेषण के लिये इस उपागम का प्रयोग किया है।

राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में (जैम्स मुलर) राजनैतिक आतकवाद को राजनैतिक हिंसात्मक आन्दोलन माना जाता है, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक समूह (समूहों) द्वारा सगठित किया जाता है।

वैधानिक परिप्रेक्ष्य राज्य के कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर विभिन्न राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय आतकवाद से निबटने के लिये सहयोग पर सकेन्द्रित करता है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में आतकवाद के विश्लेषण के लिये जौर्डन पाइस्ट (एलेग्जैन्डर और फिन्गर, 1977 19) इनको केन्द्र बिन्दु बनाता है (i) आतकवाद में आतकवादियों, उनके निशाने (targets), शिकार (victims), आदि के रूप में लिप्त सहभागियों के प्रकार, (ii) भाग लेनेवालों के उद्देश्य, (iii) वास्तविक अन्तर्क्रिया की स्थितियाँ, (iv) प्रत्येक किस्म के भागीदार के पास ससाधनों के प्रकार, (v) आतक के लिये उपयोग में लाई गई रणनीतियाँ (हत्यायें, अपहरण, बम विस्फोट, लूट और हाईजैकिंग), और (vi) *आतकवादी प्रक्रिया का* परिणाम (मृत्यु, चोटें, सम्पत्ति का विनाश)।

जन समर्थन (Mass Support)

आतकवादियों की विचारधारा, लक्ष्य और प्रणाली के जनसमर्थन की प्रकृति और सीमा क्या है ? *कई बार ऐसा होता है कि जनता एक विशेष विचारधारा को स्वीकार कर लेती है*, परन्तु लक्ष्य को नहीं करती या लक्ष्य को स्वीकार कर लेती हैं, परन्तु आतकवाद के प्रस्तावकों की रणनीतियों को नहीं। जब कोई लक्ष्य से भी सहमत है तो भी यह आवश्यक नहीं कि वह आन्दोलन को समर्थन दे या एक सीमा से आगे जाये। इस प्रकार जनसमर्थन की मात्रा और गुणवत्ता एक आतकवादी आन्दोलन से दूसरे आतकवादी आन्दोलन से भिन्न होती है। वर्मा (तिवारी, *एस.सी., 1930 233) ने जनसमर्थन की विशेषताओं के कुछ सूचक (indicators) दिये हैं।* ये हैं विचारधारा या प्रकरण को समर्थन देना, प्रणाली से सहमत होना, पैसा और सामग्री का देना, रैलियों में भाग लेना, हथियार और गोलाबारूद की आपूर्ति करना, आश्रय या शरण देना, मौखिक या लिखित (मीडिया आदि में) समर्थन, और आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी (हिंसात्मक समर्थन)। वर्मा ने इन सूचकों को आरोही क्रम में क्रमबद्ध भी किया है और असैनिक *सघर्ष की तीन किस्में बतलाई हैं आतकवाद, विद्रोह और क्रान्ति। विद्रोह या गुरिल्ला युद्ध की* विशेषता यह होती है कि इसमें विद्रोहियों या गुरिल्लों की सख्या कम होती है और इन्हें जनसख्या के एक बडे भाग का समर्थन प्राप्त होता है। यह उस समय होता है जब कि उद्देश्य उपनिवेशी शासन को हटाना होता है या विदेशी शासक का प्रतिरोध करना होता है। क्रान्ति की विशेषता यह होती है कि इसमें भाग लेने वालों की बडी सख्या होती है और जनविद्रोह होता

है।

भारत में आतंकवाद ने युवाओं को अधिक आकर्षित किया है, विशेषतया, बेरोजगार, विभ्रान्त और आदर्शवादी युवाओं को। जब तक ऐसे उद्देश्य रहते हैं, जो तीव्र भावनाओं को उत्तेजित करते हैं तब तक आदर्शवादी युवा एक उद्देश्य के लिये आतकवाद के रोमाचक स्वप्नों को देखने के लिये प्रेरित होंगे। जब एक राष्ट्र निहित स्वार्थों में लिप्त भ्रष्ट नेतृत्व के कारण अपने उद्देश्य से विमुख हो जायेगा तो कुण्ठाएं और वंचन आक्रामक युवकों को उग्र प्रवृत्तियों की ओर ले जायेंगे, जैसे नक्सलवाद, या पंजाब में उस राज्य की समस्याए, या कश्मीर में धार्मिक समस्याए। ऐसे आतकवादी समूहों, जिन्होंने भारत के बाहर युवाओं को आकर्षित किया है, के कुछ उदाहरण हैं आयरलैंड में आई आरए, जोर्डन में ब्लैक सेप्टम्बरिस्ट्स, जर्मनी में मीन हॉफ, श्रीलंका में लिट्टे, और जापान में रेड आर्मी।

समर्थन का आधार (Support Base)

आतंकवाद की सफलता काफी हद तक उसके समर्थन के आधार पर निर्भर होती है जिसमें केवल राजनैतिक एव सामाजिक समर्थन ही सम्मिलित नही होता अपितु पैसे, हथियार और प्रशिक्षण का समर्थन भी होता है। आतकवादी विभिन्न स्रोतों से पैसा प्राप्त करते हैं, जैसे आदमियों से 'दान एव कर', बैंक की डकैतियों, मादक वस्तुओं की तस्करी और क्रय से, और बन्धक व्यक्तियों और अपहरण किये हुये विमानों से फिरौती एकत्रित करके। व्यक्तियों से प्राय हथियार लूटे जाते हैं या पुलिस चौकियों से छीने जाते हैं, या विदेशों से खरीदे जाते हैं। उदाहरणार्थ, पी एल ओ विद्रोही अरब राज्यों, चीन और रूस से हथियार प्राप्त करते हैं। भारत में खालिस्तानी आतंकवादी और कश्मीरी उग्रवादी प्रशिक्षण और हथियार कई पड़ोसी देशों से प्राप्त कर रहे हैं। दक्षिण भारत में कुछ राज्य अभी हाल में 1983 के श्रीलंका में हुए दंगों के पश्चात सक्रिय हो गये हैं। तमिलों के जातीय संबध भारत में श्रीलका के तमिलों के प्रति स्थानीय सहानुभूति प्रदान करते हैं। लिट्टे की उग्रवादी गतिविधिया हमारे दक्षिण भारत में एक या दो राज्यों के लिये कण्टक बन गई हैं। अब यह सिद्ध हो गया है कि लिट्टे उग्रवादी राजीव गांधी की 21 मई, 1991 को हुई हत्या के लिये भी उत्तरदायी थे।

भारत में आतकवाद (Terrorism in India)

आतकवाद के चार प्रकार जिनका हम अपने देश में आज सामना कर रहे हैं, वे हैं: पंजाब में खालिस्तान उन्मुखी आतकवाद, कश्मीर में उग्रवादियों का आतकवाद, बंगाल, बिहार, आन्ध्र प्रदेश में नक्सलवादी आतकवाद, और असम में उल्फा और बोडो आतकवाद। इससे पूर्व हमने नागालैंड (1951), मिजोरम (1966), मणिपुर (1976), त्रिपुरा (1980) और गोरखा लैंड का बगाल में इस समस्या का सामना किया था। खालिस्तानी उन्मुखी सिख आतंकवाद 'पृथक्वाद द्वारा एक मजहबी राज्य' के स्वप्न पर आधारित है, नागालैंड और मिज़ो आतंकवाद 'पहचान की सकट-स्थिति' पर आधारित था, मणीपुर और त्रिपुरा का आतंकवाद 'परिवेदना

(grievance) की स्थिति' पर आधारित था, और बगाल, बिहार और आन्ध्र प्रदेश के नक्सलवादी आतकवाद का आधार 'वर्ग विद्वेष' (class enemity) था। यदि पजाब में सिख आतकवाद 'परिवेदना की स्थिति' या 'सिखों के पहचान की सकट-स्थिति' (identity-crisis) पर आधारित होता, तो उससे राजनैतिक वार्ता और सवैधानिक साधनों से निबटा जा सकता था, परन्तु जब तक वह देश से पृथक होकर और उसके बटवारे से एक 'मजहबी राज्य' के लक्ष्य पर आधारित था तो सरकार को उसका प्रति आतक युक्तियों (counter-terror tactics) से सामना करना पडा।

पजाब में आतकवाद का 1984-85 में एक खतरनाक स्थिति में पदार्पण हुआ। इससे पहले 1982-83 के दौरान बहुत से निर्दोष व्यक्ति, अधिकाश हिन्दू, अन्धाधुन्ध मारे गये। इसके बाद की अवस्था में हिन्दुओं के साथ-साथ सिख भी मारे गये। पूजा-स्थलों को शस्त्रागारों में बदल दिया गया। मई 1985 में देहली, हरियाणा और उत्तरप्रदेश में कई ट्रान्जिस्टर बम विस्फोट हुए जिनमें बहुत जानें गई। वी आई पीओं को मारने के षडयत्र हुए जिनमें राजीव गाधी और हरियाणा के मुख्यमत्री उनकी यू एस ए की दौरान यात्रा पर सम्मिलित थे। सत लोंगोवाल, अकाली दल के अध्यक्ष की 20 अगस्त, 1985 में एक गुरुद्वारा के अन्दर हत्या कर दी गई।

बस में यात्रा करते चुनिन्दा गैर-सिख यात्रियों की हत्या, एयर इंडिया बोईंग 'कनिष्क' का विस्फोट और लगभग 300 निर्दोष भारतीयों का जान से मारा जाना, राजनैतिक नेताओं, पत्रकारों, फौज और पुलिस अफसरों और निर्दोष व्यक्तियों की 1984 और 1992 के बीच हत्या, *114 हिन्दू रेल यात्रियों का लुधियाना के पास बुद्दोवल रेल्वे स्टेशन पर जून 1991* में जान से मार देना, पजाब और उसके बाहर दोनों स्थानों पर बैंकों का लूटना, चुनाव लडने वाले 24 प्रत्याशियों का जून, 1991 में (जिन्हें बाद में फरवरी, 1992 तक स्थगित कर दिया गया) एक प्रत्याशी प्रति दिन की दर से जान से मारना, आतकवादियों की वे सब गतिविधिया थी जिनकी प्रत्येक व्यक्ति द्वारा भर्त्सना की गई।

आतकवादी विधान सभा में जून 1991 में होने वाले चुनावों के विरुद्ध थे। कांग्रेस (आई) और दक्षिणपथी दलों ने चुनावों का बहिष्कार किया था। केवल सिख सगठन और भारतीय जनता पार्टी ही चुनाव लड रही थी। पजाब में अकाली दल सात गुटों (मान, बादल, लोंगोवाल, कैप्टेन अमरेन्दर सिंह, बाबा जोगेन्दर सिंह, फेरूमन और राजदेव समूहों) में बटा हुआ है। अखिल भारतीय सिख विद्यार्थी फैडरेशन (ए आई एस एफ) भी छह समूहों में बटी हुई थी, प्रत्येक एक दूसरे के विरुद्ध थे (मानजीत, मेहता-चावला, दलजीत, बिट्टो, पादरी और खैलों)। पाच पन्थिक कमेटिया हैं (सोहन सिंह, ज़फरवाल, मनोचहल, उस्मानवाला, और भुट्टड)। इस प्रकार मतदाता उलझन में थे। चुनाव में राष्ट्रीय और पृथकतावादी शक्तियों के बीच एक सघर्ष होना था। स्वतत्र चुनाव असभव थे, क्योंकि उम्मेदवारों को डराने और जान से मारने की आतकवादी युक्तिया अपनाई जा रही थी। चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाली सरकार चुनाव कराने पर अटल थी। परन्तु केन्द्र में कांग्रेस सरकार के सत्ता में आने के एक दिन पहले चुनाव स्थगित कर

दिये गये। आतकवादियों का सिखों के लिये स्वशासित स्वायत्त राज्य,जहा सिख स्वतंत्रता के प्रकाश का अनुभव कर सकते,की माग पूरी नही हो सकी।

जनवरी 1991 और सितम्बर 1991 के मध्य मारे गये नागरिकों की सख्या प्रति माह 210 और 250 के बीच थी, अक्टूबर 1991 में 300, नवम्बर 1991 और सितम्बर 1992 के मध्य 100 और 200 के बीच, अक्टूबर 1992 और दिसम्बर 1992 के मध्य 40 और 50 के बीच, और जनवरी-फरवरी 1993 में 5 और 10 के बीच थी। मारे जाने वाले आतंकवादियों की संख्या भी इस बीच 100-200 प्रति माह रही (हिन्दुस्तान टाइम्स, फरवरी 25, 1993)। साम्राज्यवादी ताकतें जो भारत के टुकडे करना चाहती हैं और हमारे देश को कमजोर, अस्थिर और उसका विघटन तक करना चाहती हैं, वे खालिस्तान की माग को समर्थन और प्रोत्साहन दे रही थीं और उकसा रही थी। आन्तरिक कारक जिसने पजाब में आतंकवादियों को सहायता दी थी, वह था हिन्दू साम्प्रदायिकता का फैलना। आरएमएस साम्प्रदायिक व्यक्ति पूरे सिख समुदाय को आतकवादियों के अपराधों के लिये जिम्मेदार ठहरा रहे थे। वे बदले और प्रतिशोध का नारा लगाते रहते थे। उनका दावा कि 'सिख हिन्दू हैं', पृथक्तावादियों को यह दलील प्रदान करता था कि यदि खालिस्तान नही बनता तो सिख धर्म को हिन्दू धर्म आत्मसात कर लेगा। श्रीमती इंदिरा गाधी की हत्या के समय देहली में सिखों के खिलाफ दगों में 300 से अधिक सिखों की जानें गई। पजाब में उग्रवादियों ने आतकवाद फैलाने और अपने कार्य के लिये जनसमर्थन प्राप्त करने के लिये इस बात का, कि उन लोगों के खिलाफ जो इन दंगों में लिप्त थे कोई कार्रवाई नही हुई, लाभ उठाया है।

खालिस्तान उन्मुख आतंकवादियों द्वारा अपनाई गई रणनीतियां और चालें थीं: (i) अपने आदेश निकाल कर शासन की सत्ता को कमज़ोर करना और विचलितों (deviants) को जान से मार कर अपनी शक्ति का परिचय देना, (ii) अपने को सिखों एवं सिख धर्म के प्रति रक्षक के रूप में प्रक्षेपित करना, (iii) निर्दोष व्यक्तियों को जान से मारना, बैंकों एवं दुकानों को लूटना और आतक उत्पन्न करना, (iv) हिन्दुओं को दूसरे राज्यों में बसने के लिये बाध्य करना और सिखों को पजाब में बसने के लिये अवसर मुहैया करना, और (v) तस्करों के साथ पंजाब में पैसा जुटाने के लिये सम्बन्ध स्थापित करना। आज पंजाब में व्यक्तियों की आत्मा आतंकवाद से थक चुकी है। अब कोई गुस्सा नही है, यद्यपि सताने वाला आतंक या भय है जो एक मानसिक स्थिति बन गया है। 'बाबे' (Babey) राज (आतकवादियों के लिये स्थानीय बोली में) में व्यक्तियों ने आतक को अंतर्निविष्ट (internalise) कर लिया था और उसके साथ रहना सीख लिया था। निरीह ग्रामीण अपनी सुरक्षा के लिये, अपने बच्चों की सुरक्षा के लिये, अपने खेतों की सुरक्षा के लिये और अपने मवेशियों, दुकानों और सपत्ति की सुरक्षा के लिये इन आदेशों की अनुपालना करते थे। पजाब में आदमियों की पीड़ा यह थी कि न केवल आतंकवादियों ने उत्तरोत्तर रूप से राज्य को बन्धक बना लिया था, अपितु प्रशासन ने अपने भ्रष्ट व्यवहार से आदमियों का प्रशासनिक प्रणाली में विश्वास खो दिया था और पुलिस राज की निरंकुशता

दिनों दिन बढती हुई दिखाई देती थी । ऐसी अराजकता में आदमियों की पीडा दब कर रह गई थी ।

मार्च 1993 से मार्च 1994 तक एक वर्ष में पुलिस और सरकार द्वारा अपनाये गये उपायों के कारण पंजाब में आतंकवाद अब समाप्त हो गया है । परन्तु विभिन्न अकाली दल गुट अब भी पृथक पंजाबी प्रान्त की माग दुहराते ही रहते हैं । मई 1994 में छ अकाली दल गुटों के विलय के बाद (अकाली दल पथिक, काबुल, मान, मंजिल और तलवडी) एक नई पार्टी "शिरोमणि अकाली दल" के नाम से अकाल तख्त के मार्ग दर्शन में स्थापित की गयी । नई पार्टी ने "ऐतिहासिक अमृतसर घोषणा" में सिखों के लिए ऐसे पृथक क्षेत्र (राज्य) गठित करने की अकालियों की पुरानी माग दोहराई, जिसमें सिख कौम आजादी महसूस कर सके, निर्बाध रूप से अपने धार्मिक विचारों का प्रचार कर सके और पंजाबी संस्कृति का उत्थान कर सके । यह घोषणा 1973 की आनन्दपुर साहब घोषणा से मिलती जुलती है । इसके अनुसार अगर भारतीय राज्यसंघ में स्वायत्तशासी राज्यों का राज्य-मंडल (confederation) सफल न हो सका, तब सिख एक पृथक सिख राज्य के लिए लडाई लडेंगे । मगर एक अकाली दल गुट (बादल) के विरोध के कारण यह गठन राजनीति के क्षेत्र में प्रभावी नही माना जाता है । लेकिन इस प्रकार की घोषणा को राष्ट्र के लिए सर्वनाशी होने के कारण सरकार को गम्भीरता से लेना होगा ।

नक्सलवादी आतंकवाद का प्रादुर्भाव बगाल में 1967 में हुआ । 1969 में इसे बढावा मिला जब सी.पी आई. (एम एल) का चीन, जो कि भारत को कमज़ोर करना चाहता था, के उकसाने पर जन्म हुआ । नक्सलवादी विचार को सैद्धान्तिक समर्थन अप्रेल 1969 में हुई चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की नवी कांग्रेस से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ जब कि माओं के विचारों को मार्क्सिज्म-लेनिनिज्म की चरम सीमा कहा गया। इन विचारों का उपयोग करते हुए नक्सलवादी नेता, चारू मजूमदार ने घोषणा की थी कि 'चीन का चेयरमेन हमारा चेयरमेन है' । बगाल से नक्सलवादी आन्दोलन भूमिहीन श्रमिकों की ओर से सघर्ष करने बिहार में फैला । फिर भी चारू मजूमदार के वर्ग-शत्रुओं के सहार के नारे को किसान वर्ग और शिक्षित मध्यम वर्ग से अधिक समर्थन प्राप्त नही हुआ, यद्यपि कई आदर्शवादी युवा नक्सलवादी पुरुषों और स्त्रियों ने जमींदारों, साहूकारों और पुलिस अधिकारियों को जान से मारना प्रियकर समझा । 1969 और 1972 के बीच नक्सलवादी आतककारियों द्वारा 1,711 व्यक्ति मारे गये । 696 मामले पैसा लूटने के और 8,857 मामले अन्य प्रकार की हिंसा के हुए (त्रिपाठी, बी.के., 1990.151) । सरकार की जोरदार कार्यवाई से (यानि केन्द्रीय आरक्षित पुलिस बल और सीमा सुरक्षा बल के द्वारा) पश्चिम बगाल में 384 आतंकवादी मारे गये और 6,000 से अधिक को जेल हुई । आन्दोलन बदनाम भी हो गया क्यों कि पेशेवर अपराधी इसमें सम्मिलित हो गये । 1972 के पश्चात नक्सलवादी आन्दोलन बगाल और बिहार से आन्ध्रप्रदेश, केरल, उडीसा, तमिलनाडु और त्रिपुरा में फैल गया । आन्ध्रप्रदेश में 1969-7? के दौरान आतंकवादियों ने 102 हत्यायें कीं और 148 लूट के मामलों में लिप्त हुए ।

आन्ध्र प्रदेश और बिहार में 1988 और 1991 के बीच स्थिति और भी अधिक खराब थी, यद्यपि सब मिलाकर अब भी शोषित निर्धन, और जनजातियां अपने को पूर्व-जमींदारों, साहूकारों और शोषकों से बचाने हेतु नक्सलवादी आतंकवाद का अनुसरण करते हैं। सरकार इस नक्सलवादी आतंकवाद से केवल कानून और व्यवस्था की समस्या की तरह ही निबटती है।

कश्मीर में उग्रवादियों के आतंकवाद ने 1988 से एक नया रूप धारण कर लिया है। उग्रवादी कश्मीर में और देश में राजनैतिक अस्थिरता पैदा करना चाहते हैं। उन्होंने अपनी अलग पहचान पर बल देने के लिये एक रक्त युद्ध छेड दिया है। पड़ोस के देश,जो घाटी में अशांति के जारी रहने पर दृढ़ मकन्प हैं, आतंककारियों को प्रशिक्षण और हथियार दे रहे हैं ! *कश्मीरी नागरिकों का भी इतना मत-आरोपण (brain-washing) किया जा रहा है* कि वे भी पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों की ज्यादतियों के बारे में बात करते हैं। उग्रवादियों के लिये कश्मीरी नागरिकों द्वारा सरकार की आलोचना का अर्थ है कि वे उन्हें समर्थन देने के लिये अत्याधिक सहमत हैं। दूसरी ओर हिन्दुओं को उग्रवादियों द्वारा कश्मीर छोडने पर बाध्य किया गया है। प्रेस गिल्ड ऑफ इंडिया की एक रिपोर्ट में दावा किया गया है कि 1988 और 1991 के बीच लगभग दो लाख हिन्दू जम्मू और कश्मीर छोड़ गये। हिन्दू दावा करते हैं कि कट्टरवादी और उग्रवादी कश्मीर घाटी में सरकार के प्रत्येक क्षेत्र में घुस गये हैं और जिसका शासन चलता है,वह सरकार की हुकूमत नहीं परन्तु जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रन्ट की हुकूमत है। उनका कहना है कि पाकिस्तान समर्थक शक्तियों ने घाटी पर प्रभुत्व जमा लिया है और एक प्रकार से शासन ठप हो गया है और आतंकवादी चाहते हैं कि वे घाटी को छोड़ जाएं। मुसलमानों का दावा है कि वे निर्दोष हैं और उन्हें अनावश्यक रूप से तंग किया जा रहा है। सरकार का दावा है कि हजारों प्रशिक्षित उग्रवादी घाटी में आख बचाकर आने को तैयार हैं। उग्रवादियों ने पैसे के लाभ और राजनैतिक उद्देश्यों से पैसा ऐंठा है और अपहरण किया है। घाटी में हथियारों की कोई कमी नहीं है और उन्हें चलाने के लिये कुंठित युवाओं की भी कोई कमी नहीं है। हिजबुल-मुजाहिदीन (एच एम) के संगठन की 20,000 संख्या है और उनके हजारों लोग सीमा के पार और घाटी में कैम्पों में प्रशिक्षण पा रहे हैं। जम्मू और कश्मीर लिबरेशन फ्रन्ट (जे के एल एफ) पाकिस्तान के साथ विलय होने के विरुद्ध अभी भी स्वतंत्र राज्य की परिकल्पना के प्रति निष्ठा रखता है। पाकिस्तान में विलय की मांग अन्य उग्रवादी समूहों जैसे मुस्लिम जांपेज़ बल और इकवाने-मुसलमीन की है। सब उग्रवादियों में यह भावना है कि उन्हें एक समान शत्रु—भारतीय सैन्य शक्तियों—के विरुद्ध एक होना है।

कुछ स्रोतों का दावा है कि उग्रवादियों को सऊदी अरब,ईरान,पाकिस्तान और लिबिया से सहायता प्राप्त हो रही है। केन्द्रीय गृहमंत्री की पुत्री का अप्रेल 1991 में अपहरण,दो स्वीडिश इंजीनियरों का अप्रेल,1991 में (जो अन्त में 6 जुलाई,1991 को बच निकले),आठ इजरायली पर्यटकों का 27 जून,1991 को, और बन्दी उग्रवादियों की रिहाई की माग, अक्टूबर-नवम्बर

1993 में हजरतबल दरगाह में चालीस व्यक्तियों को बन्धक के रूप में 32 दिन तक बन्द रखने, उन नई रणनीतियों की ओर संकेत करती है जो उग्रवादी आज अपना रहे हैं। इस प्रकार वर्तमान कांग्रेस (आई) सरकार को उग्रवादियों से लड़ने की समस्या का ही केवल सामना करना नहीं पड़ रहा है, अपितु सैनिक शक्तियों की कुछ ज्यादतियों के लिये लोगों के रोष का भी सामना करना पड़ता है। उसे दूरदर्शी राजनैतिक पहलों (initiatives) से विश्वास के पुल भी बनाने हैं।

असम में आतंकवाद 1980 से आगे उभरा। असमियों ने पहले से ही 'विदेशियों' को निकालने और उनके नाम निर्वाचन सूचियों से हटाने का मामला उठा दिया था। जब सरकार ने कोई कार्रवाई नहीं की, तो फरवरी, 1983 के चुनावों में उग्र आन्दोलन हुए जिनमें 5,000 लोगों की जानें गई। ए ए एस यू के आन्दोलन के पश्चात जब असम गण परिषद सत्ता में आई तो यह सोचा गया कि राज्य का विकास होगा। परन्तु दलबन्दी में एजीपी टूट गई। दि यूनाइटेड माइनोरिटीज फ्रन्ट (यू एम एफ) और यूनाइटेड लिबरेशन फ्रन्ट ऑफ आसाम (यू एल एम ए) दो आतंकवादी संगठनों के रूप में उभरे। दि ऑल बोडो स्टूडेन्ट्स यूनियन (ए बी एस यू) ने भी एक अलग राज्य की मांग की, जिसके परिणामस्वरूप बहुत हिंसा भड़की। उल्फा ने हत्या, लूटमार, और अपहरण के आन्दोलन को तेज कर दिया। आतंकवादी गतिविधियों ने न केवल गैर-असमियों में परन्तु असम के लोगों में भी आतंक फैला दिया। सैनिक कार्यवाही-जिसका नाम आपरेशन बजरंग था-जो पृथकतावादी उग्रवादी संगठन के विरुद्ध की गई, ने इस सीमा तक उसको दबा दिया कि उग्रवादी गतिविधियों ने जून, 1991 के चुनावों में भी कोई बाधा नहीं डाली। यह आशा की जाती थी कि नई कांग्रेस सरकार जिसका 30 जून, 1991 को गठन हुआ था, ए ए एस यू, एजीपी, यू एम एफ, उल्फा, और ए एस डी सी संगठनों को उखाड़ फैंकेगी अथवा उन्हें निर्बल कर देगी और नई सरकार राज्य में उग्रवादी संगठनों की आतंकवादी गतिविधियों को रोक देगी। परन्तु राज्य के विभिन्न भागों में 1 जुलाई, 1991 को 14 व्यक्तियों का अपहरण जिसमें ओ एन जी सी के छह अधिकारी सम्मिलित थे ने इन आशाओं को धूमिल कर दिया। कदाचित सरकार को बहुत लंबे समय तक उग्रवादियों को आतंकवादों का सामना करना पड़ेगा।

वर्तमान में पिछले आठ वर्षों से चल रही असम में 'बोडोलैण्ड' की समस्या गम्भीर बनी हुई है। बोडो लोग दो संगठनों—बोडो विद्यार्थी संगठन और बोडो पीपुल्स ऐक्शन कमेटी—द्वारा एक अलग राज्य की मांग कर रहे हैं तथा अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए उन्होंने अनेक प्रकार की आतंकवादी गतिविधियाँ चलाई हैं। 1990 में दस जिलों में छोटे बड़े विस्फोटों द्वारा उन्होंने 75 लोगों को मार दिया था व 240 को घायल किया था। अक्टूबर 1992 में उन्होंने 22 लोगों की हत्या की एवं 50 को घायल किया। फिर एक बम विस्फोट में राजधानी (गौहाटी) में 44 व्यक्ति मारे गये थे।

फरवरी 1993 में असम राज्य में 'बोडोलैण्ड' आटोनामस काउंसिल स्थापित करके बोडो आतंकवाद समाप्त करने का प्रयास किया गया। परन्तु अब फिर पाकिस्तान की गुप्तचर संस्था

आई.एस.आई ने बोडो उग्रवादियों को भड़काना आरम्भ किया है तथा स्वतन्त्र बोडोलैण्ड के लिए विभिन्न अपहरण, बलपूर्वक वसूली और हिंसात्मक विध्वंसी क्रियाओं में उन की सहायता कर रही है।

पंजाब, कश्मीर व असम के अलावा कुछ और प्रान्तों में भी आतंकवादी गतिविधियां पायी गई हैं। बम्बई में मार्च 12, 1993 को आतंकवादियों ने ग्यारह व्यापारिक दृष्टि से प्रमुख व भीड़ वाले स्थानों पर तीन घंटों में विभिन्न बम-विस्फोटों द्वारा भय व आतंक पैदा किया था। इनमें 235 व्यक्ति मारे गये तथा 1214 घायल हुए थे। सम्बन्धित व्यक्तियों की गिरफ्तारी पर बहुत से हथियार व गोला-बारूद मिले थे तथा पड़ौसी राज्य के अन्तर्सेवा गुप्तचर संस्था एवं इसी देश द्वारा समर्थित दुबई में बसे हुए मुसलिम तस्करों का इसमें गहरा हाथ पाया गया था। इसी प्रकार का बम विस्फोट कलकत्ता में मार्च 16, 1993 को हुआ था, जिसमें 86 व्यक्ति मारे गये थे।

भारत सरकार की सूचनाओं के अनुसार (मई 16, 1994) इस बात के पक्के सबूत हैं कि पड़ौसी देश अलगाववादियों और आतंकवादियों को बढ़ावा देने के लिए काठमांडू (नेपाल), ढाका और चटगांव (बंगलादेश) एवं कनाडा में अड्डे बना कर उनकी गतिविधियाँ संचालित कर रहा है। पंजाब की समस्या पर यद्यपि काबू पा लिया गया है, परन्तु कश्मीर के समान ही उत्तर-पूर्व के नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश की स्थिति बिगड़ती जा रही है। इन क्षेत्रों के आतंककारियों को बंगलादेश की सीमा में प्रशिक्षण दिया जा रहा है। दूसरी ओर, उत्तरप्रदेश के तराई क्षेत्र की गतिविधियों को काठमाडू में शह मिल रही है। बिहार में नेपाल और बंगलादेश की सीमा से हो कर गुप्तचर संस्था (आई.एस.आई.) की गतिविधियाँ संचालित की जा रही हैं। अतः यह अति आवश्यक हो गया कि पड़ौसी देश द्वारा प्रशिक्षित आतंककारियों की इन गतिविधियों को रोकने के लिए हमारी सरकार कुछ नयी प्रभावशाली योजनाएँ बनाये जिनमें पुलिस, सी.बी.आई., इन्टेलीजेंस ब्यूरो, नारकोटिक्स कंट्रोल ब्यूरो, रेवेन्यू इन्टेलीजेंस और सीमा-पुलिस की सहभागिता हो।

भारत में आतंकवाद विश्लेषण का एक परिप्रेक्ष्य

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर भारत में आतंकवाद के विश्लेषण सम्बन्धी एक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया जा सकता है। भारत में आतंकवाद के दो पहलू प्रमुख हैं- पहला, 'राजनैतिक आतंकवाद' जिसमें देश में पाये जाने वाले मतभेद को द्वेषपूर्ण पड़ोसी देश अपने स्वयं के देश के संघर्षों को छिपाने व नागरिकों का ध्यान बटाने के लिए अथवा भारत के साथ संघर्ष के कारण अपने समर्थन से प्रेरित कर रहे हैं। इसके मुख्य उदाहरण हैं नागाओं और मिज़ो को चीन की सहायता तथा सिखों और कश्मीरी मुसलमानों को पाकिस्तान का सहयोग। इस पक्षपोषण ने पुलिस और अर्द्ध-सेना शक्तियों के अतिरिक्त भारत की कुल सेना शक्ति में से आधी को फंसा रखा है। दूसरा, 'इस्लामी शक्तियों का आतंकवाद'। 'इस्लामी अर्धेन्दु' (Islamic Crescent) सऊदी अरब से इंडोनीशिया तक फैला हुआ है। ये राज्य भारत को अपने बीच एक बेजोड़

(odd) राज्य समझते हैं। 1970 में योम किप्पूर (Yom Kippur) युद्ध और 1980 में पाकिस्तान के जेड ए भुट्टो के 'इस्लामी बम' (Islamic Bomb) की घोषणा के बाद यह इस्लामी धारणा ईरान की क्रान्ति से और अधिक बढ गयी। इन इस्लामी देशों में रुढिवादी शक्तियों ने भारत के अलावा मिश्र, अलजीरिया, आदि देशों के लिए भी खतरा पैदा किया। 1991 का गल्फ युद्ध, रूस का पतन, पूर्वी यूरोप में साम्यवादी विचारधारा की समाप्ति, अमरीकी सरकार की पाकिस्तान के पक्ष में और भारत विरोधी नीतियाँ आदि ने 'विसैद्धान्तिक केन्द्रीय एशियाई गणराज्यों' (De-ideologised Central Asian Republics) को जन्म दिया। इसके पूर्व जब समाजवादी देशों में आतकवाद वस्तुत अनुपस्थित था, समाजवाद के पतन के उपरान्त दक्षिण एशियाई खण्ड में टर्की, ईरान, सऊदी अरब, पाकिस्तान, आदि इस्लामी धार्मिक-सास्कृतिक प्रभाव के कारण भारत को इस इस्लामी साम्राज्यवाद का सामना करना पड रहा है। अत ये देश आतकवादियों को शह देकर भारत को सदा कमजोर बनाने में लगे रहते हैं।

इगलैंड के साथ प्रत्यर्पण सधि (extradition treaty) के उपरान्त कहा जाता है कि अब अमरीका, कनाडा, जर्मनी, और आस्ट्रेलिया से पाकिस्तानी आतकवादियों को भारत के विरुद्ध समर्थन मिल रहा है। इन सब में अमरीका की भूमिका प्रमुख है। अमरीका में बुश प्रशासन के समय पाकिस्तान को लीबिया, क्यूबा, सीरिया, इराक, ईरान, और उत्तरी कोरिया की तरह आतकवादी राज्य घोषित करने के लिए 'सूचना अवधि' (notice period) में रखा गया था परन्तु बिल क्लिन्टन प्रशासन ने पाकिस्तान को 1994 के प्रारम्भिक महीनों में निर्दोष पत्र दे दिया। जब तक कश्मीरी, सिख, नागा, बोडो और लिट्टे आदि उग्रवादियों को इन बाहरी देशों का समर्थन मिलता रहेगा, भारत में आतकवाद की समस्या गम्भीर रहेगी और अमरीका के जेम्स आर रोच की 'टेररिजिम' पत्रिका के एक लेख के अनुसार ये देश (अमरीका, चीन, पाकिस्तान, सऊदी अरब, श्रीलका, आदि) अपना रवैया बदलेंगे इसकी सम्भावना दिखाई नही देती। अत भारत को आतकवाद के विरुद्ध स्वय ही लम्बी लडाई लडनी पडेगी।

टाडा (TADA)

आतकवाद और आतकवादियों से निबटने के लिए भारत सरकार ने 1985 में एक कानून (टाडा) बनाया था जिसका नाम था 'आतकवादी एव विध्वसक गतिविधि रोकथाम एक्ट' (The Terrorists and Disruptive Activities Prevention Act)। इस कानून में आतकवादियों को दण्डित करने के अतिरिक्त मनोनीत (designated) न्यायालयों की स्थापना के लिए भी प्रावधान है। यह न्यायालय अभियुक्त व्यक्तियो के सामान्य अधिकारों को कम करते हैं। टाडा एक्ट जमानत को निषेधित करती हैं प्रमाण का भार अभियुक्त व्यक्तियों पर थोंपती है, तथा पुलिस को दिये गये इकबालिया बयान को सबूत के रूप में स्वीकार करती है। टाडा अभियुक्त को मजिस्ट्रेट के सामने पेश न कर अधिकारी के सामने पेश किया जाता है और उसे छ माह से लेकर एक साल तक रिमान्ड पर सौंपा जा सकता है। एक साल तक आरोप पत्र भी दाखिल करना जरूरी नही है।

परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि टाडा के अन्तर्गत आज तक (जुलाई 1994) एक भी आतकवादी दण्डित नही हुआ है। जो थोड़े बहुत दण्डित हुए हैं, वे हथियारों और स्फोटक बारूद आदि के अवैध रखने के कारण हुए हैं। असम में 'ब्लैक थडर' की फौज़ी कार्यवाई (Operation Black Thunder) में जिन 46 व्यक्तियों को टाडा के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया था, उन्हें भी तकनीकी आधार पर छोड दिया गया। कुछ लोगों का कहना है कि इस कानून का बहुत दुरुपयोग हुआ है। पीपुल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स के अनुसार टाडा कानून नौ साल से लागू है और इस अवधि में इस कानून के तहत 53 हज़ार लोगों को गिरफ्तार किया गया है। इनमें से केवल एक प्रतिशत को सज़ा हुई है तथा 88 प्रतिशत के विरुद्ध कभी आरोप-पत्र दाखिल ही नही किया गया। शुरु में टाडा को पजाब और आसपास के तीन राज्यों में अमल मे लाया गया और फिर इसे पूरे देश में प्रभावी कर दिया गया। उड़ीसा और सिक्किम को छोड कर बाकी हर राज्य में टाडा के तहत गिरफ्तारिया हो चुकी हैं। एक अभियोग के अनुसार इसका इस्तेमाल आतककारियों के लिए कम और राजनीतिक विरोधियों को बंद करने के लिए अधिक किया जाता है। अत यह दावा गलत नही किया जाता कि टाडा आतंकवाद की लडाई में पूर्णरूप से असफल रहा है।

दूसरे देशो मे आतकवाद (Terrorism in Other Countries)

आतकवादी गतिविधिया विश्व के विभिन्न भागों में पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, आयरलैंड में आई.आर.ए. (आइरिश रिपब्लिकन आर्मी) की आतंकवादी गतिविधियां आयरलैंड में ब्रिटिश आतक के राज्य के विरुद्ध बदले के कार्य पर आधारित है। आतंकवादी आयरलैंड में अंग्रेजों का नियन्त्रण समाप्त करना चाहते हैं और आयरलैंड के एकीकरण और जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार को संस्थापित करना चाहते हैं। इसी प्रकार, आतकवाद श्रीलका, इज़राइल, स्पेन, जर्मनी, जापान, फिलिप्पिन्स, कनाडा, अर्जेन्टीना, फ्रान्स, इटली, पुर्तगाल और लेटिन अमेरिका में है। महत्वपूर्ण आतकवादी गुटों में से कुछ ये हैं: श्रीलंका में लिट्टे, जापान में रेड आर्मी और चुक्काकू हा, इजराइल में फिलिस्तीनी गुरिल्ले, स्पेन में बास्क, इटली में रेड ब्रिज, इराक में कुर्द, सीरिया, इराक और लीबिया में अबू निदाल सगठन, फिलिपीन्स में हुक्वाला हेप्स और मोरोज, जर्मनी में बादर-मीनहोफ, तुर्की में करदिश पार्टी, यू.एम. में सिम्बायनीज लिबरेशन आर्मी, कनाडा में क्यूबेकोड्स, और भारत में पंजाब में बब्बर खालसा और कश्मीर में हिजबुल मुजाहिद्दीन।

इन आतंकवादी समूहों द्वारा पयोग में लाई जाती आतकवाद की वैधता को अनेक सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक कारकों से मापा जा सकता है और इस बात से भी कि क्या यह उनके राजनैतिक सघर्ष में सघर्ष के और सब अन्य तरीकों को असफल रूप से आजमाने के बाद आखरी हथियार माना गया। दूसरी ओर, आतकवाद अपनी वैधता खो देता है, यदि यह सिद्ध हो जाता है कि उपलब्ध वैध तरीकों को आतकवाद के उपयोग का सहारा लेने के पूर्व अनदेखा किया गया।

हाल में, अतर्राष्ट्रीय आतकवाद भी लोकप्रिय हो गया है। एक देश के आतकवादियों को दूसरे व्यक्तियों और समूहों, जो उनके उद्देश्य के प्रति सहानुभूति रखते हैं, का समर्थन प्राप्त हो सकता है, या यह दूसरे राज्य की सरकारों से मिल सकता है, जैसे कि अरब राज्यों द्वारा, फिलिस्तीनी समूहों को दिया गया समर्थन, या राष्ट्रपति गद्दाफी का आयरलैंड में आई आर ए और फिलिप्पिन्स में मोरोज को समर्थन।

सरकारी आतकवाद के उदाहरण रूस, चीन और कम्बोडिया में मिलते हैं। रूस के आतकों के तीन प्रसिद्ध उदाहरण 1905-07 में जार के शासन का आतक, 1917-18 मे बोल्शेविक आतककारी शासन और 1934-35 में स्टेलिन के काल का आतक। चीन के देशवासियों ने 1923 में चाग काई शेख के सफेद आतक का सामना किया, 1950-53 में माओ के आतक का जिसमें 10 से बीस मिलियन आदमी जान से मारे गये और 1966-69 में सास्कृतिक क्रान्ति के दौरान आतक जिसमें छात्र शक्ति और पीपुल्स लिबरेशन आर्मी का माओ की व्यक्तिगत प्रभुत्व को पुनर्जीवित करने के लिये उपयोग किया गया। कम्पूचिया में (जिसे पहले काबोडिया के नाम से जाना जाता था) सरकारी आतक 1975 में हुआ जिसमें आठ मिलियन की कुल जनसख्या में से दो मिलियन व्यक्तियों की हत्या कर दी गई। सरकारी आतक के उदाहरण 1971 में पूर्वी पाकिस्तान में, 1983-85 में ईरान में और 1933-34 में नाजी जर्मनी में भी पाये गये है।

आश्चर्य यह है कि आतकवाद विभिन्न देशों मे अब भी उन्नतावस्था में है, यद्यपि सयुक्त राष्ट्रीय चार्टर (U.N Charter), हेलसिकी एक्ट (Helsinki Act), अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों की घोषणा (Declaration of Principles of International Law) और जनेवा कन्वेनशन, 1977, मे इसे न्यायबाह्य (outlaw) घोषित किया गया है। 1970 में एकत्रित आकडों में पाया गया कि 80 प्रतिशत आतकवादी क्रियाए सम्पत्ति के विरुद्ध और 20 प्रतिशत व्यक्तियों के विरुद्ध होती हैं। 1980 में यह क्रियाए 50-50 प्रतिशत थी।

सयुक्त राज्य साधारण सभा ने दिसम्बर, 1985 में एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें उसने आतकवाद के सभी तरीको और कार्यों, जहा कही भी किये जायें और जो कोई भी उन्हें करे, की भर्त्सना की गई। उसने सभी देशों का आह्वान किया कि वे दूसरे देशों में आतकवादी कार्यों को सगठित करने, भडकाने, सहायता पहुचाने या हिस्सा लेने से अपने आपको रोकें या अपने प्रदेशों में ऐसी गतिविधियों को मौन स्वीकृति नही दें जो ऐसे कार्यों को करने की दिशा में हों। उसने सभी राज्यों से यह भी आग्रह किया कि वे एक दूसरे को सार्थक सूचनाए देकर और ऐसे कार्यों मे लिप्त व्यक्तियों को दडित करें या उनका प्रत्यर्पण (extradition) करें और इसके लिये आपस में सधि करें।

आतकवाद के कारणों की सैद्धान्तिक व्याख्या

(Theoretical Explanation of Causes of Terrorism)

गुर (1977 47) का अनुसरण करते हुए, आतकवाद के कारणों की सापेक्षिक वचन के सिद्धान्त

(Theory of Relative Deprivation) के आधार पर व्याख्या की जा सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनैतिक सामूहिक हिंसा को उस अन्तर के परिणामस्वरूप माना जा सकता है जो कि व्यक्तियों के एक विशेष समुदाय की मूल्य-आशाओं और मूल्य क्षमताओं के बीच उत्पन्न होता है। गुर ने वचनों के तीन प्रकार बतलाये हैं:

(1) अवनति वचन (Declivity deprivation) उस समय उत्पन्न होता है जब कि एक जनसख्या विशेष के मूल्यों की क्षमताओं का ह्रास बहुत अधिक हो जाता है परन्तु मूल्य अपेक्षायें वही रहती हैं। बोल्शेविकों की रूस में 1917 में सामूहिक राजनैतिक हिंसा इस प्रकार के वचन के कारण हुई। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् रूस के व्यक्ति असतुष्ट थे और सरकार की युद्ध में रूस की सलग्नता को समाप्त करने में विफलता के कारण एक समूह (लेनिन और उसका दल) जो तत्काल शांति का आश्वासन देता था, लोगों में अति लोकप्रिय हो गया।

(2) आकाक्षाओं का वचन (Aspirational deprivation) उस समय प्रकट होता है *जब कि जनसख्या विशेष की मूल्य क्षमताए तो वही रहती हैं, परन्तु मूल्य अपेक्षाए* बढ जाती हैं। कश्मीर घाटी मे आतकवाद इस प्रकार के वंचन के कारण है। इसी प्रकार, असम में उल्फा आतकवाद असमियो के प्रति जारी भेदभाव और पूर्वाग्रह के विरोध में तत्काल समानता की माग का परिणाम है।

(3) उत्तरोत्तर वचन (Progressive deprivation) उस समय होता है जब मूल्य अपेक्षाओं में वृद्धि हो जाती है और मूल्य क्षमताओं में अवनति। खालिस्तानोन्मुखी आतकवाद इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

आधुनिकता और 'जाति विस्फोट' (ethnicity explosion) से तुलनात्मक वंचन की व्यापक भावनाए जागृत होती हैं।

आतकवाद का सामना करना (Combating Terrorism)

आतकवाद इतनी गभीर समस्या है कि उसे अकेले राजनीतिज्ञों पर ही नही छोडा जा सकता। जनता मे सार्वजनिक जागरूकता एव व्यक्तियों पर दबाव ही इसका केवल मात्र एक हल है। एक बात जो हमें समझनी चाहिये वह है कि आतकवाद एक उस बीमारी की तरह है जो समय से जाती है और इसमें धैर्य की आवश्यकता है।

मूलत. आतकवाद का सामना करने के तीन मॉडल हैं भारतीय, अमेरिकन और इजरायली। इन तीन मॉडलों की पारस्परिक तुलना आवश्यक है।

इजरायली मॉडल

इजरायल में आतकवाद पिछले चार दशकों मे चल रहा था। मार्च 1994 की सधि के बाद अब वह समाप्त हुआ है। प्रारम्भ मे, लगभग डेढ दशक (1953 से 1967 तक) फिलिस्तीनी जो जार्डन के परिक्षम और गाजा की पट्टी में रह रहे थे, अपना विरोध इजरायल में चुपचाप घुस कर

सीमा पर आक्रमण करके किया करते थे । इजरायल इसका उत्तर हवाई हमलों और टैंकों से जार्डन में घुसकर और फिलिस्तीनी कैम्पों को विध्वस करके करता था । चूकि इन हमलों से जार्डन की सेना और सपत्ति को बडे पैमाने पर नुकसान होता था, इसलिये जार्डन में जनमत पी एल ओ को समर्थन देने के विरुद्ध हो गया । जार्डन के साथ-साथ दूसरे अरब देशों ने भी अपनी भूमि से पी एल ओ को उसकी गतिविधिया करने पर रोका । जार्डन ने सितम्बर, 1970 में फिलिस्तीनियों के विरुद्ध परिष्करण (purgation) अभियान छेडा और उनके 15,000 आदमी जान से मार दिये । जब इजरायल ने 1982 में लेबनान पर आक्रमण किया तो लेबनान में भी पी एल ओ का अड्डा समाप्त कर दिया । इस प्रकार इजरायल पी एल ओ के अड्डे समाप्त करके पी एल ओ के आतकवादियों से पेश आया । इसके पश्चात फिलिस्तीनियों ने इजरायली गैर-सैनिक वायुयानों के अपहरण करने की और इजरायली नागरिकों को अपहरण करके और इजरायल में उनके बदियों की रिहाई की माग करने की युक्तियाँ अपनाई । इजरायली सरकार इस प्रकार की आतकवादी धमकियों के आगे कभी नही झुकी और बदले के रूप में फिलिस्तीनी कैम्पो पर हमला किया । यद्यपि इजरायल की आतकवादियों से वार्ता नही करने की नीति की कई बार आलोचना की गई, परन्तु इजरायल अपने स्थान से नही डिगा और यह मानता रहा कि यदि उसने हाईजैकिग और अपहरणों के आगे घुटने टेक दिये तो वे कई गुना बढ जायेंगे । इस प्रकार आतकवादी हिंसा से निबटने के लिये इजरायली रणनीति के चार मूल घटक हैं (1) आतकवादियों से वार्ता से इकार, (2) आतकवादियों के अड्डों पर प्रतिकारात्मक हमले, (3) कडे सुरक्षा के उपाय, और (4) फिलिस्तीनियों (निर्दोष भी), जो आतकवादियों से सम्बद्ध थे और फिलिस्तीनियों से हमदर्दी रखने वाले थे, के विरुद्ध अप्रत्यक्ष हिसा । इस प्रकार आतकवाद का सामना करने के लिये इजरायली मॉडल निष्क्रिय सुरक्षात्मक उपायों के स्थान पर 'प्रति आतक' (counter terror) और 'आतक-विरोध' पर आधारित था ।

अमेरिकन मॉडल

सयुक्त राज्य के विश्वव्यापी आर्थिक स्वार्थ हैं और आतकवाद के प्रति यह असुरक्षित है । अमेरिका का आतकवाद से लडने का सबसे शक्तिशाली अस्त्र उसका आर्थिक प्रभाव रहा है, जैसे व्यापार और प्रौद्योगिकी निर्यात को समाप्त कर देना । जब यह असफल हो जाता है तो यू एस उस शत्रु देश पर, जो आतककारियों का समर्थन करता है, बमबारी करता है । यह तरीका क्यूबा के लिये 1962 में अपनाया गया था और लीबिया के लिये 1986 में जब कि उसके नेता कर्नल गद्दाफी ने आतकवादी आन्दोलनों जैसे पी एल ओ या उत्तरी आयरलैंड के आ आर ए या फिलिपीन के एच यू के विद्रोहियों या लैटिन अमेरिका के आतकवादी समूहों का समर्थन किया था । इसी तरीके का अमेरिका द्वारा उस समय प्रयोग किया गया था जब वियतनाम युद्ध में उसने कम्बोडिया पर उसके वियतनाम को आश्रय देने पर आक्रमण किया था । इस प्रकार आतकवाद का सामना करने के लिये अमेरिकन मॉडल 'प्रति आतक अभियान' और आक्रमण था ।

भारतीय मॉडल

भारत 1960 के दशक से हिंसा और आतक की गभीर समस्याओं का सामना कर रहा है। उत्तर-पूर्व के 60 और 70 के दशकों में सरकार द्वारा विद्रोह का अधिकतर सामना राजनीतिक तरीकों मे किया गया। जम्मू और कश्मीर में हिंसा केवल आतक्वाद के बजाय विद्रोह की श्रेणी में अधिक आती है। पजाब में सेना का जून 6, 1984 का 'आपरेशन ब्लू स्टार' और असम में, 'आपरेशन ब्लैक थन्डर' जो आतकवाद के विरुद्ध किये गये पूर्णतया असफल रहे। वे आतकवाद-विरोधी उपाय थे (जिन्हें प्रमुख रूप से पुलिस शक्तियों द्वारा और आशिक रूप से सैन्य शक्तियों द्वारा कार्यान्वित किया गया) ना कि प्रति आतक उपाय। पहले उपायों में नीतियों के प्रमाणक (hall-mark) हैं प्राय सडक पर जाच-पडताल, अति सवेदनशील बिन्दुओं पर सतरी, और वी आई पीज के लिये व्यापक सुरक्षा। ये उपाय अत्यत महगे हैं। केवल प्रधानमत्री की सुरक्षा की कीमत ही देश को 200 करोड रुपये प्रति वर्ष बतलाई जाती है। उन देशों से, जो हथियारो की बडी मात्रा मे आपूर्ति करते हैं, या आतक्वादियों को आश्रय देते हैं या वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं, स्पष्टीकरण नही मागा गया है। यहा पर भी बल निष्क्रिय उपायों जैसे सीमा पर तारबदी अथवा नरमी से विरोध दायर किया जाता है। कोई आश्चर्य नही कि दस वर्ष उपरान्त भी भारत आतकवाद को नियन्त्रित नही कर पाया है। सरकार अधिकतर आतकवादियों की मांगों के आगे झुक जाती है, जैसा कश्मीर, आन्ध्रप्रदेश और बिहार में हुआ।

इस प्रकार आतकवाद से लडने के लिये जो तीन मॉडल हैं (इजरायली, अमेरिकन और भारतीय) वे वैचारिक दृष्टि से एव प्रकृति में भिन्न हैं। अमेरिकन मॉडल 'प्रति आतंक' का मॉडल है, जो कि आतक्वादी समर्थन की जडों पर प्रहार करने पर आधारित है। भारतीय मॉडल आतकवादी-विरोधी मॉडल है। इजरायली मॉडल 'प्रति आतंक और आतंकवादी-विरोधी उपायों का सम्मिश्रण' है। आतकवादी संकट आतकवाद-विरोधी अथवा प्रति आतंक उद्‌गमों से समाप्त नही किया जा सकता। पुलिस और सैनिक उपायों के अतिरिक्त सामाजिक-राजनीतिक विषयों को भी हाथ में लेना है। उन देशों और कम से कम उन पड़ौसी देशों के अड्डों, जो आतकवादियों को समर्थन दे रहे हैं, पर आक्रमण करना चाहिये और उन्हें नष्ट कर देना चाहिये। ऐसे देशों से व्यवहार करने की नीति निवारक (deterrent) होनी चाहिये।

भारत सरकार आतकवाद की समस्या का सामना जनता की सहानुभूति जुटा कर या उन देशों पर जो आतंककारियों को समर्थन दे रहे हैं, दोषारोपण करके नही कर सकती। एक शत्रु देश का आतंककारियों को सहायता देना एक ऐसी बात है जिसको कोई व्यवस्थित सरकार आधुनिक युग में अनदेखा नही कर सकती। हमारे देश को आतंककारियों से निबटने के लिये अपने स्वय का तरीका ढूढना पडेगा।

कुछ तरीके, जो इस सबध में हमारी सरकार के लिये सहायक हो सकते हैं (सक्सेना, एन.एस., 1985:33-34) वे हैं.

- पुलिस द्वारा आतंकवादियों के विरुद्ध सूचना एकत्रित करने में नागरिकों का सहयोग प्राप्त करना।
- आतंकवादियों के पास वित्तीय साधनों को उनकी गतिविधियों को रोकने के लिये घटाना।
- आतंकवादियों के किसी समूह की किन्हीं भी मांगों को अस्वीकार करना।
- बंदी आतंकवादियों को शीघ्र और न्यायिक दंड देना। दंड देने में जितनी देर होती है और जितनी देर उन्हें मुकदमे के दौरान जेल में रखा जाता है, उतनी ही उनकी (आतंकवादियों की) छूटने की संभावना होती है।
- आतंकवादियों, उनके साथियों, उनकी कार्यशैली और उनके वित्तीय और हथियारों के स्रोतों आदि के बारे में सूचना एकत्र करने में अधिक प्रभावी गुप्तचर तरीकों का उपयोग।
- महत्वपूर्ण स्थानों पर निरन्तर सुरक्षा उपायों में सुधार।
- आतंकवादियों से निपटने वाले बलों (forces) को अधिक वैज्ञानिक प्रशिक्षण देना।

आतंकवाद का समाजशास्त्र (Sociology of Terrorism)

आतंकवाद किस प्रकार राजनैतिक ढांचे या सामाजिक संगठनों को विघटित करता है? आतंकवाद किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज करने के एक तरीके की तरह कार्य करता है? आतंकवाद किस प्रकार एक कुण्ठित अल्पसंख्यक समूह और सत्तारूढ़ राजनैतिक अभिजनों के बीच या ऐसा समूह जो वंचित महसूस करता है और ऐसा समूह जिसका बल प्रयोग पर एकाधिकार है, के बीच सामाजिक संबंध की व्याख्या करता है? आतंकवाद का संपूर्ण (holistic) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य तभी संभव हो सकता है, जब कि हम बड़े पैमाने की राजनैतिक घटनाओं पर न केवल उनकी कुल संख्या बल्कि उनके प्रभाव के बारे में चर्चा करें, अर्थात जब हम अपना ध्यान केवल मात्रात्मक (quantitative) वृहत् राजनीति (macro-politics) पर नहीं, अपितु गुणात्मक (qualitative) लघु राजनीति (micropolitics) पर भी केन्द्रित करें।

आतंकवाद जनसंख्याओं को हतोत्साहित (demoralise) एवं विघटित करता है और समाजों को छिन्न भिन्न कर देता है, यद्यपि यह भी सही है कि कुछ स्थानों पर यह समाकलनात्मक तंत्र (integrative mechanism) के रूप में भी कार्य करता है और आदमियों को एक सार्वजनिक लक्ष्य के लिये एक दूसरे से जोड़ता है। आतंकवाद से कानून और व्यवस्था की समस्या खड़ी हो सकती है, अर्थात् धार्मिक सम्बद्धता या उप सांस्कृतिक अन्तरों के कारण एक समूह का दूसरे समूह द्वारा जान से मारने या अपहरण की, परन्तु यह सामाजिक तन्त्रों को विघटित नहीं करता। आतंकवाद ऐतिहासिक परिवर्तन को गति देने का एक विशिष्ट तरीका भी नहीं है। किसी भी आतंकवादी आन्दोलन ने कभी भी अपने लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता नहीं पाई है। इसलिये आतंकवादी ऐतिहासिक घटनाओं की दिशा को निर्धारित नहीं करते।

आतंकवाद को समझने के लिये यह मापना आवश्यक है कि आतंकवादियों के अपने वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये कितनी हिंसा की, पुलिस और सुरक्षा बलों ने आतंकवाद को रोकने के लिये कितने बल का प्रयोग किया और किस प्रकार की हिंसा का प्रयोग किया। भारत में आतंकवाद को इस परिप्रेक्ष्य में देखने से यह विदित होता है कि एक वर्ष में बिहार में जान से मारे गये और अपहरण किये गये व्यक्तियों की संख्या पंजाब में आतंकवादियों द्वारा जान से मारे गये और अपहरण किये गये व्यक्तियों की सख्या से कहीं अधिक है। जब एक आतंकवादी सामाजिक न्याय के नाम से किसी व्यक्ति की जान लेता है, तो उसे एक स्तर पर सामाजिक स्पष्टीकरण (social accounting) की समस्या का सामना करना पड़ता है और दूसरे स्तर पर नैतिक दवाब का। आतंक के उपयोग से राज्य की सत्ता को उखाड़ने के परिणामों की भी बात उठ सकती है। यदि यह भी माना जाये कि हम राजनैतिक-सामाजिक तन्त्रों की सामान्य प्रशासनिक गतिविधियों के अतरिम विघटन को स्वीकार कर लेते हैं, तो क्या हमें उन्हीं परिणामों का सामना नहीं करना पड़ता है जिनका सामना हम किसी सामाजिक या प्राकृतिक सकट के समय करते हैं ? क्या आतंकवादियों द्वारा एक या दो या कुछ महत्वपूर्ण राजनैतिक नेताओं को जान से मारने से राजनीति का ढांचा बदल सकता है ? सब मिलाकर, समाज में राजनैतिक प्रक्रिया में बाधा नहीं आती और न ही इस प्रकार की हत्याओं से उसमें अवरोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार, मात्रात्मक रूप से आतंकवादियों द्वारा की गई हत्याएं भले ही महत्वपूर्ण न हों, परन्तु उनसे गुणात्मक मानसिक आघात (traumas) तो होते ही हैं। आतकवादियों द्वारा इदिरा गांधी या राजीव गांधी की हत्याओं से हमें ऐसी समस्या का सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप हम आतकवादी गतिविधियों को 'असफल' न मानें, परन्तु उसके साथ-साथ हम उन्हें सीमित संख्या में होने के कारण 'सफल' भी नहीं कह सकते हैं। समाजशास्त्रीय रूप से इस प्रकार आतंकवादी सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त न कर पायें, परन्तु वे प्रशासनिक अधिकारियों और सत्ताधारियों (power elites) की वैध क्षमताओं को कमज़ोर करके उस व्यवस्था को प्रतीकात्मक रूप से शिथिल अवश्य कर देते हैं। हवाईजहाज पर चढ़ते समय एक व्यक्ति अपने सामान के परीक्षण के लिये या एक महत्वपूर्ण व्यक्ति से मिलने के लिये सुरक्षा के लिये किये गये उपायों को सहने के लिये राजी हो जाये, परन्तु फिर भी उसे यह पूर्ण अधिकार है कि वह इन सामाजिक कीमतों के बारे में प्रश्न उठाये। इस प्रकार के प्रतीकात्मक परिवर्तन जो आतकवाद के परिणामों के कारण होते हैं, उत्तेजित भले ही करें परन्तु उनकी अल्पकालिक प्रकृति सामाजिक आकलन के लिये निरपवाद रूप से महत्वपूर्ण है। इस प्रकार आतंकवाद का सामाजिक प्रभाव, जो कि दीर्घकालीन आधार पर समाज को संपूर्ण रूप से प्रभावित कर दे, किसी भी विश्लेषणात्मक माप की पद्धति में मुख्य केन्द्र बिन्दु होना चाहिये। इसलिये यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह मानना कि आतंकवाद समाज को विघटित करता है या व्यवस्था के जीवित रहने पर दुष्प्रभाव डालता है, बहुत सही नहीं होगा।

तथापि, आतक को रोकने के लिये कुछ तन्त्रों (mechanisms) की रचना आवश्यक है।

आतकवाद और राजनैतिक हिंसा आज भारतीय समाज के लिये अभिशाप हो गये हैं। दोनों देश को अराजकता (anarchy) और गर्त (chaos) की ओर ले जा रहे हैं। आतकवादी धर्म और क्षेत्र के नाम पर, भाषा और सस्कृति के नाम पर हत्या करते हैं। अब समय आ गया है जब कि व्यक्तियों में, विशेषरूप से युवाओं मे, व्यापक कुण्ठा और वचन की भावना को रोका जाये। एक ओर सरकार को बहुत कडे रूप से आतकवादियों से निबटना है और दूसरी ओर अल्पसख्यकों को सुरक्षा प्रदान करनी है और सही प्रजातत्र के चलने के लिये उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करना है। आतकितों (terrorised) को आतकित करने वाले आतककारियों के आतक से मुक्त करना होगा।

REFERENCES

1 Alexander, Y and Finger, S M, *Terrorism: Interdisciplinary Perspectives*, New York John Jay Press, 1977
2 Athal, Anil A, "Terror Tactics" in *Gentleman*, April 1991, pp 56-60
3 Crenshaw, Martha (ed), *Terrorism, Legitimacy and Power The Consequences of Political Violence*, Moddletown Wesleyen University press, 1983
4 Gurr, Ted Robert, *Why Men Rebel*, Princeton. Princeton University Press, 1970
5 Mallin Jay, *Terror and Urban Guerrillas*, Coral Gables University of Miami Press, 1971
6 Naunihal Sigh, *The World of Terrorism*, New Delhi South Asian Publishers, 1989
7 Rapoport D C and Alexander, Y, (ed), *The Morality of Terrorism Religious and Secular Justification*, Elmsford Pergamon Press, 1982.
8 Saxena, N S *Terrorism History and Facets in the World and in India*, New Delhi Abhinav Publications, 1985
9 Sterling Clarie, *The Terror Network*, New York Holt, Rinehart & Winston, 1981.
10 *Terrorism International Journal*, Vols 1-6, 1977-1983
11 Wardlaw Grant, *Political Terrorism: Theory, Tactics and Counter-measures*, London Cambridge University Press, 1984
12 Wilkinson, Paul, *Political Terrorism*, London Macmilan & Co, 1974

अध्याय 16

मादक पदार्थों का दुरुपयोग, व्यसन एवं एड्स
Drug Abuse, Drug Addiction and AIDS

"मादक द्रव्यों को 'न' कहिए"। यह वह संदेश है जो आज प्रत्येक गौरवपूर्ण व्यक्ति भारत के भ्रान्तकारी युवकों को दे रहा है। क्या मादक द्रव्यों का सेवन हमारे देश में वास्तव में एक गम्भीर सामाजिक समस्या के रूप में प्रकट हुआ है?

विपथगामी व्यवहार (Aberrant Behaviour)

मादक पदार्थों के दुरुपयोग को न केवल 'विपथगामी व्यवहार' के रूप में बल्कि एक 'सामाजिक समस्या' की तरह भी देखा जा सकता है। पहले दृष्टिकोण में इसे व्यक्ति के सामाजिक असमायोजन के प्रमाण के रूप में माना जाता है, जब कि दूसरे दृष्टिकोण से इसे वह सुविस्तृत स्थिति कहा जाता है जिसमें समाज के लिए घातक व क्षतिप्रद परिणाम मिलते हैं। कुछ पश्चिमी देशों में मादक द्रव्यों के सेवन को लम्बे समय से एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या माना गया है, परन्तु भारत में केवल पिछले कुछ वर्षों से ही इसे घातक व दुसाध्य सामाजिक समस्या समझा जाने लगा है। अब यह कहा जाता है कि भारत न केवल मादक द्रव्यों के लिए मुख्य पारगमन (transit) केन्द्र (जहा से मादक द्रव्यों की तस्करी कुछ देशों से अन्य देशों में की जाती है) बन गया है, अपितु मादक द्रव्यों का सेवन भी भयोत्पादक रूप में बढ़ रहा है। एक अनुमान के अनुसार (The Illustrated Weekly, June 26-July 2, 1993, Vol.CXIII, 26: 28-29) भारत में लगभग 12 लाख व्यक्ति हिरोइन के व्यसनी हैं (मुख्यतः शहरों में), लगभग 45 लाख अफीम के (मुख्यत. गावों में), और लगभग 50,000 प्रकट रूप में घातक व मति-भ्रष्ट करने वाले द्रव्यों के (मुख्यत. विद्यार्थी)। हिरोइन-दुरपयोगियों की संख्या का 1989 में 5 लाख से बढ़कर 1990 में 10 लाख तथा 1993 में 12 लाख हो जाना स्पष्ट करता है कि मादक पदार्थों का सेवन कैसे गम्भीर समस्या बनती जा रही है। भारत वैध अफीम का सब से बड़ा उत्पादक है। जब सरकार ने इसके लिए 450 रुपये प्रति ग्राम खरीद-मूल्य निश्चित किया है, तस्कर इसे 80,000 रुपये प्रति ग्राम के मूल्य से खरीदते हैं। सेवन करने वालों तक पहुचने इसका मूल्य बहुत अधिक हो जाता है। भारत के मादक द्रव्य सरदारों का घरेलु और अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में केवल हेरोइन का ही मासिक विक्रय 90 और 100 करोड़ रुपयों के बीच माना गया है (The Week, April 1994)। 1984 और 1990 के बीच अवैध द्रव्यों का जब्त करना 1,000 गुणा बढ़ गया था। केवल बम्बई में ही (जिसे देश का सब से बड़ा मादक-द्रव्यों के तस्करी का केन्द्र माना गया है) जनवरी 1990 और फरवरी 1994 के मध्य 24.36 करोड़ रुपये का नारकोटिक्स

सेल द्वारा जब्त किया गया था । इसी अवधि में 6 42 लाख का अफीम बम्बई पुलिस द्वारा और 11 98 लाख का नारकोटिक्स सेल द्वारा जब्त किया गया था (The Week, April 1994 40) । वर्तमान में अवैध द्रव्यो का सेवन न सिर्फ सडक के शरारती लडको में बल्कि निम्न वर्गीय, मध्य वर्गीय एव उच्च वर्गीय युवाओ व मध्य-आयु के व्यक्तियों में भी पाया जाता है ।

इसके बावजूद, भारत में मादक पदार्थों का दुरुपयोग अभी भी 'असामाजिक' व्यवहार न मान कर 'विपथगामी' व्यवहार ही माना जाता है । इसका अर्थ हुआ कि 'विपथगामी व्यक्ति' समाज के सामाजिक प्रतिमानों से उल्लंघन छिपाना है प्रतिमानों से विचलन उनकी वैधता को चुनौती दिये बिना करता है और बिना प्रतिमानो में परिवर्तन के लिए सुझाव देकर उनकी अवज्ञा के कारण मिलने वाले दण्ड से बचने का प्रयास करता है । विपथगामी केवल अपने वैयक्तिक हितों को पूरा करने में लगा रहता है ।

मर्टन (1979 829-32) ने प्रतिमान उल्लघन के विभिन्न प्रकारो के महत्व को समझाने की दृष्टि से 'विपथगामी' और 'अ अनुपालक' (non-conformist) व्यवहार में अन्तर बताया है । अ-अनुपालक व्यक्ति प्रतिमानो (लक्ष्य और/या साधन) की वैधता पर आपत्ति करता है तथा वर्तमान प्रतिमानों को सार्वजनिक रूप से स्वीकार करके उन्हे नये प्रतिमानों द्वारा बदलने की सिफारिश करता है । दूसरी ओर 'विपथगामी' न तो प्रतिमानों की न्यायिकता को चुनौती देता है और न पुराने प्रतिमानों को नये प्रतिमानों से बदलने पर बल देता है । इसी अन्तर के आधार पर समाजशास्त्री भारत में मादक पदार्थों के दुरुपयोग को 'विपथगामी व्यवहार' तथा मादक पदार्थों के सेवन करने वालों तथा व्यसनी को 'विपथगामी' मानते है, जो अ-अनुपालकों के विपरीत न तो सामाजिक स्थितियो के सुधार में और न ही मानव जाति के लाभ मे रुचि रखते हैं ।

पिछले डेढ दशक में मादक पदार्थों के दुरुपयोग पर भारत में अनेक अनुसन्धान किये गये हैं, परन्तु इनमें से अधिकाश समाजशास्त्रियों द्वारा नही, अपितु डाक्टरों और मनोरोग-चिकित्सकों द्वारा किये गये है । 'द्रव्य' की 'अवधारणा मे अन्तर होने के कारण इनके निष्कर्षों मे भी अन्तर मिलता है। इस लेखक ने 1976 और 1986 में राजस्थान में कॉलेज/विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में मादक पदार्थों के दुरुपयोग पर दो अध्ययन किये थे । दोनों का उद्देश्य दुरुपयोग के विस्तार का विश्लेषण करना तथा इनके कारणो का अध्ययन करके इनके उन्मूलन व नियत्रण का सुझाव देना था । लेखक ने फिर फरवरी 1994 में राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा गठित समिति के एक सदस्य के रूप में मादक द्रव्यों के व्यसन के उपचार एव निराकरण के लिए प्रभावी उपायों पर सुझाव देने के लिए अध्ययन किया । परन्तु अपने और अन्य अनुसधानकर्ताओं के निष्कर्षों को समझने से पहले, द्रव्य दुरुपयोग शब्दावली में पाई जाने वाली मूल अवधारणाओं को समझना आवश्यक है ।

मूल अवधारणाए (Basic Concepts)

द्रव्य, द्रव्य दुरुपयोग, द्रव्य निर्भरता, द्रव्य व्यसन, और उपभोग स्थगन सलक्षण (abstinence

syndrome) कुछ ऐसी अवधारणाएं हैं जिनकी स्पष्टता आवश्यक है। 'द्रव्य' एक रासायनिक पदार्थ है, जिसके कुछ विशिष्ट शारीरिक और/ अथवा मनोवैज्ञानिक प्रभाव होते हैं। यह व्यक्ति के साधारण शारीरिक प्रक्रियाओं व प्रकार्यों को बदलता है। परन्तु यह परिभाषा बहुत व्यापक है। चिकित्सीय संदर्भ में 'द्रव्य' एक वह पदार्थ है जो चिकित्सक द्वारा नुसखे के रूप में नियत किया जाता है, और जो किसी रोग, बीमारी व पीडा के उपचार व रोकथाम के लक्ष्य से निर्मित किया जाता है, जिससे वह अपने रासायनिक प्रकृति द्वारा जीवित प्राणी (living organism) की संरचना व प्रकार्यों पर आवश्यक प्रभाव डाल सके। मनोवैज्ञानिक व समाजशास्त्रीय संदर्भों में, 'द्रव्य' एक वह शब्द है, जो उस आदत-निर्माण (habit forming) पदार्थ के लिए उपयोग किया जाता है, जो मस्तिष्क व स्नायुमण्डल को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। सुतथ्यतः यह एक रासायनिक पदार्थ को दर्शाता है जो शरीर के कार्य, मनःस्थिति, अनुभवजन्यता (perception) व चेतना को प्रभावित करता है, जिसमें दुरुपयोग की क्षमता है, और जो व्यक्ति या समाज के लिए हानिकारिक हो सकता है (*Joseph Jullian, 1977*)। इस परिभाषा के आधार पर द्रव्य का बारम्बार सेवन इतना खतरनाक समझा जाता है और कभी-कभी इतना अनैतिक व असामाजिक माना जाता है कि यह आम जनता में अनेक प्रकार के रोगयुक्त और प्रतिकूल मनोभाव जागृत करता है। परन्तु कुछ द्रव्य सापेक्षिक रूप से अघातक तथा व्यसनरहित होते हैं और उनमें हानिकारक शारीरिक प्रभाव भी नहीं पाये जाते हैं। ऐसे द्रव्यों का उपयोग हेरोइन, कोकीन व एल.एस.डी. जैसे अवैध द्रव्यों के उपयोग से तथा शराब, तम्बाकू, बार्बिट्युरेट व ऐम्फेटामाइन जैसे वैध द्रव्यों के सेवन से सुस्पष्ट विपरीत होता है, क्योंकि यह सभी अवैध और दुरुपयोग किये जाने वाले वैध द्रव्य इनके सेवन करने वाले व्यक्तियों पर स्पष्ट हानिकारक शारीरिक प्रभाव डालते हैं।

द्रव्य दुरुपयोग का अर्थ है अवैध द्रव्य का सेवन तथा वैध द्रव्य का अनुचित प्रयोग (misuse) जिससे शारीरिक व मानसिक हानि होती है। इसमें गांजा व हशीश का धूम्रपान, हेरोइन, कोकीन व एल.एस.डी. का सेवन, मारफीन का इंजेक्शन लेना, शराब पीना, आदि सम्मिलित है। कभी-कभी इसे 'बुलन्द द्रुतगति पर होना' (high on speed), 'आमोद यात्रा' (trip), व 'आनन्दोत्कम्प' (getting kicks) भी कहा जाता है।

द्रव्य निर्भरता द्रव्य का आदी होना व नित्य सेवन करना सूचित करता है। 'निर्भरता' शारीरिक भी हो सकती है और मानसिक भी। शारीरिक निर्भरता द्रव्य के बार-बार के सेवन से पैदा होती है, जब द्रव्य की उपस्थिति के कारण शरीर अपने को समायोजित करता है। परन्तु इस (द्रव्य) के बन्द कर देने से व्यक्ति दर्द, पीड़ा, उलझन, व्यथा व बीमारी का सामना करता है।

व्यसन शब्द अधिकांश शारीरिक निर्भरता दर्शाता है। अतः 'व्यसन' व 'शारीरिक निर्भरता' एक "वह स्थिति है जिसमें शरीर को अपने कार्य संचालन के लिए द्रव्य का निरन्तर सेवन चाहिए"। द्रव्य के बन्द कर देने से शरीर के कार्य निष्पादन में हस्तक्षेप होता है तथा द्रव्य में पाये जाने वाले विशिष्ट प्रतिरूप के अनुसार बन्द होने के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। वंचना

(deprivation) के प्रति पूर्ण प्रतिक्रिया को 'उपभोग त्यागन संलक्षण' (abstinance syndrome) कहा जाता है।

द्रव्य का दीर्घ स्थायी सेवनकर्ता एक यह विचार विकसित करता है कि वह अपने द्रव्य की मात्रा को निरन्तर बढाता जाये, जिससे उसमें वह प्रभाव पैदा हो जो पहला डोज़ लेते समय हुआ था। इस तथ्य को 'सहनशीलता' कहा जाता है। यह (सहनशीलता) बाहरी पदार्थ की उपस्थिति में शरीर की अपने को अनुकूल करने की क्षमता को दर्शाती है। परन्तु सभी व्यक्तियों में सभी द्रव्यों के लिए सहिष्णुता विकसित नही होती, यद्यपि कुछ द्रव्यों के लिए (उदाहरणार्थ मार्फीन) व्यसनी सहनशीलता को शीघ्रतया गठित कर लेते हैं। 'प्रति-सहनशीलता' (cross tolerance) का अर्थ है कि एक द्रव्य के लिए सहिष्णुता उसी प्रकार के अन्य द्रव्यों के लिए भी सहनशीलता पैदा करती है।

मनोवैज्ञानिक निर्भरता तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति द्रव्य पर उससे उत्पन्न होने वाले 'सुख' (well-being) की अनुभूति पर निर्भर करने लगता है। मनोवैज्ञानिक निर्भरता के लिए 'आदी होना' (habituation) शब्द भी प्रयोग किया जाता है। 'आदी होने' और 'व्यसन' में अन्तर यह है कि जितना व्यसन विवशताकारी (compulsive) है, उतनी आदत नही है। किसी द्रव्य के लिए व्यसन का अर्थ है कि शरीर उस द्रव्य के विषैले/नशीले (toxic) प्रभावों पर इतना निर्भर हो जाता है कि उसके बिना वह रह नही सकता।

द्रव्य व्यसन के मुख्य लक्षण हैं (i) द्रव्य लेते रहने की अत्यधिक इच्छा या आवश्यकता तथा उसे किसी भी तरीके से प्राप्त करना, (ii) मात्रा (डोज) बढ़ाने की प्रवृत्ति, (iii) द्रव्यों के प्रभावों पर मनोवैज्ञानिक व शारीरिक निर्भरता, (iv) व्यक्ति व समाज पर हानिप्रद प्रभाव।

दुरुपयोज्य द्रव्यो की प्रकृति व प्रभाव (Nature and Impact of Abusable Drugs)

दुरुपयोज्य द्रव्यों को छ श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है शराब, शामक या शान्तिकर पदार्थ (sedatives), उत्तेजक पदार्थ (stimulants), तन्द्राकर/स्वापक पदार्थ (narcotics), भ्रमोत्पादक पदार्थ (hallucinogens) और निकोटीन (nicotine)।

शराब कुछ लोग सामान्य, सुख बोध व एक सामाजिक क्रिया के रूप में लेते हैं और कुछ इसे एक प्रेरणा/उत्तेजना के रूप में लेते हैं जिससे वे कार्य कर सकें। यह (शराब) एक शामक पदार्थ (sedative) के रूप में भी कार्य करती है जो नसों (nerves) को शान्त करती है या फिर एक संवेदनाहारी (anaesthetic) के रूप में भी कार्य करती है जो जीवन की पीडा को कम करती है। शराब तनाव शान्त करती है तथा आक्रमणकारी अवरोध (aggressive inhibition) को कम करती है। यह विवेक/निर्णय को कमजोर करती है व उलझन/द्विविधा पैदा करती है।

शामक (sedatives) अथवा अवसादक (depressants) केन्द्रीय स्नायुमण्डल को क्षीण/अशक्त करते हैं, नींद उत्पन्न करते हैं तथा शान्तिकारक प्रभाव पैदा करते हैं। ट्रैंक्विलाइज़र (शांति प्रदान करने वाले द्रव्य) और बार्बिटयुरेट इस श्रेणी में आते हैं। चिकित्सीय

दृष्टि से ये उच्च रक्तचाप (high blood pressure), अनिद्रा (insomnia), व मिरगी (epilepsy) के लिए तथा शल्य चिकित्सा (surgery) के पूर्व और बाद में रोगियों के आराम व शिथिलीकरण (relaxation) के लिए काम में लाये जाते हैं। अवसादक पदार्थ के रूप में ये नसों और मासपेशियों की क्रियाओं की गति कम करते हैं। छोटी मात्रा में ये सांस लेने व दिल की धड़कन को धीमा करते हैं तथा लेने वाले को शिथिलता का अनुभव कराते हैं। परन्तु बड़ी मात्रा (डोज) में इनके प्रभाव शराब की मादकता से मिलते जुलते हैं, जिनके कारण इह इस्तेमाल करने वाला आलसी, निष्क्रिय, उदासीन, व कभी-कभी चिड़चिड़ा व झगड़ालू भी बन जाता है। उसके सोचने, काम करने, व ध्यान केन्द्रित करने की शक्ति कम हो जाती है तथा उसका भावात्मक नियत्रण कमजोर हो जाता है।

उत्तेजक (Stimulants) केन्द्रीय स्नायुमण्डल को क्रियाशील बनाते हैं, तनावों को कम करते हैं, हलके अवसाद (depression) का उपचार करते हैं, अनिद्रा पैदा करते हैं (व्यक्ति को जागते रखते हैं), सतर्कता बढाते हैं, थकान और आलस्य व निष्क्रियता का निवारण करते हैं, तथा आक्रमणकारी अवरोध को कम करते हैं। जो उत्तेजक पदार्थ व्यापक रूप से उपयोग किये जाते हैं, वे हैं ऐम्फेटामाइन (जिन्हें पेप-गोली भी कहा जाता है), कैफीन, और कोकीन। डाक्टर द्वारा निर्धारित ऐम्फेटामाइन का मध्यम डोज़ थकान को नियंत्रित करता है तथा फुरती, आत्म-विश्वास व कल्याण की अनुभूति पैदा करता है। परन्तु इसका भारी डोज़ अति भयातुरता (nervousness), चिड़चिडापन, सर-दर्द, पसीना निकलना, दस्त, व अस्पष्ट बोलना पैदा करता है। उत्तेजक द्रव्य अधिकांश. मौखिक रूप से लिये जाते हैं, यद्यपि कुछ (जैसे, मेथेड्रीन) शिराभ्यन्तर (intravenous) इंजेक्शन द्वारा लिये जाते हैं। ये द्रव्य शारीरिक निर्भरता उत्पन्न नहीं करते यद्यपि ये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यसनी होते हैं। ऐम्फेटामाइन का दीर्घकालिक भारी उपयोग बौद्धिक, भावात्मक, सामाजिक व आर्थिक विकार की विभिन्न मात्राएं पैदा करता है। इसका अचानक बन्द कर देना मानसिक बीमारी तथा आत्महत्याजन्य अवसाद पैदा करता है।

तन्द्राकर पदार्थ (Narcotics) शामकों की तरह केन्द्रीय स्नायुमण्डल पर अवसादक प्रभाव पैदा करते हैं। ये आनन्द, सामर्थ्य, हिम्मत व श्रेष्ठता की भावनाएं उत्पन्न करते हैं, भूख कम करते हैं, संकोचों को दूर करते हैं तथा सुझावग्राहिता बढ़ाते हैं। इस श्रेणी में अफीम, हेरोइन (स्मैक, ब्राउन शुगर, मारिजुआना, मारफीन, पैथेडीन, कोकीन (सभी अफीम के रूप) तथा कैनाबिस (चरस, गाजा, भांग) सम्मिलित किये जाते हैं। हिरोइन सफेद पाउडर है जो मार्फीन से बनाया जाता है; कोकीन कोकाबुश की पत्तियों से बनाया जाता है और गन्धहीन होता है; गांजा व चरस हेम्प पौधे (hemp plant) से प्राप्त किये जाते हैं; और मारिजुआना कैनाबिस का एक विशेष रूप है। हिरोइन, मार्फीन, पेथेडीन और कोकीन या तो कश के रूप में लिये जाते हैं, या फिर तरल पदार्थ के रूप में इंजेक्शन द्वारा। अफीम और मारिजुआना धूम्रपान, नाक से ऊपर खींचने, या अन्तरग्रहण (ingestion) द्वारा लिये जाते हैं।

बन्द कर देने के लक्षणों (withdrawal symptoms) में शारीरिक निर्भरता की मात्रा के

आधार पर विभिन्नताएं मिलती हैं। अन्तिम डोज़ लेने से 8 से 12 घंटे बाद इसके लक्षण कम्पन, पसीना आना, ठिठुरन, दस्त, मिचलाहट, मानसिक वेदना, व पेट के मरोड व टांगों के ऐंठन के रूप में दिखाई देते हैं। उसके उपरान्त लक्षणें की उग्रता में वृद्धि होती है, 36 से 72 घंटों के बीच में ये चोटी पर पहुँच जाते हैं, और फिर 5 से 10 दिन पश्चात धीरे-धीरे ये कम होने लगते हैं। मगर कमज़ोरी, अनिद्रा, भयातुरता तथा मास-पेशी में दर्द कुछ हफ्तों तक बना रह सकता है।

भ्रमोत्पादक पदार्थ (Hallucinogens) अनुभूति में विकृति (यानि कि व्यक्ति चीजों को उनके वास्तविक रूप में न देख-सुन कर उन्हें नये तरीके से ही देखता-सुनता है) व स्वप्न आकृतियाँ पैदा करते हैं। डाक्टर इनके सेवन की कभी सलाह नही देते। इस श्रेणी में मुख्य द्रव्य एल.एस.डी. (LSD) है जो व्यक्ति द्वारा निर्मित रासायनिक पदार्थ है। यह इतना शक्तिशाली होता है कि एक तोले से इसके तीन लाख डोज़ बनाये जाते हैं। नमक के दाने से भी इसकी छोटी मात्रा मनुष्यों में अत्यधिक मनोरोगमय प्रतिक्रियाए पैदा कर सकती हैं। एल.एस.डी. को छोटे सफेद गोली के रूप में, क्रिस्टलीय पाउडर के कैपस्यूल में, अथवा तरल पदार्थ में छोटी शीशी में उपलब्ध किया जा सकता है। अधिकांश एल.एस.डी. को मौखिक रूप से लिया जाता है, परन्तु इसे इंजेक्शन द्वारा भी लिया जा सकता है। एल.एस.डी. के औसत डोज़ का प्रभाव 8 से 10 घंटे तक रहता है। इसके सेवन को बन्द करने का प्रयास अतिभय (panic), अवसाद, व स्थायी तीव्र मानसिक असयम पैदा कर सकता है।

निकोटीन (Nicotine) में सिगरेट, बीडी, सिगार, चुरुट, नास (snuff) व तम्बाकू सम्मिलित होते हैं। इनका कोई चिकित्सीय उपयोग नही होता। परन्तु शारीरिक निर्भरता का जोखिम इनमें अवश्य होता है। निकोटीन शिथिलन (relaxation) पैदा करती है, केन्द्रीय स्नायुमण्डल को उत्तेजित करती है, जागरण को बढाती है तथा उबाऊपन को दूर करती है। परन्तु इसका अधिक व भारी सेवन दिल की बीमारी, फेफडे का कैंसर, व श्वास नली शोथ (bronchitis) पैदा कर सकता है। कानून इसे द्रव्य के रूप में वर्गीकृत नही करता।

उत्तेजक, अवसादक, तन्द्राकर व भ्रमोत्पादक पदार्थों को मनोक्रियाशील (psychoactive) पदार्थ भी कहा जाता है।

मादक द्रव्यो के दुरुपयोग की मात्रा व प्रकृति (Extent and Nature of Drug Abuse)

अवैध द्रव्यों का सेवन तथा वैध द्रव्यों का दुरुपयोग देश में कितना फैला हुआ है ? भारत की जनसख्या में तीन विभिन्न खण्डों में किये गये आनुभविक अध्ययन द्रव्यों का प्रचलन दर्शाते हैं। ये अध्ययन हैं (i) कॉलेज/विश्वविद्यालय व उच्च माध्यमिक स्कूलों के विद्यार्थियों के अध्ययन, (ii) औद्योगिक श्रमिकों के अध्ययन, (iii) ग्रामवासियों के अध्ययन।

कॉलेज/विश्वविद्यालय विद्यार्थियों के अध्ययन (Study of College/University Students)

कालेज/विश्वविद्यालय विद्यार्थियों में मादक द्रव्यों के दुरुपयोग सम्बन्धी अध्ययनों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है (अ) एकल अध्ययन (ब) संयुक्त अध्ययन, और (स) बहु-केन्द्रीय (multi-centred) अध्ययन । एकल अध्ययन बनर्जी (कलकत्ता में 1963 में), दयाल (दिल्ली में 1972 में), चिटनिस (बम्बई में 1974 में) और वर्मा (पंजाब में 1977 में) आदि द्वारा किये गये हैं । संयुक्त अध्ययन सेठी और मनचन्दा (उत्तर प्रदेश में 1978 में) द्वारा, दुबे, कुमार और गुप्ता द्वारा (1969 और 1977 में) और कलकत्ता विश्वविद्यालय के सम्प्रयुक्त मनोविज्ञान विभाग द्वारा (1988 में) किये गये हैं । बहु-केन्द्रीय अध्ययन 1976 (सात शहरों में) और 1986 में (नौ शहरों में) केन्द्रीय सरकार के कल्याण मन्त्रालय द्वारा डॉ. मोहन (अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्था, दिल्ली) के समन्वय (coordination) में करवाये गये थे । अगर कालेज/विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में किये गये सभी अध्ययनों को इकट्ठा लें, तो कहा जा सकता है कि द्रव्य दुरुपयोग की प्रचलित दर (शराब, निकोटीन, आदि मिलाकर) विभिन्न शहरों में 17 प्रतिशत और 25 प्रतिशत के बीच मिलती है । परन्तु यदि शराब, सिगरेट व पीड़ा-नाशक द्रव्यों को निकाल दें, तो मादक द्रव्यों के सेवन की मात्रा केवल 4.0 प्रतिशत और 6.0 प्रतिशत के बीच मिलती है । इन अध्ययनों के अन्य प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं: (i) मादक द्रव्यों का सेवन पेशेवर और गैर-पेशेवर विषयों में अलग-अलग मिलता है । जब सेठी और मनचन्दा ने अपने अध्ययन में पाया कि गैर-मेडिकल विद्यार्थियों की तुलना में मेडिकल विद्यार्थी मादक द्रव्यों का सेवन अधिक करते हैं, इस लेखक ने अपने जयपुर के अध्ययनों में (1976 और 1986 में) पाया कि मेडिकल विद्यार्थियों में मादक पदार्थ का सेवन अधिक नहीं है । लेखक के 1976 के अध्ययन में पाया गया कि द्रव्यों का सर्वोच्च सेवन विधि (law) में (26.1%) मिलता है और इसके बाद वाणिज्य (23.6%), कला और सामाजिक विज्ञान (17.5%), मेडिकल (14.0%), विज्ञान (13.6%), और इंजीनियरिंग (4.6%) । तथापि, 1986 के अध्ययन में मादक द्रव्यों का सर्वोच्च सेवन वाणिज्य में मिला (31.0%) और उसके बाद कला और सामाजिक विज्ञान (27.2%), विज्ञान (20.3%), मेडिकल (7.3%), इंजीनियरिंग (6.0%), और विधि (4.8%) । (2) जो विद्यार्थी वर्तमान में मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं, उनमें से लगभग 90 प्रतिशत प्रयोगकर्त्ता (experimenters) हैं (जो हफ्ते में एक बार या इससे कम मादक द्रव्य लेते हैं), 9.0 प्रतिशत नियमित (regulars) हैं (जो हफ्ते में कई बार द्रव्य लेते हैं), और केवल 1.0 प्रतिशत व्यसनी (addicts) हैं (जो द्रव्य लिये बिना रह नहीं सकते) । (3) लगभग 75.0 प्रतिशत विद्यार्थी केवल शराब और/अथवा तम्बाकू लेते हैं, लगभग 15.0 प्रतिशत शराब और/अथवा तम्बाकू के साथ अन्य कोई एक द्रव्य भी लेते हैं, और केवल 6.0 प्रतिशत और 10.0 प्रतिशत के बीच शराब और/अथवा तम्बाकू के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य लेते हैं । (4) सेवन करने वाले द्रव्यों की प्रकृति की दृष्टि से अगर हम शराब और सिगरेट को

छोड दें, तब यह कहा जा सकता है कि 20 0 प्रतिशत विद्यार्थी पीडा-नाशक द्रव्य (pain-killers), 35.0 प्रतिशत तन्द्राकर पदार्थ (हेरोइन, कोकीन, गाजा व चरस, आदि), 5 0% से 7 0 के बीच उत्तेजक पदार्थ (stimulants) और 1 0 प्रतिशत से कम भ्रमोत्पादक पदार्थ (hallucinogens अथवा एल एस डी) का सेवन करते हैं। इस प्रकार मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले विद्यार्थियों में से तीन-चौथाई से अधिक आनन्दप्रद (recreational) द्रव्यों का सेवन करते हैं अथवा आराम (relaxation) और कौतुक (fun) के लिए द्रव्य लेते हैं, पाँचवाँ हिस्सा शारीरिक रोगों के निवारण के लिए डाक्टरों द्वारा निर्धारित द्रव्य लेते हैं, और केवल 2.0 प्रतिशत और 3 0 प्रतिशत के बीच वास्तविकता से बचने के लिए दुरुपयोगीय द्रव्य (drugs of abuse) लेते हैं।

अत क्योंकि ऊर्ध्वगामिनी (up) द्रव्यों की तुलना में निम्नगामिनी (down) द्रव्य अधिक प्रचलित हैं, इस नतीजे पर पहुचा जा सकता है कि युवक 'जागने' (waking up) के बजाय 'सोना' (going to sleep) अधिक पसन्द करते हैं। (5) मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले विद्यार्थियों की पृष्ठभूमि इस प्रकार है (i) स्नातक विद्यार्थियों में द्रव्य सेवन उतना ही पाया जाता है जितना स्नातकोत्तर विद्यार्थियों में, (ii) सार्वजनिक स्कूलों में पढने वाले विद्यार्थियों में सरकारी स्कूलों में पढने वाले विद्यार्थियों की अपेक्षा मादक द्रव्यों का सेवन अधिक मिलता है, (iii) छात्रावासों के साथ सलग्न शिक्षण सस्थाए बिना छात्रावास वाली शिक्षण सस्थाओं से द्रव्यों के सेवन करने वाले विद्यार्थी अधिक उत्पन्न करती हैं, (iv) शैक्षणिक निराशा मादक द्रव्यों के सेवन का प्रमुख कारण नही है, यानि कि परीक्षा में उच्च या निम्न डिवीजन मादक द्रव्य सेवन के प्रचलन को प्रभावित नही करता, (v) मादक द्रव्यों के सेवन और शैक्षणिक एव शैक्षिणोत्तर क्रियाओं में रुचि में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, (vi) माता-पिता से अधिक जेब खर्च लेने वाले धनी युवकों में निम्न आय-समूहों के युवकों की तुलना में मादक द्रव्यों के सेवन की प्रवृति अधिक पायी जाती है, (vii) यद्यपि ग्रामवासी विद्यार्थियों की अपेक्षा नगरीय विद्यार्थियों में मादक द्रव्यों का सेवन अधिक मिलता है, तथापि इस तथ्य की उपकल्पना नही की जा सकती कि नगरीय पालन-पोषण मादक द्रव्य सेवन का मुख्य कारण है, और (viii) मादक द्रव्य सेवन सम्बन्धी विचलित व्यवहार बिना धर्म, जाति या भाषा की पृष्ठभूमि के सभी विद्यार्थियों को खींचता है।

मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले विद्यार्थियों के सभी लक्षणों को एक साथ ले कर मादक द्रव्य-सेवन में कुछ अधिक-जोखिम वाली श्रेणियों की पहचान की जा सकती है। ये हैं उच्च आय वाले समूह, 16 से 21 वर्ष का आयु-समूह, सार्वजनिक स्कूल, तथा छात्रावास से सलग्न शिक्षण संस्थाए।

अनुसन्धानकर्त्ता यह भी सकेत करते हैं कि लगभग 60 0 प्रतिशत विद्यार्थी मित्रों के सुझावों पर मादक द्रव्य लेते हैं, 5 0 प्रतिशत परिवार के सदस्य या किसी रिश्तेदार के सुझाव पर, 10 0 प्रतिशत डाक्टरों के सुझावों पर, और 25 0 प्रतिशत स्वय के सुझाव पर। अत, प्रारम्भिक कारक के आधार पर मादक द्रव्य सेवन कर्त्ताओं में अधिकाश सेवनकर्त्ता

'अप्रतिरोधकारी' (submissive), कुछ, 'आत्म-निर्देशित' (self-directive), और बहुत कम 'अनुकूली' (adaptive) प्रकार के होते हैं।

उच्च माध्यमिक विद्यार्थियों पर अनुसन्धान (Researches on High School Students)

स्कूलों में पढने वाले विद्यार्थियों में मादक द्रव्यों के दुरुपयोग सम्बन्धी दो महत्वपूर्ण अध्ययन मोहन, सुन्दरम और चावला द्वारा दिल्ली में 1978 में और रस्तोगी द्वारा 1979 में किये गये थे। 1986 में एक और अध्ययन चार महानगरों दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास, और बम्बई में मोहन, प्रधान, चक्रवर्ती और रामचन्द्रन द्वारा किया गया था। 1978 में डी.मोहन द्वारा 2,000 उच्च माध्यमिक स्कूल के विद्यार्थियों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि यद्यपि 63.0 प्रतिशत विद्यार्थी मादक द्रव्यों का सेवन कर रहे थे। परन्तु अधिकांश पीड़ा-नाशक द्रव्यों व सिग्रेट का और थोड़े से शराब का सेवन करते थे। केवल 0.2 प्रतिशत और 0.4 प्रतिशत के बीच शामक, उत्तेजक व तन्द्राकर मादक पदार्थ ले रहे थे। इससे स्पष्ट है कि उच्च माध्यमिक स्कूल के विद्यार्थियों में मादक द्रव्यों का सेवन बहुत सीमित है।

औद्योगिक श्रमिकों पर अनुसन्धान (Researches on Industrial Workers)

गन्गाडे और गुप्ता ने दिल्ली में 1970 के दशक में 4000 औद्योगिक श्रमिकों का एक अध्ययन किया था जिसमें उन्होंने पाया कि श्रमिकों में मादक द्रव्यों की प्रचलन दर केवल 10.4 प्रतिशत थी, जो कालेज विद्यार्थियों की अपेक्षा बहुत कम है। इसके अतिरिक्त उन्होंने पाया कि: (i) मादक द्रव्य सेवनकर्त्ताओं में से बहुत ने इनका सेवन बिना चिकित्सीय नुसखे के आरम्भ किया था, (ii) सेवनकर्त्ताओं में से अधिकांश 20 और 30 आयु-वर्ग में थे, (iii) तीन-चौथाई से अधिक श्रमिकों ने श्रमिक बनने के उपरान्त ही मादक द्रव्यों का सेवन आरम्भ किया था, (iv) दो-तिहाई ने मित्रों और सह-श्रमिकों के सुझाव पर मादक पदार्थ लेना शुरू किया था, और (v) उप-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, उच्च आय, शिक्षा का निम्न स्तर, और मित्र-समूहों का दबाव औद्योगिक श्रमिकों के मादक द्रव्य-सेवन के मुख्य कारक हैं।

सेवन किये जाने वाले मादक द्रव्यों के प्रकृति की संदर्भ में गंगाडे ने पाया कि अध्ययन किये गये श्रमिकों के निदर्श में से 65.0 प्रतिशत (अथवा कुल श्रमिक जनसंख्या में से 10 0 प्रतिशत) शराब, 18.0 प्रतिशत चरस, 8 0 प्रतिशत भांग, 7.0 प्रतिशत गांजा, और 2.0 प्रतिशत अफीम लेते हैं। एक श्रमिक एक महीने में लगभग 40 रुपये मादक द्रव्यों पर खर्च करता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसन्धान (Researches in Rural Areas)

ग्रामवासियों में मादक द्रव्य दुरुपयोग सम्बन्धी पहला अनुसन्धान 1971 में पश्चिमी बंगाल के एक गांव में एलनागार, मैत्रा और राय द्वारा किया गया था, और उसके उपरान्त दुबे द्वारा 1972 में और फिर उसी वर्ष वर्धीज़ और बेग द्वारा किया गया था। उन्होंने शराब व्यसन केवल 1.0

प्रतिशत और 2.0 प्रतिशत के बीच मामलों में पाया। बहरहाल, 1974 और 1979 के बीच किये गये अध्ययन गांवों में मादक द्रव्यों के दुरुपयोग की अच्छी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। 1974 में पंजाब के गांवों में देव और जिन्दल द्वारा किये गये अध्ययन में 15 वर्ष से ऊपर के वयस्कों में से 74.0 प्रतिशत में शराब का सेवन पाया गया। 1978 में पंजाब के कुछ गांवों में गुरमीत सिंह के अध्ययन से ज्ञात हुआ की 29.0 प्रतिशत व्यक्ति (10 वर्ष से ऊपर के आयु के) मादक द्रव्यों का सेवन कर रहे थे, 40.0 प्रतिशत तम्बाकू का, 26.0 प्रतिशत शराब का, 19.0 प्रतिशत अफीम का, और 20.0 प्रतिशत गांजा व भांग का। 1979 में 10 वर्ष की आयु से ऊपर लगभग 2,000 व्यक्तियों की जनसंख्या वाले आठ गांवों में सेठी और त्रिवेदी के अध्ययन में पाया गया कि द्रव्य सेवन की दर 25.0 प्रतिशत थी। उन्होंने 6.0 प्रतिशत व्यक्तियों में व्यसन, 82.0 प्रतिशत में शराब का सेवन, 16.0 प्रतिशत में गांजा, चरस का उपभोग, और 11.0 प्रतिशत में अफीम का सेवन पाया। 1977 में पंजाब में तीन सीमावर्ती जिलों—अमृतसर, फिरोजपुर और गुरुदासपुर—के छ ब्लाकों में मोहन, प्रभाकर और शर्मा ने 15 वर्ष से ऊपर आयु वाले 3,600 व्यक्तियों की कुल जनसंख्या वाले अथवा 1,276 घरों का अध्ययन किया था। इस अध्ययन के मुख्य निष्कर्ष थे (i) अध्ययन किये गये घरों में से 18.0 प्रतिशत में मादक द्रव्यों का सेवन करने वाला एक भी व्यक्ति नहीं था, 60.0 प्रतिशत घरों में एक व्यक्ति था, 16.0 प्रतिशत में दो व्यक्ति थे, और 6.0 प्रतिशत में तीन या अधिक सेवनकर्ता थे, (ii) पुरुषों द्वारा सेवन करने वाला मादक द्रव्य 50.0 प्रतिशत मामलों में शराब था, 19.0 प्रतिशत में तम्बाकू, 6.0 प्रतिशत में अफीम और 1.0 प्रतिशत में गांजा, भांग व चरस। महिलाओं में (15 वर्ष से ऊपर आयु और विवाहित) 4.0 प्रतिशत मामलों में तम्बाकू, 1.0 प्रतिशत में शराब, 1.0 प्रतिशत में पीड़ा-नाशक द्रव्य, 0.5 प्रतिशत में शान्ति प्रदान करने वाले द्रव्य (tranquillizers), और 0.5 प्रतिशत में अफीम का सेवन किया जाता था। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गांवों में मादक पदार्थों का सेवन मुख्यतः मर्दानी (masculine) क्रिया है।

यदि देव, गुरमीत सिंह, सेठी और मोहन चारों के अध्ययन इकट्ठे लिये जायें, तो यह पाया जाता है कि ग्रामवासियों में सबसे अधिक सेवन शराब का और उसके बाद तम्बाकू व अफीम का मिलता है, जबकि गांजा, चरस का दुरुपयोग केवल 1.0 प्रतिशत से 2.0 प्रतिशत मामलों में ही मिलता है।

यदि शहरों को मादक द्रव्यों के सेवन का आधार मान कर देखा जाये तो देश में सर्वाधिक व्यसनियों की संख्या कलकत्ता में (कुल जनसंख्या 1981 में 91.94 लाख) मिलती है (The Week, April 24, 1994: 37-39)। कलकत्ता विश्वविद्यालय के सम्प्रयुक्त मनोविज्ञान विभाग द्वारा 1980 के दशक में किये गये अध्ययन में पाया गया कि शहर (कलकत्ता) में कुल व्यसनियों की संख्या 68,158 थी। परन्तु कुछ विशेषज्ञों (जैसे एच जो हन्ट) की मान्यता है कि द्रव्य व्यसन एक दुरचक्रीय लड़ी (vicious chain) है और एक व्यसनी अनेकों को व्यसनी बनाता है और एक ज्ञात व्यसनी के पीछे दस अज्ञात व्यसनी होते हैं। इस आधार पर कलकत्ता

में व्यसनियों की कुल सख्या लगभग सात लाख होगी।

कलकत्ता में व्यसनियों की सख्या देश में सर्वाधिक हो सकती है, परन्तु इनकी संख्या अन्य शहरों में भी तेज़ी से फैल रही है। 1989 में केन्द्रीय कल्याण मन्त्रालय ने 33 शहरों और कस्बों में (कलकत्ता को छोड कर) "मादक द्रव्य दुरुपयोग, द्रव्य सेवनकर्ता, व द्रव्य रोकथाम सेवाएँ" पर एक अनुसन्धान प्रायोजित किया था। विभिन्न शहरों में सबधित तथ्य इस प्रकार मिले:

बम्बई में (कुल जनसख्या 1981 में 82 43 लाख) व्यसनियों की सख्या 1,54,880 थी; अमृतसर में व्यसनियो की सख्या एक लाख के पीछे 1584 थी, और दिल्ली में (कुल जनसंख्या 1981 में 57 29 लाख) व्यसनियों की सख्या 5,500 थी। दीमापुर (उत्तर-पूर्वी पहाड़ी क्षेत्र) में कुल जनसख्या के 10 0 प्रतिशत व्यक्ति हेरोइन, चरस, गाजा, व भाग आदि के व्यसनी थे, जब कि इसी क्षेत्र के गौहाटी और इम्फाल (मणीपुर राज्य) में व्यसनियों की संख्या कुल जनसंख्या की 10 प्रतिशत से 30 प्रतिशत के बीच थी। पुरी (उड़ीसा) में मादक द्रव्यों के दुरुपयोग की सस्कृति आरम्भ से ही पायी जाती है क्यों कि यहा अफीम, भांग, गाजा के उपयोग को परम्परागत महत्व मिला हुआ है। परन्तु हिरोइन और ब्राउन शुगर का सेवन 1970 के दशक से ही आरम्भ हुआ था। इस शहर में विभिन्न द्रव्यों के व्यसनियों की सख्या कुल जनसंख्या का 50 प्रतिशत पायी गई। भुवनेश्वर (उड़ीसा) में व्यसनियों की सख्या कुल जनसंख्या की 20.0 प्रतिशत थी। बिहार राज्य के धनबाद शहर में अनुसधान के अनुसार गाजा, भाग, बार्बिटयुरेट और 1970 के बाद हिरोइन, चरस, मार्फीन, आदि का सेवन काफी सख्या में था। जोधपुर शहर में, जहा अफीम का उत्पादन बहुत है, कुल जनसख्या (1981 में 5.06 लाख) में से 2.0 प्रतिशत और 10 0 प्रतिशत के बीच लोगों में व्यसन था, यानी लगभग 10,000 और 50,000 के बीच लोगों में। कानपुर शहर भी मादक द्रव्य शहर के रूप में उदगमन होता पाया गया। अध्ययन के अनुसार, शहर (कुल जनसख्या 1981 में 16.39 लाख) के 15-60 आयु के बीच कुल 5,90,291 व्यक्तियों में से 34,768 द्रव्य-सेवनकर्ता पाये गये। मादक द्रव्यों में हिरोइन, ब्राउन शुगर, व स्मैक का दुरुपयोग सब से अधिक था। गोवा में 11 में से 3 ताल्लुकाओं में गांजा व चरस का सेवन काफी पाया गया। बैंगलोर में गाजा व चरस और हिरोइन के व्यसनियों में से अधिकांशतः कच्ची बस्तियों व निम्न सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों के रहने वाले थे। मद्रास में गांजा और ब्राउन शुगर व्यसनियों में प्रिय पदार्थ थे। इस प्रकार भारत जो कि सुनहला अर्द्धेन्दु (Golden Crescent) (अथवा पाकिस्तान, अफगानिस्तान व ईरान) और सुनहला त्रिकोण (Golden Tringle) (अथवा, थाइलैण्ड, लाओस, और बर्मा) के बीच स्थित है और जो पहले पश्चिम के लिए मादक पदार्थों की वाहकनली (conduit) था, अब स्वयं क्षुधातुर उपभोक्ता बनता जा रहा है। नगरीय क्षेत्रों के बाद अब गावों में भी मादक द्रव्यों का सेवन काफी बढ़ रहा है।

यदि उपरोक्त वर्णित सभी अध्ययनों को (विद्यार्थी, श्रमिक, ग्रामवासी) इकट्ठा कर लिया जाये तो यह कहा जा सकता है कि 1980 तक मादक द्रव्यों का सेवन बहुत अधिक नहीं था, परन्तु

1980 के उपरान्त देश में हिरोइन की उपलब्धि इतनी बढ़ गई कि स्मैक और अन्य अवैध द्रव्यों का सेवन विद्यार्थियों, कच्ची बस्ती निवासियों, ट्रक-चालकों, रिक्शा-चालकों व श्रमिकों आदि में बढ़ता ही गया। अगर इन व्यसनियों का निर्विषीकरण (detoxicate) भी किया जाता है, यानि कि इन्हें मादक द्रव्यों पर निर्भरता से मुक्त किया जाता है, तो भी 100 में से 90 अपनी आदत को छोडने में सफल नही होते, तथा वे अपने खर्चीले व्यसन के समर्थन के लिए छोटे-छोटे अपराध करते रहते हैं। एक अनुमान के अनुसार आज बम्बई में मादक द्रव्यों के सेवन से प्रति दिन पाँच व्यक्तियों की मृत्यु होती है और हर दिन देश में 100 छोटी आयु के व्यक्ति (12 से 20 साल के बीच के) मादक द्रव्यों का सेवन आरम्भ करते हैं।

1991 में जनवरी के दूसरे सप्ताह में अन्तर्राष्ट्रीय नारकोटिक्स कंट्रोल बोर्ड द्वारा प्रकाशित की गयी एक सयुक्त राष्ट्रीय सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार 1990 में मादक द्रव्यों का सेवन जब कुछ विकसित देशों में कम हुआ, कुछ विकासशील देशों में बढ़ गया। इस सर्वेक्षण के अनुसार (हिन्दुस्तान टाइम्स, जनवरी 11, 1991) रूस में द्रव्य दुरुपयोगियों की विशेष कर गांजा, चरस सेवन करने वालों की सख्या पिछले पाँच वर्षों में लगभग दुगनी हो कर 1,40,000 तक पहुच गयी। यूरोप में हिरोइन का सेवन लगभग नगण्य रहा, परन्तु कोकीन का सेवन बढ गया। उत्तर अमरीका और कैनाडा में गाजा व चरस और कोकीन की माग काफी रही। 18-29 आयु-समूह की महिलाओं में मादक द्रव्यों का सेवन भयोत्पादक रूप से बढ गया। अमरीका में 1990 में मादक द्रव्य दुरुपयोग का सामाजिक और आर्थिक खर्च प्रति वर्ष 60 बिलियन डालर आका गया था। परन्तु साथ में आरोपणीय मृत्यु दर व अस्पतालों में भर्ती के आधार पर यह भी कहा गया कि हिरोइन और कोकीन का उपयोग कम होता जा रहा है। अफ्रीका में पिछले कुछ वर्षों में मादक द्रव्यों का सेवन पूरे महाद्वीप में फैल गया है। दक्षिण अफ्रीका में हिरोइन की आसानी से उपलब्धि के कारण इसका दुरुपयोग काफी अधिक हो गया है। पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में 1988-89 में 1987-88 की अपेक्षा अफीम का उत्पादन दुगना हो कर लगभग 2,000 टन हो गया तथा 1990-91 में भी इतना ही ऊंचा स्तर रहा। चीन में दक्षिण सीमावर्ती क्षेत्रों में पाया जाने वाला हिरोइन का दुरुपयोग अन्य भागों में भी फैल रहा है। जापान में कोकीन का ज़ब्त करना पाँच गुणा बढ गया है। मलेशिया में हिरोइन का दुरुपयोग बहुत पाया जाता है तथा इसके व्यसनियों की सख्या लगभग एक लाख आकी गयी है। बैंगकाक में हिरोइन के व्यापक दुरुपयोग के साथ एड्स (AIDS) भी फैल रहा है, परन्तु नये पजीकृत दुरुपयोगियों की सख्या कम हो रही है। आस्ट्रेलिया में हिरोइन व्यसनियों की सख्या का अनुमान 90,000 और 1,30,000 के बीच लगाया गया है। दक्षिण एशिया में बगलादेश में मादक द्रव्यों का सेवन इतना बढ़ गया है कि वहा की राजधानी ढाका में ही 50,000 दुरुपयोगियों की संख्या आकी गयी है। भारत में भी प्रमुख शहरों में मादक पदार्थों के सेवनकर्त्ताओं की सख्या में वृद्धि मिल रही है।

मोटे आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि पूर्ण रूप से विचार किया जाये तो मादक

ज्ञात हुआ है कि (1) मादक द्रव्य अधिकांशत गैर-मेडिकल साधनों से (मित्र, परिचित व्यक्ति, परिवार के सदस्य, घर की आलमारी) प्राप्त किये जाते हैं, (2) मेडिकल साधनों से द्रव्य लडकों की अपेक्षा लडकियों द्वारा अधिक प्राप्त किये जाते हैं, और (3) गैर-मेडिकल साधन में 'मित्र' सब से अधिक उल्लेखित व्यक्ति पाया जाता है ।

द्रव्य दुरुपयोग के कारणों के विश्लेषण की तरह 'द्रव्य-त्याग' के कारणों का विश्लेषण करना भी आवश्यक है, यानि कि, सेवन न करने वाले व्यक्ति मादक द्रव्य क्यों नही लेते ? जो पहले द्रव्य लेते थे और अब नही लेते, उन्होंने मादक-द्रव्य लेना क्यों छोड दिया ? विद्यार्थियों के मेरे स्वय के अध्ययन से द्रव्य-त्याग और द्रव्य लेना बन्द करने के निम्न कारण प्राप्त हुए व्यक्तिगत (49 3%), शारीरिक (23.8%), सामाजिक (22.4%), धार्मिक (22.3%), और आर्थिक (4 1%) । व्यक्तिगत कारणों में निम्न कारण सम्मिलित थे रुचि/जिज्ञासा का अभाव, द्रव्य के लिए व्यक्तिगत अरुचि या घृणा, और द्रव्यों की असुलभता व अनोपलब्धता, शारीरिक कारणों में निम्न कारण सम्मिलित थे शारीरिक/मानसिक खतरों का जोखिम अथवा बिगडता हुआ स्वास्थ्य, द्रव्य पर निर्भरता का क्षतिभय, और 'आमोद यात्रा' पर रहने का खराब अनुभव, सामाजिक कारण थे मित्रों का दबाव, माता-पिता का प्रभाव, सामाजिक तिरस्कार का खतरा, धार्मिक कारण था नैतिक सिद्धान्त, और आर्थिक कारण था व्यक्ति को या तो द्रव्य खरीदने के लिए पैसे नही थे या उसके लिए द्रव्य बहुत महगे थे ।

द्रव्य दुरुपयोग मे परिवार और मित्र-समूह की भूमिका (Role of Family and Peer Group in Drug Abuse)

परिवार और मित्र-समूह के सम्पर्क व्यक्ति की उस दिशा को प्रभावित करने वाले प्राथमिक तत्व हैं जो वह अपने जीवन में अपनाता है व बनाये रखता है । कॉलेज/विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में द्रव्य दुरुपयोग पर मेरे अपने अध्ययन की एक उपकल्पना थी कि "द्रव्य-सेवन 'स्नेहपूर्ण पारिवारिक सम्बन्धों' के स्वरूप से प्रभावित होता है" । यह अवधारणा (स्नेहपूर्ण पारिवारिक सबध) निम्न आधार पर प्रयोग की गयी थी (1) माता-पिता अपने बच्चों के जीवन में रुचि लेते हैं तथा वे अपने (माता-पिता के) कर्त्तव्यों और दायित्वों के प्रति सजग हैं, (2) मादक द्रव्य सेवनकर्त्ताओं के माता और पिता के बीच, उनके (सेवन कर्त्ताओं) और उनके माता-पिता के बीच, तथा उनके और उनके भाई-बहनों के बीच सम्बन्ध तालमेल, समन्वय और घनिष्टता पर आधारित हैं, (3) माता-पिता का नियत्रण न बहुत उग्र हो और न बहुत ढीला जिससे बच्चे को आत्म-अभिव्यक्ति के लिए अवसर मिल सके, (4) परिवार का आकार आय की दृष्टि से इतना प्रबन्धनीय हो कि परिवार में कोई भी बच्चा जीवन की आवश्यकताओं की आपूर्ति से पीडित न हो, (5) माता-पिता सामाजिक और नैतिक प्रतिमानों का इतना पालन करें कि बच्चों के लिए वे उदाहरण प्रस्तुत कर सकें, और (6) बच्चा माता-पिता में आस्था व सुरक्षा का विचार प्रदर्शित करे तथा अपनी समस्याओं के समाधान में उनकी सलाह व सहायता लेकर उन्हें अपने विश्वास में ले ।

अध्ययन से एक निष्कर्ष निकला कि मादक द्रव्यों के सेवनकर्त्ताओं के अधिक परिवार 'सामान्य' नहीं है तथा पारिवारिक सम्बन्ध भी 'स्नेहपूर्ण' नही हैं। द्रव्य उपयोग और माता-पिता से दूर रहने के मध्य सम्बन्ध के परीक्षण से ज्ञात हुआ कि द्रव्य-सेवन में माता-पिता के साथ निवास उतना ही महत्वपूर्ण है जितना छात्रावास में आवास। दूसरे शब्दों में, द्रव्य दुरुपयोग में परिवार की पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण है। बच्चों के मादक द्रव्यों के ससार में प्रवेश करने के झुकाव में परिवार नियंत्रण की प्रकृति, माता-पिता द्वारा बच्चों पर अनुशासन, माता-पिता द्वारा बच्चों के मित्रों, अवकाश सबधी क्रियाओं व उनके जीवनक्रम के भविष्य में रुचि लेना व माता-पिता में बच्चों के प्रति उत्तरदायित्वों की चेतना, बहुत उत्कृष्ट कारक हैं। परिवार के सदस्यों का शराब पीने, धुम्रपान करने, व मादक द्रव्यों का सेवन करने सम्बन्धी व्यवहार बच्चों द्वारा द्रव्य लेने पर असर डालता है। अत यह कहा जा सकता है कि मादक द्रव्यों के सेवन में परिवार का पर्यावरण एक मुख्य कारक है।

परिवार की तरह मित्र-समूह का दबाव भी मादक द्रव्य दुरुपयोग में प्रभावी है। मादक द्रव्य सेवनकर्त्ताओं में लगभग 81.0 प्रतिशत के ऐसे मित्र थे, जो मादक द्रव्यों का सेवन करते थे। फिर, 44 0 प्रतिशत ऐसे मादक द्रव्य सेवनकर्त्ता थे जो मित्रों द्वारा ही मादक द्रव्य-सेवन में दीक्षित किये गये थे। लगभग 31.0 प्रतिशत मादक द्रव्य सेवनकर्त्ता ऐसे थे जो मित्रों के साथ ही मादक द्रव्य लेते थे। लगभग 63.0 प्रतिशत मादक द्रव्य सेवनकर्त्ताओं को मादक द्रव्यों के बारे में पहला ज्ञान मित्रों से ही प्राप्त हुआ था और 17.0 प्रतिशत ने मादक द्रव्य का पहली बार सेवन मित्र के घर में किया था। इस सब से स्पष्ट है कि मादक द्रव्य सेवन सम्बन्धी व्यवहार पर मित्र-समूह संस्कृति का प्रमुख प्रभाव है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मादक द्रव्य दुरुपयोग के मुख्य कारण निम्न हैं दोषपूर्ण पारिवारिक पर्यावरण, हीन मानसिक अवस्था, दमनात्मक सामाजिक व्यवस्था व सत्ता संरचना, जैसे, सामाजिक कारक, विचलित उप-संस्कृतियाँ (कच्ची बस्तियाँ, कालेज/छात्रावास उपसस्कृति), मित्र-समूह दबाव, व्यक्तित्व कारक (निर्भर व्यक्तित्व), और आनोदप्रमोद व परिहास का अनुसरण।

कारण सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of Causation)

मादक द्रव्यों के दुरुपयोग के कारण-सम्बन्धी सिद्धान्तों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है· शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक-मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय।

'शारीरिक' सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति शारीरिक दोषों व रोगों के कारण एवं द्रव्य के रासायनिक लक्षणों पर शारीरिक अनुकूलन की वजय से मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। मोरडोन्स, स्लिकवर्थ, रैन्डाल्फ और निमविच वे विद्वान हैं, जिन्होंने मादक द्रव्यों का सेवन रासायनिक प्रतिक्रियाओं के संदर्भ में समझाया है। परन्तु यह सिद्धान्त यद्यपि 1910 और 1920 के दशकों में विस्तृत रूप से स्वीकार किया गया था, वर्तमान में इसे तब से अपर्याप्त माना जाता है जब से आनुभविक अध्ययनों ने मादक द्रव्य सेवनकर्त्ताओं के मनोवैज्ञानिक व

समाजशास्त्रीय लक्षणों की द्रव्य-सेवन में भूमिका की ओर ध्यान दिलवाया है।

मनोवैज्ञानिकों ने मादक द्रव्य-सेवन व द्रव्य निर्भरता को मुख्यतः 'प्रबलीकरण' (Reinforcement) सिद्धान्त, 'व्यक्तित्व' सिद्धान्त, 'शक्ति' सिद्धान्त, व 'क्षीण स्व' (Weakened Self) सिद्धान्त के आधार पर समझाया है। 'प्रबलीकरण' सिद्धान्त में अबराहम विलकर (Strak Rodney, 1975 102) ने बताया है कि मादक द्रव्यों की सुखद अनुभूतियां उनके उपयोग को बढ़ावा देती हैं। 'व्यक्तित्व' सिद्धान्त ने मादक पदार्थों के सेवन को मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा कुछ मनोवैज्ञानिक दोषों/कमजोरियों के लिए क्षतिपूर्ण करने के आधार पर समझाया है। यह (सिद्धान्त) मादक द्रव्य निर्भरता से जुड़े हुए कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणों की चर्चा करता हैं तथा द्रव्य-निर्भरता के कारण में 'निर्भर व्यक्तित्व' पर बल देता है। चेन (Chein, 1969. 13-30), नाइट (Knight, 1937. 538), और राबर्ट फ्रीड बेल्स (Robert Freed Bales, 1962 157), जो इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक हैं, की मान्यता है कि निर्भर व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों को दूसरों से भावात्मक समर्थन व ध्यान चाहिए और इनके अभाव में वे उसे मादक द्रव्यों के सेवन से स्थानापन्न करते हैं। चेन (Chein) ने न्यूयार्क में नारकोटिक्स के अध्ययन में पाया कि जिन व्यक्तित्व-लक्षणों वाले व्यक्ति मादक पदार्थों को सेवन करते हैं, वे लक्षण हैं निष्क्रियता, निम्न आत्माभिमान, आत्म-निदेशन की सीमित क्षमता, अन्य व्यक्तियों में अविश्वास, कुण्ठाओं और तनावों का सामना करने में कठिनाई, पौरुषी पहचान (masculine identification) की अपर्याप्तता तथा बचपन के संघर्षों के समाधान की असफलता। डैविड मैक्लेलैण्ड (David McClelland, 1972) ने 'व्यक्तित्व' सिद्धान्त को चुनौती देते हुए 'शक्ति सिद्धान्त' (Power theory) प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर उसने द्रव्य दुरुपयोग (शराब) को व्यक्ति की शक्ति-आवश्यकता की अभिव्यक्ति के सदर्भ में समझाया है। 'हल्का' (light) और कभी-कभी शराब पीने वाले व्यक्ति को शराब पीने से बढ़ी हुई सामाजिक शक्ति की अनुभूति मिलती है, जबकि भारी (heavy) शराबी को बढ़ी हुई व्यक्तिगत शक्ति की अनुभूति मिलती है। 'क्षीण स्व' (Weakened Self) सिद्धान्त अथवा 'भय' (Fear) सिद्धान्त में स्टैन्टन पीले (Stanton Peele, 1975) ने कहा है कि मादक द्रव्यों का व्यसन आधुनिक जीवन की परिस्थितियों में भय और असुरक्षा की अनुभूतियों के कारण है।

ये सब मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त तीन आधारों पर अपूर्ण बताये जा सकते हैं (1) वे यह समझाने में असफल हैं कि वे (व्यक्तित्व) लक्षण जो केवल मादक द्रव्य सेवनकर्ताओं में हैं वे उनमें किस प्रकार विकसित होते हैं, (2) वे (सिद्धान्त) यह समझाने में भी असफल हैं कि यह सलक्षण (syndrome) आत्म-हत्या आदि अन्य व्यवहार के स्थान पर शराब व अन्य मादक द्रव्यों के सेवन की ओर ही क्यों ले जाता है, और (3) ये सिद्धान्त उन व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणों की पहचान में असफल रहे हैं जो मात्र द्रव्य व्यसनियों व शराबियों में पाये जाते हैं और इन लक्षणों वाले व्यक्ति मादक द्रव्यों का उपयोग क्यों नहीं करते ?

हावर्ड बेकर (1963) और काइ एरिकसन (1964:21) ने सामाजिक मनोवैज्ञानिक 'लेबलिंग' सिद्धान्त में बताया है कि एक व्यक्ति व्यसनी व शराबी के लेबल लगने के दबाव के कारण मादक द्रव्य सेवनकर्त्ता व शराबी बन जाता है। परन्तु यह सिद्धान्त यह समझाने में असफल रहा है कि व्यक्ति मादक द्रव्य-व्यवहार में पहले कैसे फंसते हैं जिसके कारण उन्हें सामाजिक दृष्टि से 'विचलित व्यसनी' कहा जाता है।

'समाजशास्त्रीय' सिद्धान्त की मान्यता है कि परिस्थितियाँ अथवा सामाजिक पर्यावरण व्यक्ति को मादक द्रव्यों का व्यसनी बनाते हैं। सदरलैण्ड के विभिन्न सम्पर्क सिद्धान्त के आधार पर यदि मादक द्रव्य-सेवन समझाया जाये, तो उसके अनुसार मादक द्रव्यों का लेना दूसरे व्यक्तियों से सीखा हुआ व्यवहार है, विशेष रूप से छोटे घनिष्ठ समूहों से। 'सामाजिक सीखने' का सिद्धान्त, जो कि विभिन्न सम्पर्क सिद्धान्त और प्रबलीकरण सिद्धान्त का विस्तृत रूप है, एकर्स और बर्जेस (Akers and Burgess) द्वारा प्रतिपादित किया गया था। 'प्रबलीकरण' सिद्धान्त जब यह मानता है कि मादक द्रव्यों पर निर्भरता मात्र एक 'प्रतिबद्ध सीखना' (conditioned learning) है, सामाजिक सीख का सिद्धान्त सीखने की प्रक्रिया में कार्य करने वाले बलयुक्तकर्त्ता जोर देने वालयों के सामाजिक स्रोतों का मूल्यांकन करता है। प्रबलीकरण उन व्यक्तियों के सम्पर्क से होता है जो मादक द्रव्य-सेवन के पक्ष में होते हैं। 'तनाव' सिद्धान्त व्यक्तियों पर उस जोरदार दबाव पर बल देता है जो उन्हें आन्तरीकृत (internalised) प्रतिमानों से विचलित होने के लिए बाध्य करते हैं। मर्टन के अनुसार इस दबाव का स्रोत लक्ष्यों और साधनों के बीच विसंगति है। जो व्यक्ति अपने लक्ष्यों को वैध साधनों द्वारा प्राप्त नही कर पाते वे इतने हताश हो जाते हैं कि शराब और अन्य मादक द्रव्यों का सेवन करना आरम्भ कर देते हैं। मर्टन उन्हें 'पलायनवादी' (retreatists) कहता है। 'उप-सस्कृति' सिद्धांत के अनुसार समाज में विभिन्न समूह विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों से समाजीकृत होते हैं और 'विचलन' वह निर्णय है जो बाहरी समूह द्वारा थोपा जाता है। अतः जो व्यवहार विचलित दिखाई देता है, वह वास्तव में एक समूह द्वारा ग्रहण किये गये प्रतिमानों के प्रति अनुरुपता (conformity) है जो (प्रतिमान) अन्य समूह द्वारा अस्वीकार किये गये हैं। जब युवक यह दावा करते हैं कि उस समाज में गांजा, चरस व भाग पर रोक लगाने वाले व्यसनकर्त्ता पाखण्डी हैं जहां शराब पीना सामाजिक दृष्टि से जायज है और जब व्यसनकर्त्ता व्यक्ति गाजे व चरस को शराब की तुलना में अधिक भयानक घोषित करते हैं, तब वास्तव में दो उप-सस्कृतियों में यह सघर्ष होता है कि किसके प्रतिमानों को चालू रहना चाहिए। इस प्रकार मादक द्रव्यों का सेवन युवा और व्यसनियों की उप-सास्कृतिक मूल्यों में सघर्ष का परिणाम है।

उपर्युक्त सभी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का अपना अपना परिप्रेक्ष्य है। परन्तु प्रत्येक सिद्धान्त अनेक प्रश्नों के उत्तर देने में अक्षम रहा है। मैंने अपने 'सामाजिक बंधन' (Social Bond) उपागम में (1982:120) मादक द्रव्यों के दुरुपयोग को 'असमायोजन' (प्रस्थिति में), 'असलग्नता' (सामाजिक समूहों के प्रति), व 'अबद्धता' (सामाजिक भूमिकाओं के प्रति) के

कारण व्यक्ति और समाज के बीच पाये जाने वाले सामाजिक बंधन के कमज़ोर होने के आधार पर समझाया है। व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों के साथ संलग्नता (attachment), उसकी सामाजिक भूमिकाओं के प्रति बद्धता (commitment), तथा उसका विभिन्न स्थितियों में समायोजन (adjustment) ही उसके 'अच्छे व वांछित' के प्रति मूल्यों को, उसके व्यवहार के प्रतिरूपों को, एवं अपनी संस्कृति के प्रबल मूल्यों के विचलन को निर्धारित करते हैं। इन तीनों कारकों को अथवा इनकी प्रकृति का विश्लेषण करके ही हम ड्रग्स के दुरुपयोग पर नियन्त्रण पाने के लिए सरचनात्मक व संस्थात्मक उपायों का उल्लेख कर सकते हैं।

मादक पदार्थों की तस्करी पर रोकथाम, व्यसनियों के उपचार एवं द्रव्य दुरुपयोग की रोकथाम के लिए उपाय (Measures to Combat Drug Trafficking, Treat Addicts and Prevent Drug Abuse)

पिछले दो दशकों में भारत मादक पदार्थों की तस्करी में वृद्धि की समस्या का सामना कर रहा है, विशेष कर हिरोइन और हशीश की मध्य-पूर्वी क्षेत्र से पश्चिमी देशों में पारगमन (transit) तस्करी की समस्या। इस पारगमन परिचलन (transit traffic) के कारण बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता और मद्रास जैसे महानगर ड्रग्स की तस्करी के लिए बहुत छेद्य (vulnerable) बन गये हैं। 1988 में भारत में पूरे संसार में हिरोइन की सर्वाधिक मात्रा (लगभग 3,000 किलो) पकड़ी गयी थी। यह मात्रा 1987 में ज़ब्त की गयी मात्रा से 10 प्रतिशत अधिक, 1986 में पकड़ी गयी मात्रा से 60 प्रतिशत अधिक, 1985 में पकड़ी गयी मात्रा से तीन गुणा, 1984 में पकड़ी गयी मात्रा से 12 गुणा, और 1983 में पकड़ी गयी मात्रा से 18 गुणा अधिक थी। 1989 में ज़ब्त की गयी (2,500 किलो) व 1990 में ज़ब्त की गयी (2,000 किलो) हेरोइन 1988 में ज़ब्त की गयी मात्रा से कहीं कम थी (इंडिया टुडे, 15 नवम्बर, 1991)। पकड़ी गई अफ़ीम की मात्रा 1987 में 2,929 किलो, 1988 में 3,100 किलो, 1989 में 4,855 किलो, और 1990 में 1,427 किलो थी। ज़ब्त की गई हशीश की मात्रा 1987 में 14,786 किलो, 1988 में 17,523 किलो, 1989 में 8,000 किलो, और 1990 में 5,000 किलो थी। भारत में हिरोइन स्थानीय स्रोतों से 70,000 रुपये एक किलोग्राम के भाव से खरीदी जाती है, जब कि तस्कर इसे 3.9 लाख रुपये एक किलोग्राम (अथवा, 15,000 डालर एक किलोग्राम) के भाव से बेचते हैं। भारत में एक वर्ष में सभी मादक पदार्थों का व्यापार लगभग 2,000 करोड़ रुपये का अनुमान लगाया गया है।

मादक पदार्थों की तस्करी का 'लाभ' अधिकांश इस प्रकार खर्च किया जाता है (i) राजनीतिज्ञों को वित्तीय सहायता करने तथा अधिकारीतन्त्र, न्यायपालिका, पुलिस, जेल, व समाचार-पत्रों के मताग्रहों (lobbies) को विकसित करने के लिए, (ii) रुपये को उन कवच निगमों (shell corporations) में लगाने के लिए जो वैध व्यवसायी संगठनों को खरीद प्रभार (take over) कर लेते हैं, (iii) आतंकवाद फैलाने हेतु हथियार खरीदने के लिए, (iv) आतंकवादी क्रिया के लिए गुप्तचर एजेंसियों द्वारा द्रव्य तस्करों की सहायता लेना। वास्तविकता यह है कि यह सभी 'लाभ' प्रजातन्त्रीय प्रक्रिया के विनाश के लिए ही प्रयोग किया

जाता है।

सरकार ने मादक पदार्थों की तस्करी की रोकथाम के लिए जो विभिन्न उपाय अपनाये हैं उनमें से एक था 1985 में नया कानून बनाना जिसका नाम था "द नारकोटिक ड्रग्स व साइकोट्रापिक सब्सटसिज एक्ट" (The Narcotic Drugs and Psychotropic Substances Act)। यह कानून नवम्बर 14, 1985 से लागू किया गया था। इस कानून के उल्लघन के लिए दण्ड के रूप में दस वर्ष कठोर कारावास, जो 20 वर्ष तक भी बढाया जा सकता है, और एक लाख रुपये जुर्माना, जो दो लाख तक भी बढ़ाया जा सकता है, निर्धारित किया गया है। पुन अपराध के लिए यह कानून 15 वर्ष का कठोर कारावास, जिसे 30 साल तक भी बढाया जा सकता है, और 1 5 लाख रुपये जुर्माना, जिसे तीन लाख तक बढाया जा सकता है, प्रस्तावित करता है। न्यायालयों को यह अधिकार भी दिया गया है कि यदि वे चाहें तो कारण स्पष्ट करते हुए निर्धारित सीमा से अधिक जुर्माना भी लागू कर सकते हैं।

इस कानून में व्यसनीयों से सबधित भी कुछ प्रावधान हैं। किसी नारकोटिक ड्रग अथवा मनोचिकित्सीय पदार्थ को थोडी सी मात्रा में वैयक्तिक प्रयोग के लिए अवैध रूप मे रखने के कारण एक साल का कारावास या जुर्माना या दोनों दिये जा सकते हैं। यह कानून अदालत को व्यसनी को छोडने का अधिकार भी देता है जिससे वह अस्पताल या सरकार द्वारा माननीय सस्था में निर्विषीकरण (detoxication) या व्यसनरहितता (deaddiction) के लिए चिकित्सीय उपचार ले सके। इसके लिए यह कानून सरकार से यह आशा करता है कि व्यसनीयों की पहचान, उपचार, शिक्षा, उत्तर-रक्षा (after-care), पुनस्थापन, व पुनएकीकरण के लिए जितने केन्द्र स्थापित कर सकती है, उतने करे। परन्तु भारत में व्यसनरहितता प्रोग्राम सफल नही हो पाया है। पिछले सात वर्षों में प्रोग्राम में प्रगति सम्बन्धी रिकार्ड यह बताते हैं कि पजीकृत व्यसनीयों में से 65 प्रतिशत से 75 प्रतिशत का उपचार नही किया जा सका है यद्यपि 1993 के आरम्भ तक देश में कुल 254 केन्द्र व्यसनीयों के परामर्श, व्यसनरहितता, उत्तर-रक्षा, व पुनःस्थापन के लिए थे (हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 25, 1993)। भारत सरकार के कल्याण मत्रालय ने मादक द्रव्य दुरुपयोग की रोकथाम के लिए चेतना उत्पन्न करने हेतु स्वैच्छिक कार्यवाई संचालित करने के लिए एक नीति विकसित की है। बहुत से स्वैच्छिक संगठनों को लोगों को मादक द्रव्यों के व्यसन के घातक प्रभाव बताने के लिए वित्तीय समर्थन दिया जा रहा है। परामर्श और व्यसनरहितता सुविधाएँ जुटाने के लिए भी फण्ड दिये जाते हैं। सामाजिक रक्षा राष्ट्रीय सस्थान भी सरकारी और गैर-सरकारी एजेंसियों के कार्यकर्त्ता को मादक द्रव्य दुरपयोग की रोकथाम के लिए प्रशिक्षण देता है।

कुछ राज्य सरकारों ने विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए, विशेष कर छात्रावासियों के लिए, शराब और मादक द्रव्य दुरपयोग के विरुद्ध एक विशेष सतर्कता पैदा करने हेतु प्रोग्राम बनाये हैं। स्वैच्छिक क्षेत्र में भी विभिन्न शहरों में परामर्श और मार्गदर्शन केन्द्र स्थापित किये गये हैं। ये केन्द्र उपचार के स्रोतों के बारे में सूचना देने, पुनस्थापन में लगी ऐजेंसियों के साथ

समन्वय स्थापित करने, तथ्य एकत्रित करने, ज्ञान फैलाने, प्रवर्तन (enforcement) एजेंसियों के साथ सम्पर्क रखने, तथा व्यक्तिगत व सामूहिक चिकित्सा के लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिक सहायता देने का कार्य करते हैं।

मादक द्रव्य दुरुपयोग पर नियन्त्रण (Control over Drug Abuse)

मादक द्रव्यों के दुरुपयोग पर निम्न उपाय अपना कर नियन्त्रण किया जा सकता है

(1) *मादक द्रव्यों के बारे में शिक्षा देना* रोकथाम सम्बन्धी शैक्षणिक उपायों के लिए लक्ष्य जनसख्या (target) कालेज/विश्वविद्यालय के युवा छात्र, विशेष कर छात्रावासों में तथा माता-पिता के नियन्त्रण से दूर रहने वाले छात्र, कच्ची बस्तियों में रहने वाले लोग, औद्योगिक श्रमिक, ट्रक-चालक व रिक्शा-चालक होने चाहिए। शिक्षा देने की विधि ऐसी होनी चाहिए कि लोग अपने को सक्रिय रूप से उनमें जोड़ें और मूल्यवान सूचना का मुक्त आदान-प्रदान हो सके। वह शिक्षा अधिक प्रभावशाली होगी जो व्यक्तियों को कृत्रिम सुखभ्रान्ति के बारे में अयथार्थ और भ्रामक सूचना त्यागने में सहायक होगी तथा भावदशा-परिवर्तित (mood-modifying) द्रव्यों के शारीरिक व मनोवैज्ञानिक प्रभावों, उनके औषधीय लक्षणों और चिकित्सीय लाभों के बारे में अधिकृत तथ्य प्राप्त करने में मदद करेगी। माता-पिता यह शिक्षा देने में मुख्य भूमिका निभा सकते हैं।

(2) *चिकित्सकों की अभिवृत्तियों को बदलना* डाक्टरों द्वारा बहुत से द्रव्यों के औषध-निर्देश देने सबधी अभिवृत्तियों में परिवर्तन मादक द्रव्यों के दुरुपयोग नियंत्रण में बहुत सहायता कर सकता है। डाक्टरों को द्रव्यों के अतिरिक्त प्रभावों की अवहेलना न करने में विशेष सतर्कता अपनानी होगी। यद्यपि द्रव्य उपचार में सहायता करते हैं, किन्तु उन पर अधिक निर्भरता के खतरे बहुत गम्भीर हैं। एक बार जब रोगी को डाक्टर से पीडा व रोग की चिकित्सा के लिए औषध-पत्र (prescription) मिल जाता है, तो वह डाक्टर से परामर्श करना बन्द कर देता है और जब भी वह उस पीडा/रोग को पुन अनुभव करता है, तब वह पहले वाले निर्धारित द्रव्यों को अधाधुध व असीमता से लेता रहता है। इस प्रकार लोग चिकित्सक के स्थान पर औषध-प्रयोग पर अधिक निर्भर करने लगते हैं जो अन्तत भयकर होता है।

(3) *अनुपरीक्षण (Follow-up) अध्ययन करना* निर्विषीकरण प्रोग्राम के अन्तर्गत उपचार किये गये व्यसनीयों का अनुपरीक्षण अध्ययन अति आवश्यक है।

(4) *षडयन्त्रियों को प्रतिरोधक दण्ड देना* पुलिसकर्मी और अन्य कानून लागू करने वाले व्यक्ति जो मादक द्रव्य बेचने वालों के साथ षड्यन्त्र में पाये जाते हैं, उन्हें प्रतिरोधक दण्ड देना बहुत जरूरी है।

(5) *माता-पिता की महत्वपूर्ण भूमिका* बच्चों के मादक द्रव्यों के प्रयोग पर नियन्त्रण में

माता-पिता की भूमिका महत्व की है । द्रव्य-व्यसन में क्योंकि माता-पिता की उपेक्षा, अधिक विरोध व वैवाहिक असामजस्य प्रमुख कारण हैं, अत. माता-पिता को पारिवारिक पर्यावरण को अधिक प्रेरक व सामंजस्यपूर्ण रखने में अधिक सावधानी अपनानी चाहिए। व्यसन क्योंकि एक रात में ही पैदा नहीं होता और इसके उदविकास की प्रक्रिया में अध्ययन व अभिरुचियों आदि क्रियाओं में रुचि की कमी, ग़ैरजिम्मेदार व्यवहार का बढ़ना, चिड़चिड़ापन, आवेगी व्यवहार, व्यग्रता व घबडाहट की मुखाकृति, आदि जैसी क्रियाएं दिखाई देने लगती हैं, अतः माता-पिता सतर्क रह कर इन चिन्हों का पता कर सकते हैं और बच्चों को द्रव्य दुरुपयोग से अलग करवा सकते हैं ।

ड्रग-सेवन विरोधी अभियान, मादक वस्तुओं को "आपरेशन ब्लैक गोल्ड" जैसे अभियानों से पुलिस द्वारा जब्त करना, ड्रग्स पर्यर्पण करने वालों को गिरफ्तार करना, आदि जैसे उपाय उन युवकों में नशे का प्रचलन कम करेंगे जो हेरोइन, स्मैक, ब्राऊन शुगर, अफीम, गांजा, आदि के आदी हो कर अपना जीवन बर्बाद कर रहे हैं । ड्रग्स की समस्या के समाधान के लिए ये उपाय निरर्थक नहीं होंगे ।

एड्स (AIDS)

एड्स (अर्जित प्रतिरक्षक कमी सलक्षण) (Acquired Immuno Deficiency Syndrome) एक ऐसी बीमारी है जो वाइरस (विषाणु) के कारण उत्पन्न होती है । यह वाइरस (मानवीय प्रतिरक्षक कमी वाइरस) (Human Immunodeficiency Virus or HIV) घातक होती है, शरीर के प्रतिरक्षक पिण्ड (immune) व्यवस्था को तोड़ देती है और शरीर में बिना किसी प्रत्यक्ष लक्षणों (visible symptoms) के वर्षों तक रह सकती है । यह वाइरस जीवाणु (बैक्टीरिया) से भी छोटी होती है और साधारण दूरबीन (माइक्रोस्कोप) से भी नहीं देखी जा सकती । प्रमुख बात यह है कि एच.आई.वी. वाइरस कुछ तरीकों से दूसरे व्यक्तियों में भी फैल सकती है । वास्तव में एड्स, एच.आई.वी. संक्रमण (infection) की अन्तिम अवस्था होती है । आज तक लोगों को एच.आई.वी. से बचाने के लिए कोई वैक्सीन (टीका) विकसित नहीं की जा सकी है ।

पश्चिमी आदि समाज में (अमरीका, फ्रांस, बेलजियम, जाम्बिया) एड्स सम्बन्धी संकेत 1960 के दशक से पाया गया । इसका पहला प्रकरण (केस) 1959 में अमरीका में एक 45 वर्षीय पुरुष में मिला था । भारत में यह 1980 के दशक से पाया गया । वाइरस-विज्ञान के राष्ट्रीय संस्थान (National Institute of Virology-NIV), पुणे, और क्रिश्चयन मेडिकल कालेज, वेलोर ने अक्टूबर 1985 से शल्यक्रियाओं (आपरेशनों) की छानबीन (screening) आरम्भ की और अप्रैल 1986 तक 3,027 प्रकरणों में से 10 प्रकरण सीरम-स्पष्ट (seropositive) पहचाने (थामस, 1994, 12) । एड्स का पहला मरीज़ पुणे में मई 1986 में (NIV में) पाया गया था । तब से लेकर दिसम्बर 1992 तक कुल 307 पूर्ण-रूप से विकसित

(full-blown) प्रकरण पाये गये हैं (थामस, वही, 12)।

यद्यपि सितम्बर 1986 से नवम्बर 1992 तक 14,91,360 व्यक्तियों की छानबीन में से 10,730 (0.7%) में सकारात्मक एच आई वी (Positive HIV) पाया गया परन्तु अनुमान यह है कि एड्स के प्रकरणों की संख्या भारत में 300 और 9,000 के बीच है। बम्बई के एड्स अनुसन्धान और नियन्त्रण केन्द्र (AIDS Research and Control Centre, Bombay) का अनुमान है कि 1995 तक पूरे देश में इन पूर्ण-रूप से विकसित एड्स के प्रकरणों की संख्या लगभग 50,000 हो जायेगी तथा लगभग दस लाख व्यक्तियों में एच आई वी संक्रामण (infection) मिलेगा (थामस, 1994 151)। इसी केन्द्र का यह भी कहना है कि केवल बम्बई की वेश्याओं का लाल-बत्ती इलाका (red-light area) एक घंटे में तीन-चार नये एच आई वी संक्रमण के प्रकरण जनसंख्या में बढ़ा रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि पूरे संसार में जो हर 15 मिनट में 400 नये एच आई वी से पीड़ित व्यक्ति बढ़ रहे हैं उनमें से एक बम्बई की पैदाइश होगा।

भारत के दक्षिण क्षेत्र में तमिलनाडु में मद्रास में और उसके बाद केरल राज्य में, पश्चिमी क्षेत्र में महाराष्ट्र में बम्बई, नागपुर, औरंगाबाद, व कोलहापुर में, पूर्वी क्षेत्र में बंगाल में कलकत्ता में और उसके बाद मिज़ोरम, मणीपुर व नागालैण्ड में, तथा उत्तरी क्षेत्र में दिल्ली में एड्स की बीमारी सर्वाधिक मिलती है।

जोखिम वाले समूह (High Risk Groups)

वाइरस के संचारण (transmission) में मुख्य साधन हैं वेश्याएं, समलिंग कामुकता में फंसे व्यक्ति (homosexuals), रक्त-दान करने वाले व्यक्ति (blood-donors), इंजेक्शन द्वारा मादक पदार्थों का सेवन करने वाले व्यक्ति (intravenous drug-users), रोग-विज्ञानीय प्रयोगशालाएं (pathological loboratories), व एच आई वी से पीड़ित माता का बच्चे को जन्म देना। अतः, सेक्स (सम्भोग), रक्त संचारण, इंजेक्शन, व एच आई वी माता का गर्भ इसके प्रमुख कारण बताये जा सकते हैं।

पूरे भारत में लगभग 20 लाख महिलाएं वेश्याएं पायी जाती हैं जो 817 लाल-बत्ती इलाकों में फैली हुई हैं। इनमें काल गर्लस् की संख्या सम्मिलित नहीं है (Social Welfare, Delhi, June 1990)। अधिकांश वेश्याओं में एच आई वी पाया जाता है जिससे उनका सम्पर्क इस वाइरस को उनके ग्राहकों तक फैलाता है।

समलिंगता का यद्यपि हमारा समाज प्रतिरोधी है फिर भी इसका अनुसरण करने वालों की संख्या काफी है। जेल, सुधारात्मक गृह, रक्षण गृह (Rescue Homes), आदि, संस्थाओं में तथा इन संस्थाओं के बाहर समाज में इनकी संख्या हजारों में पायी जाती है। कुछ महीने पहले ही इस सम्बन्ध में दिल्ली में तिहाड़ जेल में कन्डोम बांटने का मामला अदालत तक पहुंच गया था।

मादक पदार्थों का सेवन करने वाले व्यक्तियों द्वारा संदूषित इंजेक्शन (infected

needles) की सहभागिता भी एच.आई.वी. का आसानी से संचारण करती है। मादक द्रव्य दुरूपयोग भारत में विद्यार्थियों, श्रमिकों, ट्रक व स्कूटर-चालकों, गन्दी बस्तियों में रहने वाले व्यक्तियों, और कुछ गांव के निवासियों, आदि में मिलता है। इनमें इन मादक द्रव्य उपभोगियों में, जो मुंह से द्रव्य न लेकर इंजेक्शन द्वारा लेते हैं, एच.आई.वी. संक्रमण अधिक होने की सम्भावना है।

रक्त-दान के लिए भारत में 1,020 रक्त-बैंक स्थापित किये गये हैं जो एक वर्ष में रक्त की लगभग 20 लाख इकाइयों (बोतल) की पूर्ति करते है। इन बैंकों में से आधे सरकारी हैं और आधे बिना लाइसेन्स की हैं। कभी-कभी जिस रक्त-दानकर्ता के रक्त में एच.आई.वी. संक्रमण होता है उसका रक्त बिना सही जाच के अन्य मरीज़ को देने से भी (एच आई.वी.) वाइरस फैलता है। फिर रोग-विज्ञानीय (pathological) प्रयोगशालाओं से भी मादक द्रव्य सेवन करने वाले रक्त खरीदते हैं जो भी संक्रमण फैला सकते हैं।

जो मा स्पष्ट/सकारात्मक (positive) एच आई वी. से पीड़ित है वह अपने गर्भ में शिशु में भी अपने वाइरस को फैलाती है। एक तरफ गर्भवती महिलाओं में से लगभग 65 प्रतिशत क्षीणरक्त (anaemic) होती है जिन्हें रक्त-संचारण (blood transfusion) दिया जाता है और दूसरी तरफ एक वर्ष में 50 लाख बच्चे वेश्याएं पैदा कर रही है जो एच.आई.वी. प्राप्त करने में दो प्रकार से आक्रमणीय (doubly vulnerable) होते हैं।

दाढ़ी बनवाने (shaving) में एच.आई.वी. से पीड़ित व्यक्ति के ब्लेड का प्रयोग (विशेष कर नाई द्वारा हजामत करवाने पर) तथा महिलाओं का लिंगाग्रच्छेदन (circumcision) भी एच.आई.वी. संक्रमण के जोखिम कारक (risk factors) होते हैं।

मणीपुर के स्वास्थ्य सेवाओं के निदेशालय द्वारा दिये गये आंकड़े बताते हैं कि 6,680 परीक्षण किये प्रादर्शों (specimen) में से सबसे अधिक जोखिम-समूह इंजेक्शन द्वारा मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्ति (93.9%) हैं, और उसके बाद रक्त-दानकर्ता (2.93%) और समलिंगवादी व्यक्ति (2.61%) हैं (Health for Millions, Vol. XVII, No. 4, New Delhi, August 1991)।

महिलाओं और बच्चों में एड्स अधिक मिलता है। अमरीका में जुलाई 1990 तक 2,464 बच्चों और 13,395 महिलाओं में एड्स के प्रकरण थे (AIDS Surveillance Report, Centre for Disease Control, Atlanta, USA, August 1990)।

उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of Origin)

एच आई.वी. की उत्पत्ति के रेनी सेबेटीअर (Renee Sabatier, 1988: 34-35) ने तीन प्रमुख सिद्धान्त बताये हैं: (1) यह एक पुरानी मानवीय बीमारी, जो विज्ञान में ज्ञात नहीं थी, से विकसित हुई; (2) यह मानव के अतिरिक्त अन्य नस्ल (species), जैसे बन्दर, लंगूर, आदि में पायी जाने वाली प्राकृतिक वाइरस बीमारी से पैदा हुई; एवं (3) यह प्रयोगशाला में जानबूझ कर/सोद्देश्य

अथवा अकस्मात रूप से (accidently) निर्मित की गयी।

विकास की अवस्थाएं (Stages of Development)

सैद्धान्तिक रूप से एच आई वी संक्रमण (infection) के विकास में निम्नलिखित पाँच अवस्थाएं पायी जाती हैं (मेरास थामस, 1994 27-28).

(1) *आरम्भिक एच आई वी संक्रमण (Initial HIV infection)* इस अवस्था में शरीर में एच आई वी के प्रवेश से कुछ लोग कुछ ही सप्ताहों में एक अस्थायी सेरोरुपान्तरण (seroconversion) बीमारी का अनुभव करते हैं जो इनफ्लूएन्ज़ा (influenza) से मिलती है। शरीर की प्रतिरक्षक पिण्ड (immune) व्यवस्था एच आई वी के लिए 'एंटीबाडीज़' (anitbodies) (एक प्रकार का पदार्थ) उत्पन्न करती है जिससे वाइरस नाश नही होता। इसके बाद महीनों और वर्षों तक कोई लक्षण पैदा नही होता, परन्तु इस दौरान व्यक्ति वाइरस को अन्य व्यक्तियों में सचारण (transmission) कर सकता है।

(2) *निरन्तर अववृद्ध लिम्फ ग्रन्थिया (Persistently enlarged lymph glands)* इस अवस्था में शरीर में गर्दन व बगल (armpit) आदि में अववृद्ध लिम्फ ग्रन्थिया पैदा हो जाती है तथा साथ में बुखार, पसीना, कमजोरी, आदि अनुभव किया जाता है। विकसित देशों में ये लक्षण पहले लक्षण माने जाते हैं परन्तु विकासशील देशों में इन लक्षणों को क्योंकि साधारण संक्रमणों (infections) से विभेदित नही किया जस सकता, अत व्यक्ति विरले ही इसके इलाज का सोचते हैं।

(3) *एड्स सम्बन्धित मनोग्रन्थि (AIDS–related complex)* इस अवस्था में शरीर में वाइरस प्रतिरक्षण पिण्ड व्यवस्था (*immune system*) को काफी हानि पहुचा देता है। इसमें बहुत से संक्रमण (infections) पैदा हो जाते हैं तथा थकावट, एक महीने से अधिक समय तक चलने वाली डाइरीहा (diarrhoea) व वजन में गिरावट दिखाई देती है।

(4) *पूर्ण-रूप-से-विकसित एड्स (Full-blown AIDS)* इस अवस्था में प्रतिरक्षक पिण्ड व्यवस्था बिल्कुल समाप्त हो जाती है तथा शरीर में बहुत से संक्रमण पैदा हो जाते हैं। मरीज बहुत दुर्बल हो जाता है और सदा घोर थका हुआ अनुभव करता है। इस अवस्था के बाद व्यक्ति तीन-चार वर्ष से अधिक जीवित नही रहता।

(5) *एड्स मनोविक्षिप्तता (AIDS demensia)* इस अवस्था में वाइरस दिमाग को क्षति पहुचाता है तथा व्यक्ति मानसिक विक्षोभ से भी पीडित रहता है।

एड्स सम्बन्धी परीक्षण (Tests on AIDS)

जब मानव के शरीर में कोई बीमारी अतिक्रमण करती है तो उसमें जो स्थिति उत्पन्न होती है उसे "विकृतिजनक पदार्थ" वाली स्थिति (pathogens) कहा जाता है। इस व्याधिजनक पदार्थों की पहचान की जा सकती है ताकि व्यक्ति की प्रतिरक्षक पिण्ड (immune) व्यवस्था आन्तरिक प्रतिरक्षा (defences) के द्वारा उन्हें नाश कर सके। एच आई वी संक्रमण प्रतिरक्षक

प्रतिक्रिया को प्रभावित करता है और "ऐन्टी-बाडीज" (anti-bodies) (एक प्रकार का पदार्थ) पैदा करता है। शरीर में इनकी उपस्थिति (जिन्हें एच आई वी ऐन्टी-बाडीज कहा जाता है) संक्रमण (infection) सुझाता है। रक्त प्रतिदर्श (sample) के परीक्षणों द्वारा इन्हें ज्ञात किया जाता है। इसके लिए दो प्रमुख परीक्षण है पहला "एलिसा" (ELISA) और दूसरा "वेस्टर्न ब्लाट" (WESTERN BLOT)। दूसरा परीक्षण पहले परीक्षण की पुष्टि करने के लिए किया जाता है तथा पहले परीक्षण की तुलना मे 50 गुना अधिक महगा होता है।

नियन्त्रण कार्यक्रम (Control Programmes)

एड्स पर नियत्रण सम्बन्धी कुछ निम्न कार्यक्रम सुझाये जा सकते हैं पहला, एड्स समस्या के बारे में सही जानकारी देने के लिए डाक्टरो और नर्सों के लिए प्रशिक्षण पाठ्यक्रम आवश्यक है। फिर, सुरक्षित सेक्स (safer sex) शिक्षा के प्रचार की आवश्यकता है, जो टी वी, रेडियो व समाचार पत्रों द्वारा किया जा सकता है। शिक्षण सस्थाओं में पाठ्यक्रम के द्वारा भी परामर्श दिया जा सकता है। एड्स परामर्श केन्द्रों की स्थापना से भी जानकारी को फैलाया जा सकता है। एड्स पर समय-समय पर गोष्ठिया आयोजित हो सकती हैं। दूसरा, रक्त-दान का परीक्षण अनिवार्य किया जा सकता है। तीसरा, एच आई वी परीक्षण मुफ्त और गोपनीय बनाना चाहिए। चौथा, टीके (vaccination) के प्रोमाम में पुन प्रयोग की जाने वाली सीरिज (syringes) के वैज्ञानिक आधार पर जीवाणुदनन (sterilise) करने की आवश्यकता पर तथा निस्तारण करने वाली (disposable) सीरिज के प्रयोग पर बल दिया जाना चाहिए। पांचवा, वेश्याओं के लाल-बत्ती इलाकों में सस्ते मूल्य पर कण्डोम दिये जाने चाहिए। छठा, मादक दुरूपयोगियों पर नियत्रण तथा इजेक्शन से मादक द्रव्य सेवन को हतोत्साहित करना जरुरी है। अन्तिम, ऐच्छिक संगठनों द्वारा सुरक्षित सेक्स शिक्षा को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

एड्स नियंत्रण के लिए क्योंकि कोई प्रारम्भिक टीका नही है तथा दवा की खोज भी सम्भव नही लगती, अत यदि सरकारी प्रशासकों द्वारा एड्स सचारण सम्बन्धी शिक्षा व प्रशिक्षण के लिए पर्याप्त उपाय नहीं अपनाये गये तो लाखों व्यक्तियों का जीवन खतरे में ही बना रहेगा।

REFERENCES

1. Ahuja Ram, *Sociology of Youth Subculture*, Rawat Publications, Jaipur, 1982.
2. Akers, Ronald L., *Deviant Behaviour: A Social Learning Approach*, Belmont, Wadsworth, 1973
3. Becker Howard S., *The Outsiders*, Free Press, New York, 1963.
4. Blachly, Paul H., *Drug Abuse*, Charles C. Thomas, Illinois, 1970.

5. Carey, James L., *The College Drug Scene*, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, 1968
6. Chein, Isodore, "Psychological Functions of Drug Use," in Steinberg (ed), *Scientific Basis of Drug Dependence A Symposium*, Churchill, Livingstone, London, 1969
7 *Health for Millions*, Vol XVII, No 4, New Delhi, August 1991.
8 Hirschi, Travis, *Causes of Delinquency*, University of California Press, Berkeley, 1969
9 Jullian, Joseph, *Social Problems*, Prentice Hall, Englewood Cliffs, New Jersey, 1977
10. Lindesmith Alfred, "The Drug Addict as a Psychopath," *American Sociological Review*, New York, 1940
11 McClelland David, *The Drinking Man*, Free Press, New York, 1977
12 Merton, Robert K and Nisbet Robert A , *Contemporary Social Problems*, (3rd ed), Harcourt Brace Jovanovich, New York, 1979
13 Nowlis, Helen H , *Drugs on the College Campus*, Anchor Books, New York, 1969.
14 Panos Dossier, *AIDS and the Third World*, The Panos Institute, London, 1988
15. Peele Stanton and Brodsky Archie, *Love and Addiction*, Taplinger, New York, 1975
16 Sabatier Renee, *Blaming Others Prejudice, Race and Worldwide AIDS*, The Panos Institute, London, 1988
17. Stark Rodney, "Alcoholism and Drug Addiction", in *Social Problems*, Random House, Toronto, 1975
18 Thomas Gracious, *AIDS in India· Myth and Reality*, Rawat Publications, Jaipur, 1994.
19. Young Jock, *The Drugtakers, The Social Meaning of Drug Use*, MacGibbon & Kee, London, 1971

अध्याय 17

काला धन
Black Money

काला धन आर्थिक व सामाजिक समस्या दोनों ही है । सामाजिक संदर्भ में यह ऐसी समस्या अनुभव की जाती है जिसका समाज पर प्रतिकूल समाजशास्त्रीय प्रभाव पड़ता है, जैसे, सामाजिक असमानताए, सामाजिक वचनाए (deprivations) आदि; जबकि आर्थिक संदर्भ में इसे वह समानान्तर अर्थव्यवस्था, छिपी अर्थव्यवस्था व अनाधिकारिक अर्थव्यवस्था माना जाता है, जो सरकार की आर्थिक नीतियों का परिणाम होती है तथा जिसके देश की अर्थव्यवस्था पर एवं राष्ट्र के समाजवादी नियोजन विकास पर हानि योग्य प्रभाव पड़ते हैं । जब निर्धनता की समस्या उन व्यक्तियों को प्रभावित करती है जो निर्धन होते हैं, बेरोज़गारी उनको प्रभावित करती हैं जो बेरोज़गार होते हैं, मद्यपान और मादक द्रव्यों का प्रयोग उनको प्रभावित करता है जो इनका सेवन करते हैं, काला धन वह समस्या है जो उनको प्रभावित नहीं करती जिनके पास काला धन होता है, बल्कि यह समाज में सामान्य व्यक्ति को प्रभावित करती है । अत: आश्चर्य की बात नहीं कि इसको उस समस्या के रूप में व्याख्या की जाती है, जिसमें विशेष अन्तर है ।

अवधारणा (The Concept)

काला धन अपवंचित (evaded) टैक्स सम्बन्धी आय है । यह आय वैधानिक एवं अवैधानिक दोनों तरीकों से कमाई जा सकती है । इसका वैध साधन यह है कि आय कमाने वाले टैक्स देने के उद्देश्य से अपनी पूर्ण आय बताते नहीं हैं । उदाहरण के लिए वह आय जो सरकारी डाक्टर निजी अभ्यास (practice) से कमाते हैं, यद्यपि उन्हें निजी पेशा न करने का भत्ता भी मिलता है, या वह आय जो शिक्षक परीक्षाओं से या अपने पुस्तकों की रायल्टी से कमाते हैं, परन्तु उसे आयकर के खाते में सम्मिलित नहीं करते, या वह आय जो वकील अपने लेखा-पुस्तक (account books) में दिखाये गये पारिश्रमिक से अधिक वसूल करते हैं, इत्यादि । इस (काले धन) के अवैध साधन हैं: रिश्वत, तस्करी, चोरबाज़ारी, नियंत्रित मूल्यों से अधिक मूल्यों पर वस्तुएं बेचना, किराये पर मकान या दूकान देने के लिए 'पगड़ी' लेना, ऊंचे दाम पर मकान बेचना परन्तु लेखा-पुस्तकों में कम दाम दिखाना, इत्यादि ।

काले धन का घोषित धन (white money) में या घोषित धन का काले धन में रूपान्तरण करना सम्भव है । उदाहरण के लिए, जब एक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए बिक्री कर दे कर दुकानदार से उसकी रसीद लेता है, परन्तु वास्तव में वह उस वस्तु को खरीदता नहीं है, तब उसका काला धन घोषित धन में परिवर्तित हो जाता है । ऐसे प्रकरण में दुकानदार वह ही वस्तु बिना

रसीद दिये अन्य किसी व्यक्ति को बेच देता है। दूसरी ओर, यदि एक व्यक्ति कोई वस्तु खरीदता है (मान लें स्कूटर या वी सी आर) और उसके लिए 15,000 रुपये देता है, परन्तु रसीद 10,000 रुपये की ही लेता है, तब बेचने वाले के लिए 5,000 रुपया काला धन होगा। इस प्रकरण में घोषित धन (white money) काला धन बन जाता है।

प्रचलन का परिमाण (Magnitude of Prevalence)

किसी समाज में काले धन का परिमाण को ज्ञात करना आसान नहीं होता। अमरीका, इंगलैण्ड, नार्वे, स्वीडन व इटली में अलग-अलग उपाय अपनाने के बावजूद अर्थशास्त्री काले धन की मात्रा का अनुमान लगाने में असफल रहे हैं। नार्वे और स्वीडन में व्यक्तियों से इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए प्रश्नावली विधि का उपयोग किया गया था कि क्या खरीदने और बेचने वाले व्यक्तियों के रूप में उन्होंने अवैध क्रियाओं में भाग लिया था? इटली ने छिपी अर्थ-व्यवस्था का अनुमान लगाने का प्रयास इस आधार पर किया था कि अधिकृत आधार पर दी गई श्रम-शक्ति के आकार में तथा वास्तव में लगाये गये श्रमिकों की सख्या में कितना अन्तर था। इससे भूगत खण्ड में उत्पादन निर्धारित करना सम्भव हो सका। इगलैण्ड में उपभोग की तरफ (consumption side) से प्राप्त सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के अधिकृत अनुमान को आय की तरफ (income side) से प्राप्त सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुमान से तुलना करके समानान्तर अर्थव्यवस्था को निर्धारित करने का प्रयास किया गया। अमरीका में गट्टमैन (Guttman) ने यह धारणा बनायी थी कि केवल नकद रुपया ही अवैध लेन-देन में इस्तेमाल होता है। अतः उसने एक निश्चित अवधि में क्रय विक्रय के लिए आवश्यक मुद्रा तथा उसी अवधि में बैंकों के बाहर पायी जाने वाली वास्तविक मुद्रा में अन्तर मालूम करके काले धन जानने की कोशिश की।

विभिन्न विधियों के उपयोग के बाद भी किसी समाज में काले धन के परिमाण का अनुमान लगाना सम्भव नही है, यद्यपि इसे पूरे ससार में फैली हुई घटना बताया गया है। यह समस्या न केवल विकासशील देशों में पाई जाती है, परन्तु अमरीका, इगलैण्ड, रूस, जापान, कैनाडा, फ्रास, जर्मनी, आदि विकसित देशों में भी मिलती है। कुछ वर्ष पूर्व आई एम एफ (IMF) द्वारा किये गये अध्ययन (देखें, Vito Tangani The Underground Economy, December 1983 13) में पाया गया कि छिपे धन के आकार की दृष्टि से भारत का दर्जा पहला है और उसके बाद अमरीका और कैनाडा का दूसरा स्थान है।

भारत में 1953-54 में प्रो काडोर ने जिस अघोषित धन का अनुमान 600 करोड़ रुपये लगाया था, उसका अनुमान वाचू कमेटी ने 1965-66 में 1,000 करोड़ रुपये और 1969-70 में 1,400 करोड़ रुपये लगाया। रारप्रेकर (Rargrekar) ने काले धन की मात्रा 1961-62 में 1,150 करोड़ रुपये, 1964-65 में 2,350 करोड़ रुपये, 1968-69 में 2,833 करोड़ रुपये, और 1969-70 में 3,080 करोड़ रुपये बताई। चोपड़ा के एक अनुमान में (Economic and Political Weekly, Vol XVII, Nos. 17 and 18, April 24 and May 1, 1982)

1960-61 में काला धन 916 करोड़ रुपये था, जो 1976-77 में बढ़ कर 8,098 करोड़ रुपये हो गया। गुप्ता के अनुसार (Economic and Political Weekly, January 16, 1982:73) हमारे देश में काला धन 1967-68 में 3,034 करोड़ रुपये था जो 1978-79 में बढ कर 40,867 करोड़ रुपये हो गया। उसके अनुमान में काला धन जब 1967-68 में सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) का 9.5 प्रतिशत था, वह 1978-79 में बढ कर 49 प्रतिशत हो गया। एक अनुमान के अनुसार 1981 में काला धन 7,500 करोड रुपये था (वर्तमान मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय का 6.8%), जबकि दूसरे अनुमान के अनुमार यह 25,000 करोड़ रुपये था (वर्तमान मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय का 22.7%)।

जन वित्त-प्रबन्ध और नीति के राष्ट्रीय सस्थान (National Institute of Public Finance and Policy) ने हमारी अर्थव्यवस्था में काले धन की मात्रा 1985 में एक लाख करोड़ रुपया, अथवा राष्ट्रीय आय का 20.0 प्रतिशत आकी थी। परन्तु योजना आयोग ने अब इसका अनुमान 70,000 करोड़ रुपया लगाया है। इसके अतिरिक्त, यह (काला धन) एक वर्ष में 50,000 करोड़ रुपये के दर से बढ रहा है (हिन्दुस्तान टाइम्स, अगस्त 2, 1991·11)। पूंजी के इस ठडान ने समुद्र पार स्टैश (overseas stash) पैदा किया है, जिसे सरकारी अधिकारी सचेततापूर्वक 50 मिलियन डालर (लगभग 1,30,000 करोड़ रुपया) बताते हैं।

विद्वानों की यह भी मान्यता है कि हमारे समाज में जो कुल काला धन पाया जाता है, उसका लगभग एक-चौथाई हिस्सा (26.0%) कर अपवंचित आय (tax-evaded income) से है। अमरीका में काला धन सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) का लगभग 8.0 प्रतिशत माना जाता है। भारत में काला धन जब अवैधानिक साधनों से अधिक उपलब्ध होता है, अमरीका में यह वैधानिक साधनों से अधिक (लगभग 75.0 %) पैदा होता है।

काला धन उत्पन्न होने के कारण (Causes of Generating Black Money)

अयथार्थ कर कानून (Unrealistic Tax Laws)

करों और शुल्कों में वृद्धि लोगों को उन्हें अपवंचन करने (evade) के लिए बाध्य करती है। वर्तमान नियम (1994) आय कर की दृष्टि से मुक्त-आय (free income) के लिए 50,000 रुपये की सीमा (स्टैण्डर्ड कटौती को मिला कर) निर्धारित करते हैं। यदि एक शिक्षक का एक माह में मूल वेतन 2,000 रुपये हो और उसमें उसे मिलने वाला 104% महंगाई भत्ता (जून 1994 में) व शहर व मकान का भत्ता मिलाया जाये, तो प्रति माह उसे लगभग 4,800 रुपये और प्रति वर्ष 58,000 रुपये मिलते हैं। अत: यह शिक्षक भी आय कर की सूची में आ जायेगा। पर प्रश्न है कि आज की मुद्रास्फीति में 5000 रुपये का मूल्य ही क्या है? आय-कर देने के बाद उसे कितना बचता है? फिर यह शिक्षक अपनी आय को छिपा भी नहीं सकता। दूसरी ओर एक मिस्त्री शहर में 90 रुपये प्रति दिन व महानगर में 100 रुपये प्रति दिन कमाता है। एक गोलगप्पे व पान बेचने वाला व्यक्ति भी 100 रुपये प्रति दिन कमाता है। अगर यह मान लें कि यह लोग

वर्ष में 300 दिन भी काम करते हों, तो उनकी वार्षिक आय निश्चित रूप से आयकर परिकलन (calculation) के लिए मुक्त सीमा से कहीं अधिक होगी। परन्तु इनमें से कितने व्यक्ति वास्तव में आय-कर देते हैं ? एक फिल्म-अभिनेता जो एक पिक्चर के लिए 20 लाख रुपये लेता है, उसे अपनी आय का 50 प्रतिशत से अधिक आय कर के रूप में देना होता है। यह अभिनेता इतना भारी कर देने के स्थान पर 'डबल' खाता रखता है और कर अपवंचित करके लाखों में काला धन जमा करता है। एक डाक्टर जो निजी प्रेक्टिस से 500 रुपये प्रति दिन कमाता है, एक सर्जन जो एक आपरेशन के लिए 5,000 रुपये लेता है और एक महीने में 10 आपरेशन भी करता है, एक वकील जो एक सुनवाई (hearing) के लिए 2,000 रुपये चार्ज करता है, एक दुकानदार जो एक दिन में 5,000 रुपये से अधिक का धंधा करता है, एक ठेकेदार जिसके व्यवसाय का कुल आवर्त (turnover) एक वर्ष में एक करोड रुपये से अधिक है, एक उद्योगपति जो एक वर्ष में दस-पन्द्रह लाख रुपये से अधिक कमाता है—ये सभी व्यक्ति अपनी कुल आय में से 40 प्रतिशत से 50 प्रतिशत आयकर के रूप में देने के बजाय वास्तविक आय छिपाते हैं जिससे काले धन की समस्या उत्पन्न होती है। उत्पाद शुल्क, आबकारी शुल्क, चूंगी शुल्क, बिक्री कर, आदि जो अप्रत्यक्षय करों के रूप में वसूल की जाती हैं, वे सब भी व्यक्ति को करों से बचने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और काले धन को बढ़ावा देती हैं।

अगर आयकर की दर कम कर दी जाये (जैसे कि 1994-95 की बजट में किया गया है) तो बहुत से व्यक्ति अपनी आय छिपायेंगे नहीं तथा राजस्व में भी वृद्धि होगी। 1985-86 में जब आय-कर की अधिकतम सीमा 61 9 प्रतिशत से घटा कर 50 0 प्रतिशत की गयी थी, तब स्वनियुक्ता (self-employed) व्यक्तियों द्वारा जो आय घोषित की गयी थी, वह 1988-89 में लगभग तीन गुणा बढ कर 9,654 करोड रुपये हो गयी थी।

उत्पाद शुल्क की विभिन्न दरें (Different Rates of Excise Duty)

एक ही प्रकार के उत्पादकों के लिए अनेक बार उत्पाद शुल्क के लिए विभिन्न दरें पाये जाती हैं। उदाहरण के लिए कपडा व्यवसाय और सिगरेट में उत्पादन के गलत वर्गीकरण द्वारा इससे शुल्क का अपवचन (evasion) किया जाता है। कपडा व्यवसाय में कपडे के विभिन्न प्रकारों के लिए उत्पाद शुल्क अलग-अलग वसूल किया जाता है। कपडे के उत्पादक अपने उत्पाद को इस कारण नियमित रूप से गुणात्मक अवनति (downgrade) करते हैं, जिससे उन्हें कम उत्पाद-शुल्क देना पडे। केवल इस (पद्धति) से ही एक वर्ष में लगभग 1,000 करोड रुपये का काला धन पैदा होता है। सम्पूर्ण उत्पादक प्रक्रिया के खण्ड में, स्टील सहित, उत्पाद, आबकारी व बिक्री शुल्क के अपवचन से एक वर्ष में लगभग 50,000 करोड रुपये का काला धन उत्पन्न होता है।

मूल्य नियन्त्रण नीति (Control Policy)

काले धन का एक और कारण सरकार की मूल्य नियन्त्रण नीति है। नियन्त्रण लगाने के लिये

वस्तुओं के चुनाव तथा उनके मूल्य निर्धारित करने में सरकार मांग और आपूर्ति के लचीलेपन को महत्व देने में असफल रहती है। उदाहरण के लिए अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसन्धान की राष्ट्रीय परिषद (National Council of Applied Economic Research) की वर्ष 1981 की रिपोर्ट के अनुसार 1965-66 से 1974-75 की नौ वर्ष की अवधि में छः वस्तुओं (सीमेन्ट, स्टील, कागज, वनस्पति, कार के टायर, व रासायनिक खाद) के मूल्य-नियंत्रण के प्रचालन के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में लगभग 840 करोड़ रुपये का काला धन पैदा हुआ था। इसी प्रकार चीनी के मूल्य नियत्रण के कारण वर्ष 1979-80 में लगभग 400 करोड़ रुपये का काला धन पैदा हुआ था। विदेशी विनिमय (foreign exchange) के नियन्त्रण में भी आयात का अधिक चालान (over invoicing) और निर्यात का कम चालान (under-invoicing) बनता है, जिससे फिर मुद्रा का काला धन पैदा होता है। अतः, नियन्त्रण के उपाय जितने अधिक कठोर होंगे तथा अर्थव्यवस्था जितनी अधिक नियत्रित होगी, उतना ही उसके उल्लंघन का प्रयास अधिक होगा जिससे गुप्तसंचय, जालसाज़ी, कृत्रिम दुर्लभता बढ़ेगी तथा काला धन पैदा होगा।

कोटा व्यवस्था (Quota System)

काले धन का एक साधन कोटा व्यवस्था भी है। आयात का कोटा, निर्यात का कोटा, व विदेशी विनिमय का कोटा, अधिमूल्य (premium) पर बेच कर अधिकांशः दुरुपयोग किया जाता है।

दुर्लभता (Scarcity)

वस्तुओं की दुर्लभता तथा जन वितरण व्यवस्था में दोषों के कारण भी काला धन पैदा होता है। जब आवश्यक वस्तुएं दुर्लभ हो जाती हैं, तब लोगों को उनके लिए नियन्त्रित मूल्य से अधिक रुपया देना पड़ता है जिससे काला धन पैदा होता है। मिट्टी के तेल, चीनी, सीमेन्ट, तेल, आदि कुछ ऐसी वस्तुएं रही हैं, जिनके पिछले वर्षों में दुर्लभता के कारण अवैध लेन-देन होते रहते थे तथा काला धन पैदा होता रहता था।

मुद्रास्फीति (Inflation)

कुछ वस्तुओं (जैसे पेट्रोल) के अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार-मूल्यों में वृद्धि के कारण, कुछ वस्तुओं में सरकार द्वारा करों और शुल्कों में वृद्धि की वजह से मूल्यों में वृद्धि के कारण, कुछ वस्तुओं के धनवान व्यक्तियों द्वारा प्रदर्शन उपभोग (conspicuous consumption) के कारण, तथा कुछ संसाधनों के उत्पादन से विशेषीकरण में विशाखन (diversion) के कारण मुद्रास्फीति पैदा होती है, जो फिर काले धन को जन्म देती है।

प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में चुनाव (Elections in a Democratic System)

देश में एक चुनाव में हज़ारों करोड़ रुपये व्यय किये जाते हैं। लोक सभा चुनाव लड़ने के लिए

एक उम्मीदवार सामान्यत दस लाख रुपये से अधिक खर्च करता है,जबकि विधान सभा चुनाव लड़ने के लिए एक उम्मीदवार को वर्तमान में पाँच लाख रुपये से अधिक व्यय करना पडता है। चूकि कानून ने उम्मीदवार के निर्वाचन व्यय को सीमित किया हुआ है तथा कम्पनियों को राजनैतिक पार्टियों को चुनाव के लिए चन्दा देने की अनुमति नही दे रखी है,अत चुनाव का व्यय अधिकाश काले धन से किया जाता है। जो लोग चुनावों में काला धन लगाते हैं,वे राजनैतिक सरक्षण व आर्थिक रियायतों की आशा रखते हैं जो उन्हें वस्तुओं के कृत्रिम नियन्त्रण तथा वितरण साधनों में शिथिलता आदि द्वारा राजनैतिक अभिजनों की सहमति व मौनानुमति से प्राप्त होती हैं। ये सब विधियाँ काला धन पैदा करती हैं।

अचल सम्पत्ति का क्रिय-विक्रय (Real Estate Transactions)

अचल सम्पत्ति का क्रिय-विक्रय काला धन उत्पन्न करने का एक प्रमुख साधन है। वर्तमान में मकान व भूमि खरीदना न केवल लाभदायक, अपितु आवश्यक भी माना जाता है। शहरों में मकान बनवाने के लिए भूमि में कमी के कारण कृषि भूमि को आवासीय भूमि में रूपान्तरण करने की प्रवृत्ति बढती जा रही है। कृषि भूमि पर बिना अनुमति के बस्तियां स्थापित करना अवैध है। नयी बस्तिया स्थापित करने वालों द्वारा जो पजीकरण दस्तावेजों में क्रय-विक्रय मूल्य दर्शाया जाता है,वह बाज़ार मूल्य व वास्तविक मूल्य से बहुत कम होता है। इससे भूमि बेचने वाला पूजी लाभ (Capital gain) पर कर देना अपवचित करता है। एक अनुमान के अनुसार,यह मानते हुए कि हर वर्ष शहरी सम्पत्ति में लगभग 50 लाख क्रय-विक्रय होते हैं, सम्पत्ति के अवैध क्रय-विक्रय से लगभग 2,000 करोड रुपया प्रति वर्ष काला धन पैदा होता है।

स्टाम्प शुल्क की उच्च दर-जो अलग अलग राज्यों में 14 5 प्रतिशत से 28 0 प्रतिशत के बीच पाई जाती है-सम्पत्ति के कम मूल्याकन का तथा असूचित सौदों (unreported deals) का मुख्य कारण है। एक सुझाव के अनुसार यदि शुल्क 5 प्रतिशत के लगभग रखा जाये,तो इससे स्टाम्प शुल्क का अपवचन कम हो जायेगा। दूसरी बाधा नगरीय भूमि अधिकतम सीमा एक्ट (Urban Land Ceiling Act) है,जो भूमि-आपूर्ति को कम करती है और काला धन पैदा करती है। अचल सम्पत्ति के क्रय-विक्रय द्वारा एक वर्ष में लगभग 13,000 करोड रुपया काला धन पैदा होता है।

सामाजिक प्रभाव (Social Effects)

आर्थिक प्रभावों के अतिरिक्त काले धन के बहुत से सामाजिक परिणाम भी पाये जाते हैं। आर्थिक शब्दों में काला धन राजकोष को उसके देय हिस्से से वचित करता है, आर्थिक असमानता बढाता है, तथा आर्थिक विकास के प्रोग्रामों में बाधा डालता है। सामाजिक दृष्टि से यह सामाजिक असमानता बढाता है,ईमानदार व्यक्तियों में निराशाएं पैदा करता है,तस्करी, रिश्वतखोरी,आदि जैसे अपराधों में वृद्धि करता है तथा समाज के निर्धन व कमज़ोर तबके के व्यक्तियों के उत्थान के लिए सामाजिक सेवाओं सम्बन्धी कार्यक्रमों को प्रतिकूल रूप से

प्रभावित करता है। यह उत्पादन दर, मौद्रिक दर, बेरोज़गारी, व निर्धनता, आदि के सही दरों के नापने को भी विकृत करता है, जिससे इन समस्याओं को नियंत्रित करने सम्बन्धी सरकारी नीतियाँ भी प्रभावित होती हैं।

नियन्त्रण के उपाय (Measures of Control)

पिछले चालीस वर्षों में सरकार ने अलग-अलग समय में सात योजनाए उद्घोषित की हैं, जिनसे काला धन निकालने को प्रोत्साहन मिल सके। इनमें से कुछ योजनाएं इस प्रकार हैं: विशेष धारक बंध-पत्र (bearer bonds) की योजना का आरम्भ, उच्च मूल्यांकन वाले नोटों का विमूल्यीकरण, कड़े छापे (stringent raids), तथा ऐच्छिक प्रकटीकरण (disclosure) की योजना। जुलाई 1991 में केन्द्रीय वित्त मन्त्री ने एक नयी योजना राष्ट्रीय निवास बैंक योजना (National Housing Bank Scheme) प्रस्तावित की थी, जिससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की वैध योजना में काले धन को लगाया जा सके। इस योजना ने अघोषित धन धारकों को एक अवसर प्रदान किया कि वे धन-प्राप्ति के साधनों को बिना घोषित किये उसे एन.एच.बी. (NHB) में (कम से कम 10,000 रुपया) जमा करा सकें। यह प्रस्ताव सात महीनों तक खुला रहा और 31 जनवरी, 1992 को बन्द किया गया। यह (योजना) खाता-धारियों को अपने खाते में से 60 प्रतिशत तक वापस लेने की सुविधा देती है तथा शेष 40 प्रतिशत को अपने अधिकार में लेकर उसे गन्दी बस्तियों के साफ करने, निर्धनों के लिए मकान बनाने जैसी प्रायोजनाओं के लिए व्यय करने के लिए आरक्षित रखती हैं। जिस उद्देश्य के लिए रुपया (60%) व्यय करना है, उसे बता कर ही रुपया निकालने की अनुमति थी। इन व्यक्तियों (वापस लेने वालों) को केवल 40 प्रतिशत ही आय-कर देनी होती थी।

1978 में एक-हज़ार रुपये के नोट का विमूल्यीकरण करके लगभग 29 करोड़ रुपये मुद्रा में वापस लाये गये थे। 1951, 1955 और 1975 की ऐच्छिक प्रकटीकरण योजनाओं (Voluntary Disclosure Schemes) से 249 करोड़ रुपया अघोषित रुपयों के रूप में प्राप्त हुआ था। 1986 की प्रकटीकरण योजना से केवल 67 करोड़ रुपया मिला था। योजना लगभग एक वर्ष तक खुली रखी जाती है। 1978 में छापों के द्वारा भी काले धन का लगभग 217 लाख रुपया वसूल किया गया था।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि ये उपाय केवल हिमशैल (iceberg) के सिरे को ही स्पर्श करते हैं। चालीस वर्षों में सभी योजनाओं को मिला कर 5,000 करोड़ रुपया ही प्राप्त हुआ है। इन योजनाओं में मुख्य दोष यह है कि ये पहले से ही पैदा किये गये काले धन की समस्या से संबधित हैं तथा काले धन पैदा होने के मूल कारण को समाप्त करने का प्रयास नहीं करती और न ही इस बात का कारण ढूंढती है कि व्यक्ति दण्ड का भय होते हुए भी काले धन को इकट्ठे करने का जोखिम क्यों लेते हैं। जब तक ये प्रश्न हल नहीं किये जायेंगे, तब तक काले धन का अभिशाप बढ़ता ही जायेगा।

काले धन और समानान्तर अर्थव्यवस्था की समस्याओं के समाधान के लिए जो प्रमुख

सुझाव दिये जाते हैं वे हैं कुछ क्षेत्रों में कर कम करना, आय के ऐच्छिक प्रकटीकरण के लिए प्रोत्साहन देना, आर्थिक गुप्तचर विभाग की इकाई में पूर्णत हेर फेर करना, विभिन्न स्तरों पर प्रशासनिक भ्रष्टाचार को नियत्रित करना, मकान निर्माण पर व्यय किये गये धन को कर मुक्त करना, तथा नियन्त्रण योजनाओं को समाप्त करना। एकल व पृथक्कृत प्रयासों से अधिक लाभ होने की सम्भावना कम है, परन्तु पारस्परिक बलवर्धन (mutually reinforcing) उपायों का सवेष्टन (package), प्रबल राजनीतिक सकल्प, व राजनैतिक अभिजनों की प्रतिबद्धता मिल कर काले धन की समस्या को समाप्त करने में सफल हो सकते हैं।

REFERENCES

1 Chopra, O P, "Unaccounted Income Some Estimates," *Economic and Political Weekly*, Vol XVII, Nos 17 & 18, April 24 and May 1, 1982
2 Gupta P and Gupta S., "Estimates of the Unreported Economy in India," *Economic and Political Weekly*, Bombay, Vol XVII, No 13, January 16, 1982
3. Mahajan, V S, *Recent Developments in Indian Economy*, Deep and Deep Publications, New Delhi, 1984, pp 56-60
4. Pendse, D R "Black Money Its Nature and Causes," *The Economic Times*, March 19, 1982
5. Varghese, K V., *Economic Problems of Modern India*, Ashish Publishing House, New Delhi, 1985, pp 242-154